अलंकार-पुष्पमाला (३)

श्रीमद्विश्वनाथकविराजप्रणीत

साहित्यदर्पण

[समीक्षात्मक भूमिका-हिन्दी-अनुवाद-व्याख्यात्मक टिप्पणी सहित]

[सप्तम, अष्टम, नवम एवं दशम परिच्छेद]

सम्पादक

डॉ० निरूपण विद्यालंकार

एम. ए., पी-एच. डी.

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग

मेरठ कालिज, मेरठ

प्रकाशक

प्रकाशक :
रतिराम शास्त्री
अध्यक्ष :
साहित्य भण्डार,
सुभाष बाजार, मेरठ ।

प्रथम संस्करण, १९७८ ।
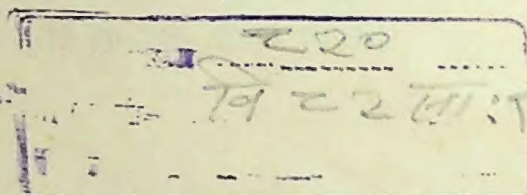
मूल्य : पन्द्रह रुपये मात्र (१५.००) ।

सतीशचन्द्र कौशिक
अधिष्ठाता:
साहित्य-प्रचार-प्रसार-विभाग,
मेरठ ।

मुद्रक:
सर्वोदय प्रेस, मेरठ ।
दूरभाष : ७४३५२

आज से लगभग चार वर्ष पूर्व जनवरी १९७४ में इस साहित्यदर्पण के प्रथम छः परिच्छेद प्रकाशित हुये थे, जिसका विद्या व्यसनी विद्वानों ने उत्साह से स्वागत किया था। आलंकारिक विद्वानों तथा विद्यार्थियों की उस सतत प्रेरणा का ही यह परिणाम है, कि सम्प्रति शेष चार परिच्छेद अर्थात् सप्तम परिच्छेद से लेकर दशम परिच्छेद तक का हिन्दी अनुवाद आपके सन्मुख रखते हुये मुझे प्रसन्नता हो रही है। इस कविराज विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण के हिन्दी अनुवाद की अपनी कहानी है, जिसके मूल लेखक डॉ० स्वर्गीय स्वतन्त्र निरूपण आयुर्वेदालङ्कार थे। उनके दिवंगत हो जाने के उपरान्त इस साहित्यदर्पण के हिन्दी अनुवाद को पूर्ण करने की समय-समय पर प्रेरणा स्रोत रहे मेरे कनिष्ठ पुत्र स्वर्गीय हिमाङ्क कुमार। किन्तु आज जब इस साहित्यदर्पण का सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होकर अध्येताओं के हाथ में पहुँच रहा है, उस समय प्रिय हिमाङ्क इस पूर्णता को अपनी आँखों से देखने के लिये इस नश्वर संसार में नहीं हैं। आज उसका अभाव मेरे हृदय में एक विषाद उत्पन्न कर रहा है। अस्तु

श्रद्धेय डॉ० हरिदत्तजी शास्त्री की प्रेरणा से प्रारम्भ किया गया यह हिन्दी अनुवाद मेरे अनुज स्वर्गीय डॉ० स्वतन्त्र निरूपण आयुर्वेदालङ्कार तथा स्वर्गीय प्रिय पुत्र हिमाङ्क कुमार के माध्यम से होता हुआ कु० सुधा गुप्ता, प्रिय पुत्र विक्रमाङ्क कुमार तथा श्री विजेन्द्र कुमार शर्मा के सतत साहाय्य से प्रकाश में आ पाया है, इसके लिये मैं उन सभी का आभार प्रदर्शित करता हूँ। क्योंकि इन सभी के सहयोग के अभाव में यह व्याख्या इतनी शीघ्र प्रकाश में न आ सकती थी। पुस्तक मुद्रित रूप में आ गई है— इसका सम्पूर्ण श्रेय मेरठ के साहित्य भण्डार के अध्यक्ष श्री रतिरामजी शास्त्री और उनके ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ पुत्र श्री राजकिशोर शर्मा तथा सतीश चन्द्र कौशिक को है, जिनके अनवरत प्रयत्न से यह पुस्तक मुद्रित हो सकी है।

मैं आशा करता हूँ कि पाठक वृन्द हमेशा के समान हिन्दी व्याख्या को भी अपनायेंगे और अभीष्ट संशोधनों का सुझाव देकर अनुगृहीत करेंगे।

गुढ़ा— मैनपुरी
रामनवमी
१७ अप्रैल, १९७८

—डॉ० निरूपण विद्यालङ्कार

समर्पणम्

स्वर्गीय प्रिय पुत्र हिमाङ्क कुमार
की स्मृति में

साहित्यदर्पणस्य विषयानुक्रमणिका

सप्तमः परिच्छेदः

अष्टमः परिच्छेदः

नवमः परिच्छेदः

ओ३म्

भूमिका

(१) दोषो का सामान्य विवेचन

काव्य पुरुषमय रूप है, तथाहि वाक्य उसका शरीर है, रीतियाँ अवयव संस्थान विशेष हैं, उसके अन्दर विद्यमान रस आत्मा है। जिसप्रकार शौर्यादि गुण, काणत्व, खञ्जत्वादि और मूर्खत्वादि दोष क्रमशः पुरुष की उन्नति और अवनति के के कारण होते हैं, उसीप्रकार काव्य के भी गुण उसके उत्कर्ष के आधायक होते हैं। तथा दोष शब्द और अर्थ के माध्यम से रसादिकों की प्रतीति की प्रतिवन्धकता के द्वारा, रस की प्रकर्ष प्रतीति की प्रतिवन्धकता के द्वारा और रस की विलम्व से प्रतीति के द्वारा काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष करते हुये रस के अपकर्षक होने के कारण दोष शब्द से व्यवहृत होते हैं।

ये दोष (१) पद (२) पदांश (३) वाक्य (४) अर्थ और (५) रसगत होने से ५ प्रकार के होते हैं। उनमें से निम्न सोलह प्रकार के पददोष कहलाते हैं—

(१) दुःश्रव (२) त्रिविधाश्लील (३) अनुचितार्थ (४) अप्रयुक्तत्व (५) ग्राम्यत्व (३) अप्रतीतत्व (७) सन्दिग्धत्व (८) नेयार्थत्व (९) निहितार्थत्व (१०) अवाचकत्व (९१) क्लिष्टत्व (१२) विरुद्धमति कारित्व (१३) अविमृष्टविधेयांशभाव (१४) निरर्थकत्व (१५) असमर्थत्व और (१६) च्युतसंस्कारता।

इनमें से (१) निरर्थकत्व (२) असमर्थत्व और (३) च्युत संस्कारता से भिन्न उक्त तेरह प्रकार के दोष वाक्य में भी होते हैं।

और उनमें (१) दुःश्रत्व (२) अश्लीलत्व (३) नोयर्थत्व (४) निहितार्थता और (५) अवाचकत्व रूप, ५ दोष पदांश में भी होते हैं। (१) निरर्थकत्व (२) असमर्थत्व (३) च्युतसंस्कारत्व रूप तीन दोष पद में ही होते हैं, वाक्या पदांश में नहीं होते हैं।

पददोष विजातीय वाक्यदोषः—

(१) प्रतिकूल वर्णता (२) लुप्तविसर्गता (३)आहतविसर्गता (४) अधिक पदता (५) न्यून पदता(६) कथित पदता (७) हत वृत्तता (८) पतत्प्रकर्षता (९) सन्धि विश्लेष (१०) सन्ध्यश्लीलता (११) सन्धि कष्टता (१२) अर्धान्तररैकपदता (१३) समाप्तपुनरात्तता (१४) अभमन्मत सम्वन्धता (१५) अक्रमता (१६) अमतपरार्थता (१७) वाच्यानाभिधान (१८) भग्नप्रक्रमता (१९) प्रसिद्धि त्याग (२०) अस्थानस्थ पदता (२१) अस्थानस्थसमासता (२२) संकीर्णता (२३) गर्भितता–ये २३ काव्यमात्रगत दोष होते हैं।

अर्थ दोषः—(१) अपुष्टता (२) दुष्क्रमता (३) ग्राम्यता (४) व्याहतता (५) अश्लीलता (६) कष्टता (७) अनवीकृतता (८) निर्हेतुता (९) प्रकाशित विरुद्धता

(१०) सन्दिग्धता (११) पुनरुक्तता (१२) ख्याति विरुद्धता (१३) विद्याविरुद्धता (१४) साकांक्षता (१५) सहचर भिन्नता (१६) अस्थान युक्तता (१७) अविशेषे विशेषार्थता (१८) अनियमें नियमार्थता (१९) विशेषे अविशेषार्थता (२०) नियमें अनियमार्थता (२१) विध्ययुक्तता (२२) अनुवादायुक्तता और (२३) निर्मुक्त पुनरुक्तता।

इनमें (१) सन्दिग्धार्थत्व (२) कष्टार्थत्व (३) अश्लीलार्थत्व (४) ग्राम्यार्थत्व (५) निहेत्वर्थत्व (६) ख्यातिविरुद्धार्थत्व और (७) पुनरुक्तार्थत्व–ये सात अनित्यदोष होते हैं, शेष १६ नित्यदोष कहलाते हैं।

रसदोष—(१) रस की स्वशब्दवाच्यता (२) स्थायीभाव की स्वशब्द वाच्यता (३) सञ्चारीभाव की स्वशब्द वाच्यता (४) विरोधी रस के अङ्गभूत विभावादि का उपादान (५) अनुभाव की कष्ट से आक्षिप्तता (६) विभाव की कष्टाक्षिप्तता (७) रस का अकाण्ड में विस्तार (८) रस का अकाण्ड में छेद (९) रस की पौनः पुन्येन उद्दीप्ति (१०) अङ्गी का अननुसन्धान (११) अनङ्गी का कीर्तन (१२) अङ्ग की अति विस्तृति (१३) प्रकृति विपर्यय और (१४) अर्थानौचित्य।

अलङ्कारदोष—उक्त काव्य दोषों से पृथक् अलङ्कारों के दोष नहीं होते हैं। अतः यदि पूर्व वर्णित दोष ही अलंकारों में विद्यमान हों तो **अलङ्कारगत दोष** कहलाते हैं। उनमें से (१) उपमालङ्कार में साधारणधर्म की अप्रसिद्धि, अथवा उपमान की अप्रसिद्धि तथा उपमा में उपमान की उपमेयजात की अपेक्षा अति निकृष्टता अथवा उत्तमता, उपमेय के परिमाण की अपेक्षा उपमान के परिमाण की अत्यल्पता अथवा अत्यधिकता और (२) अर्थान्तरन्यास में उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन अलङ्कारगत अनुचितार्थत्व होता है। (३) यमकालंकार का तीन चरणों में वर्णन करना अप्रयुक्तत्व दोष होता है। (४) उत्प्रेक्षा में यथाशब्द का उत्प्रेक्षा के द्योतक रूप में प्रयुक्त करना अवाचकत्व दोष होता है। (५) अनुप्रास में तद्घटक वर्णों की प्रकृत रस के विरोधी रस के अनुगुण वर्णों की घटकता प्रतिकूलवर्णत्व दोष होता है। (६) उपमा में साधारण धर्म की अधिकता अधिकपदत्व और उसकी न्यूनता न्यूनपदत्व दोष होता है।

---

(२) दोषों का परस्पर भेद

(१) दुःश्रवत्व और प्रतिकूलवर्णत्व में भेदः—

दुःश्रवत्व और श्रुतिकटु वर्णों का ही प्रयोग होता है, किन्तु **प्रतिकूलवर्णत्व** में रस का अपकर्ष करने वाले दोष के कारण के होने से वीरादि रसों में सुललित वर्णों का प्रयोग भी होता है, यही इनमें भेद है।

(२) निहितार्थत्व और अप्रतीतत्व में भेदः—

निहितार्थत्व में कोषादि में प्रसिद्ध अनेकार्थक भी शब्द का कवियों के द्वारा

अनाहत होने के कारण अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग होता है, किन्तु **अप्रतीतत्व** में एकार्थक भी शब्द का सार्वत्रिक प्रयोग का अभाव होता है—यहीं इनमें भेद है।

(३) **निहितार्थत्व** और **असमर्थत्व** में भेद--

निहितार्थत्व में कोषादि में प्रसिद्ध अनेकार्थक भी शब्द का उस अर्थ में विरलप्रयोग होता है, किन्तु **असमर्थत्व** में अनेकार्थक भी शब्द का जिस अर्थ में सर्वथा प्रयोग न होने से शक्ति ग्रहण का अभाव होता है, उस अर्थ में प्रयोग होता है–यह इनमें भेद है।

(४) **अप्रयुक्तत्व** और **असमर्थत्व** में भेद—

अप्रयुक्तत्व उस रूप से कोषादि में प्रसिद्ध होने पर भी कवियों के द्वारा अप्रयुक्त उस अर्थ का ज्ञान कराने में अनुकूल शक्ति वाले शब्द का उस अर्थ में प्रयोग होता है, किन्तु **असमर्थत्व** में जिस अर्थ में सर्वथा प्रयोग नहीं होता है, (उस अर्थ में व्याकरणादि में प्रसिद्धि होने पर भी) उस अर्थ का ज्ञान कराने में अनुकूल शक्ति वाले शब्दों का उस अर्थ में अशक्ति कृत प्रयोग होता है–यह इनमें भेद है।

(५) **असमर्थत्व** और **अवाचकत्व** में भेद—

असमर्थत्व में "हन्ति" आदिको का जाने के अर्थ में व्याकरणादि में पठित होने पर भी उस अर्थ का ज्ञान कराने में समर्थ्य नहीं होता है, किन्तु **अवाचकत्व** में शक्ति से उस अर्थ का ज्ञान कराने में अभाव होने पर भी प्रकरणादि के अनुसार उस अर्थ का ज्ञान हो जाता है–यही इनमें भेद है।

(६) **क्लिष्टत्व** और **सङ्कीर्णत्व** में भेद—

क्लिष्टत्व में एक ही वाक्य में दुर्बोध्य शब्दों का प्रयोग होने के कारण अर्थ का ज्ञान होने में बाधा होती है, किन्तु **सङ्कीर्णत्व** में अन्य वाक्यों के पदों का वाक्य के मध्य में आ जाने से विवक्षित अर्थ के बोध का व्याघात होता है—यहीं इनमें भेद है।

(७) **विधेयाविमर्श** और **अभवन्मतसम्बन्धत्व** में भेद—

विधेयाविमर्श में जिस पद का विमर्श नही होता है, वही दूषित होता है, किन्तु **अभवन्मतसम्बन्ध** में प्रधान की प्रधानत्वेन प्रतीति न होने से सभी की उसका अङ्ग होने के कारण प्रतीति नहीं होती है, अतः सम्पूर्ण वाच्य के अर्थ का विरोध प्रतीत होता है—यह भेद है।

(८) **विधेयाविमर्श** और **विध्ययुक्तता** में भेद—

बिधेयाविमर्श में उद्देश्य और विधेय के अन्दर पौर्वापर्य का विपर्ययमात्र ही होता है, किन्तु **विध्ययुक्तता** में उन दोनों में पौर्वापर्य के विपर्यय का अभाव होने पर भी विवक्षित अर्थ का निर्वाह नहीं होता है—यह इनमें भेद है।

(९) **अधिकपदत्व** और **पुनरुक्तत्व** में भेद —

अधिकपदत्व में एक शब्द से प्रतिपादित अर्थ का ही दूसरे शब्द से भी पुनः

प्रतिपादन होता है, किन्तु **पुनरुक्तत्व** में कहे हुये अर्थ का ही पुनः कथन होता है— यह भेद है।

(१०) **अधिकपदत्व** और **अपुष्टत्व** में भेद—

अधिकपदत्व में पदार्थों के अन्वय बोध की अवस्था में ही अन्वय के बाध की प्रतीति होती है, किन्तु **अपुष्टत्व** में पदार्थों के अन्वय की प्रतीति के पश्चात् विशेषण की प्रकृत अर्थ को सिद्ध करने वाली योग्यता के अभाव की पर्यालोचना से बाध की प्रतीति होती है—यही इनमें भेद है।

(११)**अधिकपदत्व** और **अनियमपरिवृत्ति** में भेद—

अधिकपदत्व में शब्द ज्ञान के अनन्तर ही दोष की प्रतीति और नियम से पृथक् अर्थ का ज्ञान कराने वाले पद का प्रयोग होता है, किन्तु **अनियमपरिवृत्ति** में अर्थ की प्रतीति के पश्चात् दोष की प्रतीति और नियम के अर्थ का ज्ञान कराने वाले पद का कथन होता है—यह भेद है।

(१२) **न्यूनपदत्व** और **वाच्यानभिधान** में भेद—

न्यूनपदत्व के उदाहरण **"यदि यर्य्यापिता दृष्टिः"** इत्यदि में **"त्वया"** इस वाचक पद का ही कथन नहीं है किन्तु **वाच्यानभिधान** के उदाहरण **" द्यति क्रमलवार"** इत्यादि में द्योतकपद का भी कथन नहीं होता है—यही भेद है।

(१३) **न्यूनपदत्व** और **नियमपरिवृत्ति** में भेद—

न्यूनपदत्व में वाचकपद का कथन नहीं होता है, किन्तु **नियमपरिवृत्ति** के उदाहरण **"आपात सुभगे"** इत्यादि में नियम के द्योतकपद का कथन नहीं होता है— यह भेद है।

(१४) **न्यूनपदत्व** और **साकांक्षत्व** में भेद—

न्यूनपदत्व में **"यदि मर्य्यापिता"** इत्यादि उदाहरण में **"त्वया"** इत्यादि शब्द का ही अध्याहार होता है, किन्तु **साकांक्षत्व** में प्रकृत वाक्य के अर्थ के अन्वय का ज्ञान होने में आकांक्षा की निवृत्ति न होने से अन्वय के ज्ञान के लिये अर्थ का ही अध्याहार होता है—यही इनमें भेद है।

(१५) **कथितपदत्व** और **अनवीकृतत्व** में भेद—

कथितपदत्व में पहले जिस पद का कथन किया है, उसके समान आकार वाले शब्द का ही पुनः प्रयोग करना दोष होता है, किन्तु **अन्वीकृतत्व** में विशेष वैचित्र्य के न होने पर कहे हुये पद का दूसरे पर्याय के द्वारा पुनः ग्रहण करने में भी दोष होता है—यहीं इनमें भेद होता है।

(१६) **कथितपदत्व** और **भग्नप्रक्रमता** में भेद—

कथितपदत्व में उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य से पृथक् ही विषय होता है, किन्तु **भग्नप्रक्रमता** में दोष परिहार के लिये **"रावणः प्रत्यभाषतः"** इसमें **"रावणः प्रत्यवा-**

चत" ऐसा पाठ भेद कर देने पर भी "कथितपदत्व" दोष की आशंका नहीं होती है, क्योंकि उसका विषय उद्देश्यप्रतिनिर्देश्य से भिन्न होता है, परन्तु **"भग्नप्रक्रमता"** की उद्देश्य-प्रतिनिर्देश्य भाव के विषय में भी सम्भावना होती है–यही भेद है।

(१७) **पतत्प्रकर्षता** और **व्याहृतत्व** में भेद—

पतत्प्रकर्षता में शब्दकृत अनुप्रासादि के प्रकर्ष का क्रमशः पतन होता है, और **व्याहृतत्व** में पूर्व कहे हुये किसी उत्कर्ष और अपकर्ष की बाद में अर्थ का पर्यालोचन अपेक्षित होता है तथा उससे भिन्न ज्ञान का बोध होता है–यही इनमें भेद है।

(१८) **समाप्तपुनरात्तत्व** और **अर्धान्तरैकपदत्व** में भेद—

समाप्तपुनरात्तत्व में अन्वय का **ज्ञान** होने से निराकांक्षित भी विशेष्य का दूसरे विशेषण की अकांक्षा से एक ही वाक्य में पुनः दूसरे विशेषण का कथन होता है, किन्तु **अर्धान्तरैकपदत्व** में पूर्वार्ध में विद्यमान वाक्य के घटक एक पद का उत्तरार्ध में विद्यमान दूसरे वाक्य में अनुप्रवेश होता है–यही इनमें भेद है।

(१९) **समाप्तपुनरात्तत्व** और **निर्मुक्तपुनरुक्तत्व** में भेद—

समाप्तपुनरात्तत्व में अन्वय का ज्ञान होने से निराकांक्षित भी विशेष्य का दूसरे विशेषण से अन्वय के ज्ञान के लिये पुनः ग्रहण होता है, किन्तु **निर्मुक्तपुनरुक्तत्व** में आकांक्षित कारक की क्रिया के अन्वय से समाप्ति होने पर उस कारक का ग्रहण होता है–यही इनमें भेद है।

(२०) **अस्थानस्थपदत्व** और **अक्रमता** में भेद—

अस्थानस्थयपदत्व में वाचक पद के यथोक्तक्रम का अभाव होता है, किन्तु **अक्रमता** में अपने अर्थ से अन्वित अर्थ की द्योतना करने वाले पद का प्रत्यासक्तिरूप क्रम का अभाव होता है–यह इनमें भेद है।

(२१) **अस्थानस्थपदत्व** और **अभवन्मत सम्बन्धत्व** में भेद—

अस्थानस्थपदत्व में अयथा स्थान में विद्यमान पद का यथा स्थान निवेश करने से अन्वय ज्ञान के अनन्तर सम्बन्ध की प्रतीति होती है, किन्तु **अभवन्मतसम्बन्धत्व** में कवि के द्वारा अभिमत भी सम्बन्ध की निरकांक्षा होने से अथवा अयोग्य होने से प्रतीति नहीं होती है, अतः अन्वय ज्ञान के पश्चात भी सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है–यही इनमें भेद है।

(२२) **अनुचितार्थत्व** और **प्रकाशित विरुद्धत्व** में भेद—

अनुचितार्थत्व में शब्द के श्रवण के अनन्तर ही विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु **प्रकाशितविरुद्धत्व** में वाक्यार्थ की पर्यालोचना के सापेक्ष विरुद्ध अर्थ की व्यञ्जना होती है–यह इनमें भेद है।

(२३) **अमतपरार्थत्व** और **अश्लीलत्वादि** में भेद—

अमतपरार्थत्व में **"राममन्मथशरेण ताडिता—"**इत्यादि में नियम से

वाक्य की अन्वय व्यतिरेकानुविधायिता होती है, किन्तु **अश्लीलत्वादि** में "**हन्तुमेव**–" इत्यादि में अर्थ की अश्लीलता में हन् धातु आदि की पारिभाषिक निर्धातादि–बोधकता नियम से नहीं होती है, परन्तु एक साथ कहे हुये पद के अर्थ की पर्यालोचना के द्वारा उस अर्थ की कल्पना होती है–यही इनमें भेद है।

(२४) **अक्रमत्व** और **दुष्क्रमत्व** में भेद—

अक्रमत्व में शब्द की अपने शब्द से अन्वित अर्थ वाले पद के प्रत्यासत्तिरूप क्रम में विपर्यय होता है, किन्तु **दुष्क्रमत्व** में पद के अर्थ के तात्पर्य की पर्यालोचना से प्रतीत होने वाला अर्थ के क्रम का विपर्यय होता है–यह भेद है।

(२५) **नियमपरिवृत्ति** और **वाच्यस्थानभिधान** में भेद—

नियमपरिवृत्ति में पदार्थ के अन्वय ज्ञान के अनन्तर दोष की प्रतीति और नियम की द्योतना करने वाले पदों का कथन होता है, किन्तु **वाच्यस्थानभिधान** में शब्द के उच्चारण के अनन्तर ही दोष की प्रतीति होती है तथा नियम से पृथक् अर्थ की द्योतना करने वाले पदों का कथन नहीं होता है–यही इनमें भेद है।

———

(३) गुण विवेचन

संसार में जिसप्रकार आत्मा के उत्कर्ष के कारण होने से शौर्यादि "गुण" शब्द से व्यवहृत होते हैं, उसीप्रकार काव्य में विभावादि अंगों के समुदाय के सम्बन्ध से अङ्गी को प्राप्त रस के उत्कर्ष के आधायक धर्म माधुर्यादि गुण कहलाते हैं। और इनकी कहीं नीरस काव्य में गुणों की अभिव्यञ्जना करने वाले शब्द और अर्थों के होने पर भी नीरस होने के कारण माधुर्यादि का अनुभव न होने से, और कहीं उनके न होने पर भी रसवत्वेनैव उनकी प्रतीति होने से रस के अन्वय-व्यतिरेकी होने के कारण रस धर्मता समझनी चाहिये। अर्थात् रस की अभिव्यञ्जना करने वाले ही शब्द और अर्थों को गुणों का भी अभिव्यञ्जक समझना चाहिये। इसप्रकार इनकी वामनादि के द्वारा कही हुई शब्द और अर्थ की धर्मता परम्परया समझनी चाहिये और वह परम्परा अपने आश्रय में विद्यमान अभिव्यञ्जक स्वरूप होती है। ये गुण (१) **माधुर्य** (२) **ओज** और (३) **प्रसाद**—तीन प्रकार के होते हैं।

(१) उनमें से शृंगार—करुण और शान्त रस के उद्बुद्ध होने के अनन्तर उत्पन्न होने वाला रति आदि के विषय से शून्य, सहृदयों के चित्त के द्रवी भावरूप केवल आनन्दातिरेक का अनुभव "**माधुर्य**" कहलाता है। जनक होने के सम्बन्ध से और रस के सम्बन्धि होने से इस माधुर्य गुण की रस धर्मता अक्षुण्ण रहती है। और वह माधुर्य सम्भोग शृंगार की अपेक्षा करुण रस में, करुण रस की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में और विप्रलम्भ शृंगार की अपेक्षा शान्तरस में अतिशय उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला होता है। और इसप्रकार उन उन रसाभासो में भी क्रमशः उत्तरोत्तर अतिशय उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला होता है। उस **माधुर्य गुण** की

अभिव्यक्ति में—अग्रभाग में अपने-अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण "ङ" आदि पाँच वर्णों से युक्त ट–ठ–ड और ढ से भिन्न कादि से मान्त तक वर्ण, तथा विसर्ग और भिन्न वर्णों के योग से रहित और अयुक्त अन्त वाले रेफ और णकार, एवं उक्त वर्णों की बहुलता वाली, असमास वाली, अथवा अल्प समास वाली अत्यधिक कर्कश वर्णों से रहित, सुकुमार अर्थों की प्रतिपादक और मधुर रचना कारण होती है।

(२) उत्साहादि आकार से युक्त चमत्कार के उत्पन्न होने से उत्पन्न होने वाला, चित्त का विस्तार स्वरूप दीप्तत्व **"ओज"** कहलाता है। यह ओज वीर-बीभत्स और रौद्ररसों में क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला होता है। इसी प्रकार उन-उन रसाभासों में भी उक्त क्रम से उत्तरोत्तर उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाला समझना चाहिये। इस **ओज गुण** की अभिव्यक्ति में—वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्णों से संयुक्त द्वितीय और चतुर्थ वर्ण, ऊपर, नीचे अथवा दोनों ओर रेफयुक्त और विसर्गयुक्त वर्ण, तथा ट-ठ-ड ढ-श और ष आदि तथा माधुर्य की व्यञ्जना करने वाले वर्णों से पृथक् वर्ण, एवं बहुल समास वाली, ओजोव्यञ्जक वर्णों से निर्मित्त, उद्भट अक्षरो की बहुलता वाली तथा उद्भट अर्थ का प्रतिपादन करने वाली रचना कारण होती है।

(३) शुष्क काष्ठ में लगी हुई वह्नि के समान शीघ्र ही सहृदय सामाजिकों के अन्यत्र व्यासक्त मन को वहाँ से हटाकर निर्मलता को उत्पन्न करने वाला गुण **"प्रसाद"** कहलाता है। यह प्रसाद गुण सभी रसों में हो सकता है। औज और माधुर्य के समान विशिष्ट रचना इसकी व्यञ्जक नहीं होती है, किन्तु श्रवण मात्र से अर्थ का ज्ञान कराने वाले सुललित शब्द ही इसके व्यञ्जक होते हैं।

प्रश्न—इन गुणों की रस धर्मता को स्वीकार करने में प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत शब्द और अर्थ की धर्मता किस प्रकार घटित हो सकती है?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योकि अपने आश्रय में विद्यमान रस की अभिव्यञ्जकता रूप परम्परा के सम्बन्ध से शब्द और अर्थ की धर्मता घटित हो जाती है, तथाहि—जिसप्रकार आत्मा के धर्म शौर्यादि की शरीर के अन्दर विद्य-मानता होती है अथवा जिसप्रकार शरीर के धर्म स्थूलतादि परम्परा सम्बन्ध से आत्मा के अन्दर भी विद्यमान रहते हैं, उसीप्रकार यहाँ समझना चाहिये।

यहाँ पर प्राचीन आचार्यों के द्वारा वर्णित **श्लेषादि** गुणों का माधुर्यादि गुणों में ही अन्तर्भाव हो जाने से उनका पृथक् कथन नहीं किया है। तथाहि—उनमें से **श्लेष, समाधि, औदार्य** और **प्रसाद**—इन चार गुणों का ओजगुण में अन्तर्भाव हो जाता है। पृथक् पदत्व रूप **माधुर्य** का यथोक्त माधुर्य गुण में अन्तर्भाव हो जाता है। पदों का शीघ्र ही अर्थ का ज्ञान कराने वाली **अर्थापत्ति** का प्रसाद गुण में अन्त-र्भाव हो जाता है। ग्राम्यत्व और दुःश्रवत्वदोष के परित्याग से **सौकुमार्य** और **कान्ति** इन दोनों का शब्दगत गुण के अन्दर समावेश हो जाता है। **समता** के मार्गभेद

स्वरूप होने पर दोष के अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाता है, अन्यथा उक्त गुणों में अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इनका पृथक् कथन नहीं किया।

ओज—स्वाभिप्रायत्वरूप, **प्रसाद**—अर्थ की विमलता **माधुर्य**— उक्तिवैचित्र्य, **सौकुमार्य**—अपारुष्य, **उदारता**—अग्राम्यत्व—इन लक्षणों वाले प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे हुये उक्त पाँच प्रकार के अर्थगुणों के क्रमशः अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व—अनवीकृतत्व—अमंगलरूप अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोषों के निराकरण से ही गुणरूप से स्वीकार किया है। तथा वस्तु स्वभाव को स्पष्ट करने वाली अर्थगत **अर्थव्यक्ति** स्वभावोक्ति नामक अलङ्कार को स्वीकार करने से ही स्वीकृत हो गई है। दीप्तरसत्व रूप अर्थगत **कान्ति** रस ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से स्वीकृत की गई है। वैचित्र्य-मात्ररूप **अर्थश्लेष** गुण, और दोषराहित्य रूप **समता** गुण ही नहीं है। असाधारण शोभा को उत्पन्न करने वाली न होने से समाधि भी गुण नहीं है। अतः प्राचीन आचार्यों द्वारा उक्त अर्थगुण उक्तगुणों से पृथक् न होने के कारण पृथक् स्वीकार नहीं किये हैं।

———

(४) रीति विवेचन

जिसप्रकार संसार में विलक्षण मुखादि अवयवों के विशिष्ट सन्निवेश से पारस्परिक अङ्गों की सुन्दरता का सम्वन्ध शरीर की अतिशय शोभा को उत्पन्न करता हुआ शरीर का उपकारक होता है, उसीप्रकार गुण की अभिव्यञ्जना करने वाले वर्णादिको की यथास्थान स्थिति शब्दार्थ शरीर वाले, रसात्मक काव्य के आत्मभूत रसों के अपने आश्रय में रहने वाले व्यंग्य और रसादिवृत्ति वाले गुणों की अभिव्यञ्जक होने से उत्कर्ष की आधायक रीति कहलाती है।

वह रीति वैदर्भी—गौडी—पाञ्चाली और लाटी भेद से चार प्रकार की होती है। विदर्भ—गौड—पाञ्चाल और लाट देश में उत्पन्न होने वाले कवियों के द्वारा आहृत होने के कारण इसकी क्रमशः वैदर्भी आदि संज्ञा समझनी चाहिये।

(१) उनमें से माधुर्य की व्यञ्जना करने वाले वर्णों से निर्मित, प्रायः सुकुमार अक्षरों से युक्त, सुकुमार अर्थ वाली, अल्प समास वाली अथवा समास से रहित रचना "**वैदर्भी**" कहलाती है।

(२) ओजः प्रकाशक वर्णोः से निर्मित्त, उद्भट अर्थ का प्रतिपादन करने वाली, अत्यधिक समास से युक्त रचना "**गौडी**" कहलाती है।

(३) पूर्वोक्त वैदर्भी और गौडी रीति की व्यञ्जना करने वाले वर्णों से अतिरिक्त वर्णो से निर्मित्त, पाँच-छः पदों से युक्त रचना "**पाञ्चाली**" कहलाती है।

(४) ओजो व्यञ्जक वर्णों से भिन्न वर्णों से निर्मित अंशतः वैदर्भी रीति के लक्षणों से युक्त और अंशतः पाञ्चाली रीति के लक्षणों से समन्वित मिश्रित रचना "**लाटी**" कहलाती है। कुछ आचार्य इन रीतियों का लक्षण इस प्रकार करते हैं—

गौडी ऽम्बर बन्धा स्यात् **वैदर्भी** ललितक्रमा ।
पाञ्चाली मिश्रभावेन **लाटी** तु मृदुभिः पदैः ।। इति ।

कुछ आचार्य छः प्रकार की रीति मानते हैं—यथा—

वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडीयाऽऽवन्तिकी तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिनिर्गद्यते ।। इति ।।

अर्थात्—(१) वैदर्भी (२) पाञ्चाली (३) गौडीया (४) अवन्तिकी (५) लाटी और (६) मागधी ।

---

(५) अलङ्कारों का सामान्य परिचय

काव्यत्व के व्यापक न होने पर शब्दगत और अर्थगत सौन्दर्य में अतिशय वृद्धि करने वाले तथा रसादि के उपकारक शब्द और अर्थ के धर्म अलङ्कार कहलाते हैं । अलङ्कारों की अतिशय शोभा की जनकता अङ्गदादि की तरह समझनी चाहिये । तथाहि— जिसप्रकार संसार में प्राणियों के शरीर के अवयवों में धारण किए हुए अङ्गादि शारीरिक शोभा को उत्पन्न करके शरीर का उत्कर्ष करते हुए "अलङ्कार" कहे जाते हैं, उसीप्रकार शब्द और अर्थ शरीर वाले, रस आत्मा वाले काव्य रूपी शरीर के शब्द और अर्थ में अतिशय शोभा के आधायक होने के कारण आत्मभूत रस के अतिशय उत्कर्ष को उत्पन्न करने वाले धर्म "अलंकार" कहलाते हैं । काव्य के अन्दर रस के धर्म होने के कारण गुणों की उपस्थिति परम आवश्यक होती है, परन्तु अलङ्कारों की उपस्थिति आवश्यक नहीं होती है— ऐसा समझना चाहिए ।

अलंकार शब्दगत, अर्थगत और उभयगत (अर्थात् शब्द और अर्थगत) होने से तीन प्रकार के होते हैं । शब्दपरिवृत्तिसह होने और न होने के कारण इन अलङ्कारों की याथातथ्यरूपेण शब्दालङ्कारता–अर्थालङ्कारता और उभयालङ्कारता होती है । तथाहि—जहाँ शब्द का परिवर्तन करके उसके स्थान पर उसका पर्यायवाची दूसरे शब्द का ग्रहण करने से वह अलंकार नहीं रहता है, वहाँ शब्दालङ्कार समझना चाहिये; और जहाँ शब्द का परिवर्तन करके तथा उसके स्थान पर उस शब्द का पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देने से उस अलंकार की क्षति नहीं होती है, वहाँ अर्थालङ्कार समझना चाहिये; और जहाँ अंशतः शब्द परिवर्तन हो और अंशतः शब्द परिवर्तन न हो, वहाँ उभयालङ्कार समझना चाहिए ।

(१) शब्द और अर्थ में से सर्वप्रथम शब्द के ही बुद्धिविषय होने से शब्दालङ्कार का ही पहले वर्णन करना उचित है, तथा प्राचीन आचार्यों ने शब्दार्थोभयालङ्कार को भी शब्दालङ्कार के अन्दर परिगणन किया है, अतः पहले उसी का निरूपण किया गया है । और वह शब्दार्थोभयालङ्कार **अनरुक्तब्दाभास नामक** एक ही है ।

(२) शब्दालङ्कार ६ होते हैं— (१) अनुप्रास, (२) यमक, (३) वक्रोक्ति, (४) भाषासम, (५) श्लेष, (६) चित्र, । तथाहि—

१ २ ३
अनुप्रासोऽथ यमकं वक्रोक्ति स्तदनन्तरम् ।
४ ५ ६
भाषासमेन संयुक्ते श्लेषाचित्रे तथा स्मृते ।।

(१) इनमें से अनुप्रास के ५ भेद होते हैं— (१) छेकानुप्रास (२) वृत्यनुप्रास (३) श्रुत्यनुप्रास (४) अन्त्यानुप्रास (५) लाटानुप्रास ।

इनमें से वृत्यनुप्रास ५ प्रकार का होता है। इसप्रकार अनुप्रास के ९ भेद समझने चाहिए ।

(२) वक्रोक्ति दो प्रकार का होता है—(१) श्लेषमूलक वक्रोक्ति और (२) काकुमूलक वक्रोक्ति ।

(३) श्लेषालङ्कार ८ प्रकार का होता है—(१) वर्ण (२) प्रत्यय (३) लिङ्ग (४) प्रकृति (५) पद (६) विभक्ति (७) वचन और (८) भाषागत । इनके पुनः तीन भेद होते हैं—(१) सभङ्गश्लेष (२) अभङ्ग श्लेष और (३) सभङ्गाभङ्ग श्लेष ।

नोट—यमक और श्लेषादि में ऽ और ल, ब और व, ल और र की अभिन्नता स्वीकार की गई है । तद्यथा—

यमकादौ भवेदैक्यं ऽलयोरिलयोर्ङ्बवोः ।
शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गा विसर्गयोः ।।
भविन्दुका बिन्दुकयोः स्यादभेद प्रकल्पनम् ।।

काव्य के लिए रोग स्वरूप प्रहेलिका क्योंकि रस की विरोधी होती है, अतः अलङ्कार नहीं कहलाती है । यह प्रहेलिका केवल उक्तिवैचित्र्यमत्र होती है । इसके च्युताक्षरा–दन्ताक्षरा–च्युतदन्ताक्षरा–विन्दुमती, और गूढ़चतुर्थपादिका–इत्यादि अनेक भेद होते हैं ।

अर्थालङ्कार—उपमादि अर्थालङ्कार होते हैं । संक्षेप में:—

अर्थालङ्कारतामाप्ता ये तावदुपमादयः ।
सर्वेषां नामतस्तेषामुल्लेखः क्रियते क्रमात् ।।
१ २
तत्रादावुपमा तद्वदेक देश विवर्तिनी ।
३
उपमा चापरा नाम्ना कथिता रशनोपमा ।।
४ ५
मालोपमा पुनश्चैका कथितोऽनन्वयः परः ।
६ ७ ८
उपमेयोपमा तद्वत् स्मरणं रूपकं तथा ।।
९
अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं परिणामकः ।

१० ११ १२ १३
सन्देहः भ्रान्तिमांश्चैव तथोल्लेखो ह्यपह्नुतिः ॥
१४ १५
निश्चयश्चतथोत्प्रेक्षा वैचित्र्यात् विविधा स्मृताः ।
१६ १७ १८
तथैवातिशयोक्तिश्च तुल्ययोगित्व दीपके ॥
१९ २० २१
प्रतिवस्तूपमा चैका दृष्टान्तः सनिदर्शनः ।
२२ २३ २४
व्यतिरेकः सहोक्तिश्च विनोक्तिरपरामता ॥
२५ २६ २७
समासोक्तिः परिकरस्तथा श्लेषोऽपि च स्मृतः ।
२८ २९
अप्रस्तुतप्रशंसा च तथा व्याजस्तुतिः पुनः ॥
३० ३१
पर्यायोक्तं तथैवार्थान्तरन्यासो मतस्थता ।
३२ ३३ ३४
काव्यलिङ्गं तथैवानुमानं हेतुः स्मृतोऽपरः ॥
३५ ३६ ३७
अनुकूलं तथाक्षेपो विध्यभासो विभावना ।
३८ ३९ ४०
विशेषोऽक्तिर्विरोधाश्च तथाऽसङ्गतिरेव च ॥
४१ ४२ ४३ ४४
विषमश्च समश्चैव विचित्र भव्यिकं तथा ।
४५ ४६ ४७
अन्योऽन्यञ्च विशेषश्च व्याघातश्चापरोमतः ॥
४८ ४९
अन्यः कारणमालाख्यो मालादीपक मेव च ।
५० ५१ ५२
एकावली तथा सारो यथासंख्यमथापरम् ॥
५३ ५४ ५५ ५६
पर्यायः परिवृत्तिश्च परिसंख्या तथोत्तरम् ।
५७ ५८
अर्थापत्तिः पुनश्चैका विकल्पोऽप्यपरोमतः ॥
५९ ६० ६१
समुच्चयः समाधिश्च प्रत्यनीकमथापरम् ।
६२ ६३ ६४ ६५
प्रतीपं मीलितञ्चैव सामान्यं तद्गुणस्तथा ॥

६६ ६७ ६८
अतद्गुणस्तथा सूक्ष्मं व्याजोक्तिश्चापरामता ।
६९ ७० ७१
स्वभावोक्तिः पुनश्चैका भाविको दात्तरेतथा ॥
७२ ७३ ७४ ७५
रसवत्–प्रेय–ऊर्जस्वि समाहितमतथापरम् ।
७६ ७७ ७८
भावोदयो भावसन्धिः भावाभिश्रस्थाऽपरः ॥
७९ ८०
संसृष्टिः सङ्करस्तद्वत् आलंकारि कसभ्यतम् ॥

इन अर्थालङ्कारों में से—

उपमाभेद निरूपणम्—

उपमा के अन्दर (१) उपमान (२) उपमेय और (३) औपम्यवाची पद और (४) साधारणधर्म—ये चार पदार्थ होते हैं। (१) सादृश्य का प्रतियोगी **उपमान** होता है। (२) सादृश्य का अनुपयोगी **उपमेय** होता है। (३) जिससे उपमान और उपमेयगत सादृश्य का ज्ञान होता है, वह **औपम्यवाची पद** होता है। (४) तथा उपमान और उपमेय का संगतधर्म · **साधारणधर्म** कहलाता है। यही उपमा उक्ति वैचित्र्य के कारण अनेक प्रकार के अलङ्कार भाव को प्राप्त होती है। सारांश यह है कि— जिस धर्म के सम्बन्ध से, जिस पद के सामार्थ्य से, जिसके साथ जिसका सादृश्य किया जाता है— वह साधारणधर्म, वह औपम्यवाचीपद, वह उपमान और वह उपमेय होता है।

उपमा के मुख्य भेद—उपमा के मुख्य रूप से २७ भेद होते हैं। तद् यथा— पूर्णोपमा ६ प्रकार की होती है। धर्मलुप्ता के १० भेद, उपमानलुप्ता के २ भेद, औपम्यवाचीलुप्ता के २ भेद, धर्मोपमानलुप्ता के २ भेद, धर्मौपम्यवाचिलुप्ता के २ भेद, उपमेयलुप्ता का १ भेद, · धर्मोपमेयलुप्ता का १ भेद, धर्मोपमान सादृश्य प्रतिपादक लुप्ता का १ भेद,—इसप्रकार लुप्तोपमा के २१ भेद होते हैं। पूर्णोपमा ६ + लुप्तोपमा के २१ भेद मिलकर कुल २७ भेद होते हैं।

(२) **रूपक के भेद**—रूपकालङ्कार के मुख्यतः ८ भेद होते हैं। तद् यथा—

(१) परम्परितरूपक के	४ भेद
(२) साङ्गरूपक के	२ भेद
(३) निरङ्गरूपक के	२ भेद
	८ भेद

नोट—कुछ आचार्य साङ्गरूपक के ४ भेद करते हैं तथा अधिकारूढवैशिष्ट्य रूपक को भी स्वीकार करते हैं—इस मत के अनुसार रूपक के ११ भेद हो जाते हैं।

(३) सन्देहालङ्कार तीन प्रकार का होता है—

(१) शुद्धसन्देह

(२) निश्चयगर्भ सन्देह और

(३) निश्चयान्त सन्देह ।

(४) अपह्नुति तीन प्रकार की होती है—

(१) कहीं अपह्नवपूर्वक आरोप होता है,

(२) कहीं आरोपपूर्वक अपह्नव होता है, और

(३) कहीं शब्द अथवा सादृश्यादि से किसी गोपनीय अर्थ का श्लेष अथवा कालस्वभावादि से भिन्न रूप से कथन किया जाता है ।

(५) उत्प्रेक्षा के भेद—
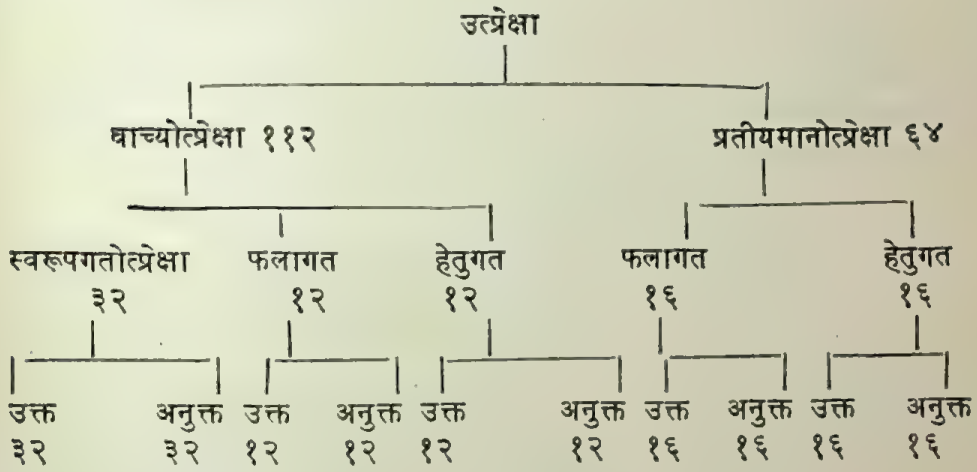
(६) अतिशयोक्ति के भेद—

(१) भेद में अभेद

(२) अभेद में भेद

(३) सम्बन्ध में असम्बन्ध

(४) असम्बन्ध में सम्बन्ध

(५) कार्य-कारण पौर्वापर्य विपर्यय—इसके दो भेद—(१) कारण से पहले कार्य के होने पर (२) कार्य-कारण के साथ होने पर,

(६) व्यतिरेकालङ्कार के ४८ भेद होते हैं—

(७) सहोक्ति के भेद—
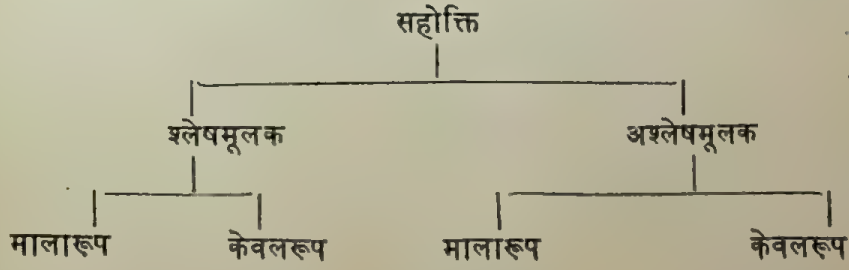
इस प्रकार सहोक्ति चार प्रकार की होती है।

(८) समासोक्ति के भेद—
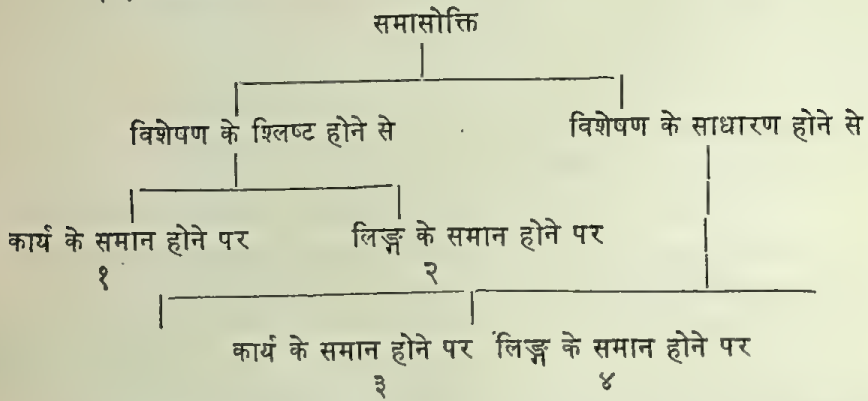
इस समासोक्ति में सर्वत्रैव व्यवहार के आरोप का कारण होता है। और वह कारण कहीं—

(१) लौकिक में लौकिक का
(२) शास्त्रीय में शास्त्रीय का
(३) लौकिक में शास्त्रीय का
(४) शास्त्रीय में लौकिक का व्यवहार के आरोप का कारण होता है।

(१) लौकिक वस्तु रसादि भेद से अनेक प्रकार को होती है।

(२) शास्त्रीय वस्तु भी तर्क आयुर्वेदादि में प्रसिद्ध होने के कारण अनेक प्रकार की होती है।

इसप्रकार समासोक्ति अनेक प्रकार की होती है।

(९) अप्रस्तुत प्रशंसा के २१ भेद होते हैं—

नोट—मूल कारिकाएं जो ५ प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा का कथन किया है—वह केवल प्राधान्य के निर्देश से है।

(१०) व्याजस्तुति दो प्रकार की होती है—

(१) निन्दा के स्तुति के गम्यमान होने पर औ
(२) स्तुति से निन्दा के गम्यमान होने पर।

(११) अर्थान्तरन्यास ८ प्रकार का होता है—
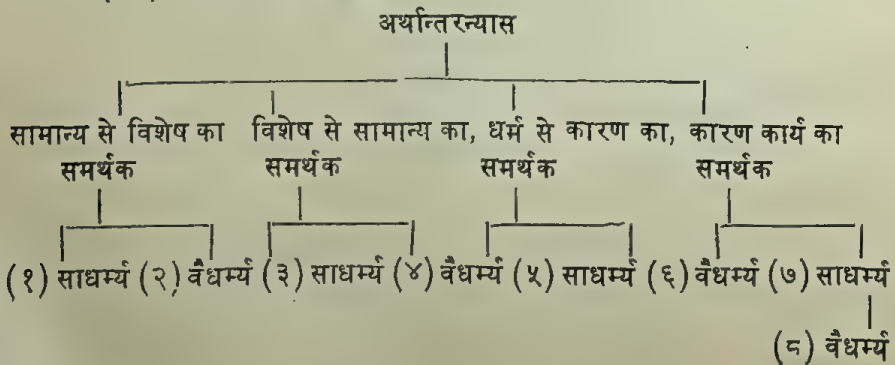
इस प्रकार अर्थान्तरन्यास के आठ भेद हुये।

(१२) अनुमान दो प्रकार का होता है (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान

(१३) आक्षेप के भेद—

- आक्षेप
  - निषेधवत् प्रकाश
    - वक्ष्यमानविषयागत
      - (१) साकल्वननिषेध
      - (२) अंशतनिषेध
    - उक्तविषयागत
      - (३) वस्तुकथन का निषेध
      - (४) वस्तुस्वरूप का निषेध
  - विधिरूपेण प्रकाश (५)
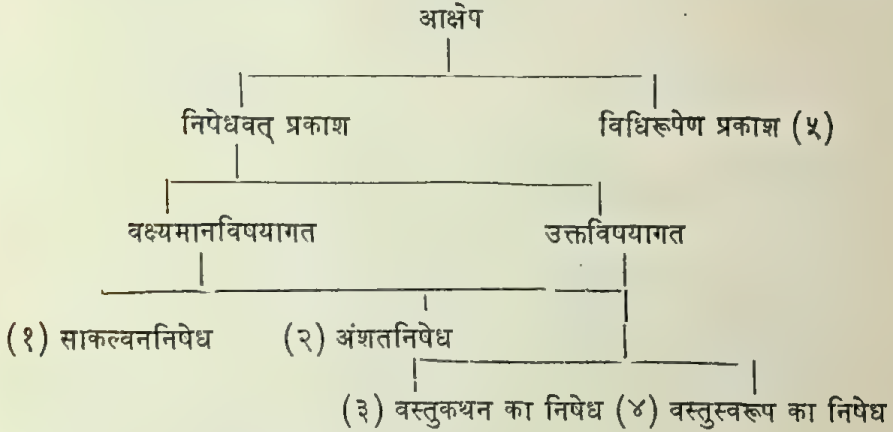
इस प्रकार आक्षेप के ५ भेद हुये—

(१४) विरोधाभास के भेद—विरोधाभास १० प्रकार का होता है—

(१५) विषमालङ्कार ६ प्रकार का होता है—

(१) जन्य और जनक-इन दोनों के गुणों का विरोध
- (१) कार्य के विरुद्ध होने पर
- (२) कारण के विरुद्ध होने पर
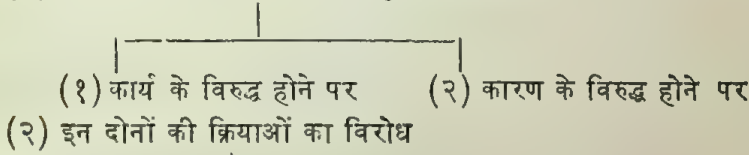
(२) इन दोनों की क्रियाओं का विरोध
- (३) कार्य के विरुद्ध होने पर
- (४) कारण के विरुद्ध होने पर

(३) प्रक्रान्त कर्म की अभिमत फल की प्राप्ति न होने पर अनिष्ट की उत्पत्ति (५)

(४) एक वस्तु में अत्यन्त असम्भव वस्तुओं का सर्वमान (६)

इसप्रकार विषमालङ्कार ६ प्रकार का होता है।

(१६) अधिक दो प्रकार होता है—(१) आश्रयाधिक्य और
(२) आश्रिताधिक्य :

(१७) पर्यायालङ्कार ४ प्रकार का होता है—
(१) एक का अनेक स्थानों पर होना
(२) अनेक का एक स्थान पर होना
(३) एक का अनेक स्थानों पर करना।
(४) अनेक का एक स्थान पर करना।

(१८) परिवृत्ति तीन प्रकार का होता है:-(१) समान से समान का विनिमय।
(२) न्यून से उत्तम का विनिमय।
(३) उत्तम से न्यून का विनिमय।

(१९) परिसंख्या चार प्रकार की होती है—
परिसंख्या
प्रश्नपूर्वक
अप्रश्न पूर्वक
(१) शाब्द
(२) आर्थ
(३) शाब्द
(४) आर्थ
(२०) उत्तर—आठ प्रकार का होता है—
उत्तर
प्रश्न न होने पर प्रतिवचन की रचना करना
अनेक बार प्रश्न होने पर अनेक बार असम्भव प्रतिवचन देना
(१) प्रश्न निरभिप्राय
(२) प्रश्न साभिप्राय
(३) प्रतिवचन निरभिप्राय
(४) प्रतिवचन साभिप्राय
(५) प्रश्न साभिप्राय
(६) प्रश्न निरभिप्राय
(७) प्रतिवचन साभिप्राय
(८) प्रतिवचन निरभिप्राय
(२१) समुच्चयालङ्कार के भेद—
समुच्चय
प्रस्तुत कार्य के एक साधक कारण के होने पर भी उसको सिद्ध करने के लिए युगपत् अनेक साधनों का आ जाना
गुणों की क्रियाओं की अथवा गुण और क्रियाओं की युगपत् उपस्थिति होना
(१) सद्योग
(२) असद्योग
(३) सदसद्योग
(४) सद्योग
(५) असद्योग
(६) सदसद्योग
इसप्रकार समुच्चयालङ्कार के ६ भेद हुये ।
(२२) संसृष्टि के चार भेद—
संसृष्टि
(१) शब्दालङ्कार गत्वेन
(२) अर्थालङ्कारगत्वेन
उभयालङ्कार गत्वेन
(३) शुद्धा
(४) मिश्रा

(२३) सङ्कर के भेद—

(६) अलङ्कारों का परस्पर भेद

(१) **पुनरुक्तवदाभास** और **यमक** में भेद—

पुनरुक्तवदाभास में **भुजङ्गकुण्डली** आदि रूप विभिन्न आकार वाले ही शब्दों का घटकरूप से ग्रहण किया है, और **यमक "नवपलाश-पलाश वनम्"** इत्यादि में समान आकार वाले शब्दों का ही घटक रूप से ग्रहण किया जाता है—यही इन दोनों में अन्तर है।

(२) **पुनरुक्तवदाभास** और **शब्दश्लेष** में भेद—

पुनरुक्तवदाभास में आपाततः प्रतीत होने वाले अर्थ के कारण पुनरुक्तता की प्रतीति होती है, किन्तु समाप्ति में भी पुनरुक्तता नहीं होती है; और **शब्दश्लेष** में अभिधावृत्ति से प्राप्त होने वाले दोनों ही अर्थों की समाप्ति में भी समकक्ष रूप से प्रतीति होती है—यही इन दोनों में भेद है।

(३) **लाटानुप्रास** और **यमक** में भेद—

लाटानुप्रास में **"नयने तस्यैव नयने च"** इत्यादि में निसर्ग से एकार्थक शब्दों में केवल तात्पर्य से अर्थ का भेद होता है; और **यमक** में सम्भव होने पर प्रकृत्यैव भिन्नार्थक किन्तु एक आकार वाले शब्दों का प्रयोग होता है,—यही इन दोनों में भेद है।

(४) **वक्रोक्ति** और **द्वितीयापह्नुति** में भेद—

वक्रोक्ति में गोपनीय वस्तु का पहले स्वयं कथन नहीं होता है, अपितु दूसरे के द्वारा कहे हुए वाक्य को ही अन्यथा किया जाता है; और **द्वितीयापह्नुति—"इह पुरोऽनिल कम्पित विग्रहा"**—इत्यादि में स्पष्ट अभिप्राय वाले अपने कथन को ही अपने आप अन्यथा किया जाता है;—यही इन दोनों में विशेषता है।

(५) **भाषासम** और **भाषाश्लेष** में भेद—

भाषासम में कवि द्वारा प्रयुक्त भाषाओं की केवल एकता होती है, अर्थों में भेद नहीं होता है, और **भाषाश्लेष** में केवल भाषाओं की ही एकरूपता नहीं होती अपितु अर्थों में भी भेद होता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(६) **श्लेष** और **श्लेषगर्भरूपक** में भेद—

श्लेष में अभिधा के द्वारा प्रतिपादित दोनों अर्थों की समकक्षता होती है, और **श्लेषगर्भरूपक—"विद्वन्मानसहंस"** इत्यादि में उद्देश्य विषयभाव से गौणभाव और प्रधानभाव की अपेक्षा से उनकी समकक्षता होती है।

(७) **श्लेष** और **विरोधाभास** में भेद—

श्लेष में अभिधावृत्ति से प्रतिपादित दोनों ही अर्थों की परस्पर निरपेक्ष होने से प्रधानता होती है, और **विरोधाभास**—"**सन्निहित बालान्धकारा भास्व-मूर्तिश्च**" इत्यादि में आपाततः प्रतीत होने वाले विरुद्ध अर्थों के पर्यवसान में न रहने से दोनों अर्थों की समकक्षता नहीं होती है—यही इन दोनों में भेद है।

(८) **शब्दश्लेष** और **तुल्ययोगिता** में भेद—

शब्दश्लेष में अनेक धर्मियों की पृथक्-पृथक् धर्मों के साथ सम्बन्ध रूप में प्रतीति होती है; और **तुल्ययोगिता** में एक ही धर्म की अनेक धर्मियों के साथ सम्बन्ध रूप से प्रतीति होती है—

(९) **शब्दश्लेष** और **समासोक्ति एवं अप्रस्तुतप्रशंसा** में भेद—

शब्दश्लेष में दो प्रकार के ही अर्थों की अभिधावृत्ति से प्रतीति होती है; और **समासोक्ति अप्रस्तुतप्रशंसादि** में दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति से होती है—यह इनमें भेद है।

(१०) **पदभङ्ग कृति श्लेष** और **प्रकृतिश्लेष** में भेद—

पदभङ्ग कृत श्लेष में प्रकृति-विभक्ति और समासादि सभी की ही विलक्षणता होती है; और **प्रकृति श्लेष** में प्रकृति मात्र की विलक्षणता नहीं होती है, विभक्ति और समासादिकों की विलक्षणता नहीं होती है—यह इन दोनों में भेद है।

(११) **प्रत्ययश्लेष** और **विभक्तिश्लेष** में भेद—

प्रत्ययश्लेष में कृदन्त और नहितादि प्रत्ययों के द्वारा निष्पन्न ही दोनों अर्थों अर्थों का ज्ञान होता है; और **विभक्ति श्लेष** में दूसरों प्रत्ययों से असाध्य विशेष चमत्कार को उत्पन्न करने से सुवन्त और तिङन्तात्मक प्रत्यय मात्र के द्वारा निष्पन्न ही दोनों अर्थों का ज्ञान होता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(१२) **उपमा** का **रूपक–परिणाम–प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** प्रभृति से भेदः—

उपमा में उपमान और उपमेय में विद्यमान साधर्म्य का प्रतिपादन अभिधावृत्ति से होता है; और **रूपक-परिणाम-प्रतिवस्तूपमा**—और **दृष्टान्त**प्रभृति अन्य सादृश्य मूलक अलंकारों में साधर्म्य की प्रतीत व्यञ्जना वृत्ति से होती है—यह इनमें विशेषता है।

(१३) **उपमा** और **एकवाक्यगत व्यतिरेक** में भेदः—

उपमा में विरुद्ध धर्मों के कथन के साथ समान धर्म का कथन नहीं होता है, और **एकवाक्यगत व्यतिरेक** "**अकलङ्कमुखं तस्यान कलङ्की विधुर्यथा**"—इत्यादि में विरुद्ध धर्म का भी कथन होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(१४) **उपमा** और **उपमेयोपमा** में भेदः—

उपमा में एक ही वाक्य के अन्दर और उपमेय के साधर्म्य का ज्ञान हो जाता है और **उपमेयोपमा** में—"**कमलेव मतिर्मतिरिव कमला**—"इत्यादि में विभिन्न वाक्यों में उपमान और उपमेय के साधर्म्य की प्रतीति होती है—यही भेद है।

(१५) **उपमा** और **अनन्वय** में भेद—

उपमा में दोनों ही धर्मियों में उपमान और उपमेय का कथन होता है, और **अनन्वय** में—**"राजीवमिव राजीवम्"**—इत्यादि में एक ही धर्मो में उपमान और उपमेय का कथन होता है—यह दोनी में भेद है।

(१६) **श्रौती उपमा** और **आर्थी उपमा** में भेद—

उपमा में तद्धित में वति का उपादान करने पर जहाँ—**"सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य"**—इत्यादि में **"तत्र तस्येव"** (५/१/११६ पा०) इस पाणिनि सूत्र से **"तत्रेव"** **"तस्येव"** इस अर्थ में वति होता है, वहाँ इव के अर्थ में वति का उपादान करने से **श्रौती उपमा** का विषय होता है; और जहाँ—**"मधुरः सुधावदधरः"**—इत्यादि में **"तेन तुल्यम्"** (५/१/११५ पा०) इस पाणिनि सूत्र से तुल्य के अर्थ में वति होता है, वहाँ तुल्य के अर्थ में वति का ग्रहण करने से **आर्थी उपमा** का विषय होता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(१७) **रशनोपमा** और **उपमेयोपमा** में भेद—

रशनोपमा में पहले उपमा में जो उपमेय था पश्चात् उपमा में वही क्रम से उपमान हो जाता है, ओर **उपमेयोपमा** में एक ही उपमा में दोनों ही उपमान और उपमेय को क्रम से उपमेय और उपमान बना दिया जाता है—यही इन दोनों में भेद है।

(१८) **अनन्वय** और **लाटानुप्रास** में भेद—

अनन्वय में **"राजीवमिव पाथोदम्"**—इत्यादि में समान आकार वाले शब्दों का अभाव होने पर भी उपमान और उपमेय में समानाधिकरणमात्र से ही इस अलंकार का निर्वाह हो जाता है तथा समान आकार वाले शब्दों की नियमतः प्रयोजकता नहीं होती है; किन्तु **लाटानुप्रास** में समान आकार वाले शब्दों की ही साक्षात् प्रयोजकता होती है—यही भेद है।

(१९) **उपमेयोपमा** और **अनन्वय** में भेद—

उपमेयोपमा में विभिन्न वाक्यों के अन्दर दोनों उपमान और उपमेयों की क्रम से उपमेय और उपमानता होती है; और **अनन्वय** में एक ही वाक्य में एक ही धर्मी की उपमानोपमेयता होती है—यही इन दोनों में भेद है।

(२०) **रूपक** और **परिणाम** में भेद—

रूपक में समान धर्म से विशिप्ट उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होता है; और **परिणाम** में प्रस्तुत प्रयोजन के साधनत्वेन उपमेय का तादात्म्य उपमान रूप आरोप्यमाण प्रतीत होता है—यह इन दोनों में विशेष है। **अथवा**—**रूपक** में आहार्य के अन्दर ही एक वार अभेद बुद्धि होती है; और तदनन्तर साधर्म्य की प्रतीति होती है—अभेद भुद्धि।

(२१) **रूपक** और **अपह्नुति** में भेद—

रूपक में प्रकृत उपमेय का निषेध किये बिना उपमान के तादात्म्य का व्यवहार

होता है; और **अपह्नुति** में उपमेय का निषेध करके उपमान के तादात्म्य का आरोप होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(२२) **रूपक** और **अतिशयोक्ति** में भेद—

रूपक में चन्द्रादि के आरोप के विषय मुख्यादि वाच्य होते हैं; और **अतिशयोक्ति** में तो—"**लतामूले लीनो हरिणपरिहीनो हिमकरः**" इत्यादि निगीर्ण विषयक मुख्यादि में निष्कलंक चन्द्रादिरूप उपमान के तादात्म्य का आरोप होता है—यह भेद है।

(२३) **एकदेशविवर्तिरूपक** और **एकदेशविवर्तिनी उपमा** में भेद—

एकदेशविवर्तिरूपक में साधर्म्य की उपमान में मुख्यतया स्थिति होती है; और **एकदेशविवर्तिनी उपमा** में साधर्म्य की उपमेय में मुख्यतया स्थिति होती है—यह भेद है।

(२४) **परिणाम** और **रूपक** में भेद—

परिणाम में आरोप्य का तादात्म्य के साथ अन्वय होने से "**स्थितेनोपायनं दूरात्**"—इत्यादि में उपायनादि की प्रस्तुत नायक में सम्भावना के उपयोगी होने से स्मितरूप विषय के साथ तादात्म्य की प्रतीति होती है; और **रूपक** में आरोप्य का केवल अवच्छेदक के साथ अन्वय होने से "**मुख चन्द्रं पश्यामि**" इत्यादि में आरोप्यमाण चन्द्रादि की उपमेय में शोभा की केवल आविष्कारकता है, प्रस्तुत दर्शनादि में उपयोगिता नहीं है—यही इन दोनों में भेद है।

(२५) **सन्देह** और **अतिशयोक्ति** में भेद—

सन्देह में उपमेय में उपमान का संशय अलंकार की व्यवस्था करने वाला है, और **अतिशयोक्ति** में तो—"**मध्यं तव सरोजाक्षि**"—**इत्यादि** में वैसा नियम नहीं है, अपितु केवल संशय मात्र है—यही दोनों में भेद है।

(२६) **सन्देह** और **उत्प्रेक्षा** में भेद—

संशय में दोनों कोटियों के ही समकक्ष होने से संशय की प्रयोजक दोनों कोटियों की ही तुल्यबलता होती है, किन्तु **उत्प्रेक्षा** में तो असमान बल होने के कारण उन दोनों में से एक कोटि में ही प्रबलता होती है—यही भेद है।

(२७) **भ्रान्तिमान्** का **रूपक** और **अतिशयोक्ति** से भेद—

भ्रान्तिमान् में प्रकृत विषय का ज्ञान न होने से होने वाले ज्ञान की अनाहार्य रूपता होती है, और **रूपक** एवं **उपमानोपमेय निगरणरूपातिशयोक्ति** में विषय का ज्ञान होने से उन दोनों की आहार्यरूपता होती है—यही इन दोनों का **भ्रान्तिमान्** से से भेद है।

(२८) **उल्लेख** का **मालारूपक** और **भ्रान्तिमान्** आदि से भेद—

उल्लेख में आरोपणीय वस्तुओं की वास्तविकता होती है और गृहीताओं के भेद की भिन्नता होती है, किन्तु **मालारूपकभ्रान्तिमान्** में तो वैसा नहीं होता है—यही भेद है।

(२९) **उल्लेख** और **अभेद में भेदरूपातिशयोक्ति** में भेद—

उल्लेख में वास्तविक पदार्थों का ही एक ही विषय में सामान्यरूप से कथन-मात्र होता है; और **अभेद में भेदरूपातिशयोक्ति** में तो—**"अन्यदेवाङ्गलावण्यम्"**—**इत्यादि** में लावण्यादि विषय का पृथक् रूप से अध्यवसान होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(३०) **द्वितीयापह्नुति** और **व्याजोक्ति** में भेद—

द्वितीयापह्नुति में गोपनीय वस्तु का भी किसीप्रकार पहले कहना आवश्यक है; किन्तु **व्याजोक्ति** में गोपनीय वस्तु का पहले स्वयं कृत अभिधान नहीं होता है—यही भेद है।

(३१) **निश्चय** और **निश्चयान्तसन्देह** में भेद—

निश्चय में सन्देह और निश्चय के पृथक्-पृथक् आश्रय होने से अधिकरण वैविध्य होता है, और **निश्चयान्त सन्देह** में पहले जिसका संशय होता है, अन्त में उसी का निश्चय हो जाता है; अतः इसप्रकार सन्देह और निश्चय का समान अधिकरण होता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(३२) **निश्चय** और **रूपकध्वनि** में भेद—

निश्चय में आरोप्यमाण का निषेध करने के साथ प्रकृत का स्थापन होता है; और **रूपकध्वनि** में प्रकृत विषय में आरोप्यमाण का तादात्म्यरूप से निर्द्धारण होता है, निषेध नहीं—यही भेद है।

(३३) **निश्चय** और **प्रथमापह्नुति** में भेद—

निश्चय में उपमान का निषेध करके उपमेय का स्थापन होता है, और **प्रथमापह्नुति** में उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान का स्थापन होता है—यही इनमें भेद है।

(३४) **उत्प्रेक्षा** का **रूपक-भ्रान्तिमान्-अतिशयोक्ति** आदिकों से भेद—

उत्प्रेक्षा में तादात्म्य के संसर्ग से उपमान प्रकारक और उपमेय विशेष्यक उत्कट एक कोटि का संशय होता है; और **रूपक-भ्रान्तिमान्-एवं अतिशयोक्ति** आदि में तादात्म्य के संसर्ग से उपमान प्रकारक-उपमेय विशेष्यक निश्चय होता है—यह उत्प्रेक्षा से रूपकादिकों का सामान्यतया भेद होता है।

(३५) **उत्प्रेक्षा** और **भ्रान्तिमान्** में भेद—

उत्प्रेक्षा में सम्भावना करने वाले पुरुष को सम्भावना के विषय प्रकृत का भी ज्ञान होता है, और **भ्रान्तिमानलङ्कार** में **"मुग्धादुग्धधिया"**—**इत्यादि** में भ्रान्त गोपादिकों को प्रकृत विषय चन्द्रिकादि का ज्ञान नहीं रहता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(३६) **उत्प्रेक्षा** और **अतिशयोक्ति** में भेद—

उत्प्रेक्षा में वाक्यार्थ प्रतीति के समय में ही आरोप्यमाण वस्तु की असत्यता का ज्ञान हो जाता है, और **अतिशयोक्ति** में प्रतीत होते हुए ही आरोप्यमाण की

वाक्यार्थ की विवेचना के अनन्तर ही असत्यता की प्रतीति होती है—यही इनमें भेद है।

(३७) **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** और **उत्प्रेक्षाध्वनि** में भेद :—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में—"**तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन**"......इत्यादि में स्तनों के अन्दर लज्जा के असम्भव होने से "**लज्जयेव**" इस उत्प्रेक्षा के द्वारा ही वाक्य की समाप्ति हो जाती है; किन्तु **उत्प्रेक्षाध्वनि** में— "**महिलासहस्स......इत्यादि**" में उत्प्रेक्षा के विना भी वाक्य की विश्रान्ति हो जाती है—यही इन दोनों में भेद है।

(३८) **फलोत्प्रेक्षा** और **हेतूत्प्रेक्षा** में भेद :—

फलोत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्ष्यमाण का हेतु ही कारण होता है, और **हेतूत्प्रेक्षा** में फल कारण होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(३९) **अतिशयोक्ति** और **उत्प्रेक्षा** में भेद :—

अतिशयोक्ति में आरोप्यमाण का निश्चित रूप से कथन होने के कारण अध्यवसाय सिद्ध होता है, और **उत्प्रेक्षा**में आरोप्यमाण का अनिश्चित रूप से कथन होने से साध्य होता है—यही इनमें विशेषता है।

(४०) **तुल्ययोगिता** और **दीपक** में भेद :—

तुल्ययोगिता में दोनों प्रकृत अथवा दोनों अप्रकृत (प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का नहीं;) पदार्थों का गुण और क्रिया में से किसी एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है; और **दीपक** में प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का गुण और क्रिया में से किसी एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है—यही इनमें विशेषता है।

(४१) **दीपक** और **उपमा** में भेद :—

दीपक में साम्य का ज्ञान कराने वाले इव-वत् आदि पदों का नियमतः प्रयोग नहीं होता है, किन्तु **उपमा** के उदाहरण "**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**" में साम्य का ज्ञान कराने वाले इव-वत् आदि पदों का नियम से प्रयोग होता है—यही इनमें भेद है।

(४२) **प्रतिवस्तूपमा** और **दीपक** में भेद :—

प्रतिवस्तूपमा में प्रकृत और अप्रकृत में से एक के ही धर्म का विभिन्न आकार से निर्देश होता है, और **दीपक** में उस प्रकार के एक के ही धर्म का एक आकार से ही निर्देश होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(४३) **दृष्टान्त** और **प्रतिवस्तूपमा** में भेद :—

दृष्टान्त में—प्रतिबिंबनमत सादृश्य—उपमान तथा उपमेयगत सादृश्य का भिन्न-भिन्न पदों द्वारा अभिधान होता है। **प्रतिवस्तूपमा** में तो उपमानोपमेयवत् साम्य का ऐक्यरूप ही होता है।

(४४) **दृष्टान्त** और **प्रतिवस्तूपमा** का **अर्थान्तरन्यास** से भेद :—

दृष्टान्त और **प्रतिवस्तूपमा** में न तो सामान्य और विशेष भाव होता है और न ही समर्थ्य-समर्थक भाव होता है, किन्तु **अर्थान्तरन्यास** में सामान्य—विशेष भाव से समर्थ्य - समर्थक भाव की प्रतीति होती है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(४५) **निदर्शना** और **दृष्टान्त** में भेद :—

निदर्शना में विम्वप्रतिविम्व भाव के आक्षेप के विना वाक्यार्थ का पर्यवसान नहीं होता है, और **दृष्टान्त** में स्वतः पर्यवसित वाक्यार्थ से सामर्थ्य के कारण बिम्ब प्रतिविम्ब भाव की प्रतीति है—यही इन दोनों में भेद है।

(४६) **निदर्शना** और **अर्थापत्ति** में भेद :—

निदर्शना में वाक्यार्थ का सादृश्य में पर्यवसान होता है, और **अर्थापत्ति** में दण्डापूपिका न्याय से दूसरे अर्थ की केवल प्रतीति होती है—यही इनमें भेद है।

(४७) **समासोक्ति** और **एकदेशविवर्त्तिरूपक** में भेद :—

(विशेषण साम्य निबन्धन) समासोक्ति में कहीं एकदेश का रूपण होने पर भी रूप्य-रूपकभाव का प्रकट सादृश्य होने के कारण एक दूसरे की अनुकूलता की अपेक्षा के बिना ही अपने आप में विश्रान्ति हो जाती है, और **एकदेशविवर्त्तिरूपक** में प्रकट सादृश्य वाले अनेकों के रूपण के शाब्द होने पर भी एक देश के अर्थ होने के कारण सादृश्य के स्फुट न होने से दूसरे की अनुकूलता की अपेक्षा होती है–यही भेद है।

(४८) **समासोक्ति** और **रूपक** में भेद :—

समासोक्ति में अप्रस्तुत पदार्थ अपनी अवस्था के आरोप से आच्छादित स्वरूप वाले ही प्रस्तुत को पूर्व की अवस्था से विशिष्ट करता है, और **रूपक** में आरोपणीय अप्रस्तुत ही वस्तु अपने स्वरूप के सन्निवेश से केवल प्रकृत के स्वरूप को ही आच्छादित करता है—यही इन दोनों में विशेषता है।

(४९) **समासोक्ति** का **उपमाध्वनि** और **श्लेष** से भेद :—

समासोक्ति में केवल विशेषण का सादृश्य प्रतीत होता है, और **उपमाध्वनि** तथा **श्लेष** में विशेष्य और विशेषण—दोनों का ही सादृश्य प्रतीत होता है—यही भिन्नता है।

(५०) **अर्थश्लेष** और **शब्दश्लेष** में भेद—

अर्थश्लेष में अभिधा से एक अर्थ का ज्ञान कराने वाले भी शब्दों से अभिधा और लक्षणा के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन होता है, और **शब्दश्लेष** में केवल अभिधा से प्रतिपाद्य अनेकार्थक शब्दों से अनेकार्थों का कथन होता है—यह इन दोनों में भेद है।

(५१) **अप्रस्तुतप्रशंसा** और **दृष्टान्त** में भेद—

अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं अप्रसिद्ध भी वस्तु का प्रतिबिम्ब मात्र से उपादान

वाक्यार्थ की विवेचना के अनन्तर ही असत्यता की प्रतीति होती है—यही इनमें भेद है।

(३७) **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** और **उत्प्रेक्षाध्वनि** में भेद :—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में—"**तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन**"......इत्यादि में स्तनों के अन्दर लज्जा के असम्भव होने से "**लज्जयेव**" इस उत्प्रेक्षा के द्वारा ही वाक्य की समाप्ति हो जाती है; किन्तु **उत्प्रेक्षाध्वनि** में— "**महिलासहस्स......इत्यादि**" में उत्प्रेक्षा के विना भी वाक्य की विश्रान्ति हो जाती है—यही इन दोनों में भेद है।

(३८) **फलोत्प्रेक्षा** और **हेतूत्प्रेक्षा** में भेद :—

फलोत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्ष्यमाण का हेतु ही कारण होता है, और **हेतूत्प्रेक्षा** में फल कारण होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(३९) **अतिशयोक्ति** और **उत्प्रेक्षा** में भेद :—

अतिशयोक्ति में आरोप्यमाण का निश्चित रूप से कथन होने के कारण अध्यवसाय सिद्ध होता है, और **उत्प्रेक्षा**में आरोप्यमाण का अनिश्चित रूप से कथन होने से साध्य होता है—यही इनमें विशेषता है।

(४०) **तुल्ययोगिता** और **दीपक** में भेद :—

तुल्ययोगिता में दोनों प्रकृत अथवा दोनों अप्रकृत (प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का नहीं;) पदार्थों का गुण और क्रिया में से किसी एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है; और **दीपक** में प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों का गुण और क्रिया में से किसी एक धर्म के साथ सम्बन्ध होता है—यही इनमें विशेषता है।

(४१) **दीपक** और **उपमा** में भेद :—

दीपक में साम्य का ज्ञान कराने वाले इव-वत् आदि पदों का नियमतः प्रयोग नहीं होता है, किन्तु **उपमा** के उदाहरण "**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**" में साम्य का ज्ञान कराने वाले इव-वत् आदि पदों का नियम से प्रयोग होता है—यही इनमें भेद है।

(४२) **प्रतिवस्तूपमा** और **दीपक** में भेद :—

प्रतिवस्तूपमा में प्रकृत और अप्रकृत में से एक के ही धर्म का विभिन्न आकार से निर्देश होता है, और **दीपक** में उस प्रकार के एक के ही धर्म का एक आकार से ही निर्देश होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(४३) **दृष्टान्त** और **प्रतिवस्तूपमा** में भेद :—

दृष्टान्त में—प्रतिबिंबनमत सादृश्य—उपमान तथा उपमेयगत सादृश्य का भिन्न-भिन्न पदों द्वारा अभिधान होता है। **प्रतिवस्तूपमा** में तो उपमानोपमेयवत् साम्य का ऐक्यरूप ही होता है।

(४४) **दृष्टान्त** और **प्रतिवस्तूपमा** का **अर्थान्तरन्यास** से भेद :—

दृष्टान्त और **प्रतिवस्तूपमा** में न तो सामान्य और विशेष भाव होता है और न ही समर्थ्य-समर्थक भाव होता है, किन्तु **अर्थान्तरन्यास** में सामान्य—विशेष भाव से समर्थ्य – समर्थक भाव की प्रतीति होती है—यही इन दोनों में विशेषता है /

(४५) **निदर्शना** और **दृष्टान्त** में भेद :—

निदर्शना में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव के आक्षेप के बिना वाक्यार्थ का पर्यवसान नहीं होता है, और **दृष्टान्त** में स्वतः पर्यवसित वाक्यार्थ से सामर्थ्य के कारण बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की प्रतीति है—यही इन दोनों में भेद है ।

(४६) **निदर्शना और अर्थापत्ति में भेद** :—

निदर्शना में वाक्यार्थ का सादृश्य में पर्यवसान होता है, और **अर्थापत्ति** में दण्डापूपिका न्याय से दूसरे अर्थ की केवल प्रतीति होती है—यही इनमें भेद है ।

(४७) **समासोक्ति** और **एकदेशविवर्त्तिरूपक** में भेद :—

(विशेषण साम्य निबन्धन) समासोक्ति में कहीं एकदेश का रूपण होने पर भी रूप्य-रूपकभाव का प्रकट सादृश्य होने के कारण एक दूसरे की अनुकूलता की अपेक्षा के बिना ही अपने आप में विश्रान्ति हो जाती है, और **एकदेशविवर्त्तिरूपक** में प्रकट सादृश्य वाले अनेकों के रूपण के शाब्द होने पर भी एक देश के अर्थ होने के कारण सादृश्य के स्फुट न होने से दूसरे की अनुकूलता की अपेक्षा होती है–यही भेद है ।

(४८) **समासोक्ति** और **रूपक** में भेद :—

समासोक्ति में अप्रस्तुत पदार्थ अपनी अवस्था के आरोप से आच्छादित स्वरूप वाले ही प्रस्तुत को पूर्व की अवस्था से विशिष्ट करता है, और **रूपक** में आरोपणीय अप्रस्तुत ही वस्तु अपने स्वरूप के सन्निवेश से केवल प्रकृत के स्वरूप को ही आच्छादित करता है—यही इन दोनों में विशेषता है ।

(४९) **समासोक्ति** का **उपमाध्वनि** और **श्लेष** से भेद :—

समासोक्ति में केवल विशेषण का सादृश्य प्रतीत होता है, और **उपमाध्वनि** तथा **श्लेष** में विशेष्य और विशेषण – दोनों का ही सादृश्य प्रतीत होता है—यही भिन्नता है ।

(५०) **अर्थश्लेष** और **शब्दश्लेष** में भेद—

अर्थश्लेष में अभिधा से एक अर्थ का ज्ञान कराने वाले भी शब्दों से अभिधा और लक्षणा के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन होता है, और **शब्दश्लेष** में केवल अभिधा से प्रतिपाद्य अनेकार्थक शब्दों से अनेकार्थों का कथन होता है—यह इन दोनों में भेद है ।

(५१) **अप्रस्तुतप्रशंसा** और **दृष्टान्त** में भेद—

अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं अप्रसिद्ध भी वस्तु का प्रतिबिम्ब मात्र से उपादान

होता है, और **दृष्टान्त** में सर्वत्र प्रख्यात ही वस्तु का प्रतिबिम्बमात्र से उपादान होता है—यही इन दोनों की भिन्नता है।

(५२) **अप्रस्तुतप्रशंसा** और **शब्दशक्तिमूलकवस्तुध्वनि** में भेद—

अप्रस्तुतप्रशंसा में व्यवहार की प्रतीति श्लिष्ट शब्दों के प्रयोगमात्र से नहीं होती है अपितु विशेषणों के साम्य के आधार पर होती है—और **शब्दशक्ति-मूलकवस्तुध्वनि** में विशेषणों के साम्य के अनुसन्धान की अपेक्षा नहीं होती है— यहीं इनमें भेद है—

(५३) **अप्रस्तुतप्रशंसा** का **समासोक्ति** और **श्लेष** में भेद—

अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना वृत्ति से होती है, तथा **समासोक्ति** और **श्लेष** में प्रकरणादि का नियम न होने से प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की ही वाच्यता होती है—यही इन दोनों की अप्रस्तुतप्रशंसा से विशिष्टता है।

(५४) **पर्यायोक्ति** और **कार्य से कारण प्रतीति रूप अप्रस्तुतप्रशंसा** में भेद—

पर्यायोक्ति में कारण की तरह कार्य भी प्रस्तुत होता है, और **कार्य से कारण प्रतीति रूप अप्रस्तुतप्रशंसा** में कार्य प्रस्तुत नहीं होता है—यह इन दोनों में भेद है।

(५५) **काव्यलिङ्ग—आर्थान्तरन्यास** और **अनुमान** में भेद—

काव्यलिङ्ग में निष्पादक हेतु विषय होता है, **कार्य कारणभाव अर्थान्तरन्यास** में समर्थक हेतु विषय होता है, और **अनुमान** में ज्ञापक हेतु विषय होता है—इनका हेतुगत विशेषता से परस्पर भेद होता है।

(५६) **अनुमान** और **उत्प्रेक्षा** में भेद—

अनुमान में विषयी की निश्चित रूपेण प्रतीति होती है, और **उत्प्रेक्षा** में अनिश्चित रूपेण प्रतीति होती है—यही दोनों में भेद है।

(५७) **विभावना** और **विशेषोक्ति** में भेद—

विभावना में कारण के होने से उपनिबध्यमान होने के कारण कार्य की ही बाध्यरूप से प्रतीति होती है, और **विशेषोक्ति** में कार्य के न होने से उपनिबध्यमान होने के कारण, कारण की ही बाध्यरूप से प्रतीति होती है—यही इनमें विशेषता है।

(५८) **विशेषोक्ति** और **अतद्गुण** में भेद—

विशेषोक्ति में सामान्यतः कारण के विद्यमान होने पर भी सामान्यरूप से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, और **अतद्गुण** में उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के पास में विद्यमान रूप विशेष कारण के होने पर भी उसप्रकार के गुणों के ग्रहण करने पर रूप विशेष कार्य का अभाव होता है— यही इन दोनों में भेद है।

(५९) **विरोध** का **विशेषोक्ति** और **विभावना** से भेद—

विरोध में हेतु और हेतुमान् दोनों की ही परस्पर बाध्य रूप से प्रतीति होती है, किन्तु **विशेषोक्ति** और **विभावना** में कार्य और कारण के न होने से उपनिबध्यमान होने के कारण क्रमशः हेतु और हेतुमान् की बाध्य रूप से प्रतीति होती है—यही परस्पर भेद है।

(६०) **असङ्गति** और **विरोध** में भेद—

असङ्गति में कार्य कारण के वैयधिकरण्य में होने से विलक्षण वैचित्र्य का आधायक होता है अतः कार्य और कारण में वैयधिकरण्य की कल्पना की जाती है, और **विरोध** में स्वतः सामानाधिकरण के अन्दर भी विरोध की कल्पना होती है—यह भेद है।

(६१) **विषम** और **अतद्गुण** में भेद—

विषम में कारण के अन्दर जैसा गुण होता है, कार्य में उसके विरुद्ध ही गुण उत्पत्ति होती है; और **अतद्गुण** में कार्य के अपने गुण के विरोधी कारण गुण की उत्पत्ति की सम्भावना होने पर भी उसकी उत्पत्ति नहीं होती है—इनमें यही भेद है।

(६२) **विशेष** और **पर्याय** में भेद—

विशेष में एक वस्तु की अनेक स्थानो पर युगपद् स्थिति होती है, और **पर्याय** में एक वस्तु की ही अनेक स्थानो पर क्रम से ही विद्यमानता होती है—यही इनमें भेद है।

(६३) **कारणमाला** और **मालादीपक** में भेद—

कारणमाला में पूर्व पूर्व वस्तु की उत्तर उत्तर वस्तु के प्रति केवल कारणता होती हैं, और **मालादीपक** में पूर्व पूर्व अर्थ की उत्तरोत्तर के विषय में कारणता और सभी की एक क्रिया के साथ अन्वय का नियम होता है—यही इनमें भेद है।

(६४) **परिवृत्ति** और **पर्याय** में भेद—

परिवृत्ति में एक वस्तु का त्याग और दूसरी वस्तु का उपादान रूप विनिमय होता है, और **पर्याय** में दूसरे वस्तु को ग्रहण करने के प्रति अन्य वस्तु के त्याग करने का नियम नहीं होता है—यही इनमें भेद है।

(६५) **प्रतीयमान निषेधात्मक प्रश्न परिसंख्या** और **द्वितीयोत्तर** में भेद—

प्रतीयमान निषेधात्मक प्रश्न परिसंख्या में अन्य के निषेध के ही विलक्षण वैचित्र्य के आधायक होने से कवि का उसी विषय में ही तात्पर्य होता है; और **द्वितीयोत्तर** में अनेक बार प्रश्नपूर्वक अनेक बार केवल उत्तर होता है, किसी अन्य का निषेध नहीं होता है– यही इन दोनों में भेद है।

(६६) **प्रश्नोत्तर** और **अनुमान** में भेद—

प्रश्नोत्तर में उक्त साधन से अनुक्त साध्य का ज्ञान होता है; और **अनुमान** में उक्त साधन से ही उक्त साध्य का ही ज्ञान होता है— यही इनमें भेद होता है।

(६७) **प्रश्नोत्तर** और **काव्यलिङ्ग** में भेद—

प्रश्नोत्तर में प्रश्न के प्रति उत्तर का कल्पकत्व रूप हेतु होता है, निष्पादकत्व हेतु भी नहीं होता है; और **काव्यलिङ्ग** में वाक्य और पदार्थों का निष्पादकत्व रूप हेतु होता है— यही इन दोनों में विशेषता है।

(६८) **अर्थापत्ति** और **अनुमान** में भेद—

अर्थापत्ति में ज्ञाप्य और ज्ञापक की अव्यभिचरित समानाधिकरण्य रूप व्याप्ति के न होने से नियत सामान्य न्याय से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु **अनुमान** में साध्य और साधन के अन्दर उस प्रकार की व्याप्ति रूप सम्बन्ध के ग्रहण के उत्पन्न उसप्रकार के पदार्थ का ज्ञान होता है— यही इनमें भेद है।

(६९) **समुच्चय** और **समाधि** में भेद—

समुच्चय में किसी कार्य को निष्पन्न करने के लिए सभी कारणों की खले कपोतन्याय से युगपद् रूप से अवस्थित होती है, और **समाधि** में एक कार्य के लिए सम्पूर्ण साधक के होने पर भी उस कार्य की सुगमता के लिए काकतालीय न्याय से दैववश अन्य कारण की उपस्थिति हो जाती है— यही इन दोनों में विशेपता है।

(७०) **द्वितीयसमुच्चय** और **दीपक** में भेद—

द्वितीयसमुच्चय में नियम से कार्य-कारण के काल भी नियम से विपर्यय रूप अतिशयोक्ति मूल में होती है, और **दीपक** में उस अतिशयोक्ति की मूलकता नहीं होती है— यही इनमें भेद है।

(७१) **सामान्य** और **मीलित** में भेद—

सामान्य में दोनों ही पदार्थों के समान गुणशाली होने के कारण परस्पर भेद का ग्रहण नहीं होता है, और **मीलित** में उत्कृष्ट गुणवाली वस्तु से निकृष्ट गुणवाली वस्तु का तिरोधान होता है— यही इनमें भेद है।

(७२) **तद्गुण** और **मीलित** में भेद—

तद्गुण में समीपवर्ती विजातीय उत्कृष्ट गुण से अपने ही निकृष्ट गुण का तिरोधान होता है, वस्तु का तिरोधान नहीं होता है; और **मीलित** में वस्तु का भी तिरोधान होता है— यही इनमें विशिष्टता है।

(७३) **व्यजोक्ति** और **प्रथमापह्नुति** में भेद—

व्याजोक्ति में गोपन करने वाले से भिन्न काव्यादि से अपकृत के आरोप के विषय की व्यञ्जना होती है, अभिधा से प्रतिपादित नहीं होता है, और **प्रथमापह्नुति** में अपह्नव करने वाले प्रकृत के गोपन से अपकृत विषय का प्रतिपादन किया जाता है— यही इनमें विशेषता है।

(७४) **स्वभावोक्ति और भाविक में भेद—**

स्वभावोक्ति में लौकिक वस्तुगत केवल कविमात्र संवेद्य सूक्ष्म धर्म वाले स्वभाव का ही यथावत् वर्णन होता है, और **भाविक** में वस्तु विशेष की वर्णन वैशिष्ट्य से प्रत्यक्षवत् प्रतीत्ति होती है— यही इनमें भेद है।

(७५) **भाविक और अतिशयोक्ति में भेद—**

भाविक में भूत और भावी पदार्थों की वर्णन वैशिष्ट्य से प्रत्यक्षवत् प्रतीति होती है, और **अतिशयोक्ति** में उपमेय के अन्दर उपमान के अभेदरूप आरोप का सिद्धवत् निर्देश होता है— यह। इनमें भिन्नता है।

(७६) **भाविक और भ्रान्तिमान् में भेद—**

भाविक में भूत और भावी वस्तुओं का भूत और भावीरूप से ही ज्ञान होता है; किन्तु **भ्रान्तिमान्** में असत्पदार्थ का भी तत्पदार्थरूप से ज्ञान होता है— यही इन दोनों भेद है।

———

॥ ओ३म् ॥

श्रीमद्विश्वनाथ-कविराज-प्रणीत:

साहित्यदर्पण:

सप्तम: परिच्छेद:

इह हि प्रथमत: काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शित:। सम्प्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

अवतरणिका—काव्य का भेदोपभेद सहित वर्णन करने के उपरान्त दोष, गुणादिकों का निरूपण करते हैं। इनमें दोनों की प्रधानता होने के कारण "**स्याद्वपु: सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्**" इस न्याय से दोषों के होने पर गुणादिकों की पुन: कोई उपयोगिता नहीं रहती है किन्तु यदि दोषों का अभाव है तो गुणादिकों के बिना भी कुछ न कुछ आनन्द की प्राप्ति सम्भव हो सकती है क्योंकि "**अदोषतैव विगुणस्य गुण:**" यह न्याय है। यद्यपि पहले "**दोषास्तस्यापकर्षका:**" ऐसा कहकर दोष के स्वरूप का वर्णन किया जा चुका है तथापि पुन: "**रसापकर्षका दोषा:**" ऐसा कहने से पुनरुक्ति दोष की कोई शंका न करे अत: उसका निराकरण करने के लिये कहते हैं।

अर्थ—यहाँ (इस निरुप्यमाण काव्य में) पहले (दोषादिकों के निरूपण से पूर्व अर्थात् प्रथम परिच्छेद में) काव्य-लक्षण में दोष, गुण, रीति और अलकारों की [रीति का छन्द के अनुरोध से पश्चात् निर्देश होने पर भी वर्णन करने की दृष्टि से अलंकारों के निरूपण से पूर्व ही उसका (रीति का) वर्णन करेंगे अत: यहाँ पर अलंकारों से पूर्व रीति का निर्देश किया है] अवस्थिति का क्रम दिखाया है। ["**दोषास्तस्यापकर्षका:**" ऐसा कहकर अपकर्षक होने से दोषों का प्रकार दिखाया है और "**उत्कर्षहेतव: प्रोक्ता गुणालङ्काररीतय:**" ऐसा कहकर गुणादिकों के उत्कर्षक होने से अवस्थिति का प्रकार दिखाया है।] सम्प्रति वे (दोष) कैसे हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर उद्देशक्रम प्राप्त ["**नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनमुद्देश: इति उद्देशलक्षणम्**"] दोषों के स्वरूप को ("**स्वं-असाधारणं रूपं—इतरव्यावर्तको धर्म: लक्षणम्**") बताते है।

टिप्पणी—आशय यह है कि "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" इसके अनन्तर ही "**दोषास्तस्यापकर्षका:**" इससे दोषों का कथन करने से भेदोपभेद सहित काव्य के स्वरुप का बोध होने के अनन्तर ही दोषों के स्वरुप को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। अत: सम्प्रति दोषों का लक्षण कहना ठीक है। और इसीसे उपोद्घात की संगति भी ठीक हो जाती है। अत: "**दोषास्तस्यापकर्षका:**" यह काव्य में दोषों की अवस्थिति का क्रम वताने वाला है और "**रसापकर्षका: दोषा:**" यह दोषों का सामान्य लक्षण है अत: पुनरुक्ति नहीं है—ऐसा विद्वानों को समझ लेना चाहिये।

रसापकर्षका दोषाः—

अवतरणिका—दोषों का सामान्य लक्षण करते हैं।

अर्थ—(दोष का लक्षण) **रसेति**—रस का (काव्य की आत्माभूत चमत्कार विशेष का) अपकर्ष करने वाले [अर्थात् साक्षात् या परम्परा से अपनी उपस्थिति से रस में प्रतिबन्ध करने वाले] **दोष** (काव्यवृत्तिधर्मविशेष) होते हैं।

टिप्पणी (१)—**"रसापकर्षका दोषाः"** यहाँ रस शब्द से **रस्यते आस्वाद्यते** इस व्युत्पत्ति के द्वारा रसाभासादि का भी ग्रहण होता है। **प्रश्न**—इसप्रकार नीरस काव्य के अन्दर तो कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि उन स्थलों पर रस ही विद्यमान नहीं है—जिसका कि दोषों के कारण अपकर्ष हो। **उत्तर**—ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि वहां पर (नीरस स्थलों पर) भी दोष अविलम्बित और चमत्कारी वाक्यार्थों की प्रतीति के विघातक हो सकते हैं, अतः हेय हैं। परन्तु सरस स्थलों पर तो सभी दोष हेय होते हैं। इसलिये यहाँ "रस" शब्द नीरस स्थलों पर अविलम्बित चमत्कारी वाक्यार्थ का परिचायक है। **तथा च रस रसाभास-भाव-भावाभास-सन्धि-शबलतादि** सभी का "रस" शब्द से ग्रहण होता है।

(२) **रस का** अपकर्ष तीन प्रकार से होता है।

(१) **रसादिप्रतीतिप्रतिबन्ध**:—रसास्वाद आदि की प्रतीति के **प्रतिबन्ध से—रुक जाने से** ।

(२) **रसादिप्रकर्षप्रतीतिप्रतिबन्धः**—रसादि की उत्कृष्टता की प्रतीति के **विघातक होने से**।

(३) **रसादिप्रतीतिविलम्बनं च**—रसादि की प्रतीति में विलम्ब करने वाले **कारणों के उपस्थित हो जाने से**।

(३) **काव्य** एक पुरुष विशेष है, जिसके वाक्य शरीर है और रस उसकी अन्तर्यामी आत्मा है। जिसप्रकार पुरुषों में कुछ **दोष** (१) आगन्तुक (बाहर से आने वाले) होते हैं। (२) कुछ जन्मसिद्ध होते हैं। इनमें से भी (आगन्तुक और जन्मसिद्ध दोषों में से) (१) कुछ शरीरगत होते हैं और (२) कुछ आत्मगत होते हैं। इसीप्रकार ही **वाक्यगत, रसगत, अनित्य और नित्य**—काव्य-दोष भी अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से **आगन्तुक दोष** प्रायः अनित्य होते हैं, **जन्मसिद्ध दोष** प्रायः नित्य होते हैं। इनमें से भी कुछ शरीरगत होते है—**यथा—आगन्तुक दोष**—वातप्रकोपादि,, **जन्मसिद्ध दोष** असुन्दरत्वादि। **आत्मगत आगन्तुक दोष**—दुःखादि, **आत्मगत जन्मसिद्ध दोष** मूढ़त्वादि। इसीप्रकार **दुःश्रवत्वादि** दोष वाक्यमात्र के आश्रित होने से अनित्य है, **च्युतसंस्कारादि** दोष नित्य है तथा **रसगत** दोष उस-उस रस के अपने शब्द से वाच्य होने के कारण नित्य और अनित्य हैं।

(४) **प्रदीपकार** ने इसी को और अधिक स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है--**तथाहि—"उद्देश्यप्रतीतिविघातलक्षणो दोषः"**—यह **दोष** का सामान्य लक्षण है। **उद्देश्य प्रतीति दो प्रकार की होती है** (१) रसविषया और (२) अर्थविषया। इनमें से रसविषया उद्देश्यप्रतीति–अविलम्बिता तथा अनपकृष्ट रसवती होती है, और अर्थ-विषया उद्देश्यप्रतीति अविलम्बिता और चमत्कारिणी होती है। इसप्रकार दोनों प्रकार की प्रतीति के विघातक ही दोष होते हैं। इसमें सभी एक मत हैं। क्योंकि काव्य के दोष दुष्ट होने पर कहीं तो (१) रस की प्रतीति ही नहीं होगी, (२) कहीं प्रतीयमान रस का अपकर्ष होगा और (३) कहीं रस की प्रतीति विलम्ब से होगी। इसीप्रकार नीरस स्थलों पर कहीं मुख्यार्थ की अप्रतीति होगी, कहीं विलम्ब से प्रतीति होगी और कहीं चमत्कार शून्यता होगी—इसप्रकार दोषों में उद्देश्य की प्रतीति का न होना सुस्पष्ट ही है। इस उद्देश्य प्रतीति की विघातकता कहीं साक्षात् होती है—**यथा—"स्वशब्दवाच्यत्वादि सदोषों में। यथा—"चन्द्रमण्डलमालोक्य शृंगारे मग्न-मन्तरम्—यहाँ शृंगार का स्वशब्द से वाच्यत्व दोष है।**

कहीं परम्परा से **यथा**—शब्दार्थवर्णरचना दोषों में—यथा–"**कातार्थ्यं यातु तन्वङ्गी**" में दुःश्रवत्वादि दोष। उनमें भी किसी की अर्थोपस्थिति का अभाव होता है, यथा—**असमर्थत्वादि** में। किसी का विलम्ब से—**यथा—निहतार्थत्वादि** में। किसी का वाक्य के अर्थ का बोध न होने से। **यथा**—च्युतसंस्कारादि में। किसी का विलम्ब से—**यथा—क्लिष्टत्वादि** में। कोई सहृदयों की विमुखता को उत्पन्न करता है, **यथा—निरर्थकत्वादि**। कहीं विरोध की उपस्थिति से अथवा विपरीत के उपस्थापन से—यथा—**विरुद्धमतिकारिता**। कहीं ज्ञात की विघातकता होती है। **यथा**—व्याहतत्वादि दोषों में। किसी का स्वरूप में स्थित होने से, **यथा—निहतार्थ-त्वादि** दोषों में। यह दो प्रकार का होता है–नित्य और अनित्य। उनमें से अनुकरण से अन्य प्रकार से समाधान करने में अशक्य **नित्य** होता है। **यथा**—च्युतसंस्कार-त्वादि। इससे भिन्न **अनित्य** होता है। **यथा**—अप्रयुक्तत्वादि। अथवा जो सर्वदा ही हेय होता है वह **नित्य** है, **यथा**–च्युतसंस्कारत्वादि। इससे अन्य **अनित्य** होता है–**यथा** शृंगारादि में हेय भी दुःश्रवत्व रौद्रादि में उपादेय होता है।

अवतरणिका—प्रश्न—यह उक्त ("**रसापकर्षका दोषाः**") लक्षण श्रुतिदुष्ट, अपुष्टार्थत्वादि दोषों में घटित न होने से अव्याप्त है क्योंकि इनमें से कोई (श्रुति-दुष्टत्व) शब्द में रहता है और कोई (अपुष्टार्थत्व) केवल अर्थ में। रस के साथ किसी का सम्बन्ध न होने से कोई भी रसापकर्षक नहीं है। इसका उत्तर देते —हैं

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृतः । तद्विशेषानाह—

ते पुनः पञ्चधा मताः ।
पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥१॥

स्पष्टम् ।

अर्थ—इसका अर्थ पहले ही (प्रथम परिच्छेद में ही **"दोषास्तस्यापकर्षकाः"** इसकी व्याख्या करते समय ही) स्पष्ट कर दिया है ।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि–श्रुतिदुष्टत्वादि दोष शब्दों के द्वारा और अपुष्टार्थत्वादि दोष अर्थों के द्वारा ही रस का अपकर्ष करते हैं, अतः 'अव्याप्ति' नहीं है ।

अर्थ—उन (दोषों) के भेदों को बताते हैं ।

अथ दोषभेदनिरूपणम्ः—

अवतरणिका—दोष दो प्रकार के होते हैं = (१) नित्य दोष और (२) अनित्य दोष । ये दो प्रकार के दोष पुनः तीन प्रकार के होते हैं—(१) शब्ददोष (२) अर्थदोष और (३) रसदोष । **वाक्य के अर्थ के बोध से पहले प्रतीत होने वाले दोष शब्ददोष, शब्दार्थ के बोध के पश्चात् प्रतीत होने वाले परम्परा से रस का अपकर्ष करने वाले दोष अर्थदोष और साक्षात् रस का अपकर्ष करने वाले दोष रसदोष होते हैं ।** शब्द, अर्थ और रसों में से शब्द की उपस्थिति सर्वप्रथम है, अतः इसी क्रम से सबसे पूर्व **शब्ददोषों** का निरूपण किया जाना चाहिये । शब्द तीन प्रकार का होता है—(१) **पद** (२) **पद का अंश** और (३) **वाक्य-इस प्रकार शब्द** के आश्रित रहने वाला **शब्ददोष भी तीन प्रकार का होता है** । इन तीन प्रकार के **शब्ददोषों** में वाक्य की घटकता की दृष्टि से **पदों** की प्राथमिकता है, अतः सबसे पूर्व **पददोषों** का निरूपण करने के लिये सम्पूर्ण रूप से दोषों का संकलन करते हैं—

अर्थ—वे (दोष) पुनः (१) पद में (२) पदांश में (३) वाक्य में (४) अर्थ में और (५) रस (श्रृंगारादि और निर्वेदादि) में भी; क्योंकि सम्भव हो सकते हैं इस कारण से पाँच प्रकार के माने गये हैं । **स्पष्टम्** = स्पष्ट है ।

टिप्पणी (१) आशय यह है कि ये दोष पद, पदांशादि पाँच स्थलों में स्थित होते हुये भी क्योंकि वाक्यार्थभूत रस का अपकर्ष करने के कारण हैं, इसलिये पाँच प्रकार के हैं ।

(२) आगे चलकर **"अग्रे स्थायिसञ्चारिणोरपि"** ऐसा वर्णन करेंगे, अतः यहाँ पर भी **"रसपद"** विभावादिकों का और रसाभासादिकों का उपलक्षण समझना चाहिये ।

(३) **पददोष** का लक्षण—**सति सम्भवे स्वानेकदेशपदवृत्तित्वे सति एकमात्रपदप्रयोज्यदोषत्वम्** ।

(४) **पदांश दोष** का लक्षण—**पददोषभिन्नत्वे सति पदगतकियदंशप्रयोज्यदोषत्वम्** ।

(५) **वाक्यदोष** का लक्षण—**वाक्यघटकानेकपदप्रयोज्यदोषत्वम्** ।

(६) **अर्थदोष** का लक्षण—**अर्थप्रयोज्यदोषत्वम्** । यहाँ पर शक्य, लक्ष्य, और व्यंग्य तीनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि रसदोषों का पृथक् कथन किया है । अतः रस से पृथक् व्यंग्य का ग्रहण किया है ।

(७) **रसदोष** का लक्षण—**रसवृत्तिदोषत्वाम्** ।

तत्र—
दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।
ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।
अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥
दोषाः, केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि, पदे परे ।
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

अथ पददोषनिरूपणम्:—

अवतरणिका—पददोषों के नामों का परिगणन करते हैं—

अर्थ—उनमें से (अर्थात् पाँच प्रकार के दोषों में से) (१) दुःश्रवता, (२) तीन प्रकार की अश्लीलता, (३) अनुचितार्थता, (४) अप्रयुक्तता, (५) ग्राम्यता, (६) अप्रतीतता, (७) सन्दिग्धता, (८) नेयार्थता, (९) निहतार्थता, (१०) अवाचकत्व, (११) क्लिष्टत्व, (१२) विरुद्धमतिकारिता (विरुद्धां मतिं कारयतीति विरुद्धमतिकारी तस्य भावः) और (१३) अविमृष्टविधेयांशता (अविमृष्टः—प्राधान्येनानुक्तः (गुणीभूतः) विधेयांशो मुख्यभागो यत्र तस्य भावः) ये (दुःश्रवत्व से लेकर अविमृष्टविधेयांशता तक तेरह दोष) पद और वाक्य दोनों में ही हो सकते हैं। इन (तेरह दोषों) में से कुछ (अर्थात् दुःश्रवत्व, अश्लीलत्व, निहतार्थत्व, अवाचकत्व और नेयार्थत्व—ये पाँच) दोष पदांश में भी होते हैं। दूसरे निरर्थकत्व, असमर्थत्व च्युतसंस्कारत्व—(ये तीन) दोष पद में ही (पदांश और वाक्य में नहीं) होते हैं।

टिप्पणी—(१) पूर्वोक्त तेरह दोषों में से दुःश्रवत्व, अश्लीलत्व, निहतार्थत्व, अप्रयुक्तत्व, अप्रतीतत्व, सन्दिग्धत्व और ग्राम्यत्व नाम वाले ये सात दोष "अनित्य-दोष" हैं और दूसरे नेयार्थत्व, च्युतसंस्कारत्वादि आठ "नित्यदोष" हैं। नित्य का लक्षण— "अनुकृतिमनुदिश्य सहृदयेन सति स्वस्वरूपावधाने प्रयोक्तुमशक्यत्वम्"। अनित्य का लक्षण—तदन्यथाभूतम् इति।

अवतरणिका—क्रमानुसार दुःश्रवत्वादिकों के लक्षण उदाहरण सहित प्रति-पादित करते हैं।

अर्थ—(१) (दुःश्रवत्व का लक्षण) परुषेति—(पद के) कठोर अक्षर होने के कारण श्रवणमात्र से दुःख को उत्पन्न करना दुःश्रवत्व (नामक दोष होता) है।

टिप्पणी—(१) परुषवर्णता का लक्षण—"परुषवर्णत्वं मुख्यार्थापकर्षकत्वे सति ओजोव्यञ्जकवर्णत्वम्" इति।

(२) वीरादि रसों में रस का उत्कर्षक होने के कारण यह "दुःश्रवत्व" दोष नहीं होता है। अतः वीर-वीभत्स तथा रौद्र रसों को छोड़कर अन्य रसों में ही यह दोष होता है। इसलिये यह अनित्यदोष है।

यथा—

'कातार्थ्यं　यातु　तन्वङ्गी कदानङ्गवशंवदा।'

अश्लीलत्वं　व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम्।

अर्थ—(पदगतदुःश्रवत्व दोष का उदाहरण) **यथा-कातार्थ्यमिति**—काम के आधीन हुई (यह) कृशाङ्गी कब (प्रिय के संगम से) कृतार्थता को (**कृतार्थस्य भावः कातार्थ्यम्**) प्राप्त होगी।

टिप्पणी—(१) यहाँ "**कातार्थ्यम्**" में त, थ और रेफ के संयोग से कानों को सुनने में दुःखदायी होने से परुषता है। क्योंकि इसके प्रयोग से प्रकृत रस को व्यक्त करने वाले वर्णों के न होने से, रस के आस्वाद से सुखानुभव को चाहने वाले श्रोता के सुनने मात्र से ही दुःख उत्पन्न करने से तथा विमुखता पैदा करने से एवं शृंगार रस की प्रकर्षरूप से अपकर्षता करने के कारण दुःश्रवत्व है।

(२) **प्रश्न**—"कातार्थ्य" शब्द के पिछले दो अक्षरों में रेफ का संयोग है। पहला अक्षर "क" कोमल ही है, अतः समस्त पद "श्रुतिकटु" नहीं हो सकता ? पद का एक अंश दूषित होने से इसे "पदांश दोष" मानना चाहिये, "पददोष" नहीं।

उत्तर—नहीं, जिसप्रकार वाक्य में दो-तीन पदों के दूषित होने पर समस्त वाक्य दूषित माना जाता है, उसीप्रकार पद में भी अधिकांश के दूषित होने पर पददोष माना जाता है। जहाँ आधा या उससे कम अंश दूषित हो वहाँ "पदांशदोष" माना जाता है।

(३) इसी "दुःश्रवत्व' को "श्रुति-कटु" भी कहते हैं।

अर्थ—(२) (अश्लीलत्व का लक्षण) **अश्लीलत्वमिति**—(**श्रियं-सभ्यवशीकरणसम्पत्ति लाति-गृह्णातीति श्लीलः तद्भिन्नम् अश्लीलः** अर्थात् **जो असभ्य अर्थ का व्यञ्जन करे उसे अश्लील कहते हैं।**) अश्लीलत्व (१) व्रीडा का व्यंजक होने से (२) जुगुप्सा का व्यञ्जक होने से और (३) अमंगल का व्यञ्जक होने से तीन प्रकार का (होता) है।

टिप्पणी—(१) अश्लीलत्व का सामान्य लक्षण इसप्रकार हुआ कि—**व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल में से किसी एक को व्यंजित करने वाला शब्द "अश्लीलत्व" है।**

(२) जनभाषा के कारण होने वाला '**अश्लीलत्व**' देश विशेष में ही होता है किन्तु संस्कृत के कारण होने वाला **अश्लीलत्व** सर्व देश साधारण होता है। यहीं इन दोनों में अन्तर है।

(३) कहने का आशय यह है कि अश्लील अर्थ होने के कारण श्रोता या पाठक की प्रतिकूलता ही "अश्लीलत्व दोष" में दूषकता का कारण हैं। किन्तु जहाँ **शिवलिङ्ग-सुभगा-भगिनी** और ब्रह्माण्डादि शब्दों के बोधनीय अर्थ के प्रसिद्ध होने से अश्लील अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, वहाँ यह दोष नहीं होता है। अतः यह भी "अनित्यदोष" है।

क्रमेणोदाहरणम्—

'दृप्तारिविजये राजन् साधनं सुमहत्तव ।'
'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ते तदा ।'

अत्र साधन-वायु-विनाशशब्दा अश्लीलाः ।

अर्थ—क्रम से (तीन प्रकार के "अश्लीलत्व दोषों" का) उदाहरण—[**पदगत व्रीडा व्यञ्जक रूप अश्लीलत्व दोष** का उदाहरण] दृप्तारीति—(हे) राजन् ! अहंकारी शत्रुओं को विजय करने में तुम्हारा बहुत बड़ा साधन (सैन्य) है । [यहाँ "**साध्यते रिपवः सुरतञ्चानेनेति साधनम्** इस व्युत्पत्ति के द्वारा सैन्यादि के अर्थ में प्रयुक्त "साधन" शब्द "पुरुषलिङ्ग" का भी वाचक होने से सहृदयों को सहसैव लज्जा के कारण संकोच उत्पन्न करता है, अतः **अश्लीलत्व** है] [**पदगत जुगुप्सा और अमंगल-व्यञ्जक रूप अश्लीलत्व दोष** के उदाहरण] **प्रससारेति**—हे कृशाङ्गि ! तब तुम्हारे विनाश (मनुष्यों के देख लेने के भय से भागकर दृष्टि से ओझल हो जाने) के समय (मुझे दुःख देने के लिये) वायु शनैः शनैः चली । [यहाँ प्रथम चरण में "**प्रससार**" इस क्रिया का कर्तृत्वेन अन्वित वायु शब्द अपानवायु का व्यञ्जक होने से **घृणा-व्यञ्जकाश्लीलत्व** है । दूसरे चरण में "**विनाश**" शब्द दिखाई न देने के अर्थ में अप्रसिद्ध है. किन्तु मृत्यु के अर्थ में प्रसिद्ध होने से "**अमंगलव्यञ्जकाश्लीलत्व**" है ।] अत्रेति—यहाँ **साधन-वायु-विनाश** शब्द (क्रमशः **व्रीडा-जुगुप्सा-अमंगल** वाचक होने से) अश्लील हैं ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार "अश्लीलत्व" दोष के अन्दर अनुभव सिद्ध रस का अपकर्ष करने वाले अश्लील अर्थ की उपस्थिति ही दूषकता का मुख्य कारण है । नीरस स्थलों पर चमत्कार का अपकर्ष करने के कारण उसकी दूषकता का कारण है अथवा उसप्रकार के अर्थ की उपस्थिति से श्रोता को विमुख करना दूषकता का मुख्य कारण है । सभ्य समाज के अन्दर असभ्य अर्थ की उपस्थिति चाण्डाल के आ जाने के समान विरसता को उत्पन्न करती है ।

(२) काव्यप्रकाशकार ने इनके क्रमशः उदाहरण इसप्रकार दिये हैं ।

साधनं सुमहद्यस्य यन्नान्यस्यावलोक्यते ।
तस्य धीशालिनः कोऽन्यः सहेतारालितां भ्रुवम् ॥
लीलातामरसाहतोऽन्यवनितानिःशङ्कदष्टाधरः
कश्चित्केसरदूषितेक्षण इव व्यामील्य नेत्रेस्थितः ।
मुग्धा कुड्मलिताननेन ददती वायुं स्थिता यत्र सा
भ्रान्त्या धूर्त्ततयाऽथ वा नतिमृते तेनानिशं चुम्बिता ॥
मृदुपवनविभिन्नो मत्प्रियाया विनाशाद्
घनरुचिरकलापो निःसपत्नोऽद्य जातः ।
रतिविगलितबन्धे केशपाशे सुकेश्याः ।
सति कुसुमसनाथे कं हरेदेश बर्हो ॥

(३) जिनके लिये इन अश्लील शब्दों से "अश्लीलत्व" की प्रतीति नहीं होती है, उनके लिये इनमें दोष भी नहीं है ।

'शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे।'
अत्र पशुपदं कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम्।
अप्रयुक्तत्वं तथाप्रसिद्धावपि कविभिरनाहृतत्वम्।

यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे।'

अत्र पद्मशब्दः पुंल्लिङ्गः।

अर्थ—(**पदगतानुचितार्थत्वदोष** का उदाहरण) **शूरा इति**—शूरवीर संग्राम-यज्ञ में (यज्ञादि) पशु की तरह (मारे जाते हुये) अमरता को प्राप्त होते हैं। **अत्रेति**—यहाँ (शौर्य के प्रतिपादन के अवसर पर) "पशु" पद कातरता को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि ("पशु" पद के अन्दर कातरता का अर्थ ध्वनित होता है।) अतः **अनुचितार्थत्व** है। [अनुचितार्थत्व दोष के कारण वीररस की हानि होती है।]

टिप्पणी—(१) **अनुचितार्थत्वदोष** तीन प्रकार का होता है—(१) वाच्य अर्थ के दोष का प्रतिपादक होने से, (२) अर्थ के असम्भव होने से और (३) असत् का समर्थक होने से। इनमें से पहले प्रकार के दोष का उदाहरण दे दिया गया है। **यथा-शूरा इति।**

(२) "अनुचितार्थ" पद की व्युत्पत्ति—"**अनुचितो विवक्षितार्थतिरस्कार-धर्मव्यञ्जकोऽर्थो यस्य तस्य भावः। तथा च उपश्लोक्यमातिरस्कारव्यञ्जकार्थत्वमनु-चितार्थत्वमिति लक्षणम्॥**

अन्यत्र तु—

व्यनक्ति निन्दांस्तोत्रे यत्पदं स्तोतव्यनिन्द्ययोः।
तात्पर्यागोचरीभूते तत्स्यादनुचितार्थकम्॥

(३) **तथा चोक्तम्**—"**द्वाविमौ पुरुषव्याघ्रौ सूर्यमण्डलभेदिनौ।**
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

(४)**अनुचितार्थत्व और विरुद्धमतिकारिता दोषों में भेद**—

"अनुचितार्थत्व दोष" दूसरे पद की अपेक्षा नहीं करता है, जब कि "विरुद्ध-मतिकारितादोष" सापेक्ष होता है।

अर्थ—(**पदगताप्रयुक्तत्वदोष** का लक्षण) **अप्रयुक्तत्वमिति**—उसप्रकार से (अर्थात् उस रूप से) प्रसिद्ध होने पर भी (क्रोधादि से सिद्ध भी) कवियों के द्वारा अनादर से स्वीकार न करना **अप्रयुक्तत्वदोष** है। [**अप्रयुक्तत्वदोष** का उदाहरण] **यथा-भातीति**—कमल सरोवर में सुशोभित होता है। [**लक्षण** को लक्ष्य में घटाते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ पुंल्लिग "पद्म" शब्द ("अप्रयुक्तत्वदोष" को प्राप्त) है।

टिप्पणी—(१) **अप्रयुक्तत्व** के लक्षण में प्रयुक्त "**कविभिः**" पद व्याकरण का भी उपलक्षण है, अतः व्याकरण से निषिद्ध "**धृ धातोः धूतधर्मघृणाम्योऽन्यत्र प्रयोगस्य, बन्धिरत्ति परो न प्रयुज्यते**" इसका भी ग्रहण हो जाता है और इसीप्रकार ल, ङ, ह आदि प्राकृत शब्दों का संस्कृत काव्य में प्रयोग करने पर भी यही दोष होता है। **तथा च**

ग्राम्यत्वं यथा—

'कटिस्ते हरते मनः ।'

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

"पदं तथा समाम्नातमपि व्याकरणादिभिः ।
काव्यानादरपात्रं यदप्रयुक्तं तदुच्यते ॥"

(२) **निहितार्थतादोष** के साथ भी इसका संकर नहीं समझ लेना चाहिये क्योंकि **अप्रयुक्तत्व** के अन्दर शब्द अनेकार्थक नहीं होता है ।

(३) आगे चलकर **"स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते"** ऐसा कहा जायेगा, अतः अनित्य दोष है ।

(४) उदाहरण के अन्द प्रयुक्त पुँल्लिग "पद्म" शब्द अमरकोश के प्रथम काण्ड में १२वें वर्ग में **"वा पुंसि पद्मम्"** इस प्रकार प्रसिद्ध होने पर भी क्योंकि कवियों ने कहीं प्रयोग नहीं किया है, अतः यह अनादृत होने के कारण सामाजिकों की रसप्रतीति में बाधक होने से **अप्रयुक्त्व** है । किन्तु यमकादि प्रयोजन होने पर यह दोष नहीं होता है क्योंकि अन्यत्र प्रयुक्त न होता हुआ भी यमक के लिये कवियों ने इसका प्रयोग किया है । और इसप्रकार **"पद्मान् हि मे प्रावृषि खञ्जरीटान्"** यह **नैषध-चरितम्** में दोष ही है ।

अर्थ—ग्राम्यत्व (का उदाहरण) **यथा**–तुम्हारी कटि (मेरा) मन हर रही है। **(लक्ष्य में** लक्षण को घटाते है) **अत्रेति**—यहाँ, "कटि" पद ग्राम्य है । [अतः "ग्राम्यत्व" दोष को धारण कर रहा है]

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि रसिक जन श्रोणि, नितम्बादि शब्दों का ही व्यवहार करते हैं । "कटि" शब्द तो साधारण व्यक्ति के व्यवहार योग्य होने के कारण ग्राम्य है । शब्द तीन प्रकार के होते हैं—(१) **ग्राम्य** (२) **नागर** (३) **उपनागर** । इनमें से (१) **लोकमात्रप्रसिद्धं यत्पदं तद् ग्राम्यमुच्यते"** अर्थात् सर्वसाधारण व्यक्तियों से व्यवहार्य **'ग्राम्य'** शब्द होते है । (२) विद्वज्जनों में प्रसिद्ध शब्द **'नागर'** और (३) जो शब्द ग्राम्य की श्रेणी से ऊपर उठ चुके हैं किन्तु नागरभाव को प्राप्त नहीं हुये हैं, **वे उपनागर** होते हैं। किन्तु ये "ग्राम्य" शब्द विदूषकादि अधम वक्ता के द्वारा प्रयुक्त होने पर दोष युक्त नहीं होते हैं क्योंकि उनके लिये वैसा ही ठीक है । (३) **"ग्राम्यत्व-मधमोक्तिषु"** ऐसा कहने से अधम वक्ता के प्रयोग करने पर ग्राम्यता के ही योग्य होने से यह अनित्य दोष है । **काव्यप्रकाश** के अन्दर उदाहृत पद्य पूरा इसप्रकार है ।

"राकाविभावरीकान्तसंक्रान्तद्युति ते मुखम् ।
तपनीयशिलाशोभा कटिस्ते हरते मनः ॥"

(५) **अप्रयुक्त** शब्द शास्त्रसिद्ध होने के कारण **ग्राम्यत्व** से भिन्न है । **अश्लीलत्व** में देशभाषा में प्रयोग करना भी लज्जा को पैदा करने वाला है, किन्तु यहाँ **ग्राम्यत्व** का संस्कृत में निबन्धन ही दोष माना गया है ।

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

'योगेन दलिताशयः ।।'

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

'आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ।'

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः ।

अर्थ—(अप्रतीतत्व का लक्षण) अप्रतीतत्वमिति-एकदेशमात्र में (सर्वत्र नहीं) प्रसिद्ध होना (प्रति-प्रतिशास्त्रे इतं-ज्ञातं प्रतीतं, न प्रतीतमप्रतीतम्) अप्रतीतत्व (कहलाता) है । [अप्रतीतत्व का उदाहरण] यथा—योग से (चित्तवृत्ति का निरोध योग कहलाता है—उससे) नष्ट हो गया है अर्थात् संसार का कारण मिथ्या ज्ञान से उत्पन्न] संस्कार विशेष जिसका ऐसा (योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है ।) [लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] अत्रेति—यहाँ पातञ्जल योगशास्त्र में ही वासना के अर्थ में आशय शब्द है ।

टिप्पणी—(१) आशय—कहने का यह है कि **"क्लेशकर्मविपाकाशयरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"** (१।२४) इस पातञ्जल सूत्र के अनुसार योगशास्त्र में ही "आशय" शब्द वासना के अर्थ में प्रसिद्ध है अन्यत्र नहीं । अतः जो योगशास्त्र से अनभिज्ञ हैं, उनके लिये वासना अर्थ की प्रतीति हो नहीं सकती—यही इस दोष का कारण है । अत एव जहाँ उस शास्त्र से अभिज्ञ ही प्रतिपाद्य है अथवा स्वयं चिन्तन का विषय होगा वहाँ, दोष न होकर गुण ही होगा । यथा—

सम्यक् ज्ञानमहाज्योतिर्दलिताशयताजुषः ।
विधीयमानमप्येतन्न भवेत् कर्मबन्धनम् ।। इति ।।

(२) **अप्रतीत का लक्षण**—"शास्त्रमात्राप्रसिद्धं यदप्रतीतं तदुच्यते ।।

(३) **गुणः स्यादप्रतीतत्वं तत्त्वञ्चेद्वक्तृवाच्ययोः** ऐसा कहने के कारण यह "अप्रतीतत्व" अनित्यदोष है ।

(४) **अप्रतीतत्व** एकदेशमात्र प्रसिद्ध होता है सर्वत्र नहीं और **अप्रयुक्तत्व** सर्वत्र ही होता है, यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ (७)—(पदगतसन्दिग्धत्व का उदाहरण) आशीरिति–[**काव्यप्रकाश** में पूरा श्लोक इस प्रकार है—

आलिङ्गितस्तत्रभवान् सम्पराये जयश्रिया ।
आशीः परम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ।। इति]

[अर्थ—युद्ध में विजयश्री से आलिङ्गित पूज्य आप] वन्दनीय (नमस्य) (शत्रु को जीतने के कारण प्रयुक्त) आशीर्वाद सूचक वाक्यावली को सुनकर कृपा कीजिये । [यहाँ "आलिङ्गितः" यह पद अनायास ही विजय को सूचित करता है ।] [लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] अत्रेति—यहाँ "वन्द्याम्" इस पद का "बन्दीभूतायाम्" यह अर्थ है अथवा "वन्दनीयाम्" यह अर्थ है, अतः सन्देह है ।

नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम् ।

यथा—

'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि तेऽकरोत् ।

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम् ।

टिप्पणी (१) रलयोर्डलयोश्चैव शसयोर्बवयोस्तथा ।

वदन्त्येषाञ्च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः ।।

इस कथन के अनुसार 'ब" और "व" के अभेद से तथा प्रकरणादि के अभाव के कारण "वन्द्याम्" इस पद में श्लेष होने के कारण अर्थ में सन्देह उत्पन्न होता है । क्योंकि "वन्दी" शब्द का सप्तमी में भी **बन्द्याम्** यह रूप हो सकता है और **वन्द्या** शब्द का द्वितीया विभक्ति में भी यह वन्द्याम् रूप हो सकता है । अतः अर्थ में सन्देह होता है कि **बन्द्याम्** का अर्थ क्या है ? अतः यहाँ पर सन्देह के कारण शाब्दबोध विलम्ब से होने से राजा विषयक रतिभाव के ज्ञान का विलम्ब से बोध होने से दोष है । और इस दोष का कारण उद्देश्य के निश्चय का अभाव है ।

(२) सन्दिग्धत्व का लक्षण—"**सन्दिग्धं तत्तु तात्पर्यसंशयो यत्र जायते**" तथा च **वक्तृतात्पर्यसन्देहविषयीभूतार्थद्वयोपस्थापकत्वं सन्दिग्धत्वम् ।।**

(३) "**सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत्**"–ऐसा कहने के कारण यह भी अनित्य दोष है । किन्तु जहाँ पर सन्देह ही उद्देश्य हो और जहाँ वाच्यादि की महिमा से अथवा प्रकरणादि के कारण निश्चय हो वहाँ यह सन्दिग्धत्व दोष नहीं होता है ।

अर्थ (८)—(पदगत नेयार्थत्व का लक्षण) **नेयार्थत्वमिति**-(निर्दुष्टलक्षणा के कारणभूत) रूढ़ि और प्रयोजन के न होने के कारण (कवि की) असामर्थ्य से प्रयुक्त (रूढ़ि और प्रयोजन-इनमें से किसी एक के आधार से प्रयुक्त नहीं) लक्ष्यार्थ को प्रकट करना "नेयार्थत्व (**नेयो न्यायराहित्येन कवेः स्वेच्छया कल्पनीयोऽर्थो यस्य तस्य भावस्तत्वम्**) कहलाता है ।

टिप्पणी (१) नेयार्थत्व का लक्षण—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत् ।

क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः ।।। (भट्टवार्तिक)

(२) सर्वथा हेय होने के कारण यह **नित्य दोष** है

अर्थ—(नेयार्थत्व का उदाहरण) **यथा–कमल इति**—(हे) **सुन्दरवदने !** तुम्हारे मुख ने कमल में पाद प्रहार किया । [लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "चरणाघात" पद से (वाच्य में भी लक्षणा स्वीकार करने से मुखकर्तृक पद्म का) विजित होना लक्ष्य है अर्थात् लक्ष्यार्थ **नेयार्थत्व** दोष को उत्पन्न करता है ।

टिप्पणी—(१) मुख के अन्दर चरण के असम्भव होने से उसका आघात भी असम्भव है, अतः मुख्यार्थ की प्रतीति का अभाव है, इस कारण चरण के आघात से कमल को जीत लेना लक्ष्य है। परन्तु इस लक्षणा का रूढ़ि और प्रयोजन में से किसी भी हेतु के न होने से कवि की शक्ति के अभाव का निश्चय होता है, पुनः लक्ष्य की उपस्थिति होती है। पुनः शाब्दप्रतीति होती है—इसप्रकार शाब्दप्रतीति के विलम्ब से रस की प्रतीति भी विलम्ब से होती है—यह दोष है। **प्रश्न**—यहाँ पर अतिशय निर्जितत्व को ही प्रयोजन क्यों न मान लें क्योंकि स्थान-स्थान पर लक्ष्यार्थ का अतिशय प्रयोजन दिखाया गया है? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है, यहाँ पर लक्ष्य से उत्पन्न ज्ञान के अनन्तर सादृश्य की प्रतीति ही अनुभवसिद्ध है, निर्जितत्वातिशय की प्रतीति नहीं, क्योंकि एक तो कोई तात्पर्य नहीं है और दूसरे मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्भव सम्बन्ध भी यहाँ पर नहीं है। **प्रश्न**—अच्छा? तो सादृश्य की प्रतीति को ही प्रयोजन मान लिया जाये? **उत्तर**—यह भी नहीं क्योंकि वक्ता आदि के वैशिष्ट्य के सहित अर्थ की व्यञ्जना से ही उसकी उत्पत्ति होती है। तथा लक्षणा के प्रयोजन की उत्पत्ति लक्षणामूलक व्यञ्जना से ही होनी चाहिये क्योंकि इस स्थिति का सादृश्य लक्ष्यार्थ या लक्ष्यार्थवृत्ति धर्म में से किसी एक से भी सम्बन्ध नहीं रखता है जब कि प्रयोजन का इनमें से किसी एक से सम्बन्ध अवश्य होना चाहिये। **सादृश्यस्य च लक्ष्यार्थतद्वृत्तिधर्मान्यतरसम्बन्धत्वाभावात् प्रयोजनस्य तदन्यतरवृत्तित्वनियमात्।**

(२) कुछ विद्वानों का कहना है कि **"स्वसंकेतप्रक्लृप्त्यर्थनेयार्थमिति कथ्यते"** यह भोजदेव की उक्ति युक्तियुक्त है। **"नेयार्थ"** इस पद से भी उसप्रकार की प्रतीति होती है।

(३) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है।

"शरत्कालसमुल्लासि पूर्णिमाशर्वरीप्रियम्।
करोति ते मुखं तन्वि चपेटापातनातिथिम्॥

यहाँ "चपेटापात" शब्द से "निर्जितत्व" लक्ष्य है और इस लक्षणा के लिये रूढ़ि और प्रयोजनमूलक किसी हेतु के न होने से कवि की अशक्ति की प्रतीति होती है तथा श्रोता को विरसता होती है, अतः यह दोष का बीज है।

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः ।

यथा—

'यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ।'

शम्बरशब्दो दैत्ये प्रसिद्धः । इह तु जले निहतार्थः ।

अर्थ—(पदगतनिहतार्थत्व का लक्षण) **निहतार्थत्वमिति**—प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध दोनों अर्थों के प्रतिपादक शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग (**निहतः—प्रसिद्धेनाविवक्षितेनार्थेनाप्रसिद्धतया व्यवहितो विवक्षितोऽर्थो यस्यतत्वम्**) **निहतार्थत्व** (होता) है ।

टिप्पणी—(१) **निहतार्थ का लक्षण**—

प्रसिद्धेनाप्रसिद्धोऽर्थो यस्यार्थेन विधीयते ।
तत्पदं व्यर्थमुदितं निहतार्थं प्रचक्षते ।। इति ।

(२) लक्षणया प्रयुक्त होने पर, प्रयोजन के न होने पर **निहतार्थत्व** दोष होता है, किन्तु प्रयोजन होने पर दोष नहीं होता है । "**अप्रयुक्तत्व**" एकार्थक शब्द में होता है और **निहतार्थत्व** अनेकार्थक शब्द में--यही इन दोनों में भेद है ।

(३) "**स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते**" इसके अनुसार यह अनित्य दोष है ।

अर्थ—(**निहतार्थत्व** का उदाहरण) **यथा—यमुनेति**—यमुना का पानी आकाश में व्याप्त हो गया । [**लक्ष्य** में लक्ष्यार्थ की योजना करते हैं] **शम्बरेति**—(यहाँ) "शम्बर" शब्द (प्रद्युम्न से मारे हुये) दैत्य के विषय में प्रसिद्ध है, (किन्तु) यहाँ जल के विषय में निहतार्थ है । [अर्थात् प्रसिद्ध अविवक्षित दैत्य अर्थ से अप्रसिद्ध जल के अर्थ से व्यवहित हो गया—अतएव **निहतार्थत्व** को उत्पन्न करता है]

टिप्पणी—(१) यहाँ "शम्बर" शब्द से प्रसिद्ध शम्बर नामक दैत्य के अर्थ की झटिति उपस्थिति से विवक्षित जल के अर्थ की विलम्ब से उपस्थिति ही दूषकता का बीज है । तथा च—प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध अर्थ के व्यवहित होने से अप्रतीति के कारण यमुना विषयक रति भाव के ज्ञान की अप्रतीति से दोष है । और यदि नपुंसकलिङ्ग शम्बर शब्द दैत्य विशेष का वाचक नहीं है, ऐसा मानते हो तो इसका उदाहरण न देकर यह देना चाहिये ।

"यावकरसार्द्रपादप्रहारशोणितकचेन दयितेन ।
मुग्धा साध्वसतरला विलोक्य परिचुम्बिता सहसा ।। इति ।

यहाँ "**शोणित**" शब्द रुधिर अर्थ के अन्दर में ही प्रसिद्ध है, अतः "निहतार्थत्व" है ।

(२) उदाहृत समस्त पद्य इसप्रकार हैं—

"नवनीरदकान्तिनाम्बुकेलिप्रहतानां व्रजसुन्दरीकुचानाम् ।
मदपुञ्जभरेण मोदमानं यमुनाशम्बरमम्बरं व्यतानीत् ।।

यथा—

'गीतेषु कर्णमादत्ते ।'

अत्राङ्-पूर्वो दाञ्-धातुर्दानार्थेऽवाचकः।

यथा वा—

'दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनी ।'

अत्र दिनमिति प्रकाशमयार्थेऽवाचकम् ।

अर्थ—(**पदगतावाचकत्वदोष** का उदाहरण) **गीतेष्विति**—संगीत में कान देती है अर्थात् ध्यानपूर्वक गान को सुनती है ।

[**लक्ष्य** में लक्षण की योजना करते हैं ।] **अत्रेति**—यहाँ "आङ् "उपसर्ग पूर्वक दाञ् धातु देने के अर्थ में **अवाचक** है । अर्थात् आङ्पूर्वक "दा" धातु का अर्थ लेना है देना नहीं—अतः "आदत्ते" पद में **अवाचकत्व** दोष है । "आदत्ते" पद देने का वाचक नहीं है ।

टिप्पणी—(१) अवाचकत्व का लक्षण—**विवक्षितधर्मविशिष्टस्य विवक्षित-धर्मिणः क्वापि न वाचकत्वमवाचकत्वम्** । **तथा च**

तात्पर्यविषयीभूतवस्तुधर्मप्रकारिका ।
यतो न ज्ञायते बुद्धिः पदं तत्स्यादवाचकम् ।। इति ।

(२) **प्रश्न**—इस लक्षण के अनुसार तो **असमर्थत्व** के अन्दर अतिव्याप्ति है ? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है क्योंकि **असमर्थत्व** के अन्दर कही शक्ति को स्वीकार किया गया है । **नेयार्थत्व** में यथाकथञ्चित् लक्षणा से विवक्षित अर्थ की वाचकता है, **और निहतार्थत्व** में अप्रसिद्ध भी विवक्षित अर्थ के वाचकत्व की सम्भावना **होने से अतिव्याप्ति** नहीं है । अतएव यह सर्वदैव हेय होने के कारण नित्य दोष है ।

(३) **उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते**—इस न्याय से आङ् पूर्वक **"दा"** धातु देने के अर्थ में वाचकता की शक्ति से शून्य है । अतएव "आदत्ते" इस पद में "अवाचकत्व" दोष है क्योंकि विवक्षित अर्थ की अप्रतीति से रस की प्रतीति नहीं होती है । अतः दूषकता का बीज विवक्षित अर्थ की अनुपस्थिति ही है ।

अर्थ—(दूसरा "**अवाचकत्व**" का उदाहरण) **अथवा दिनमिति**—आपके आ जाने पर मेरी अन्धकार से व्याप्त भी रात्रि दिन (हो गई अर्थात् प्रकाशित हो गई ।) [**लक्ष्य** में लक्षण की योजना करते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "दिन" यह पद प्रकाशमय रूप अर्थ में अवाचक है ।

टिप्पणी—(१) यह "दिन" शब्द अभिधा से सूर्य किरणों से युक्त चार प्रहर पर्यन्त काल विशेष का वाचक है । अतः "प्रकाशमय" इस अर्थ की प्रतीति में विलम्ब से शाब्दबोध होने से रस की प्रतीति में प्रतिबन्धक है ।

(२) **अवाचकत्व** और **नेयार्थत्व** में भेद – रूढ़ि आदि के होने पर लाक्षणिक पद के प्रयोग में **अवाचकत्व** होता है और रूढ़ि आदि के न होने पर **नेयार्थत्व** । यही इन दोनों में अन्तर है ।

क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितत्वम् ।

यथा—

'क्षीरोदजावसतिजन्मभुवः प्रसन्नाः ।'

अत्र क्षीरोदजा लक्ष्मीस्तस्या वसतिः पद्मं तस्य जन्मभुवो जलानि ।

---

(३) कुछ विद्वान् "**गुणोन्नायकसत्वेऽवाचकत्वम् तदसत्वे दयार्थत्वम्**" ऐसा कहते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि "दिनम्" इत्यादि में दिन पद की प्रकाशमय अर्थ में अभिधा के द्वारा भ्रम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, और "**वचो वाणत्वमागताः**" इस वक्ष्यमाण "नेयार्थ" के उदाहरण में भ्रम की उत्पत्ति के सम्भव होने पर भी अवाचकत्व स्वीकार नहीं किया गया है।

अर्थ—(११) (**पदगत क्लिष्टत्व दोष का लक्षण**) **क्लिष्टत्वमिति** (**विवक्षित**) अर्थ की प्रतीति का व्यवधान होना (अर्थात् आकांक्षा, आसत्ति और तात्पर्य रूप कारण के विलम्ब के कारण विलम्ब से अपने अर्थ का बोध कराना) **क्लिष्टत्व दोष** (कहाता) है।

टिप्पणी (१)—निहतार्थत्व और क्लिष्टत्व में भेद—**निहतार्थादौ तु** शक्यतावच्छेदकरूपेण प्रकृतपदार्थोपस्थितिरेव व्यवहिता इह (क्लिष्टत्वेतु) शक्यतावच्छेदकस्य प्रकृताप्रकृतसाधारणत्वेन रूपेणोपस्थितावप्यन्वितिविशेषानुपस्थितिमात्रमिति ततो भेदः।

(२) सर्वदैव हेय होने के कारण यह नित्य दोष है।

(३) पदगत क्लिष्टता का उदाहरण समास के अन्दर ही सम्भव हो सकता है।

अर्थ—(**पदगतक्लिष्टत्व दोष का** उदाहरण) **यथा-क्षीरोदजेति**–जल स्वच्छ हो गये। [निर्देशपूर्वक लक्ष्य में लक्षण की योजना करते हैं।] **अत्रेति-यहाँ क्षीरोदजा-क्षीरोद**:—समुद्र विशेष उससे उत्पन्न लक्ष्मी, उसकी **वसतिः**–निवासस्थान पद्म उसके **जन्मभुवः**—उत्पत्ति के कारण अर्थात् जल।

टिप्पणी—(१) यहाँ अर्थ की प्रतीति के व्यवधान से ही विलम्ब से रसादि की प्रतीति होने से रस का प्रतिबन्धक होने से दोष है। और इसप्रकार दूषकता का बीज विवक्षित विशिष्ट अर्थ की प्रतीति में विलम्ब है। किन्तु प्रहेलिका में और यमकादि में विचित्रता के उद्देश्य से ज्ञान की प्रतीति में विलम्ब के इष्ट होने से दोषता नहीं है। तथा मत्ता (१) की उक्ति में भी गुण ही होता है, दोष नहीं। अतः यह अनित्य दोष है।

(२) व्यवधान दो प्रकार का होता है—(१) कहीं अन्वित और अन्वय के कारण विशेष की प्रतीति न होने में कालिक व्यवधान होता है और (२) कहीं अनासत्ति रूप व्यवधान होता है। इनमें से प्रथम का उदाहरण **क्षीरोदजेति** है। और दूसरे अनासत्ति रूप व्यवधान का उदाहरण वाक्यदोष में **धम्मिल्लस्येति** उदाहृत करेंगे।

'भूतयेऽस्तु भवानीशः ।'

अत्र भवानीशशब्दो भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिकारित्वाद्विरुद्धमतिकृत् ।

अर्थ—(१२) (**पदगत विरुद्धमतिकारित्व दोष का उदाहरण**) **भूतये इति**—भवानी (भवानी=शिव की पत्नी) के ईश=पति कल्याण करें । [**लक्ष्य** में लक्षण को घटाते हैं ।] **अत्रेति** यहाँ—भवानीश शब्द भवानी के दूसरे पति की प्रतीति कराने के कारण (**विरुद्धस्य मतिं विरुद्धां वा मतिं करोति इति विरुद्धमतिकृत् तस्य भावः**) **विरुद्धमतिकारित्व** दोष है ।

टिप्पणी—(१) **कहने का आशय यह है कि** "भव" यह कहने के स्थान पर "भवानीश" यह कहा है । भवानी शब्द महादेव जी की पत्नी के अर्थ में "**पुंयोगा-ख्यायाम्**" इस पाणिनीय सूत्र से "भव" शब्द से ङीप् प्रत्यय करने पर "**इन्द्रवरुणभव-शर्व**······इत्यादि सूत्र से आनुग् के आगम करने से सिद्ध होता है । अतः "**भवानीश**" शब्द **चैत्रस्य पत्न्याः** पतिः इसकी तरह भवानी के दूसरे पति के विषय में प्रतीति कराता है । इसप्रकार की आराध्या देवी पार्वती की प्रतीति आतङ्क और अधर्म को उत्पन्न करने वाली है । अतः मतिविरुद्ध है । इसीलिये श्रोता के वैमनस्य से देवविषयक रतिभाव के प्रकर्ष का ज्ञान कराने की प्रतिबन्धक होने के कारण दोष है । कुछ विद्वान् तो "भवानी" शब्द से पार्वती के प्रकार का ही बोध होता है, ऐसा कहते हैं क्योंकि भवानी शब्द "अपर्णा, पार्वती, दुर्गा" इत्यादि और "शिवा—भवानी—रुद्रा" इत्या-दिकों का पर्याय रूप से कोश में उपलब्ध होता है । तथा पङ्कज आदि पदों की तरह यौगिक अर्थ होने से "अविदितविभवो भवानीपतेः" इन महाकवियों के प्रयोग से भवानी शब्द पार्वती के विशिष्ट अर्थ में रूढ़ि हो गया है, अतः दोष नहीं है ।

(२) **विरुद्धमतिकारिता** का लक्षण—

"**प्रकृतार्थज्ञानप्रतिबन्धकीभूताप्रकृतार्थज्ञानजनकत्वं विरुद्धमतिकृत्** ।"

(३) **अनुचितार्थत्व, अश्लीलत्व और निहतार्थत्व** दोषों की परस्पर प्रतिबन्ध-कता नहीं होती है, अतः **विरुद्धमतिकारित्व** उनसे भिन्न है । **अमतपरार्थता** व्यंग्य और रस के ही विरोध में होता है, अतः उससे भी यह भिन्न है ।

(४) किसी समाधान के न होने से यह नित्य दोष है ।

विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् **अविमृष्टविधेयांशत्वम्।**
यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।'

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्।

अर्थ—(**पदगताविमृष्टविधेयांशत्व** का लक्षण) **विधेयस्येति**—विधेय का (प्रधान भाग का) प्रधानरूप से निर्दिष्ट न होने से अप्रधान हो जाना **अविमृष्टविधेयांशत्वदोष** है।

टिप्पणी—प्राधान्य का लक्षण—विधेय का प्रतीति के योग्य होना "प्राधान्य" कहलाता है। तन्त्रवार्तिक में कहा है कि—

"यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोगः औत्तण्यं साध्यत्वञ्च विधेयता॥"

अतः उद्देश्य और विधेय की उपस्थिति समासगत न होकर पृथक्-पृथक् पदों से होनी चाहिये। उद्देश्य का लक्षणः—

"यच्छब्दप्रतिपाद्यं सिद्धत्वेन प्रतीयमानमुद्देश्यम्।"

विधेय का लक्षण—"**तदादिशब्दप्रतिपाद्यमुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविषयीभूतं विधेयम्**"॥ उदाहरण—"**यः क्रियावान् सः पण्डितः**" इत्यादि में क्रियावान् को लक्ष्य करके अभेद से पण्डित की स्वरूप के सम्बन्ध से पण्डितता कही गई है। यद्यपि "यत्" और "तत्" शब्दों का सर्वत्र प्रयोग नहीं होता है, तथापि उनकी प्रतीति होती है।

(२) **अयथावद्विनिर्देशो विधेयांशस्य यत्र तत्।**
अविमृष्टविधेयांशमलङ्कारविदो विदुः॥

इस उक्ति से **अविमृष्टविधेयांश दोष** ही **विधेयाविमर्श दोष** कहलाता है। अर्थात् पदार्थों के मध्य में विधेयांश के उपादेय होने से उसका प्राधान्येन निर्देश न करना **विधेयाविमर्श दोष** होता है।

(३) इसके सर्वथा हेय होने से यह "नित्य दोष" है।

(४) **कहने का तात्पर्य यह है कि** इस **अविमृष्टविधेयांशदोष** का कहीं तो समास के कारण मुख्य विधेयांश का अप्रधान रूप से निर्देश होता है और कहीं उद्देश्य और विधेय का पौर्वापर्यक्रम का विपरीत निर्देश होता है। इनमें से प्रथम अवस्था में **पददोष** और द्वितीय अवस्था में **वाक्यदोष** होता है।

अर्थ—(**तत्पुरुषसमासगत पदगत अविमृष्टविधेयांशत्व दोष** का उदाहरण) **यथा—स्वर्गेति** (इस सम्पूर्ण पद्य की पृष्ठ…६ पर व्याख्या की जा चुकी है।) (उक्त उदाहरण मे लक्षण की योजना करते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ "**वृथात्व**" विधेय है, और उसके (वृथात्व के) तत्पुरुष समास में (उत्तरपद की प्रायः प्रधानता होने के कारण "वृथा" इस पूर्वपद विधेय के) गौण हो जाने से (उच्छूनत्व अंश के विशेषण हो जाने से प्राधान्य रूप से कथन नहीं किया गया है, अतः) अनुवाद्यत्व की (अर्थात् उसीके उद्देश्य रूप से ज्ञान को उत्पन्न करने की) प्रतीति कराने वाला है।

यथा वा—

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे ।'

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम् ।'

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि—

"अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित्कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥"

इस कथन के अनुसार उद्देश्य और विधेय का पौर्वापर्यभाव नियमित है। अत एव सर्वत्र **"इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्ति नयनयोः"** इसके समान और **"पर्वतो बह्लिमान्"** इसके समान होना चाहिये, इसके विपरीत रूप से नहीं। किन्तु प्रकृत उदाहरण में उच्छूनत्व मात्र का अनुवाद उचित था वृथात्व के विशेषित होने की आवश्यकता नहीं थी। तथा विधेय रूप से विवक्षित वृथात्व समास में गौण हो गया अतः दोष है। उद्देश्य और विधेय को यदि पृथक्-पृथक् पदों से कथन किया जाता है तो प्राप्त को लक्ष्य करके अप्राप्त का कथन किया जाता है—यथा—**"पर्वतो बह्लिमान्"**। समास में ऐसा नहीं होता।

अर्थ—अथवा (दूसरा उदाहरण देते हैं) **रक्षांसीति**—[**प्रसङ्ग**—यह लक्ष्मण की उक्ति है।] राम के छोटे भाई मेरे (लक्ष्मण के) भी सामने क्या राक्षस ठहरने में समर्थ हैं ? इति काकुः अर्थात् समर्थ नहीं हैं। [उक्त उदाहरण में **विधेयाविमर्श दोष** दिखाते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ **रामस्य** ऐसा कहना ठीक है।

टिप्पणी—**तात्पर्य** यह है कि अनेक दुर्जय राक्षसों के मारने से राम ही राक्षसों के विनाशक के रूप में अतिप्रसिद्ध हैं। अतः प्रकृत उदाहरण में राम का जो छोटा भाई है, उस मेरे भी सामने राक्षस ठहरने में क्या समर्थ हैं ? ऐसा राम के सम्बन्ध से ही अहङ्कार के साथ लक्ष्मण का कहने में आशय है। किन्तु यहाँ "रामानुजस्य" इस समास के कारण इष्ट सिद्धि नहीं होती है। अपितु "रामस्य" इस सविभक्तिक पद के उपन्यास से सिद्धि होती हैं। किन्तु राम के सम्बन्ध को बताने वाली षष्ठी का तत्पुरुष समास में लोप हो जाने से राम सम्बन्ध की विधेयता गौण हो गई है—षष्ठी यदि होती तो किसीप्रकार का दोष नहीं था।

अर्थ—अथवा (तीसरा उदाहरण देते हैं) **आसमुद्रेति**—[सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है—

"सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्" ॥ [रघु०. प्रथमसर्ग]

[उदाहरण में दोष दिखाते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ **"आसमुद्रम्"** (यह समास रहित ही पद) ऐसा कहना चाहिये।

यथा वा—

'यत्र ते पतति सुभ्रु कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ।'

अत्र षष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् ।

टिप्पणी – **कहने का आशय यह है कि** रघुवंशियों का अधिकार समुद्रों के ऊपर भी था—यह वक्ता का आशय है, और यह आशय "**आसमुद्रक्षितीशानाम्**" इस समास के द्वारा स्पष्ट नहीं होता है, "समुद्रपर्यन्त पृथ्वी के स्वामी" ऐसा कहने पर पृथ्वीमात्र के ही स्वामित्व का बोध होता है। असमस्तपद के द्वारा **आसमुद्रं क्षितीशानाम्** ऐसा कहने पर समुद्रों पर भी उनका अधिकार स्पष्ट ही प्रतीत होता है। अतः अधिकार के सम्बन्ध में मुख्य रूप से विधेय समुद्र के समास में गौण हो जाने से **विधेयाविमर्श** है।

अर्थ—**अथवा**, (कर्मधारय समास में उद्देश्य से अन्वित **विधेयाविमर्श** का चतुर्थ उदाहरण) **अत्रेति**—(हे) सुभ्रु ! कामदेव के षष्ठ बाण के समान तुम्हारी कटाक्ष दृष्टि जहाँ गिरती है। [यहाँ दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ **षष्ठ इव** ऐसी उत्प्रेक्षा करनी चाहिये।

टिप्पणी—(१) **कहने का आशय यह है कि** कामदेव के बाण मात्र का होना ही असम्भव नहीं है, किन्तु पाँच बाण होने के कारण षष्ठ बाण का होना ही असम्भव है। अतः कामदेव के षष्ठ बाण का होना ही उत्प्रेक्षा के रूप में विधेय है, और वह षष्ठबाणता "षष्ठबाण इव" ऐसा कहने से ही उत्पन्न होती है। षष्ठत्व विधेय के तत्पुरुष समास में गौण हो जाने से इव अर्थ के सम्बन्ध के असमर्थ होने से और उक्त समास में उत्तरपद के ही मुख्य होने से षष्ठत्व विशिष्ट बाणत्व का ही उसके साथ अन्वय सम्भव हो सकता है, और वह कहने वाले को इष्ट नहीं है।

(२) **प्रश्न**—उक्त उदाहरण में वक्ता के अभिमत सम्बन्ध की उपपत्ति न होने से आगे वक्ष्यमाण **अभिमत सम्बन्ध दोष** मान लेना चाहिये ? **उत्तर**—ऐसी बात नहीं है क्योंकि अन्वय के सम्भव होने पर भी उद्देश्य विधेय भाव का ज्ञान न होने से अभिमत सम्बन्ध की प्रतीति न होने से **अभिमत विधेयांश दोष** होता है, और **अभवत्मतसम्बन्ध दोष** में पद और अर्थ के अन्वय के ही न होने से अभिमत सम्बन्ध की उपपत्ति नहीं होती है। यही इन दोनों में भेद है।

यथा वा—

'अमुक्ता भवता नाथ मुहूर्त्तमपि सा पुरा ।'

अत्रामुक्तेत्यत्र नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वमिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

यदाहुः—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ् ।।

अर्थ—अथवा (**नञ्समासगताविमृष्टविधेयांश** का पञ्चम उदाहरण) **अमुक्तेति**—[उक्त उदाहरण में दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "**अमुक्ता**" इस स्थल पर नञ् ("अमुक्ता का अ") प्रसज्यप्रतिषेधक है । (**प्रतियोगिनञसमासेन प्रसज्य-प्रसक्तीकृत्य प्रतिषेधत्वं क्रियान्वयत्वादत्यन्ताभावत्वम्**) अतः (उसकी) विधेयता ही उचित है । [अर्थात् छोड़ने का अभाव यहाँ विधेय है, अतः इसका ज्ञान समास से न करके ही करना उचित था—अर्थात् "न मुक्ता" ही रखना चाहिये था । समास करके अमुक्ता नहीं ।]

टिप्पणी—(१) इस उदाहरण के अन्दर विना समास किये ही नञ् के द्वारा निषेध करना चाहिये था । "**न मुक्ता-अमुक्ता**" ऐसा समास कर देने से निषेध के गौण हो जाने से विधेय की प्रतीति नहीं होती है, अतः "अविमृष्टविधेयांशत्वदोष" है । और इस दोष का कारण विवक्षित विधेय की अनुपपत्ति है ।

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है—

आनन्दसिन्धुरतिचापलशालिचित्तसन्दाननैकसदनं क्षणमप्यमुक्ता ।
या सर्वदैव भवता तदुदन्तचिन्ता तान्तिन्तनोति तव सम्प्रति धिग्धिगस्मान् ।। इति

अवतरणिका—असमास में ही नञ् की विधेयता रूप प्रधानता होती है । और प्रतियोगी की अप्रधानता होती है । इसप्रकार के स्थलों पर नञ् का "**प्रसज्यप्रतिषेधत्व**" है । एतद्विषयक प्राचीन कारिका को उद्धृत करते हैं ।

अर्थ—(**प्रसज्यप्रतिषेध** का लक्षण)—कहा भी है कि—**अप्राधान्यमिति**—जिस (वाक्य) में विध्यंश की (नञ् से अतिरिक्त पदार्थ की अर्थात् प्रतियोगी की) अप्रधानता (नञ् अर्थ की अपेक्षा अप्रधानता की प्रतीति अर्थात् उद्देश्य रूप से (अमुख्यता) हो, (तथा) प्रतिषेध में (नञ् के अर्थ में) प्रधानता (समास न होने के कारण दूसरे पदार्थ की अपेक्षा विधेयरूप से प्रधानता की प्रतीति) हो, जिस (वाक्य) में क्रिया के साथ नञ् (होता) है, वह **प्रसज्यप्रतिषेध** (अत्यन्त अभाव का ज्ञापक) कहलाता है ।

यथा—

'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः ।'

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नञः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः ।

यदाहुः—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता ।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ।'

अर्थ—(**प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नञ्** का उदाहरण) **यथा—नवजलधर इति**—[**प्रसङ्ग**—गन्धर्व के द्वारा उर्वशी के हरण कर लिये जाने पर राजा पुरुवा की उसके विरह में जलधरादि में निशाचरत्वादि की प्रतीति का वर्णन है ।] यह (आकाश में दिखाई देने वाला) नवीन बादल ही (वायु के द्वारा) सन्नद्ध किया गया है (कोई) गर्वित राक्षस नहीं है । [यहाँ उद्देश्य रूप से सन्नद्ध नवीन जलधर का गर्वित निशाचर होने का कथन करना अप्रधान है, और उसके अभावरूप नञ् के अर्थ की विधेयरूप से प्रधानता है तथा नञ् का क्रिया के साथ अभाव होने पर भी समास न होने से **प्रसज्यप्रतिषेधता** है । पूरा पद्य इसप्रकार है—

नवजलधरः सनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः ।
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं, न तस्य शरासनम् ।।
अयमपि पटधारासारो न बाणपरम्परा ।
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी ।।] (किन्तु)

उक्त (**अमुक्तेत्यादौ**) उदाहरण में तो तत्पुरुष समास में नञ् के गौण हो जाने पर पर्युदास की तरह (प्रतीत होते हुये) निषेध का (प्रसज्यप्रतिषेध का) विधेय रूप से (अर्थात् प्राधान्य से) प्रतीति नहीं होती है । [अतः मुख्य का अमुख्य रूप से उपन्यस्त करने के कारण **अविमृष्टविधेयांशदोष** है ।]

अर्थ—(**पर्युदास** का लक्षण) कहा भी है कि–**प्रधानत्वमिति**—जिस (वाक्य) में विध्यंश की (नञ् से भिन्न पदार्थ की) प्रधानता (उत्तरपदप्रधान तत्पुरुष के कारण विशिष्टता) हो, (विधेय के प्रतियोगीभूत अभाव की) प्रतिषेध में (नञ् की) अप्रधानता (समास के कारण अप्रतीयमान विधेयतारूप अप्रधानता) हो, जिस (वाक्य) में उत्तरपद के साथ (सम्बन्ध) हो, उस नञ् को पर्युदास समझना चाहिये । [**"रात्रौ श्राद्धं न कुर्वीत"** इत्यादि में **"न रात्रौ"** इस योजना से **"रात्रौ"** इसकी उत्तरपदता उपपन्न है ।]

तेन—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत् ॥

अत्रात्रस्तत्वाद्यनूद्यात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः ।

ननु 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः' 'असूर्यंपश्या राजदारा' इत्यादिवत् 'अमुक्ता'

अर्थ—(**पर्युदास** का उदाहरण) अतः—**जुगोपेति**—]**प्रसङ्ग**—रघुवंश के प्रथम सर्ग में राजा दिलीप का यह वर्णन है।] वह (दिलीप) निर्भीक होता हुआ अपने (शरीर) की रक्षा करता था (दूसरे के समान भय की अवस्था में ही अपनी रक्षा नहीं करता था—"**आत्मानं सततं गोपायीत**" इस श्रुति के अनुसार), नीरोग होता हुआ धर्म का (कर्तव्यरूप से) सेवा करता था (दूसरे सामान्य व्यक्ति की तरह रोगादि की शान्ति के लिये धर्म का आश्रय नहीं लेता था), तृष्णा शून्य होकर ही (कररूप से) धनों को (प्रजाओं से) लेता है (दूसरों के समान लोभवश प्रजाओं से कर नहीं लेता था) अनासक्त होकर ही सुख का अनुभव करता था (दूसरे मनुष्यों के समान आसक्त होकर सुख का अनुभव नहीं करता था)। [**यहाँ पर्युदास** में गुणीभूत निषेध उद्देश्य है, विधेय नहीं—यह बताते हैं] **अत्रेति**—यहाँ अत्रस्तत्व आदि का ("आदि" पद से अनातुरत्व, अगृध्नुत्व और अनासक्तत्व का ग्रहण होता है) अनुवाद (उद्देश्य) करके आत्मगोपनादि ही ("आदि" पद से धर्म सेवन, कर ग्रहण और सुखानुभव) विधेय हैं, अतः नञ् का पर्युदास होने से गुणीभाव (तत्पुरुष समास से अप्रधानीभाव) उचित है। अतः यहाँ पर भी अविमृष्टविधेयांशदोष नहीं है।

टिप्पणी—नञ् का प्रसज्यप्रतिषेधत्व और पर्युदासत्व विधेय और उद्देश्य भाव की विवक्षा के आधीन है, नियत नहीं है।

अर्थ—प्रश्न—"अश्राद्धभोगी ब्राह्मणः, असूर्यम्पश्या राजदाराः" इत्यादि की तरह ("आदि पद से **अपुनर्गेया लोकाः** इसका ग्रहण होता है **अर्थात्** इन समासों में भी प्रसज्यप्रतिषेध रूप श्राद्ध भोजन का अभाव और सूर्य दर्शन के अभाव की प्रतीति की तरह "**अमुक्ता**" इसमें भी (मोचनाभावरूप) प्रसज्यप्रतिषेध मान लें तो क्या हानि है? **तात्पर्य** यह है कि नञ् के साथ समास होने से भोजनादि के अभावरूप विधेय की प्रतीति होने पर **अविमृष्टविधेयांशदोष** किसप्रकार सम्भव हो सकता है।

इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेत्' न । अत्रापि यदि भोजनादिरूप-क्रियांशेन नञः सम्बन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम् । न च तथा । विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थेन कर्त्रंशेनैव नञः सम्बन्धात् ।

यदाहुः—

'श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता प्रतीयते ।
न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥' इति ।

'अमुक्ता' इत्यत्र तु क्रिययैव सह संबन्ध इति दोष एव ।

एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः ।

उत्तर—नेति–नहीं (अर्थात् केवल "**अमुक्ता**" यहाँ पर ही नहीं अपितु **अश्राद्धभोजी** और **असूर्यंपश्याः** इन उदाहरणों में भी प्रसज्य-प्रतिषेध नहीं है)। यहाँ पर भी यदि भोजनादिरूप ("आदि" पद से दर्शन का ग्रहण होता है) क्रियांशों के साथ (**क्रियया सह यत्र नञ्** इस वचन के अनुसार **अश्राद्ध** और **असूर्यं** इनका भी यदि भोजन और दर्शन क्रियाओं का) नञ् का सम्बन्ध हो तभी उनमें प्रसज्यप्रतिषेध कहा जा सकता है। और वैसा नहीं है (अर्थात् उन दोनों का वैसा क्रिया के साथ सम्बन्ध ही नहीं है।, क्योंकि विशेष्य तथा प्रधान श्राद्ध भोज्यादिरूप अर्थ भोजन के कर्तारूप अंश के साथ ही ("भोज्यार्थेन" यह उपलक्षण है, अतः 'दर्शक कर्तारूप अंश के साथ" इसका भी ग्रहण हो जाता है।) नञ् का सम्बन्ध होने के कारण। [यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि **अश्राद्धभोजी** इसके दो भाग हैं। (१) एक तो विशेषण के कारण अप्रधानभूत भोजनादि की क्रिया और (२) दूसरा विशेष्य के कारण प्रधानभूत उस क्रिया का कर्ता। इन दोनों में से नञ् के सम्बन्ध के विषय में संशय होने पर "**अव्यक्तं प्रधानगामि**" इस न्याय के अनुसार प्रधानभूत कर्ता के साथ ही नञ् का सम्बन्ध है, इसप्रकार क्रिया से भिन्न पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने से **पर्युदास** ही है। कुछ विद्वान् "**असूर्यंपश्याः**" के अन्दर दर्शन के साथ सम्बन्ध होने पर भी नञ् का सूर्य के साथ सम्बन्ध होने से समास है ऐसा मानते हैं। उनके मतानुसार तो इसमें **प्रसज्यप्रतिषेध ही है। कहा भी है कि**—श्राद्धभोजनेति—क्योंकि ("अश्राद्धभोजी" इस पद से) श्राद्धभोजनशील कर्ता की प्रतीति होती है (क्योंकि "**यस्मिन् अर्थे यो यत्र जातः स तदर्थाभिधायी**" इस न्याय से) किन्तु केवल (श्राद्ध) भोजन की (प्रतीति) नहीं (होती) है (अतः मुख्य रूप से कर्ता के साथ ही नञ् का अन्वय है) (क्योंकि सुबन्त उपपद होने पर धातु से "**व्रते**" ३।२।८० इस सूत्र से) कर्ता में णिनि प्रत्यय होता है। [अतः दोनों उदाहरणों में श्राद्धभोजिभिन्न और सूर्यदर्शकभिन्न होने से पर्युदास ही है, प्रसज्यप्रतिषेध नहीं] **अमुक्तेति**—"**अमुक्ता**" यहाँ क्रिया के साथ ही नञ् का सम्बन्ध है अतः, वहाँ (अविमृष्टविधेयांश) दोष ही है। **(उपसंहार करते हैं) ऐते चेति**—और ये क्लिष्टत्वादि ["आदि" पद से विरुद्धमतिकारित्व, विधेयाविमर्श—इनका ग्रहण होता है **अर्थात् क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारित्व और विधेयाविमर्शत्व—ये तीन] समास के अन्दर ही (असमास में नहीं) पददोष होते हैं।**

वाक्ये दुःश्रवत्वं यथा—

'स्मरार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्तार्थ्यं विरहे तव।'

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता।

अथ वाच्यदोषनिरूपणम्ः—

अवतरणिका—पदों के समुदाय से वाक्य का निर्माण होता है, अतः "पददोष" के अनन्तर ही "वाक्यदोषों" को जानने की आकांक्षा होती है। इसलिये **पदे पदांशे वाक्येऽर्थे**—"इस उक्त क्रम का उल्लंघन करके पहले" **वाक्य दोषों** का निरूपण करते हैं।

अर्थ—(१) वाक्य में दुःश्रवत्व (**नामक दोष का उदाहरण**) **यथा—स्मरेति**—तुम्हारे विरह में काम-पीड़ा से मोहित होकर मैं कब कृतार्थता को प्राप्त होऊँगा।

टिप्पणी—यहाँ **"स्मरार्त्यन्धः" "कातार्थ्यम्"** और **"लप्स्ये"** इन पदों की कठोर पदों से रचना होने से कानों को दुःख देने के कारण **"वाक्यगत दुःश्रवत्व दोष"** है।

अर्थ—(२) (**वाक्यगत जुगुप्साश्लीलत्वदोष** का उदाहरण) कृतेति—अन्य (कवि) की वर्णित वस्तु के विषय में की है प्रवृत्ति जिसने ऐसा अर्थात् दूसरे की कविता का अनुसरण कर अपने काव्य की रचना करने वाला कवि वमन का भक्षण करता है। अर्थात् दूसरे के वमन का भक्षण करने वाले कुत्ते की तरह निन्दा को प्राप्त करता है। [लक्ष्य में लक्षण की योजना करते हैं।] अत्रेति—यहाँ (**"प्रवृत्ति"** शब्द के पुरीष व्यञ्जक होने से और "वान्त" शब्द के उद्वमन वाचक होने से) **जुगुप्सा व्यञ्जक अश्लीलत्वदोष** है।

टिप्पणी—(१) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है:—

तेऽन्यैर्वान्तं समश्नन्ति परोत्सर्गं च भुञ्जते।

इतरार्थग्रहे येषां कवीनां स्यादप्रवर्तनम् ॥

यहाँ **वान्त, उत्सर्गः** और **प्रवर्तन** शब्दों के घृणाभिव्यञ्जक होने से **अश्लीलत्व** है।

(२) **वाक्यगतव्रीडाव्यञ्जकाश्लीलत्वदोष** का उदाहरण—

"भूपतेरुपसर्पन्ती कम्पना वामलोचना।

तत्तत्प्रहरणोत्साहवती मोहनमादधौ ॥

यहाँ किसी एक राजा की सेना का वर्णन होते हुये भी रति-संम्भोग के लिये शनैः शनैः जाती हुई, अपने दर्शन से उत्पन्न सात्विक भावों से मनुष्यों को कम्पयुक्त करती हुई अथवा स्वयं शङ्का से कम्पयुक्त होती हुई सुन्दर नयनों वाली नायिका ने कामशास्त्र में प्रसिद्ध अपनी जंघा से पुरुष की जंघा ताड़ने में उत्साहवती होकर राजा को मुग्ध कर दिया—इसप्रकार अन्यार्थ की व्यञ्जना होती है। इसप्रकार विवक्षित वाक्यार्थ की प्रतीति की अवस्था में दूसरे अर्थ की व्यञ्जना होने से लज्जाजनक होने से **उत्सर्पण-प्रहरण-मोहन** ये शब्द दुष्ट हैं।

'उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिर्भूषिता तनुः ॥'

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः। वक्राभिर्वामाभिः। इति नेयार्थता।

'धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥'

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धः क्लिष्टः

अर्थ—(३) (वाक्यगतनेयार्थत्वदोष का उदाहरण) 'उद्यदिति—सुन्दरियों ने प्रकाशमान पद्मरागमणियों से (अपने) शरीर को भूषित किया।

अत्रेति—यहाँ **कमललौहित्यं**—पद्मराग। **वक्राभिः**—सुन्दरियों ने। **नेयार्थता दोष** है।

टिप्पणी—(१) यहाँ, उत् पूर्वक इण् धातु का उदयाचल के शिखर पर आरोहण रूप मुख्य अर्थ का पद्मराग मणियों के विषय में बाध होने से, उसके अर्थ को बताने में लक्षणा है। रूढ़ि होने पर भी पद्मराग मणियों के प्रकाश के आरोहण न कर सकने के कारण मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध न होने से **नेयार्थत्व** दोष है।

(२) **अथवा** पद्मराग शब्द के परिवृत्तिसह न होने से "कमल" शब्द की "पद्म" शब्द में, लौहित्यपद की "राग" शब्द में और "वक्रा" पद की "वामा" शब्द में लक्षणा है। जिसप्रकार "द्विरेफ" पद से बहुव्रीहि लक्षणा के द्वारा उपस्थापित दो रेफ से युक्त भ्रमर पद से अभिधा के द्वारा ही भृङ्ग की उपस्थिति होती है, क्योंकि यहाँ रूढ़ि है। इसीप्रकार प्रकृत उदाहरण में लक्षित पद्मादि शब्दों के द्वारा अभिधा से पद्मराग और वामा की उपस्थिति होने पर भी रूढ़ि और प्रयोजन के न होने से **नेयार्थता** है। कुछ विद्वान् इसीको "लक्षण-लक्षणा' कहते हैं।

अर्थ—(**वाक्यगत क्लिष्टत्वदोष** का उदाहरण) **धम्मिल्लस्येति**—मृगशावक के नयनों के समान नयनों वाली के विलक्षण विन्यास विशिष्ट बंधे हुये केशपाश की शोभा को देखकर किस व्यक्ति का मन अत्यन्त अनुरक्त नहीं होता है, अपितु सभी का होता है। [अन्वय के दूर-दूर होने के कारण क्लिष्टता दिखाते हैं।] **अत्रेति—यहाँ** "(**कुरङ्गशावाक्ष्याः धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न** रज्यति") यह [सम्बन्ध में परस्पर अन्वयी पदों के दूर-दूर होने से विशेष अनुसंधान के द्वारा ही उनका परस्पर अन्वय लग पाता है, अतः अन्वय के विलम्ब से रस की प्रतीति भी विलम्ब से होती है अतः] सम्बन्ध "**क्लिष्ट**" है।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इति।

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्वं विवक्षितम्। तच्च शब्दरचनावैपरीत्येन गुणीभूतम्। रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः।

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु समागतः।'

इत्यादिषु 'यत्तदोर्नित्यसंबन्धः' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा विधेया एव भवितुं युक्ताः। अत्र तु यच्छब्दनिकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्।

अर्थ—(वाक्यगताविमृष्टविधेयांशत्वदोष का उदाहरण) **न्यक्कार इति**—[इस पद्य की पृष्ठ···६···पर व्याख्या की जा चुकी है।] **अत्रेति**—यहाँ "**अयमेव न्यक्कारः**" इस न्यक्कार पद की विधेयता विवक्षित है, ["अयमेव" उद्देश्य है। **अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत्। न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित्प्रतितिष्ठति॥**—उद्देश्य का बिना कथन किये विधेय को नहीं कहना चाहिये (क्योंकि) आश्रय के विना कोई भी वस्तु कहीं नहीं ठहरती। इस न्याय के अनुसार पहले उद्देश्य और पीछे विधेय कहना चाहिये] **तच्चेति**—और वह (उद्देश्य-विधेय भाव उक्त पद्य में) शब्दों की रचना की विपरीतता से (अर्थात् विधेयवाचक "न्यक्कारः" पद का उद्देश्यवाचक "अयमेव" पद से पूर्व रख देने के कारण) गौण हो गया है। [प्रश्न—विधेयपद के पहले आ जाने से "पददोष" ही होना चाहिये "वाक्यदोष" किसप्रकार है? इसका उत्तर देते हैं।] **रचनेति**—और रचना दो पदों की ("अयं न्यक्कारः" इसमें "इदम्" पद की और "**न्यक्कारः**" पद की) विपरीतता है, अतः "**वाक्यदोष**" है। [क्योंकि अनेक पदों में दोष होने से "वाक्य-दोष" होता है]।

अवतरणिका—यह "अविमृष्टविधेयांशदोष" विधेय की अनुपस्थिति से भी हो सकता है, यह दिखाने के लिये अन्य उदाहरण देते हैं :—

अर्थ—(**अविमृष्टविधेयांशत्वदोष** का अन्य उदाहरण) **आनन्दयतीति**—(हे) सुभ्रु! जो तुम्हारे नेत्रों को विकसित करता है, वह आ गया। [**उक्त** उदाहरण में दोष दिखाते हैं।] **इत्यादिष्विति**—इत्यादि (वाक्यों) में "**यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः**"—यत् और तत् शब्द का सार्वकालिक सम्बन्ध होता है, इस न्याय के अनुसार प्रस्तुत (उद्देश्य रूप से प्रयुक्त) यत् शब्द की आकांक्षा को पूरा करने के लिये तत् शब्द के समानार्थक प्रयुक्त होने वाले **इदम्, एतत्** और **अदस्** शब्द विधेय रूप से ही (उद्देश्य रूप से नहीं) होने के योग्य हैं, (किन्तु) यहाँ ("आनन्दयति—" इस उदाहरण में "**योऽसौ**" इसमें) यत् शब्द निकटस्थित होने के कारण (**अदस् शब्द**) उद्देश्य (अनुवाद्यत्व) की प्रतीति कराने वाला है।

तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम् ।
यथा--

'यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु स आगतः ।'

टिप्पणी—भाव यह है कि यद्यपि "**यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः**" इस नियम से जहाँ यत् शब्द है, वहाँ तत् शब्द जब तक प्रयुक्त नहीं होता है, तभी तक ही वाक्य की साकांक्षता है । और जहाँ यत् शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ तत् शब्द के समानार्थक होने के कारण यदि इदम्, एतत्, और अदस् शब्दों में से किसी एक का भी प्रयोग हो जावे, तो वहाँ पर भी यत् शब्द से उत्थापित आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है, तत् ही "**योऽसौ**" ऐसा प्रयोग होने पर भी यत् शब्द से उत्थापित आकांक्षा की पूर्ति हो सकती है—ऐसा कहा जा सकता है, तथापि यह नियम वहीं पर है, जहाँ यत् और तत् शब्द का पृथक्-पृथक् प्रयोग हो अथवा विलक्षण विभक्ति के अन्त में होने के कारण पार्थक्य हो । यहाँ प्रकृत उदाहरण के अन्दर तो अन्त में समान विभक्ति होने के कारण और यत् शब्द के समीप प्रयुक्त होने के कारण अदस् शब्द उद्देश्य का (अनुवाद्यत्व का) प्रत्यायक है, अतएव यत् शब्द से उत्थापित आकांक्षा की अदस् शब्द से पूर्ति नहीं होती है, इसलिये विधेय अदस् शब्द का उद्देश्य होने से गौण रूप से निर्देश है, अतः **विधेयाविमर्शदोष** है ।

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है ।

"**अपाङ्गसंसर्गितरङ्गितं दृशोर्भ्रुवोररालान्तविलासि वेल्लितम् ।**
विसारिरोमाञ्चनकञ्चुकं तनोस्तनोति योऽसौ सुभगे तवागतः ।। इति ।।

(३) यत् और तत् शब्द का सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—(१) शाब्द और (२) आर्थ । दोनों का उपादान होने पर "शाब्द" और दोनों के उपादान न होने पर "आर्थ" होता है । इसके उदाहरण आगे चलकर देगें ।

(४) **तत्पदप्रतिपाद्यतया वक्तृबुद्धिविषय उद्देश्यो यत्यदार्थः, यत्पदप्रतिपाद्यतया वक्तृबुद्धिविषयो विधेयभूतस्तत्पदार्थ इति वैय्याकरणाः ।।**

अवतरणिका—अविमृष्टविधेयांश के प्रसङ्ग और अप्रसङ्ग के उपादन के लिये शब्दरचना की विशेषता से ही अर्थविशेष की प्राप्ति होती है, यह बताते हैं—

अर्थ—(पूर्व उदाहृत में '**अदस्**' शब्द के ही नहीं, अपितु) तत् शब्द के भी (यहाँ "तत्" पद इदम् और एतत् शब्द का भी ग्राहक है) "यत्" शब्द के निकट स्थित होने पर केवल प्रसिद्ध अर्थ का ज्ञान करान वाला होता है (विधेय अर्थ के ज्ञान द्वारा आकांक्षा की निवृत्ति का बोधक नहीं होता है) । **यथा-यः स इति**—(हे) सुभ्रु ? जो वह तुम्हारे नयनों को आनन्द देने वाला है, वह आ गया ।

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति ।

यथा—

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः ।'

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि । यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति, तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः । तथाहि यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वे नोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

टिप्पणी—(१) इस पूर्वोक्त उदाहरण में "यत्" शब्द के समीप स्थित "तत्" शब्द (सः) केवल प्रसिद्ध का ज्ञान कराता है, और दूसरा (सः) "तत्" शब्द विधेय का बोधक है । इसप्रकार यहाँ उद्देश्य और विधेय के प्रतिपादक "यत्" शब्द और "तत्" शब्द के नियमानुसार स्थित होने से **अविमृष्टविधेयांशत्वदोष** नहीं है ।

(२) जहाँ प्रसिद्ध आदिकों का परामर्श करने वाले भी तत्, इदम् आदि शब्दों का "यत्" पद के साथ सम्बन्ध सम्भव होता है, वहाँ विधेयत्व की प्रतीतिकारिता ही है । कहा भी है—

ख्यातार्थमनुभूतार्थं प्रक्रान्तार्थञ्च तत्पदम् ।
यत्पदापेक्षयाहीनं न विधेयत्वबोधकृत् ।। इति ।।

अर्थ—"यत्" शब्द के व्यवधान से स्थित ("तत्" इदम्, एतत् और अदस् आदिक शब्द) निराकांक्षता का ही ("यत्" शब्द की) ज्ञान कराते हैं । [अर्थात् इस अवस्था में उनकी विधेयता स्पष्ट होती है अतः **अविमर्श** नहीं है ।] **यथा—आनन्दयतीति**—इस समय जो आया है, वह तुम्हारे नयनों को आनन्द देने वाला है । **एवमिति**—इसीप्रकार "इदम्" आदि शब्दों के उपादान में भी (उदाहरण समझने चाहिये । "आदि" पद से "तत्" शब्द का परामर्श है) ।

टिप्पणी—(१) पूर्वोक्त उदाहरण में "**यः**" से "**असौ**" का "**अधुना**" पद व्यवधान होने से "**असौ**" इस अदस् शब्द से "**यः**" इस "यत्" शब्द की निराकांक्षता बोधित होती है । विधेय के प्रत्यायक **असौ** इसके अनन्तर ही स्थित होने के कारण यहाँ पर भी **विधेयाविमर्शदोष** नहीं है ।

अवतरणिका—"**यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः**" इस न्याय से दोनों के उपादान में ही यह विचार होता है । एक के ही उपादान होने पर तो यह विचार नहीं होता है; इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—और जहाँ "यत्" और "तत्" शब्दों में से किसी एक का आर्थत्व—पद का ग्रहण न करने पर भी अर्थ के बल से आक्षेप सम्भव होता है, वहाँ एक का ग्रहण करने पर भी निराकांक्षता की प्रतीति होती है, अतः (विधेय की अप्रतीति रूप) क्षति नहीं है । **तथाहि**—"यत्" शब्द के उत्तर (अगले) वाक्य के द्वारा ग्रहण होने पर योग्यता के बल से पूर्ववाक्य में "तत्" शब्द का आर्थत्व—अर्थ के बल से आक्षेप हो जाता है ।

यथा—

'आत्मा जानाति यत्पापम् ।'

एवम्—

'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधींश्च—'

इत्यादावपि ।

अर्थ—यथा—आत्मेति—(स्वयं किया हुआ) जो पाप है, (उसको) अन्तः-करण जानता है । [यहाँ पूर्व वाक्य में "तत्" शब्द का ग्रहण न करने पर भी "यत्" शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से प्राप्त होने के कारण "यत्" शब्द की निराकांक्षता है ।] इसीप्रकार **यं सर्वशैला इति**—दोहन में कुशल सुमेरु पर्वत के दोग्धा होने पर सभी पर्वतों ने जिस (हिमालय) को (अपना) पुत्र मानकर (राजा पृथु से परिपालित पृथ्वी को) देदीप्यमान रत्नों को और महान् औषधियों को दुहा, इत्यादि में भी "तत्" शब्द की अर्थता है । [उत्तरवाक्य में "यत्" शब्द के स्थित होने से पूर्ववाक्य **"अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा"** इत्यादि आरम्भ में ही **"सः हिमालयः अस्ति"** इस "तत्" की आर्थता है—अर्थात् अर्थ के बल से "तत्" शब्द का आक्षेप हो जाता है ।]

टिप्पणी—(१) प्रथम श्लोक सम्पूर्ण इसप्रकार है :—

आत्माजानाति यत्पापमत्र वान्यत्र जन्मनि ।
प्रत्यक्षं वा परोक्षं वा स्वल्पं वा भूरि वा कृतम् ॥

(२) दूसरे उदाहरण में दिया हुआ पद्य "कुमारसम्भवम्" के प्रथम सर्ग का है ।

(३) उत्तरवाक्य में विद्यमान "यत्" पद का पूर्ववाक्य में विद्यमान "तत्" पद से शाब्द सम्बन्ध का उदाहरण—**यथा**—

"अन्यास्ताः गुणरत्नरोहणभुवः" इत्यादि ।

इसीप्रकार पूर्ववाक्य में विद्यमान "यत्" पद का उत्तरवाक्य में प्रतीत होने वाले "तत्" शब्द से शाब्द सम्बन्ध का उदाहरण—**यथा**—

"यस्त्वां विसृजते मर्त्य आत्मानं प्रियमीश्वरम् ।
विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्त्यमृतं त्यजेत् ॥

अवतरणिका:—**"यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः"** इस नियम से "यत्" शब्द के ग्रहण से "तत्" शब्द की आर्थता का वर्णन करने के उपरान्त "तत्" शब्द मात्र के ग्रहण से "यत्" शब्द की आर्थता का वर्णन प्रसंगानुसार करते हैं:—

तच्छब्दस्य प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

क्रमेण यथा—

'स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥'
'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्प्यताम् ।'
'तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि ।'

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव ।

अर्थ—"तत्" शब्द के प्रक्रान्त विषय का (प्रकरण से प्राप्त—पूर्व प्रतीति का विषय), प्रसिद्ध विषयक (लोक विख्यात) और स्वयं अनुभूत विषय के होने पर "यत्" शब्द की आर्थता होती है । क्रम से (उदाहरण)—**यथा**—(१) [तत् शब्द के प्रक्रान्त (प्रकरण प्राप्त) अर्थ वाची होने पर "यत्" शब्द की आर्थता का उदाहरण] **स इति**—[प्रसङ्ग—रघुवंश महाकाव्य के १२ वें सर्ग का यह पद्य है ।] उस वीर (रामचन्द्र जी) ने (जो सुग्रीव का मित्र है) बालि को मारकर धातु के स्थान पर आदेश की तरह चिरकाल से अभिलषित उस (वालि) के पद (राज्य) पर सुग्रीव को अभिषिक्त कर दिया । [यहाँ श्री रामचन्द्रजी का प्रकरण चल रहा है । अतः "तत्" शब्द (सः) प्रक्रान्त वाचक है, अतः "यत्" शब्द आर्थ है ।]

(२) ["तत्" शब्द के प्रसिद्ध अर्थ के वाचक होने पर "यत्" शब्द की आर्थता का उदाहरण] **यथा—स व इति**—वह (जो संसार में पूजा जाता है) प्रसिद्ध शिवजी तुम्हारे सायुज्य मोक्ष के लिये मुक्ति देने वाले हों । [यहाँ "जो संसार में पूजा जाता है" इस अर्थ के बल से आक्षिप्त "यत्" शब्द से "सः" का अन्वय होता है । और यहाँ "तत्" शब्द (सः) प्रसिद्ध अर्थ का वाचक है ।]

(३) ["तत्" शब्द के स्वयं अनुभूत अर्थ के वाचक होने पर "यत्" शब्द की आर्थता का उदाहरण] **तामिति**—चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली उसको हृदय में चिन्तन करता हूँ । (जो रूप लावण्य से पूर्ण है—इस पूर्वानुभूत कामिनी का "तत्" शब्द से (ताम्) परामर्श किया है । अतः "यत्" शब्द आर्थ है ।]

अर्थ—और जहाँ "यत्" शब्द के निकट विद्यमान भी "इदम्" आदि ("आदि" पद से तत्, एतत् और, अदस् शब्दों का ग्रहण होता है) शब्दों का भिन्न लिङ्ग और भिन्न विभक्ति होती है, वहाँ पर भी निराकांक्षता ही है ।

क्रमेण यथा—

'विभाति मृगशावाक्षी येदं भुवनभूषणम् ।'
'इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोषितः ।'

क्वचिदनुपात्तयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यादवगमः ।

यथा—

'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि मा शुचः ।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥'

अत्र योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

अर्थ—क्रम से (उदाहरण)—**यथा**—(१) "यत्" शब्द के समीपवर्ती भिन्न लिङ्ग वाले "इदम्" शब्द के द्वारा "यत्" शब्द की आकांक्षा की निवृत्ति का उदाहरण] **विभातीति**—जो मृगशावक के नयनों के समान नयनों वाली सुशोभित हो रही है, यह संसार का अलंकार है। [यहाँ "**यः**" के समीप ही "**इदम्**" यह विधेय है, परन्तु लिङ्ग की भिन्नता से उद्देश्य की प्रतीति नहीं होती, अतः आकांक्षा की निवृत्ति करता है।]

(२) ["यत्" शब्द के समीपवर्ती भिन्न विभक्ति वाले "तत्" शब्द की "यत्" शब्द की आकांक्षा की निवृत्ति का उदाहरण] **इन्दुरिति**—जो चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, उस (चन्द्रमा) ने पथिकों की स्त्रियों को दग्ध कर दिया। [यहाँ "**यः**" यह प्रथमान्त "यत्" शब्द का, "तेन" इस "तत्" शब्द के तृतीया के एकवचन होने से भिन्न विभक्ति के कारण आकांक्षा की निवृत्ति करता है। इसीप्रकार "**अपि**" से युक्त भी तदादि की निराकांक्षता होती है। **यथा**—

"शीतांशुरपि यः सोऽपि दग्धवान् पथिकाङ्गनाः" इति ॥

इसीप्रकार एतत् और अदस् शब्दों के भी उदाहरण समझने चाहिये। **क्वचिदिति**—कहीं (वाक्य में) अप्रयुक्त दोनों का ("यत्" और "तत्" शब्दों का) भी योग्यता के बल से (आकांक्षा से) प्रतीति हो जाती है। **यथा—नेति**—[**प्रसङ्ग**—कंस के भार से व्यथित पृथ्वी के प्रति ब्रह्मा का यह आश्वासन वचन है।] (हे) पृथ्वी ! कोई भी (मनुष्य) मेरे भार को (कंसादिकों को मारकर) शान्त करने वाला नहीं (है), इसप्रकार का शोक मत करो (क्योंकि) नन्द के घर में अद्भुत पराक्रम वाला कोई भी शिशु है। **अत्रेति**—यहाँ (नन्द के घर में) जो है वह (सः) तेरे भार को शान्त करने वाला है—यह (बात यहाँ वक्ता की आकांक्षा के कारण) प्रतीत होती है।

टिप्पणी—यहाँ "यत्" और "तत्" दोनों का ही ग्रहण न होने पर दोनों का ही सामर्थ्य से ज्ञान होता है।

'यद्यद्विरहदुःखंमे तत्को वाऽपहरिष्यति ।'

इत्यत्रैको यच्छब्दः साकाङ्क्ष इति न वाच्यम् । तथाहि—यद्यदित्यनेन केन-चिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्तु विवक्षितम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरणं बोध्यम् ।

अवतरणिका—प्रश्न—जहाँ पूर्ववाक्य के अन्दर दो "यत्" पद होंगे वहाँ पर एक 'तत्' पद से निराकांक्षता की प्रतीति किसप्रकार होगी ? वहाँ पर तो दो ही 'तत्' पदों का ग्रहण करना उचित है, **यथा—**

यं यं कामयते कामं तं तमाप्नोति लीलया "इति"

इसका उत्तर देते हैं ।

अर्थ—मुझे जो-जो विरह का दुःख है, उसे कौन दूर करेगा ? **इत्यत्रेति**—यहाँ इस (वाक्य) में एक "यत्" शब्द साकांक्ष है, [**यहाँ शंका करने वाले का आशय यह है कि**—यदि "यत्" शब्द की निश्चित रूपेण "तत्" शब्द से साकांक्षता है तो इस श्लोक में निराकांक्षता का निर्वाह कैसे होगा ? क्योंकि यहाँ एक "तत्" पद से एक "यत्" पद की निराकांक्षता हो जाने पर भी दूसरे "यत्" पद की साकांक्षता रहती ही है, अतः विधेयाविमर्श दोष दुर्वार ही है । इसका समाधान करते हैं—।

न वाच्यमिति—ऐसा नहीं कहना चाहिये । क्योंकि—"**यत् यत्**" इसके द्वारा जिस किसी भी रूप से विद्यमान सभी कुछ वस्तु (अर्थात् विरह दुःख रूप से सामान्य-तया सम्पूर्ण विरह दुःख) विवक्षित है । तथा सभी प्रकार से उसका (सम्पूर्ण विरह दुःख का एक ही) "तत्" शब्द से परामर्श है । (अतः कोई पद साकांक्ष नहीं है ।) **एवमिति**—इसीप्रकार अन्य (दोषों) के भी वाक्यगत उदाहरण समझने चाहिये [यथा-स्थान अन्य दोषों के उदाहरण दिखाये जा चुके हैं ।]

टिप्पणी—(१) इसीप्रकार "**यो यः शस्त्रं बिभर्ति**" इस वक्ष्यमाण उदाहरण में "यत्" शब्द के आठ बार होने पर भी "तत्" शब्द के "**तस्य तस्य**" इस दो बार के कथन से ही आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है ।

(२) **समाधान का आशय यह है कि** दो 'यत्' पदों के प्रयोग से अनुभूत और अननुभूत सभी प्रकार के दुःखों का परामर्श एक ही 'तत्' पद से कर दिया गया है, किसी दूसरे "तत्" पद की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि '**यत्तद्भ्यामेकरूपेणैव परामर्शः**" इसप्रकार के नियम में कोई प्रमाण नहीं है । तथा च "**यत्पदार्थस्तत्पदेन परामृश्यते**" यही नियम है, यह नियम नहीं है कि जितने 'यत्' शब्द हैं, उतने ही 'तत्' शब्दों का भी प्रयोग होना चाहिये, अतः यहाँ पर **विधेयाविमर्शदोष** की शंका नहीं करनी

चाहिये। तथा च "यः सः ते नयनानन्दकरः" यहाँ पर उद्देश्यविधेयभाव विवक्षित है, और इसकी प्रतीति नहीं होती है केवल "योऽसौ प्रसिद्धः" इसकी प्रतीति होने से यहाँ पर विधेयाविमर्शदोष ही है। वस्तुतः 'यत् यत्' ये दो पद नहीं हैं, किन्तु "नित्य-वीप्सयोः" इस सूत्र से वीप्सा में "यत्" को द्वित्व आदेश हो गया है, तथा "यत्" पद से और "तत्" पद से—इन दोनों से ही एक ही रूप से दुःख का परामर्श है। आदेश सम्पूर्ण रूप से अन्वय में तात्पर्य का ग्राहक है—अतः "यत्" पद से ही दुःख के सम्बन्ध की प्रतीति होने पर "तत्" पद के अन्दर वीप्सा का द्योतक द्वित्वादेश नहीं है। जहाँ "यत्" पद की प्रथमता है वहाँ "तत्" पद में ही आदेश होता है, "यत्" पद में नहीं। यथा—

क्षान्तं न क्षमया ग्रहोचितसुखं व्यक्तं न सन्तोषतः
सोढ़ा दुःसहवातशीततपनक्लेशा न तप्तं तपः।
ध्यातं वित्तमहर्निशं न च पुनर्विष्णोः पदं शाश्वतं
तत्तत्कर्म कृतं सदैव मुनिभिस्तैस्तैः फलैर्वञ्चितम् ॥इति॥

जहाँ तो "तत्" पद में भी वीप्सा है वहाँ "यत्" पद में भी आदेश नहीं है किन्तु दोनों का दोनों रूपों से सबकी प्रतीति होती है। यथा—रघुवंश के षष्ठ सर्ग में—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

यहाँ नरेन्द्रकन्या के द्वारा क्रम से व्यतीत हुये राजाओं की क्रम से ही वैवर्ण्य की प्राप्ति है, अतः पृथक्-पृथक् रूप से ही पृथक्-पृथक् पदों से बोध है। इसीप्रकार—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव॥ इति॥

माघ का० ३श सर्ग

इत्यादि में भी। ऐसा क्रम भेद की विवक्षा में है। "तत्" भेद की विवक्षा के न होने पर भी उसप्रकार के प्रयोग में एकत्र आदेश व्यर्थ ही है। यथा—

"**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः**" इत्यादि में।

कहीं सर्वात्मना उपस्थापक एक ही "यत्" शब्द का "तत्" शब्द से आकांक्षा की पूर्ति हो जाती है। **यथा—नैषध में—**

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवान् अपि नेन्द्रेण यथापनीयते॥

कहीं "तत्" पद में ही वीप्सा होती है, "यत्पद" में नहीं। **यथा—**

"**ते ते सत्पुरुषाः पदार्थघटकाः स्वार्थस्य बोधेन ये**" इत्यादि।

पदांशे दुःश्रवत्वं यथा—

'तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यम् ।'

'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते ।'

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहतः ।

'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः ।'

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

अथ पदांशदोषनिरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार **वाक्यदोषों** का निरूपण करके उद्देश्यक्रम से प्राप्त **पदांशदोषों** का निरूपण करते हैं:—

अर्थ–(१) (**"दोषाः केचित् भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदेऽपरे"** इस कथन के अनुसार) **पदांश में श्रुतिकटुत्वदोष** (का उदाहरण) **यथा**—**तद्गच्छेति**—अतः सिद्धि के लिये जाओ (और) देवताओं के कार्य का सम्पादन करो ।

टिप्पणी—(१) सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

तद्गच्छ सिद्धयै कुरु देवकार्यमर्थोऽयमर्थान्तरलभ्य एव ।
अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वां बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः ॥ इति ।

(२) यह पद्य 'कुमारसम्भव" के तृतीय सर्ग में काम के प्रति इन्द्र की उक्ति है । यहाँ **"सिद्धयै"** इस चतुर्थ्यन्त पद के बीच में 'द्धयै" यह शब्द सुनने में कर्कश प्रतीत होता है । प्रार्थना के अन्दर मधुर शब्दों का औचित्य ही उचित है, वह न होने से दोष है ।

अर्थ—(२) (**पदांशगत निहतार्थत्व** का उदाहरण) **धातुमत्तेति**–पर्वत धातुमत्ता को धारण करता है । [इस उदाहरण में दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "मत्ता" शब्द क्षीब (उन्मत्तता) के अर्थ (में प्रसिद्ध है, किन्तु यहाँ पर मत्वर्थक प्रत्यय में प्रयुक्त होने के कारण) **निहतार्थत्वदोष** है ।

टिप्पणी—(१) धातुओं की परिसंख्या इसप्रकार है—

सुवर्णरौप्यताम्राणि हरितालं मनःशिला ।
गैरिकाञ्जनकासीसलोहवङ्गाः सहिङ्गुलाः ॥
गन्धकोभ्रकमित्याद्या धातवो गिरिसम्भवाः ॥

(२) यह 'मत्ता' शब्द "धातुमत्तां" पद का अंश है, अतः पदांशगत दोष है ।

अर्थ—(३) (**पदांशगतावाचकत्व** का उदाहरण) **वर्ण्यते इति**—जिसका तारक (नामक राक्षस) विजेतव्य है (उस प्रसिद्ध कार्तिकेय का क्या वर्णन किया जाय । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (**'अचो यत्** ३।१।९७ इस सूत्र से विहित **'अर्ह' कृत्यतृचश्च** ३।३।१६९ (यह अर्ह के अर्थ में) विजेय इसमें (पदांशभूत) कृत्यसंज्ञक ("यत्" प्रत्यय विजितभूत रूप) "क्त" प्रत्यय के अर्थ में (प्रयुक्त होने से) **अवाचकत्वदोष** है ।

टिप्पणी—(१) यत् प्रत्ययमात्रगत होने से यह पदांशगत दोष है ।

'पाणिः पल्लवपेलवः ।'

पेलवशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले ।

'संग्रामे निहताः शूरा वचोवाणत्वमागताः ।'

अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम् । तथा तत्रैव बाणस्थाने शरेति पाठे । अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम् । जलध्यादौ तूत्तरपदम्, वाडवानलादौ पूर्वपदम् । एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः ।

अर्थ—(४) (व्रीडाव्यञ्जकपदांशगताश्लीलत्व दोष का उदाहरण) **पाणिरिति**—पल्लव के समान कोमल हाथ । [दोष दिखाते हैं] **पेलवेति**—"पेलव" शब्द के आदि के दो अक्षर (अर्थात् "पेल") अश्लील है । [अतः **अश्लीलत्व दोष है** ।]

टिप्पणी—(१) लाटभाषा के अन्दर "पेल" शब्द वृषणरूप गुह्य अङ्ग का स्मारक होने से व्रीडा का व्यञ्जक है, अतः अश्लीलता है । "पेलव" शब्द का प्रयोगः मात्र ही दोषाधायक है ।

(२) काव्यप्रकाशकार ने निम्न उदाहरण दिया है—

अतिपेलवमतिपरिमितवर्णं लघुतरमुदाहरति शठः ।
परमार्थतः सहृदयं वहति पुनः कालकूटघटितमिव ॥

अर्थ—(५) (पदांशगतनेयार्थत्वदोष का उदाहरण) **संग्राम इति**—शूरवीर युद्ध में मारे हुये देवत्व (वचोवाणत्वम्) को प्राप्त हुये । [दोष दिखाते हैं ।] **अत्रेति**—यहाँ ("**वचोवाणत्वम्**" इस पद का अंशभूत) वचः शब्द के गीः शब्द के (अर्थ को) बताने के लिये (प्रयुक्त) होने पर (भी उसके परिवृत्तिसह न होने से) **नेयार्थत्वदोष** है । तथा वहीं वाण के स्थान पर "शर" यह पाठ कर देने पर भी अर्थात् "**गीःशरत्वमुपागताः**" अथवा "**वाग्वाणत्वमुपागताः**" इस वाक्य के अन्दर भी यही **नेयार्थत्व दोष** होगा। यहाँ (**गीर्वाण** शब्द में) दोनों ही पद (**गीः** और **बाण**) परिवृत्तिसह नहीं हैं अर्थात् सुने हुये शब्द को छोड़कर उसके पर्यायवाची दूसरे शब्द के प्रयोग करने पर भी उस अर्थ के बोधक नहीं होते हैं । [**प्रश्न**—अच्छा, कहाँ तो उत्तरपद ही और कहाँ पूर्वपद ही पर्यायवाची शब्दों के परिवर्तन को सहन नहीं करते हैं ? इसका **उत्तर** देते हैं ।] **जलध्यादाविति**—"**जलधि**" आदि में तो उत्तरपद (अर्थात् "धि" यह अंश परिवृत्तिसह नहीं है क्योंकि **जलधर** और **जलपात्रादि** शब्द **पयोधि** की प्रतीति नहीं करा सकते हैं ।) **वाडवानलादि** में पूर्वपद (अर्थात् 'वाडव" यह अंश परिवृत्तिसह नहीं है क्योंकि **अश्वानल** इत्यादि से **वाडवाग्नि** की प्रतीति नहीं होती है ।) **एवमिति**—इसीप्रकार अन्य भी पदांशदोष यथासम्भव समझने चाहिये ।

निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये संभवः।
क्रमतो यथा—

'मुञ्च मानं हि मानिनि ।'

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः।

टिप्पणी—(१) "जलध्यादौ" इसमें "आदि" पद से जलधरादिकों का और **वाडवानलादौ**—इसमें "आदि" पद से सरोजादिकों का ग्रहण होता है। इनमें भी **उदकधरादि** शब्द से मेघादि की प्रतीति नहीं होती। इसप्रकार **जलधि** आदि में **समुद्र पयोधिः** इस रीति से पूर्वपद के परिवर्तन कर देने पर भी, **वाडवानलादि** में **वाडवाग्नि** इस रीति से उत्तरपद के परिवर्तन कर देने पर भी कोई दोष नहीं होता है। **वचोबाणत्व** शब्द की लक्षणा में कवि का तात्पर्य होने से **अवाचकत्वदोष** नहीं है, लक्षणा के अभाव की अवस्था में तो **अवाचकत्वदोष** ही समझना चाहिये। **अमरसिंह** ने कहा है कि—

जलदादिषु पूर्वपदे सरोजमुख्येषु चोत्तरपदेषु।
सुरपतिसमेषु चोभयपदेषु पर्यायपरिवृत्तिः॥
इति परिवृत्तिसहा ये योगास्ते यौगिकाः शब्दाः।
परिवृत्तिसहा ये तु मिश्र गीर्वाणतुल्यास्ते॥

अर्थात् योगरुढ़ि वाले गीर्वाणादि मिश्र शब्द परिवृत्ति को सहन नहीं करतेहैं। यहाँ **वचोवाण** इसका उदाहरण है—

किमुच्यतेऽस्य भूपालमौलिमालामहामणेः।
सुदुर्लभं वचोवाणैस्तेजो यस्य विभाव्यते॥

वचोवाणाः—गीर्वाण, बवयोरभेदात्। इसीप्रकार—

"जलधौ वर्तते रत्नं कुत्रचित्तुरगानलः"

इत्यादियों में **वचोवाणत्वम्** इत्यादि की तरह **नेयार्थत्वदोष** समझना चाहिये।

अवतरणिका—**"पदेऽपरे"** इस कारिका के अंश का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ–(१४)निरर्थकत्वादि ("आदि" पद से असमर्थत्व और च्युतसंस्कारत्व का ग्रहण होता है) तीनों (दोषों) के पदमात्र में होने से ही लक्ष्य में सम्भव है (इनके उदाहरण पदांश या वाक्य में नहीं होते हैं।)। क्रम से (उदाहरण) यथा—(१) [**निरर्थकत्वदोष** का उदाहरण] **मुञ्चेति**—(हे) मानिनि! मान को छोड़ दो। [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "हि" शब्द केवल छन्द को पूरा करने के प्रयोजन वाला है (अतः निरर्थक है।)।

टिप्पणी—(१) **निरर्थकम्** अर्थात् जिसका अर्थ विवक्षित नहीं है। इसका लक्षण—**वृत्तन्यूनतापरिहारमात्रप्रयोजनकत्वं निरर्थकत्वम्**। इसीलिये वाक्य में अलंकारभूत यमकादि के निर्वाहक खलु आदि पद अदुष्ट होते हैं।

(२) यहाँ "मात्र" पद समुच्चयार्थक है, और "च" आदि का निराकरण करता है।

(३) यह सर्वथा हेय होने के कारण नित्यदोष है।

(४) "च, वा, ह" इसप्रकार के शब्द पादपूरणार्थक हुआ करते हैं। इसीलिये अर्थ के विवक्षित न होने से "निरर्थकत्वदोष" है।

'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी ।'

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ।'

'आङो यमहनः', 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम् । इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षण-हीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम् ।

अर्थ—(१५) (**असमर्थत्वदोष** का उदाहरण) **कुञ्जमिति**—क्षीण कटि वाली (नायिका) कुञ्ज को जाती है । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ—"**हन्ति**"—यह पद जाने के अर्थ में प्रयुक्त होता हुआ उस (अर्थ को बताने) में समर्थ नहीं है (अतः "असमर्थत्वदोष" है) ।

टिप्पणी—(१) "**असमर्थम्**" यहाँ पर "**तत्सादृश्यमभावश्च**" इस कथन के अनुसार नञ् अल्पार्थक है । अतः प्रकृत स्थल में इसका अर्थ हुआ विवक्षित अर्थ की सामर्थ्य से रहित । तथा विवक्षित अर्थ का ज्ञान न करा सकने के कारण रस की प्रतीति का प्रतिबन्धक होने से ही "**असमर्थत्व**" की दोषता है । यह अपने आप में अर्थ को बताने में असमर्थ होने के कारण नित्यदोष है ।

(२) **असमर्थत्व** और **निहतार्थत्व** में परस्पर संकर नहीं हो सकता है, क्योंकि **असमर्थत्व** दोष के अन्दर अर्थ की उपस्थिति ही नहीं होती है, जबकि **निहतार्थत्व** में प्रकृत अर्थ की उपस्थिति विलम्ब से होती है ।

(३) व्याकरण के अनुसार "हन्-हिंसागत्योः" से हिंसा और गति दोनों ही अर्थ हन् धातु के बताये हैं, परन्तु **जङ्घन्यते कुटिलं गच्छतीति जंघा,** तथा **पादाभ्यां हन्यते-गम्यते इति पद्धतिः**—मार्ग-हन् धातु से क्तिन् प्रत्यय में रूप है । इन कुछ प्रयोगों के अतिरिक्त हन् धातु का गमन अर्थ में प्रयोग नहीं होता है । "हन्ति" रूप जाने अर्थ में सर्वथा अप्रयुक्त है, अतः "असमर्थत्व दोष" है ।

अर्थ–(१६) (**च्युतसंस्कारत्वदोष** का उदाहरण) **गाण्डीवीति**–अर्जुन ने (अपनी) भुजाओं से सुवर्णमय पाषाण के समान शिवजी के (किरातवेषधारी महादेव जी के) वक्षःस्थल को आहत किया । (दोष दिखाते हैं) **आङ इति**—(आत्मनेपद का विधान करने वाले) "**आङो यमहनः**" १/३/२८ (इस सूत्र में) और "**स्वाङ्गकर्मकाच्च**" १/३/२८ **सूत्र पर वार्तिक** के अनुशासन के बल से **आङ् पूर्वक हन्** धातु का कर्म (यदि) अपना अङ्ग (मारने वाले का अपना अङ्ग) हो, (तभी) आत्मनेपद होता है । यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) तो उस (आत्मनेपद विधान) का उल्लंघन कर दिया [अर्थात् **हन्** धातु के रूप **आजघ्ने** का कर्म शंकर का वक्षःस्थल है, स्वयं अर्जुन का वक्षःस्थल नहीं, अतः **आजघ्ने** में आत्मनेपद नहीं होना चाहिये था] इस व्याकरण के लक्षण से हीन होने के कारण **च्युतसंस्कारत्व दोष** है । [व्याकरण के अनुसार **आजघान** ऐसा **होना चाहिये था** ।]

'नन्वत्र आजघ्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षयैव । इत्यस्य वाक्यदोषता ? मैवम्, तथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः । इह तु दोषस्य 'आजघ्ने' इति पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम्, पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोष एव । तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पददोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः ।

एवं 'पद्मः' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरणलक्षणहानावपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् ।

टिप्पणी--(१) **च्युतसंस्कारत्व** की व्युत्पत्ति—च्युतः-स्खलितः संस्कारः-**संस्कृतिः व्याकरणलक्षणानुगमो यत्र तस्य भावस्तत्वम्-च्युतसंस्कारत्वम्** । तथा च—संस्कृत भाषा के व्याकरण की तरह शौरसेनी आदि प्राकृत भाषाओं के व्याकरण के अन्दर भी जो भाषा का संस्कार करने वाले व्याकरण के लक्षण के विरुद्ध होता है, वह उस भाषा में **च्युतसंस्कारत्व** दोष है । किन्तु तत्तद्देशीय भाषाओं का रूप लक्षण के विरुद्ध नहीं होता है, अपितु वहाँ **च्युतसंस्कारत्व** का विषय ही नहीं है, अतः वहाँ **च्युतसंस्कृति दोष** भी नहीं होता है ।

(२) **च्युतसंस्कृति** के अन्दर कवि की व्याकरणविषयक ज्ञान की हीनता प्रतिपादित होती है, अतः असाधु शब्दों के ज्ञान से श्रोता को विरसता पैदा होने के कारण रसप्रकर्ष का प्रतिबन्धक होता है, इसलिये यह दोष है, तथा इसका किसीप्रकार से निराकरण नहीं किया जा सकता, अतः सर्वथा हेय होने के कारण यह नित्यदोष है ।

(३) पूरा श्लोक इसप्रकार है—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः ।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ॥

किरातार्जुनीय १७ सर्ग

अवतरणिका—"**आजघ्ने**" इसके अन्दर "वाक्यदोष" है, ऐसी आशङ्का उठाते हैं—

अर्थ—**प्रश्न**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "आजघ्ने" इस पद की स्वतः दुष्टता नहीं है, (क्योंकि व्याकरण के अनुसार अपना अङ्ग यदि कर्म हो तब तो आत्मनेपद के अन्दर इसकी सिद्धि होती है) किन्तु दूसरे पद—**विषमविलोचनस्य वक्षः**—की अपेक्षा से ही (दुष्ट हो गया है), अतः इसके अन्दर **वाक्यदोषता है** (अनेक पदों के अन्दर दोष होन के कारण) ? **उत्तर**—**मैवमिति**—ऐसी बात नहीं है । क्योंकि गुण (वक्ष्यमाण माधुर्यादि गुण), दोष (दुःश्रवत्वादि) और अलङ्कारों (अनुप्रासोपमादि) की शब्दगत और अर्थगत व्यवस्था का (अर्थात् ये शब्दगुण हैं, ये अर्थगुण हैं, ये शब्ददोष हैं, ये अर्थदोष हैं, ये शब्दालङ्कार हैं और ये अर्थालङ्कार हैं—इसप्रकार की व्यवस्था का) अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार होना कारण है । [**तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वयः**, तदसत्वे तदसत्ता व्यतिरेकः—कहने का आशय यह है कि जो दोष जिस शब्द के

रखने पर बना रहे और उसके हटा देने से हट जाये वह उसी शब्द का दोष माना जाता है—एवं जिस अर्थ की सत्ता में जो दोष बना रहे और उस अर्थ के अभाव में निवृत्त हो जाये वह उस अर्थ का दोष माना जाता है।] **इह त्विति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) तो दोष की "**आजघ्ने**" इस पदमात्र के ही (होने से) अन्वय-व्यतिरेकानुविधायिता है [**अर्थात्** "**आजघ्ने**" इस पद के रहने पर ही **च्युतसंस्कारतादोष** रहता है, और यदि "**आजघ्ने**" यह पद न रहे—इसके स्थान पर कोई और पद रख दिया जाये तो वह **दोष** नहीं रहता है] दूसरे पदों के बदल देने पर भी (**विषमविलोचनस्य वक्षः** के स्थान पर **त्रिनेत्रस्योरः** यह पाठ कर देने पर भी) उस (च्युतसंस्कारता दोष) के वैसे ही बने रहने के कारण **पददोष** ही है (वाक्यदोष नहीं)। [इसप्रकार दूसरे पदों के बदल देने पर भी उस दोष के (च्युतसंस्कारत्वदोष के) वैसे ही बने रहने से वाक्यदोष नहीं हो सकता है।] [प्रश्न—"आजघ्ने" यहाँ आत्मनेपद के होने पर ही "च्युतसंस्कारता दोष" रहता है, यदि आत्मनेपद न रहे तो दोष भी नहीं रहेगा, अतः आत्मनेपद के ही उक्त दोष के प्रति अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार कारण होने से यह "च्युतसंस्कारता" दोष पदांश गत ही क्यों न मान लिया जावे ? इसका **समाधान** करते हैं।] **तथेति**—उसीप्रकार जिसप्रकार यहाँ ("**आजघ्ने**" में) आत्मनेपद के परिवर्तन कर देने पर भी (**आजघान**) यह परस्मैपद पाठ कर देने पर भी) पददोष नहीं रहता है, उसीप्रकार **हन्** प्रकृति के भी (बदलकर "**प्रजहार**" इस पाठ के कर देने से पददोष नहीं रहता है), अतः **पदांशदोष** नहीं है (अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय के मेल से दोष होने के कारण पददोष ही है, पदांशदोष नहीं)। [**आशय** यह है कि—"**आजघ्ने**" यहाँ आत्मनेपद के रहने पर और **हन्** प्रकृति के रहने पर "**च्युतसंस्कारता दोष**" रहता है, इन दोनों के न रहने पर वह दोष भी नहीं रहता है, अतः इन प्रकृति और प्रत्यय—दोनों अंशों के ही अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा दोष के घटक होने से और प्रकृति और प्रत्यय—इन दोनों अंशों के ही पद रूप होने से यह "पददोष" ही है।] **एवमिति**—इसीप्रकार "पद्मः" यहाँ **अप्रयुक्तत्वदोष** की पदगतता समझनी चाहिये (पदांशगतता नहीं)। [**आशय** यह है कि "**भाति पद्मः सरोवरे**" यहाँ "पद्म" शब्द की विद्यमानता और पुंल्लिङ्ग की विद्यमानता होने पर ही **अप्रयुक्तत्वदोष** की विद्यमानता है, और उन दोनों के न रहने पर दोष भी नहीं रहता है, अतः प्रकृति और प्रत्यय—इन दोनों ही अंशों के दोष घटक होने से यहाँ **अप्रयुक्तत्वदोष** पदगत ही है। **एवमिति**—इसीप्रकार प्राकृत आदि (शब्दों के भी) व्याकरण के लक्षण से हीन होने पर भी **च्युतसंस्कारत्वदोष** समझना चाहिये।

टिप्पणी—"**करी अदि**" ऐसा प्रयोग करने के स्थान पर "**करी अन्दे**" ऐसा प्रयोग करने पर "**सर्वत्र आत्मनेपदस्य परस्मैपदम्**" इस प्राकृत व्याकरण के सूत्र के विरुद्ध होने से **च्युतसंस्कारत्वदोष** है।

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम्। निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः। अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वे हन्त्यादयो गमनार्थे पठिताः। अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थे, न तथेति परस्परभेदः।

परस्परदोषपार्थक्यनिरूपणम्—

अवतरणिका—अभी तक वर्णित दोषों के लक्षण के अनुसार ही उक्त दोषों का परस्पर भेद होने पर भी कुछ लक्षण विशेषों से एकत्व की प्रतीति न हो जावे—ऐसी आशंका करके दोषों की परस्पर पृथक्ता दिखाते हैं।

अर्थ—(१) यहाँ (**असमर्थत्वदोष** में) शब्दों का (असमर्थादि शब्दों का) सर्वथा (स्वार्थप्रधान होने के कारण सभी प्रकार से) प्रयोग न होने पर [जहाँ ज्ञापक नहीं है, वहीं, ज्ञापक के होने पर तो प्रयोग होता ही है, अतः "**हन् हिंसागत्योः**" इस पाठ के अनुसार हन् धातु का गत्यर्थप्रधान ज्ञापक होने से जाने के अर्थ में "**हन्ति**" इसका सर्वत्र ही प्रयोग न होने से "**कुञ्जं हन्ति कृशोदरी**" इत्यादि में] **असमर्थत्व** (होता) है, विरल प्रयोग होने पर ("**अकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्**" इत्यादि रूप श्लेषादि में अल्प प्रयोग होने पर) **निहतार्थत्व** (होता) है। (२) **निहतार्थत्व** अनेकार्थक शब्दविषयक (होता) है (यथा—"**धातुमत्तां गिरिर्धत्ते**" इत्यादि में **मत्ता** शब्द की क्षीव—तत्सत्तारूप अर्थ होने से अनेकार्थता है), (और) **अप्रतीतत्व** (वहाँ होता है जहाँ) एकार्थक भी शब्द का सार्वत्रिक प्रयोग न होता हो (यथा—"**योगेन दलिताशयः**" इत्यादि में आशय शब्द का वासना रूप एक ही अर्थ है और इसका प्रयोग योगशास्त्र से अन्यत्र नहीं होता है।)। (३) **अप्रयुक्तत्वदोष** एकार्थक शब्दविषयक होता है (यथा—"**भाति पद्मः सरोवरे**" यहाँ पद्म शब्द का कमल रूप एक ही अर्थ है।) तथा—**असमर्थत्व दोष** अनेकार्थक शब्दविपयक होता है (यथा—"**कुञ्जं हन्ति कृशोदरी**" यहाँ हन् धातु के "**हन् हिंसागत्योः**" इस धातुपाठ से हिंसा और गति दो अर्थ हैं।); (४) **असमर्थत्व** में "**हन्ति**" आदि गमन के अर्थ में भी पढ़े हुये हैं, तथा **अवाचकत्व** में दिन आदि प्रकाशमय आदि अर्थ में उसप्रकार से (पढ़े हुये) नहीं है, यही परस्पर भेद है। [आशय यह है कि **अवाचकत्व दोष** के अन्दर तो उसका अर्थ विद्यमान होने से उस अर्थ का ज्ञान कराने में असमर्थता होती है—यथा—"**दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नापि यामिनी**" यहाँ दिन पद के प्रकाशमय अर्थ में न होने के कारण उसका अर्थ ज्ञान कराने में असमर्थ है, अतः **अवाचकत्व दोष है।** इसके विपरीत **असमर्थत्व** में उस अर्थ में होने पर भी सहायक के अभाव से उसका ज्ञान कराने में अक्षमता होती है, यथा—"**कुञ्जं हन्ति कृशोदरी**" यहाँ धातुपाठ से जाने के अर्थ में विद्यमान होने पर भी पाद आदि सहायकों के न होने से उस अर्थ का ज्ञान कराने में अक्षम होने से **असमर्थत्व** है।]

टिप्पणी—इसीप्रकार **अनुचितार्थ** और **विरुद्धमतिकारित्व** के अन्दर अशक्यार्थ और शक्यार्थ के विषय से परस्पर भेद समझना चाहिये।

एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ताः, सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

'वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताहतविसर्गते ।
अधिकन्यूनकथितपदताहतवृत्तताः ॥५॥
पतत्प्रकर्षता, सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।
अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥६॥
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।
वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥७॥
त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।
संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥८॥

पददोषविजातीयवाक्यदोषनिरूपणम्—

अवतरणिका—इस समय पूर्वोक्त सोलह दोषों से भिन्न तेईस वाक्यदोषों का निरूपण करते हैं :—

अर्थ—इसप्रकार पददोषों के सजातीय वाक्यदोषों का कथन किया है, अब उनसे (पददोषों से) विजातीय (वाक्यदोषों का) कथन करते हैं :—

टिप्पणी—पद के अन्दर जो दोष है, उसीप्रकार का दोष यदि वाक्य के अन्दर भी है, तो उसके सजातीय दोष कहलाते हैं, और यदि उससे भिन्न दोष है तो विजातीय दोष कहलाते हैं । **तथा च**—पद में प्रसक्ति से वाक्य में प्रसक्तता **पददोष सजातीय वाक्यदोषता** है, और पद में अप्रसक्ति से वाक्यमात्र में प्रसक्तता **पददोष विजातीय वाक्यदोषता है** ।

अवतरणिका—"वाक्यदोषों" का परिगणन करते हैं:—

अर्थ—(१) **प्रतिकूलवर्णता** (वर्णों की प्रतिकूलता), (२) **लुप्तविसर्गता**, (३) **आहतविसर्गता** [लुप्ता आहताश्च (ओत्वं प्राप्ताश्च) विसर्गा ययोस्ते लुप्ताहत-विसर्गे वाक्ये तयोर्भावौ लुप्ताहतविसर्गते , (४) **अधिकपदता**, (५) **न्यूनपदता**, (६) **कथितपदता**, (७) **हतवृत्तता** [हतं वृत्तं-छन्दः यत्र वाक्ये तस्य भावो हतवृत्तता], (८) **पतत्प्रकर्षता** (पतन्-च्यवन् प्रकर्षो यत्र वाक्ये तस्य भावः पतत्प्रकर्षता), (९) **सन्धि-विश्लेष**, (१०) **सन्ध्यश्लीलता**, (११) **सन्धिकष्टता**, (१२) **अर्धान्तरैकपदता** [अर्धान्ते—द्वितीयस्मिन् अर्धे एकं पदं यत्र वाक्ये तस्य भावः सा अर्धान्तरैकपदता], (१३) **समाप्त-पुनरात्तता** [समाप्तं-सम्पूर्णमपि पुनरात्तं—स्वीकृतमारब्धं वाक्यमिति तस्य भावः सा समाप्तपुनरात्तता] (१४) **अभवन्मतसम्बन्धता** [अभवन्—अनुपपद्यमानः मतः—अभि-लषितः सम्बन्धः—अन्वयो यत्र तदभवन्मतसम्बन्धं वाक्यं तस्य भावः—अभवन्मत-सम्बन्धता], (१५) **अक्रमता** [न विद्यते क्रमो यत्र तदक्रमं वाक्यम् तस्य भावः अक्रमता], (१६) **अमतपरार्थता** [अमतः—अनभिलषितः परो—द्वितीयः अर्थो यस्य तस्य भावः तदमतपदार्थता], (१७) **वाच्यानभिधान** [वाच्यस्य-प्रतिपाद्यमानस्य अनभिधानम्-अकथनम् वाच्यानभिधानम्], (१८) **भग्नप्रक्रमता** [भग्नः-अन्यप्रकारेण द्वितीयादि प्रयोगान्नष्टः प्रक्रम-उपक्रमो यत्र तद्भग्नप्रक्रमं वाक्य तस्य भावो भग्नप्रक्रमता] (१९) **प्रसिद्धित्याग**, (२०) **अस्थानपदन्यास**, (२१) **अस्थानसमासन्यास**, (२२) **संकीर्णता** और (२३) **गर्भितता** (ये तेईस) दोष केवल वाक्य के अन्दर ही होते हैं (पदादिकों में नहीं) ।

टिप्पणी— इन दोषों में से (१) **सन्ध्यश्लीलत्व**, (२) **कथितपदत्व**, (३) **सन्धिकष्टत्व**, (४) **पुनरुक्तत्व**, (५) **न्यूनपदत्व**, (६) **अधिकपदत्व**, (७) **समाप्त-पुनरात्तत्व**, (८) **गर्भितत्व**, (९) **पतत्प्रकर्षत्व**—ये नौ दोष अनित्य होते हैं, शेष चौदह दोष नित्य होते हैं ।

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् ।

यथा मम—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिंपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ ।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ॥'

(उद्वर्तयति उल्लोटयति शयने कह्यं पि मोट्टयति नो परिघट्टयति ।
हृदयेन स्फिट्टयति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा ॥)

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः । एषां चैकद्वित्रिचतुःप्रयोगे न तादृग्रसभङ्ग इति न दोषः ।

अवतरणिका—प्रत्येक दोष का लक्षण और उदाहरण दिखाते हैं ।

अर्थ—(१) (**प्रतिकूलवर्णता** का लक्षण) **वर्णानामिति**—रस की अनुरूपता के (यदि वर्णों की रचना) विपरीत हो (अर्थात् कोमल रस में कठोर और प्रदीप्त रस में कोमल वर्णों की रचना हो) तो **प्रतिकूलवर्णता नामक दोष** (होता) है । [शृङ्गार रस में **प्रतिकूलवर्णता दोष** का उदाहरण] **यथा** - मेरा (ग्रन्थकारकृत्) **ओवट्टइ इति**—[**प्रसङ्ग**—किसी नायिका का विप्रलम्भ वर्णन है] वह (युवती) शय्या पर (लेटी हुई कभी) खड़ी हो जाती है, (कभी) करवट बदलती है, (और) कभी हाथ-पैर पटकती है--मोट्टायित करती है, (कभी) शरीर को (बिल्कुल) नहीं चलाती है, (कभी) हृदय से मरना चाहती है (और कभी) लज्जा के कारण धैर्य से कुण्ठित (च्युत) हो जाती है ।

(उपर्युक्त उदाहरण में दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ शृङ्गार रस के विरोधी (अर्थात् शृंगार रस में विरुद्ध वीर, बीभत्स और रौद्र रस में विद्यमान ओज-गुण की व्यञ्जना करने वाले होने से शृङ्गार रस की प्रतीति में प्रतिबन्धक हैं) टकार वर्णों को (साहित्यदर्पणकार ने) केवल कविता शक्ति के प्रदर्शन के लिये उपनिबद्ध कर दिया है, [शृङ्गार के अनुसार कोमल वर्णों के उच्चारण करने के स्थान पर उसके विपरीत टकार के उच्चारण से **प्रतिकूलवर्णत्व वाक्यदोष** है ।] **एषामिति**—इन (प्रतिकूलवर्णों) के एक, दो, तीन और चार बार प्रयोग से उसप्रकार का (प्रतिकूलवर्णत्व के समान) रसभंग नहीं होता है, अतः दोष भी नहीं होता है ।

टिप्पणी--(१) इस प्रकृत उदाहरण के अन्दर **दुःश्रवत्व दोष** तो है ही, किन्तु **"निर्वर्ण्य पत्युमु खम्"** यहाँ रेफ युक्त तीन वर्णों के होने पर भी **प्रतिकूलवर्णता दोष** नहीं है, किन्तु **दुःश्रवत्वदोष** ही है । और यदि उक्त उदाहरण में दुःश्रवत्व दोष के भी होने से दुःश्रवत्व ही मानना चाहिये तो यह दूसरा उदाहरण दिया जा सकता है:–

'गता निशा इमा बाले !'

अत्र लुप्तविसर्गाः ।

वृन्दारकप्रकरमद्य करोम्यशङ्कमानन्दयामि मुनिवृन्दममन्दमङ्ग ।
भङ्गं भुजङ्गमगणस्य भयं नयामि त्वामन्तकातिथिमसन्तमहं विधाय ।।

यह रावण के प्रति श्री रामचन्द्र जी की उक्ति है । यहाँ वीर रस में माधुर्य के व्यञ्जक मृदु वर्ण विरोधी हैं क्योंकि ओजस्वी रस में विकटवर्णता और दीर्घ-समासता गुण होता है ।

(२) यह "प्रतिकूलवर्णता नामक दोष" नित्य दोष है ।

(३) दुःश्रवत्व और प्रतिकूलवर्णता में भेद—दुःश्रवत्वनामक दोष के साथ प्रतिकूलवर्णतानामक दोष का सांकर्य्य है, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि उपधेय में सांकर्य्य होने पर भी उपाधि में सांकर्य्य नहीं है । तथा च दुःश्रवत्व में प्रकृत रस के व्यञ्जक वर्णों के अभाव से रसनिष्पत्ति रूप कार्य नहीं होता है, और प्रतिकूलवर्णतानामक दोष में प्रकृत रस के प्रतिबन्धक वर्णों से रस का बाध हो जाता है । इन दोनों में से एक स्थान पर व्यंजक वर्णों के अभाव से अर्थात् कारण के अभाव से प्रयुक्त कार्य की अभावता है और दूसरी जगह प्रतिकूलवर्णों के होने से कार्य का प्रतिबन्ध है । कुछ की सम्मति में दुःश्रवत्व में परुषवर्णमात्र दुष्ट होता है और प्रतिकूलवर्णत्व में सुकुमार भी वर्ण रौद्रादि रसों में दुष्ट हो जाते हैं । यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ—(२) (लुप्तविसर्गता का उदाहरण) गता इति—(हे) बाले ! ये रात्रियाँ व्यतीत हो गई । [दोष दिखाते हैं] अत्रेति—यहाँ (वाक्य में सर्वत्र) विसर्गों का लोप हो गया है, (अतः "लुप्तविसर्गता" है) ।

टिप्पणी—(१) "गता निशा इमा बाले" यहाँ पर सकार के स्थान पर "स सजुषो रुः" इस सूत्र से रुत्व होने पर "भो भगो अघोऽपूर्वस्य योऽशि" इससे य होकर "हलि सर्वेषाम्" और "लोपः शाकल्यस्य" इन सूत्रों से य का लोप होने पर विसर्गों का लोप हो गया है । अतः 'लुप्तविसर्गता" है । अनेकशः विसर्गों का लोप होने पर ही यह दोष आता है क्योंकि इससे श्रोताओं को विरसता पैदा होती है ।

(२) इसीप्रकार विसर्गों का बाहुल्य होने पर दुःश्रवत्वदोष होता है । यथा—

स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपधनः कृशः ।
च्युतो मानोऽधिको रागो मोहो जातोत्सवो गतः ।।

भोजदेव यहाँ पर असमस्तता नामक दोष मानते हैं । यमकालंकार में यह दोष नहीं होता है ।

(३) लुप्तविसर्गता का लक्षण—"लुप्तबहुविसर्गत्वं लुप्तविसर्गत्वम्" । अतः एक या दो बार विसर्गों का लोप होने पर यह दोष नहीं होता है । अनेक बार विसर्गों के लोप होने से बन्ध में शिथिलता होती है, बन्ध की शिथिलता से सहृदयों को रसानुभूति में बाधा होती है, अतः यह दोष है । इसका निराकरण न हो सकने से यह नित्य दोष है ।

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।
यथा—'धीरो वरो नरो याति' इति ।
'पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी ।'
अत्राकृतिपदमधिकम् ।
एवम्—
'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ।'
इति विशेषणमधिकम् ।
'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' इति ।
अत्र तु पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव ।

अर्थ—(३) ("**आहतविसर्गता**" पद की व्युत्पत्ति) **आहता इति–आहताः**—ओत्व को प्राप्त हो गये हैं विसर्ग जिसमें (ऐसा "**आहतविसर्गत्व नामक दोष**" होता है)। ("**आहतविसर्गता**" का उदाहरण) **धीर इति**—धीर श्रेष्ठ मनुष्य जाता है।

टिप्पणी—प्रकृत उदाहरण में अनेक विसर्ग ओकार को प्राप्त हो गये हैं, अतः "**आहतविसर्गता**" दोष है। यह दोष भी विसर्गों के ओकार के बाहुल्य से ही होता है। यह नित्य दोष है।

अर्थ—(४) (**अधिकपदत्व** का उदाहरण) **पल्लवेति**—किसलय के समान हैं लाल ओष्ठ जिसके ऐसी। [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में "आकृति" पद के न होने पर भी "**शिलापुत्रस्य शरीरम्**" इसके समान पल्लव से पृथक् न होने के कारण "**पल्लवमिव रक्तौ ओष्ठौ यस्याः सा पल्लवरक्तोष्ठी**" इस बहुव्रीहि समास से ही उसके अर्थ की उपपत्ति हो जाने से) "आकृति" पद अधिक है (अनुपयुक्त है)। **एवमिति**—इसीप्रकार "पिनाकपाणि वाले शिवजी को मैं सदा नमस्कार करता हूँ"। (इसमें दोष दिखाते हैं) **इतीति**—यहाँ (**पिनाकपाणिम्**) यह विशेषण अधिक है [क्योंकि यह विशेषण स्तुति की योग्यता के अनुकूल नहीं है] [**यदि विशेषण सार्थक हो, उस अवस्था में "अधिकपदत्व"** दोष नहीं होता है—**यथा**] **कुर्यामिति**—[पूरा श्लोक इसप्रकार है—

तव प्रसादात् कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥

कुमारसम्भव]

धनुष है हाथ में जिनके ऐसे शिवजी के भी (धैर्य को नष्ट) कर दूँ। (दोष का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "पिनाकपाणि" पद विशेष का ज्ञान कराने के लिये (शिवजी की दुर्जयता का बोध कराने के लिये कवि ने) रखा है, अतः उचित (विशेषण) है (अर्थात् उसप्रकार के दुर्जय पिनाकपाणि शिवजी के भी धैर्य को नष्ट करने के कारण कामदेव ने अपने अतिशय शौर्य का प्रतिपादन किया है।) [**केवल समास में ही पद की अधिकता नहीं होती है किन्तु असमास में भी पद की अधिकता होती है—इसका उदाहरण देते हैं।**)

यथा वा—'वाचमुवाच कौत्सः ।

अत्र वाचमित्यधिकम् । उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वात् ।

क्वचित्तु विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते ।

यथा—'उवाच मधुरां वाचम्' इति ।

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते ।

यथा—'उवाच मधुरं धीमान्' इति ।

यथा वेति—अथवा—**वाचमिति**—[पूरा श्लोक इसप्रकार है—

"अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः ।

स्पृशन् करेणानलपूर्वकायं संप्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः ॥"

रघुवंश ५म सर्ग]

कौत्स ने कहा । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**वाचम्**" (यह पद) अधिक है । (क्योंकि) "उवाच" इससे ही (श्रोताओं को) विषय का ज्ञान हो जाता है । [**आशय** यह है कि परिभाषणार्थक **वच्** धातु से ही वचन के उच्चारण का अर्थ-ज्ञान हो जाता है, अतः "**वाचम्**" इसका प्रयोग अनुपयुक्त ही नहीं है अपितु दूसरे अर्थ की कल्पना कराने वाला भी है । क्योंकि वाणी के अतिरिक्त **और** कोई **क्या** बोलेगा । **तथा च** जिसप्रकार "**देवं यजति, गन्धं जिघ्रति**" इत्यादि में "**सम्भेदेनान्यतरवैयर्थ्यम्**" इस न्याय से यजादि की केवल पूजा ग्रहण अर्थ है, उसी-प्रकार यहाँ पर भी **वच्** धातु का केवल उच्चारण अर्थ है, वचन का उच्चारण अर्थ नहीं, अन्यथा पुनरुक्ति हो जायेगी । इसी तरह उसप्रकार की कल्पना करना ही यहाँ शाब्दबोध के अन्दर विलम्ब को करने वाला है, अतः इसकी दोषता है ।] **क्वचिदिति**—कहीं-कहीं विशेषण देने के लिये उसका (अधिकपदत्व का) प्रयोग उचित होता है । **यथा**—**उवाचेति**—"मधुर वाणी बोला" इति । [यहाँ "**मधुराम्**" यह विशेषण देने के लिये "**वाचम्**" इसका प्रयोग ठीक है, यहाँ अधिकपदत्व दोष नहीं है ।] **केचित्तु**—[**काव्य-प्रकाशकार** की दृष्टि से "**उवाच मधुरां वाचम्**" इसके अन्दर "**अधिकपदत्व**" दोष है—उसीको दिखाते हैं ।] कुछ का (**काव्यप्रकाशकार** का) कहना है कि जहाँ विशेषण का भी (कर्म विशेषणत्वेन अभिमत का भी) क्रिया विशेषण सम्भव हो सकता है, वहाँ पर भी उसका (क्रिया के सादृश्य को बताने वाले कर्म पद का) प्रयोग उचित नहीं है । **यथा**—[पूर्वोक्त "**उवाच मधुरां वाचम्**" वाक्य इसप्रकार कहा जा सकता है ।] **उवाचेति**—बुद्धिमान् व्यक्ति ने मधुर वाणी बोली—इति । [यहाँ पर "**वाचम्**" इस प्रयोग की आवश्यकता नहीं है, अतः "**उवाच मधुरां वाचम्**" यहाँ "**अधिकपदत्व दोष**" है ।]

'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ।'

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम् ।

'रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ।'

अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः ।

टिप्पणी—(१) अधिकपदत्व का लक्षण—"**अनुपयुक्तपदवत्वमधिकपदत्वम्**" ।

(२) **निरर्थकत्वदोष** पदगत होता है और **अधिकपदत्व** वाक्यगत होता है—यही इन दोनों में भेद है ।

(३) अनुपयुक्त पद के सामञ्जस्य के अनुसन्धान के कारण विलम्ब हो जाता है, और विलम्ब हो जाने से रस की प्रतीति भी विलम्ब से होती है, अतः विलम्ब से रसप्रतीति के कारण विमुखता को पैदा करने के कारण यह दुष्ट होता है ।

(४) "**गुणः क्वाप्यधिकं पदम्**" इसके अनुसार यह अनित्य दोष है ।

(५) **अपुष्टार्थत्व** और **अधिकपदत्व** में भेद—स्वरूप के कथन के लिये प्रस्तुत अनुपयोगी भी अर्थ की विवक्षा होने पर **अपुष्टार्थत्व** होता है और बिना प्रयोजन के उस अर्थ की विवक्षा न होने पर भी उस पद का कथन करना **अधिकपदत्व** दोष होता है ।

अर्थ (५)—(**न्यूनपदत्व** का उदाहरण) **यदीति**—यदि मुझ पर (तुमने) दृष्टि डाल दी, तो मुझे इन्द्रत्व से क्या (लाभ ? अर्थात् कुछ भी नहीं । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (प्रथम चरण में) "**त्वया**" यह पद (जो "**अर्पिता**" इस क्रिया का कर्ता है) न्यून है (क्योंकि कर्ता के बिना क्रिया साकांक्ष हुआ करती है ।) ।

टिप्पणी—(१) न्यूनपदत्व की व्युत्पत्ति—"**न्यूनमुपादेयमप्यनुपात्तं पदं—वाचकपदं यत्र तत्तथोक्तम्**" । तथा च—"**उपादेयवाचकपदहीनवाक्यत्व न्यूनपदत्वम्**" यह "**न्यूनपदत्व**" का लक्षण है । '**वाचक**" यह विशेषण देकर "**वाच्यानभिधान**" से इसका पार्थक्य दिखाया है, क्योंकि उसके अन्दर द्योतक पद का कथन होता ही नहीं है । कुछ—"**अध्याहारपूरणीयं पदम् न्यूनपदम्**" यह न्यूनपदत्व का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(६) (**कथितपदत्व** का उदाहरण) **रतिलीलेति**—क्रीडा सहित वहता हुआ पवन सम्भोग से जनित परिश्रम को दूर कर रहा है । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ "**लीला**" शब्द पुनः कह दिया गया है (अर्थात् "**रतिलीला**" एक बार यहाँ पर और दूसरी बार "**सलीलम्**" यहाँ पर पढ़ दिया गया है, अतः **कथितपदत्व दोष** है) ।

टिप्पणी—(१) **कथितपदत्व** की व्युत्पत्ति—"**कथितम्—अर्थपौनरुक्त्यभावेऽपि द्विरुपात्तं पदं यत्र तस्य भावः कथितपदत्वम्** ।"

(२) **कथितपदत्व** का लक्षण—"**प्रयोजनशून्यत्वे सति समानार्थकसमानानुपूर्वीकपदवत्वम् कथितपदत्वम्**" । इति ।

(३) **कथितपदत्व** के अन्दर एक ही अर्थ का एक शब्द से दो बार कथन करने पर क्या यह पद नानार्थक होने से किसी अन्य अर्थ का बोधक है अथवा उसी अर्थ का बोधक है—इसप्रकार शाब्दबोध में विलम्ब हो जाने से दूषकता का कारण है ।

(४) "**कथितञ्च पदं पुनः**" इस कथन के अनुसार यह अनित्य दोष है ।

(५) यद्यपि **कथितपदत्व दोष** पद के अन्दर भी सम्भव हो सकता है तथापि एक ही पद के दो बार प्रयोग करने से यह "वाक्यदोष" ही है ।

एवम्—'जक्षुर्विसं धृतविकासिविसप्रसूनाः ।'
अत्र विसशब्दस्य धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना इति सर्वनाम्नैव परामर्शो युक्तः। हत-वृत्तम् लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, रसाननुगुणम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु च । क्रमेण यथा—

'हन्त सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः ।'

अर्थ—(दूसरा उदाहरण) **एवमिति**—इसीप्रकार **जक्षुरिति**—धारण किये हैं विकसित कमलों को जिन्होंने ऐसे मृणाल को खाया । [यहाँ **"विस"** शब्द के दो बार प्रयोग करने से **कथितपदत्व दोष** है ।] (दोष को स्पष्ट करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ विस शब्द का "धृतपरिस्फुटतत्प्रसूनाः" इस सर्वनाम से ही (३२ सर्वनामों में से "तत्" शब्द से ही) कथन करना ठीक है (अन्यथा दोष आता है ।) ।

टिप्पणी—उक्त पद्य पूरा इसप्रकार है—

"सस्नुः पपुरनेनिजुरम्बराणि जक्षुर्विसं धृतविकाशिविसप्रसूनाः ।
सैन्याः प्रियामनुपभोगनिरर्थकत्व-दोषप्रवादमसृजन्नगनिम्नगानाम् ।।

शिशुपालवधम्-५म सर्ग ।

अर्थ—(७) (**हतवृत्ततादोष** "हत" पद के तीन प्रकार के अर्थ होने से "तीन प्रकार का होता है" इसका प्रतिपादन करते हैं ।) **हतवृत्तमिति**—(१) (छन्द के) लक्षण के अनुसार होने पर भी (गुरु आदि के नियामक पिङ्गलमुनि और कालिदासादि के द्वारा प्रणीत शास्त्र और उस छन्द के पूर्ण लक्षण के घटित होने पर भी) जो सुनने में मधुर न लगे, । (२) प्रकृत रस के प्रतिकूल हो; (३) अथवा (चरण के) अन्त में ऐसा लघु हो जो गुरुत्व को प्राप्त न हो सकता हो—(इसप्रकार का वाक्य) **हतवृत्त** (होता) है ।

टिप्पणी—(१) हतवृत्त की व्युत्पत्ति—**हतं**—निन्दितं वृत्तं—छन्दः **यत्र वाक्ये तत् हतवृत्तम्** ।

(२) **हतवृत्तत्व** का सामान्य लक्षण—**छन्दोगतदोषवत्त्वं हतवृत्तत्वम्** ।

(३) छन्द की विरूपता के द्वारा श्रोताओं के हृदय में विरसता उत्पन्न होने से प्रकर्ष रस की अनुत्पत्ति होती है, अतः यह दोष कहलाता है । इसका निराकरण न हो सकने के कारण तथा सर्वदैव हेय होने से यह "नित्य दोष" है ।

अर्थ—(१) क्रमशः (अर्थात् **"लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्"** का उदाहरण) **यथा**—**हन्त सततमेतस्या इति**—क्रोधित होकर कामदेव इस (नायिका) के हृदय को निरन्तर पीड़ित कर रहा है ।

टिप्पणी—(१) **यहाँ—यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।**
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या ।।

यह छन्दः शास्त्रोक्त आर्या छन्द के लक्षण के अनुसार होता हुआ भी **"श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्"** इत्यादि से अनुष्टुप् छन्द के समान प्रथम पाद में सहसा प्रतीत होता है, और दूसरे पाद में हठात् आर्या के समान मालूम पड़ता है, अतः इस वैषम्य के कारण श्रुतिमधुर न होने से हतवृत्तत्व है ।

'अयि मयि मानिनि मा कुरु मानम् ।'
इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम् ।
'विकसित-सहकार-भार-हारि-परिमल एष समागतो वसन्तः' ।

अर्थ—(२) (दूसरे "**रसाननुगुणम्**" का उदाहरण) **अयीति**—हे मानिनि ! मेरे प्रति मान मत करो । (दोष दिखाते हैं) **इदमिति**—यह वृत्त (पज्झटिका नामक छन्द) हास्य रस के ही अनुकूल है (शृङ्गार रस के नहीं) ।

टिप्पणी—(१) पज्झटिका वृत्त का लक्षण—

प्रतिपदमसकितषोडशमात्रा नवमगुरुत्वविभूषितगात्रा ।
पज्झटिकाया एष विवेकः क्वापि न मध्यगुरुर्गण एकः ॥

इस लक्षण के अनुसार "पज्झटिका नामक छन्द" हास्य रस के ही अनुकूल है, शृङ्गार रस के अनुकूल नहीं । अतः वृत्त की विषमता के कारण **हतवृत्तता** है । क्योंकि यह वृत्त हास्य रस के योग्य है, प्रकृत शृङ्गार रस के योग्य नहीं है, और क्योंकि यहाँ शृङ्गार रस के स्थान पर प्रयुक्त किया है, अतः यह दोष है ।

(२) इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि—(१) **करुण रस** में मन्दाक्रान्ता, पुष्पिताग्रा आदि छन्दों की अनुकूलता है, (२) शृंगारादि में—पृथ्वी, स्रग्धरादिकों की, (३) **वीरादिकों में**—शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित आदिकों की और (४) **हास्य रस** में दोधक और पज्झटिकादि छन्दों की अनुकूलता है ।

अर्थ—(३) (तीसरे "**अप्राप्तगुरुभावान्तलघु**" का उदाहरण) **विकसितेति**—विकसित एवं अत्यन्त सुरभित आम्र की मनोहर सुगन्धि वाला यह वसन्त ऋतु आ गया । ["**अयुजिनयुगरेफतो यकारः**" इसके अनुसार प्रथम और तृतीय पाद के अन्तिम अक्षर का अन्तिम में यगण होने से गुरु होना आवश्यक है । परन्तु प्रकृत उदाहरण में "**वा पदान्ते**" इस छन्दःशास्त्र के नियम के अनुसार चरण के अन्तिम अक्षर के गुरु हो जाने से छन्दोभङ्ग न होने पर भी प्रथम चरण के अन्दर विद्यमान "**हारि**" पद के लघु "इ" को गुरु न हो सकने से बन्ध की शिथिलता होती है, अतः **हतवृत्तत्वदोष** है ।] **प्रश्न**—"हारि" यहाँ प्रथम पाद के अन्दर विद्यमान ह्रस्व भी "इकार" का पाद के अन्त में विद्यमान होने के कारण विकल्प से गुरुत्व होने से उक्त लक्षण का समन्वय हो जाता है, अतः इसके अन्दर हतवृत्तत्वदोष नहीं मानना चाहिये ? इसका **उत्तर** देते हैं :—

यत्पादान्ते लघोरपि गुरुभाव उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम्। प्रथमतृतीयपादविषयन्तु वसन्ततिलकादेरेव।

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः।

अर्थ—यत्पादान्त इति—जो चरण के अन्त में ("**वा पदान्ते**" इसके अनुसार छन्दःशास्त्रकारों ने) लघु का भी गुरुत्व होना कहा है [**कालिदास ने भी श्रुतबोध में**—

संयुक्ताद्यं दीर्घं सानुस्वारं विसर्गसम्मिश्रम्।

विज्ञेयमक्षरं गुरु पादान्तस्थं विकल्पेन इत्याह] वह (गुरुभाव) सर्वत्र द्वितीय और चतुर्थ चरण के विषय में है। प्रथम और तृतीय चरण विषयक (गुरुभाव) तो वसन्ततिलकादिकों के विषय में ही है ("आदि" पद से इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा-मालिनि-प्रहर्षिणी-शार्दूलविक्रीडित प्रभृति का ग्रहण होता है।) [इनके विषय में प्रथम और तृतीय चरण के भी अन्तिम वर्ण का लघु रूप से उदाहृत होने से श्रुति शैथिल्य नहीं दिखाई देता है, अतः उनमें लघु वर्ण का प्रयोग होने पर भी **हतवृत्तत्वदोष** नहीं है। और जिन आर्या-पज्झटिका-तोटक-पुष्पिताग्रा आदिकों के प्रथम और तृतीय चरण के अन्तिम अक्षर लघुत्वेन उदाहृत होकर श्रुति-शैथिल्य के रूप में दिखाई देते हैं, उनका उस प्रयोग में **हतवृत्तत्व** होता है। अतः यहाँ पर प्रथम पाद के अन्त के वर्णके गुरु न हो सकने के कारण **हतवृत्तत्व दोष** होता है।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण के अन्दर) "**प्रमुदितसौरभ** आगतो **वसन्तः**" यह पाठ ठीक है।] "**विकसितसहकारभारहारि प्रमुदितसौरभ** आगतो वसन्तः" यह पाठ कर देने पर "प्र" से पूर्व "हारि" के ह्रस्व इकार को "संयुक्ताद्यं दीर्घम्" इस न्याय से संयोग से पूर्ववर्ती लघु भी वर्ण को गुरुत्व हो जाने से बन्ध के अन्दर शैथिल्य न रहने से ' "**हतवृत्तत्व**" दोष नहीं होता है।]

टिप्पणी (१) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है :—

विकसितसहकारतारहारिपरिमलगुञ्जितपुञ्जितद्विरेफः।

नवकिसलयचारु चापरश्रीर्हरति मुनेरपि मानसं वसन्तः ॥इति॥

(२) **केचित्**—कुछ विद्वान् "**वसन्ततिलकादेरेव**" यहाँ "आदि" पद से इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा का ग्रहण करते हैं—पर यह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य भी छन्दों के अन्दर महाकवियों के उदाहरण में प्रथम और तृतीय चरण के अन्तिम वर्णों का लघु प्रयोग मिलता है। **तथाहि**—

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव। दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव॥

इस **मृच्छकटिक** के दूसरे अङ्क में प्रयुक्त छन्द में प्रथम और तृतीय चरण का अन्तिम अक्षर लघु है।

यथा वा—

'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा
सम्भाराः खल तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा ।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थलात्
हृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च ॥'

अत्र 'वस्त्राणि च' इति बन्धस्य श्लथत्वश्रुतिः । 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे तु दाढर्यमिति न दोषः । 'इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इति काव्यप्रकाशकारः । वस्तुतस्तु 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' इत्यन्ये ।

अर्थ—(इसप्रकार "पुष्पिताग्रा" वृत्त का उदाहरण देकर "शार्दूल-विक्रीड़ित" वृत्त का उदाहरण देते हैं) **यथा वेति**—अथवा [केवल प्रथम और तृतीय पाद में ही यह दोष नहीं होता है, अपितु अन्य द्वितीय और चतुर्थ पाद में भी—उनमें से चतुर्थ पाद का उदाहरण देते हैं] **अन्यास्ता इति** [**प्रसङ्ग**—किसी राजा का यह वर्णन हैं] वे (सौन्दर्यादि) गुण रूपी रत्नों को उत्पन्न करने वाले स्थान विलक्षण हैं, वह (प्रशंसनीय अथवा पुण्यवती) समवायिकारण रूप मृत्तिका (साधारण मृत्तिका से) विलक्षण है, (अतएव) धन्या है, वे (जलादि) उपादानकारण विलक्षण हैं. जिनसे (उपादानकारणों से) ब्रह्मा ने इस युवक को उत्पन्न किया है, क्योंकि जिस (युवक) के देख लेने पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ वाले और स्वाभाविक कान्ति वाले शत्रुओं के हाथ से शस्त्र और स्त्रियों के नितम्बस्थल से वस्त्र गिर पड़ते हैं । [अर्थात् वह युवक महान् शूरवीर है और परम सुन्दर है । इस पद्य के अन्दर "शार्दूलविक्रीड़ित" छन्द है ।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—"**वस्त्राणि च**" में बन्ध की सुनने में श्लथता है । [क्योंकि शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में अन्तिम "वर्ण" गुरु होना चाहिये, ऐसा नियम है । इसके अनुसार गुरु रूप में श्रवण देना अत्यावश्यक है, यहाँ वैसा सुनाई नहीं देता है, अतः **हतवृत्तता** दोष है । "**वस्त्राण्यपि**" ऐसा पाठ हो जाने पर तो गुरुता हो जाती है, अतः (फिर) दोष नहीं (रहता) है । **इदमिति**—**काव्यप्रकाशकार** ने "**इदमप्राप्त-गुरुभावान्तलघु**" (का उदाहरण) माना है । **वस्तुतस्त्विति**—वस्तुतः लक्षण के अनुसार होने पर भी (चतुर्थ चरण के अन्त के लघु को गुरु हो जाने पर भी) अश्रव्य माना है, ऐसा अन्य (विद्वान्) स्वीकार करते हैं ।

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः ।
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेसरी ॥'

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ते ।'

एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि ।

यथा—

'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत् ।'

अर्थ—(८) (**पतत्प्रकर्षता का उदाहरण**) **प्रोज्वलदिति**—प्रज्वलित अग्नि की ज्वाला के समान है विकट और महान् शेर की जटाओं का समूह जिसका ऐसा, (तथा) निःश्वास से दूर कर दिये हैं कुलशैल जिसने ऐसा नृसिंह भगवान् तुम्हारी रक्षा करें । (दोष दिखाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ अनुप्रासक सौन्दर्य कम होता गया है [तथाहि—प्रथम पाद में तीन संयुक्त वर्णों का अनुप्रास है, अतः उत्कृष्ट है, द्वितीय चरण में तीन टकार का अनुप्रास होने से पहले की अपेक्षा कम उत्कृष्ट है, तृतीय पाद में दो क्षकार का अनुप्रास होने से और भी कम उत्कृष्टता है, और अन्त में चतुर्थ चरण में आकर दो मृदु वर्णों के प्रयोग से सर्वथा ही उत्कृष्टता की हानि है—इसप्रकार क्रम से अनुप्रास के सौन्दर्य के कम होते जाने से **पतत्प्रकर्षत्व दोष** है]।

टिप्पणी—(१) **पतत्प्रकर्षता** की व्युत्पत्ति—**पतन् ह्रसन् प्रकर्षः—क्रमिकोत्कर्षो यत्र वाक्ये सः पतत्प्रकर्षः तस्य भावः पतत्प्रकर्षता ।**

(२) **पतत्प्रकर्षत्व** का लक्षण :—**क्रमिकप्रकर्षहीनत्वं पतत्प्रकर्षत्वम् ।**

उक्तं च—

**पतत्प्रकर्षं तद्वाक्यं बन्धादावुत्तरोत्तरम् ।
पूर्वानुसारतः कोऽपि निष्कर्षो यत्र जायते ॥**

(३) इसका निराकरण हो सकने से यह अनित्य दोष है ।

अर्थ—(९) (**सन्धिविश्लेष का उदाहरण**) **दलिते इति**—(हे) निर्मल अङ्ग वाली, तुम्हारे ये नयन विकसित नीलकमल के समान हैं । [यहाँ "**ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्**" इस सूत्र से द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा हो गई और फिर "**प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्**" इस सूत्र से प्रकृतभाव हो गया अर्थात् सन्धि न होकर यथापूर्व स्थिति रही] **एवंविधेति**—इसप्रकार (प्रगृह्य संज्ञा आदि के कारण किया हुआ) सन्धि-विश्लेष का अनेक बार प्रयोग ही दोष (होता) है किन्तु अनुशासन का उल्लंघन करके (अर्थात् व्याकरण के विरुद्ध) केवल छन्दोभङ्ग के भय से (किया हुआ) एक बार भी सन्धि विश्लेष (दोष होता) है । **यथा**—**वासवेति**—पूर्व दिशा में चन्द्रमा चन्दन के बिन्दु के समान सुशोभित हो रहा है । [यहाँ "**नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्द्धान्तवर्जम्**" इस अनुशासन से पद्य में सन्धि नित्य होनी चाहिये थी किन्तु नहीं की गई, अतः अनुशासन का उल्लंघन करने के कारण दोष है ।]

'चलण्डामरचेष्टितः' इति ।
अत्र सन्धौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

टिप्पणी--(१) **सन्धिविश्लेषत्व** का लक्षण--"**सन्धिविहीनत्वमेव सन्धि-विश्लेषत्वम्**" ।

(२) **विश्लेष** दो प्रकार का होता है--

सन्धिरेकपदे नित्यो नित्यो धातूपसर्गयोः ।
नित्यः समासे द्रष्टव्यः अन्यत्र तु विभाषया ।।

इसके अनुसार (१) **ऐच्छिक विश्लेष** (२) **आनुशासनिक विश्लेष** । अत एव पाठान्तर इसप्रकार मिलता है--

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।

वाक्य के अन्दर सन्धि करना या न करना वक्ता की इच्छा पर है । कहीं सन्धि हो जाती है, और कहीं नहीं होती है । अत एव--

मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः ।।

इत्यादि में सन्धि हो भी गई है और नहीं भी हुई है । (२) **आनुशासनिक विश्लेष**--(१) **प्रगृह्यहेतुक** और (२) **असिद्धहेतुक**--इसप्रकार विविध प्रकार का होता है । इनमें से पहला अर्थात् प्रगृह्यहेतुक यदि एक बार भी हो तो दोष कहलाता है और दूसरा अर्थात् असिद्धहेतुक यदि अनेक बार हो तो दोष होता है । इनमें से पहला प्रगृह्यहेतुक आनुशासनिक विश्लेष का उदाहरण **दलिते**···**इत्यादि** दिया जा चुका है । **असिद्धहेतुक** आनुशासनिक विश्लेष का उदाहरण --**यथा**--

तत उदित उदारहारहारिद्युतिरुच्चैरुदयाचलादिवेन्द्रः ।
निजवंश उदात्तकान्तकान्तिर्वत मुक्तामणिवच्चकास्त्यनर्घः ।।

यहाँ "**तत उदित**" यहाँ "**उदितहार**" यहाँ और "**निजवंश उदात्त**" यहाँ "**लोपः शाकल्यस्य**" इस सूत्र से विहित भी लोप का "**आद्गुणः**" इस सूत्र से विहित गुण के प्रति "**पूर्वत्रासिद्धम्**" इस सूत्र से सन्धि के मना कर देने पर **असिद्धहेतुक आनुशासनिक विश्लेष** है । इसकी बन्ध का शिथिल होना ही दोष का कारण है ।

अर्थ--(१०) (**सन्ध्यश्लीलत्व** का उदाहरण) **चलन्निति**--[**प्रसङ्ग**--नायिका से अधिष्ठित संकेत स्थान को बताती हुई दूती की उक्ति है ।] उद्भट हैं चेष्टा जिसकी ऐसा जाता हुआ । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**--यहाँ सन्धि के अन्दर (अर्थात् "**चलन् डामरचेष्टितः**" यहाँ सन्निकर्ष रूप सन्धि से उत्पन्न "**चलण्डामर**" के अन्दर विद्यमान "**लण्डा**" पद पुरीष का व्यञ्जक होने से) **जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलता** है । [काशी की तरफ "**लण्डा**" पद से शिश्न का बोध होने से **जुगुप्साव्यञ्जक** है ।]

टिप्पणी (१)--**काव्यप्रकाश** में पूरा पद्य सइप्रकारहै--

वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्तपते पत्री ततोऽत्रैव रुचिङ्कुरु ।।इति ।।

'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः' ।

अत्र सन्धौ कष्टत्वम् ।

'इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः ।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि मानं पादानते प्रिये ॥'

अत्र जगदिति प्रथमार्द्धे पठितुमुचितम् ।

सन्धि से उत्पन्न होने वाली अश्लीलता **सन्ध्यश्लीलता** कहलाती है । **पदांशगत अश्लीलता** सन्धि के कारण उत्पन्न नहीं होती है, अतः इसका उससे भेद है । अश्लीलतावाचक पद को सुनकर लज्जा उत्पन्न होने से श्रोता की विमुखता होती है, अतः रसोत्पत्ति में प्रतिबन्धक होने से यह दोष कहलाता है । "**सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः**" इसप्रकार सामान्य अश्लीलता के ही गुण रूप से व्यवहृत होने से यह अनित्य दोष है ।

(२) उक्त उदाहरण में **चलन्** और **डामर** इन दो पदों के अवलम्ब के कारण **वाक्यदोष** है ।

अर्थ--(११) (**सन्धिकष्टत्व** का उदाहरण) **उर्व्यसाविति**—[**प्रसङ्ग**—किसी पथिक के प्रति यह वचन है ।] इस मरुप्रदेश की समाप्ति पर वह विशाल सुन्दर अवस्थिति वाली वृक्षों की पंक्ति है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**--यहाँ सन्धि होने पर **कष्टत्व** (अर्थ का ज्ञान होने पर श्रुतिकटुत्व रूप क्लिष्टता) है । (अतः "**सन्धिकष्टत्व दोष**" है ।)

टिप्पणी--(१) सन्धि के कारण ही जहाँ क्लिष्टता है वह "**सन्धिकष्टत्व**" कहलाता है । **पदांशगतकष्टत्व** सन्धि से उत्पन्न नहीं होता है, अतः इसका उससे भेद है । सन्धि के कारण अर्थबोध में विलम्ब होने से रस की प्रतीति भी विलम्ब से होती है, अतः रसोत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से यह दोष है । "**वैय्याकरणमुख्ये तु**" इस कथन के अनुसार यह "अनित्यदोष" है ।

(२) **काव्यप्रकाश** के अन्दर सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः ।
नात्रर्जु युज्यते गन्तुं शिरो नमय तन्मनाक् ॥ इति ॥

अर्थ--(२२) (**अर्धान्तरैकपदता** का उदाहरण) **इन्दुरिति**--चन्द्रमा कर्पूर के समान शुभ्र किरणों से संसार को शुभ्र बनाता हुआ सुशोभित हो रहा है, (अतः) (हे) कृशाङ्गि ! चरणों में झुके हुये प्रिय के प्रति मान मत करो अर्थात् यह समय उपेक्षा के योग्य नहीं है, अतः मान को छोड़ दो । [यहाँ पूर्वार्ध वाक्य का अंश "जगत्" इस एकमात्र पद का उत्तरार्ध वाक्य में पढ़े हुये होने के कारण **अर्धान्तरैकपदत्व दोष** है ।] **अत्रेति**--यहाँ "जगत्" इस पद का प्रथमार्ध में पढ़ना उचित था ।

'नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥'

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनरुपात्तः ।

टिप्पणी—(१) **अर्धान्तरैकपदता** की व्युत्पत्ति—**अर्धान्तरे—भिन्नवाक्यघटित-पद्यार्धे—एकमेव पदं यस्य तस्य भावः ताम् "अर्धान्तरैकपदताम्"** ।

(२) **अर्धान्तरैकपदता** का लक्षण—**स्वावस्थानार्धादुत्तरार्धोपन्यस्तैकमात्रपदवद्वाक्यत्वमर्धान्तरैकपदत्वम्—"अर्धान्तरैकपदत्वम्" इति**

(३) पूर्वार्ध में अवस्थित वाक्य के एक पद का उत्तरार्ध में पठित होने के कारण विलम्ब से रस की प्रतीति होती है, अतः यह दोष कहलाता है । यह नित्य दोष है । यह दो प्रकार का होता है (१) पूर्वार्ध वाक्य के घटक एक पद का उत्तरार्ध में कथन किया जाय और (२) उत्तरार्ध वाक्य के घटक एक पद का पूर्वार्ध में कथन किया जाय । यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि यदि एक पद के स्थान पर कई पदों का इसप्रकार से व्यत्यय होगा तो उस अवस्था में यह दोष नहीं होता है । गद्य के अन्दर भी पूर्वार्ध और उत्तरार्ध का कोई नियम नहीं होता है, अतः उसमें भी यह दोष नहीं होता है । इनमें से पहले का अर्थात् पूर्वार्ध वाक्य के घटक एक पद का उत्तरार्ध में कथन करने का उदाहरण "**इन्दुर्विभाति**······इत्यादि दिया जा चुका है । दूसरे का अर्थात् उत्तरार्ध वाक्य के घटक एक पद का पूर्वार्ध में कथन करने का उदाहरण—यथा—

वक्षःस्थलं मुकुन्दस्य कौस्तुभाङ्कं कपर्दिनः ।
चूडालो भालचन्द्रेण जटाजूटश्च पातु वः ।।इति।।

यहाँ उत्तरार्ध गत वाक्य के घटक "**कपर्दिनः**"इस एक पद का उत्तरार्ध में ही पाठ ठीक था, किन्तु ऐसा न होने से **अर्धान्तरैकपदतादोष** आ गया ।

अर्थ—(१३) (**समाप्तपुनरात्तत्व** का उदाहरण) **नाशयन्त इति**—चन्द्रमा की किरणें प्रगाढ़ अन्धकार को विनष्ट करती हुई, वियोगी मनुष्यों को दुःख देती हुई (और) पृथ्वी को प्रकाशित करती हुई फैल रही हैं । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ चतुर्थ चरण (में विद्यमान "**भासयन्तः**" यह पद) वाक्य की समाप्ति पर भी ("**शशिनः पादाः पतन्ति**" इससे वाक्य के समाप्त हो जाने पर भी) पुनः ग्रहण किया गया है (अतः **समाप्तपुनरात्तत्वदोष** है) ।

टिप्पणी (१) **समाप्तपुनरात्तता** की व्युत्पत्ति—**समाप्तम्—अन्वयबोधजननान्निराकांक्षमपि विशेष्यं पुनः—विशेषणान्तराकाङ्क्षया आत्तं गृहीतं यत्र तस्य भावः समाप्तपुनरात्तता ॥**

(२) वैय्याकरणों के अनुसार—**क्रियाकारकभावेनान्वय बोधसकलपदोक्तानन्तरं तद्घटकयत्किञ्चित्पदान्वयिविशेषेणोपादानं तत् समाप्तपुनरात्तत्वम्** है ।

(३) "**समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित्**"—इसके अनुसार यह अनित्य दोष है ।

अभवन्मतसम्बन्धो यथा—

'या जयश्रीर्मनोजस्य यया जगदलङ्कृतम् ।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ।।'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तःपातिन
एणाक्षीशब्देन अन्येषां सम्बन्धः कवेरभिमतो नोपपद्यत एव ।

'यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे ।'

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वे तु सर्वैरपि यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्य
सम्बन्धो घटते ।

अर्थ—(१४) **अभवन्मतसम्बन्ध** (का उदाहरण) **यथा—येति**—जो कामदे
की विजयलक्ष्मी है, जिससे संसार सुशोभित है (और) जिस मृगनयनी के बिना मे
प्राण विफल हैं, वह आज कहाँ है ? [यहाँ पर "**या एणाक्षी मनोजस्य जयश्रीः यय
एणाक्ष्या जगदलङ्कृतम्**" इसप्रकार "एणाक्षी" को विशिष्ट करने वाला अन्वय कवि
को अभिमत है, जो कि घटित नहीं होता है क्योंकि द्वितीयान्त "एणाक्षी" पद क
और या, यया इन प्रथमान्त और तृतीयान्त "यत्" पद का अभेद होने से विशेष्यभा
नहीं बन सकता है, इसीको प्रतिपादित करते हैं] **अत्रेति** [प्रश्न–**या** और **यया** इनक
एणाक्षी में अन्वय नहीं है किन्तु "या और "यया" इनका परस्पर ही अन्वय है
इसका उत्तर देते हैं ।] **यच्छब्देति**—"यत्" शब्द से निर्दिष्ट वाक्यों के परस्प
आकांक्षा से रहित होने के कारण उन (वाक्यों के मध्य) में एक (वाक्य) के अन्तर्भू
एणाक्षी शब्द से अन्य (वाक्यों) का सम्बन्ध कवि को अभिमत है, (वह) घटित ह
नहीं होता है (क्योंकि एक तो पूर्वार्ध के वाक्य परस्पर सम्बन्ध से रहित है औ
दूसरा "एणाक्षीम्" यह द्वितीया विभक्ति का पद है, अतः **अभवन्मतसम्बन्ध** दो
है ।) [यदि इस पद्य के अन्दर "तत्" शब्द के अर्थ का विशेष्य करके "एणाक्षी
शब्द का प्रयोग किया जावे तो यह दोष नहीं आता है । यथा] **यां विनेति**—जिस
बिना ये प्राण व्यर्थ हैं, वह मेरी एणाक्षी आज कहाँ है । **इतीति**—इसप्रकार "तत
शब्द से निर्दिष्ट वाक्य के अन्तर्गत होने पर भी (एणाक्षी शब्द का) "यत्" शब्द
निर्दिष्ट वाक्यों के साथ सम्बन्ध घटित हो जाता है । [क्योंकि—**यत्तदोर्नित्यसम्बन्**
इस न्याय से परस्पर "यत्" और "तत्" के सापेक्ष होने के कारण सभी "यत्" शब्
का ही "तत्" शब्द से विशेष्यभूत पदार्थ का विशेष्यत्व सम्भव हो सकता है । अ
परवर्तित पाठ हो जाने पर दोष नहीं आता है ।]

टिप्पणी—(१) **अभवन्मतसम्बन्धत्व** की व्युत्पत्ति—**अभवन्-न सम्भवन् म
इष्टः सम्बन्धः यत्र तत्**, अर्थात् जहाँ कवि का अभिमत-सम्बन्ध (अन्वय) न बन स
वहाँ "अभवन्मतसम्बन्धत्व" दोष होता है ।

(२) **अभवन्मतसम्बन्धत्व दोष का लक्षण**—

"**पदविशेषस्य इष्टान्वयानुपपत्तिमद्वाक्यत्वमभवन्मतसम्बन्धत्वम्**" इति ।

यथा वा—

'ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभवः ।'

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन सम्बन्धो न घटते । 'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः ।

यथा वा—

'ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च ।
राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः ॥'

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः ।

---

(३) वक्ता के इष्ट अन्वय की उपपत्ति न होने से श्रोता की विरसता उत्पन्न होती है, अतः रसोत्पत्ति का प्रतिबन्धक होने से यह दोष है ।

(४) यह नित्य दोष है । यह **अभवन्मतसम्बन्धत्व** तीन प्रकार से होता है—(१) **क्वचित् विभक्तिभेदनिबन्धनम्** (२) **क्वचिन्न्यूनतादिनिबन्धनम्** और (३) **क्वचित् समासाच्छन्नतयामतसम्बन्धाभावनिबन्धनम्** । इनमें से पहले का उदाहरण—**'या जयश्रीः—इत्यादि''** है ।

अर्थ—(**न्यूनतानिबन्धनाभवन्मतसम्बन्धत्व** का उदाहरण) अथवा—**ईक्षसे इति**—जिस समय (यत्) कटाक्ष से (तुम संसार को) देखती हो, उस समय (उसके प्रति) कामदेव धनुर्धारी (होता) है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "यत्" इसका "तदा" इसके साथ सम्बन्ध घटित नहीं होता है । [**आशय** यह है कि "यत्" इसका "तदा" इसके साथ सम्बन्ध विवक्षित है, और यह सम्बन्ध सम्भव नही है क्योंकि "यत्" शब्द प्रथमान्त होने के कारण कालवाची "तदा" पद के साथ घटित नही हो सकता है, अतः "तत्" पद की न्यूनता के कारण **"न्यूनतानिबन्धन अभवन्मतसम्बन्ध दोष"** है ।] **ईक्षसे इति**—(यदि "यत्" के स्थान पर "चेत्" कर दें तो) **"ईक्षसे चेत्"** यह पाठ ठीक है । [इसप्रकार यदि (चेत्) कटाक्ष से देखती हो तो (उस कटाक्ष से) कामदेव धन्वी है । और इसप्रकार दोष भी नहीं आता है ।]

अर्थ—**समासाच्छन्नतया अभवन्मतसम्बन्धाभाव** का उदाहरण) अथवा-**ज्योत्स्नाचय इति**—चन्द्रिका का समूह ही निर्मल जलराशि है, और तारे ही कुमुद हैं (तथा) आकाश रूपी सरोवर का राजहंस चन्द्रमा शोभित हो रहा है । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (तीनों वाक्यों के अन्दर ही "व्योमकासारः" शब्द का सम्बन्ध कवि को अभिमत है, किन्तु) "व्योमकासार" शब्द का ("व्योमकासारे राजहंसः" इसप्रकार तत्पुरुष) समास के अन्दर गौण हो जाने से (अर्थात् "व्योमकासार" शब्द "राजहंस" का विशेषण हो गया—यह विशेषण हो जाना ही गुणीभाव है) उसके अर्थ का ("व्योमकासार" शब्द के अभिधेय का) सभी के साथ (ज्योत्स्नाचय रूप पयःपूरादिकों के साथ) संयोग (विशेषण रूप से सम्बन्ध) नहीं (होता) है । [इसप्रकार **"समासाच्छन्नत्वेन" अभवन्मतसम्बन्धत्वदोष** है ।]

विधेयाविमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम् इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थस्य प्राधान्येनाऽप्रतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिपदार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयत, इति सर्व-वाक्यार्थविरोधाऽवभास इत्युभयोर्भेदः ।

टिप्पणी—यदि यहाँ "**व्योमकासारे**" या "**राजति व्योम्नि सरसि**" यह पाठ कर दें तो दोष नहीं है। **इसीप्रकार '**रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः**'** इत्यादि में भी यह दोष नहीं है क्योंकि नाम और नामी का अभेद होने से अभीष्ट अर्थ की उत्पत्ति हो जाती है।

अवतरणिका—विधेयाविमर्श और अभवन्मतसम्बन्ध के अन्दर भेद दिखाते हैं—

अर्थ—"विधेयाविमर्श दोष" के अन्दर जो (पद) ही अप्रधानता से उपनिबद्ध (अविमृष्ट) होता है, वही (पद) दूषित (होता) है [अर्थात् विधेयाविमर्श दोष के अन्दर अन्वय का बोध तो होता है किन्तु विधेय का विधेय रूप से प्रतीत न होने से जो विधेय अविमृष्ट (अप्रधानता से उपनिबद्ध) होता है, वही दूषित होता है।] यहाँ (प्रकृत उदाहरण के अन्दर) तो प्रधान कासार पदार्थ की प्रधानता से प्रतीति न होने से सम्पूर्ण ही पयःपूरादि शब्दों का अर्थ उसका अङ्ग होने के कारण प्रतीत नहीं होता है, अतः सभी वाक्यों के अर्थ में विरोध भासित होता है—यही इन दोनों में भेद है।

टिप्पणी—यहाँ साङ्गरूपकालंकार है। अतएव आकाश के अन्दर कासारत्व का आरोप मुख्य है, और ज्योत्स्नाचयः पयःपूरत्वादि का आरोप, उसके साधक होने से उसके अङ्ग हैं, अतः अवश्य ही ग्रहण किये जाने चाहिये किन्तु "कासार पदार्थ" के तत्पुरुष समास के अन्दर आकर गौण हो जाने से उसका अङ्ग रूप से अन्य पदार्थों की प्रतीति नहीं होती है। तथा "**गुणानां परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्**" इस न्याय के अनुसार मुख्य से भिन्न पदार्थों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता है। अतः "वाक्यगतविधेयाविमर्श" के साथ इसके अभेद की आशंका नहीं करनी चाहिये। इसप्रकार के दोषों की अवस्थिति दो पदों के अन्दर ही होती है, अतः वाक्यदोष होता है किन्तु इस दोष के अन्दर सम्पूर्ण वाक्य ही दूषित होता है, अतः वाक्य-दोष है।

अवतरणिका—वाच्य अर्थ में विवक्षित व्यंग्य अर्थ का योग न होने पर भी कहीं यह **अभवन्मतसम्बन्ध** दोष होता है—इस "**काव्यप्रकाशकार**" के मत को दूषित करने के लिये उदाहरण देते हैं:—**यथा**—

'अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव ।
वद्धस्पर्द्धः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव ॥'

अत्र 'भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनकर्त्तृत्वस्य परशुना सह सम्बन्धो न युक्तः' इति प्राच्याः। परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्यं द्योतयति' इत्याधुनिकाः।

अक्रमता यथा—

अर्थ—(प्रसङ्ग—युयुत्सु परशुराम के प्रति रामचन्द्र जी की यह उक्ति है।) **अनेनेति**—(हे) भार्गव ! (रेणुका नामक) माता का कण्ठ काटने वाले इस तुम्हारे परशु के साथ स्पर्धा करने वाली यह मेरी (चन्द्रहास नामक) तलवार लज्जित होती है। [**तात्पर्य** यह है कि "**मम कृपाणोऽयं लज्जते**" इस वचन भङ्गिमा के द्वारा इस-प्रकार के महान् निन्द्य पातक कर्म को करने वाले तुम्हारे साथ स्पर्धा करते हुये मैं लज्जित होता हूँ, क्योंकि कहीं तुम्हारे पाप का संक्रमण मेरे प्रति भी न हो जावे।]

अर्थ—(**काव्यप्रकाशकार** का मत दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ परशुराम की निन्दा के विषय में प्रयुक्त माता के कण्ठ को कर्तन करने (रूप कर्तृत्व) का (क्योंकि परशु के अन्दर करणता ही है, कर्तृत्व नहीं हो सकता) परशु के साथ सम्बन्ध ठीक नहीं है—यह प्राचीन (आचार्यों-अर्थात् **काव्यप्रकाशकार**) का (मत) है। [कहने का आशय यह है कि छिन्दता यह विशेषण अचेतन परशु में करणत्व से भिन्न कर्तृत्व की स्थिति सम्भव नहीं हो सकने से कवि के द्वारा अभीष्ट भी परशु के अन्दर कर्तृत्व का सम्बन्ध घटित नहीं होता है, अतः **अभवन्मतसम्बन्ध दोष** है।] **परशुनिन्दामुखेनेति**—(अपने मत को दिखाते हैं) परशु की निन्दा के द्वारा परशुराम की अत्यन्त निन्दा ही (प्रतीत होती) है, (अतः यह कवियों की) रचना की निपुणता को सूचित करता है—यह आधुनिक (आचार्यों का—नव्यों का मत) है।

टिप्पणी—आधुनिक आचार्यों के कहने का आशय यह है "तव" के साथ "मातुः" का सम्बन्ध "**स्थाली पचति**" इसकी तरह करणभूत भी परशु में कर्तृत्व का आरोप हो जाता है। इसप्रकार जब अचेतन परशु के अन्दर भी स्त्रीवध के कर्तृत्व से निन्दा सम्भव हो सकती है, तो फिर चेतन तुम्हारी—जिन्होंने स्वयमेव माता का वध किया है—निन्दा का तो कहना ही क्या है ? इसप्रकार अतिशय निन्दा द्योतित होती है। इसप्रकार परशु में कर्तृत्व का सम्बन्ध हो सकता है, अतः **अभवन्मतसम्बन्ध दोष** नहीं है।

अर्थ—(१५) **अक्रमता** (का उदाहरण) **यथा**—[**प्रसङ्ग—शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग के अन्दर यह शरद् ऋतु वर्णन है।]**

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥'

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेतिशब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिगदन्त' इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥'

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

अर्थ—समय एवेति—प्राणियों की सबलता और दुर्बलता को समय ही करता है, इसप्रकार मानों बतलाते हुये शरद् काल में मयूरों के स्वरों को परुष (अरमणीय) करने वाले हंसों के शब्द रमणीयता को प्राप्त हुये । [**आशय** यह है कि वर्षाकाल में अत्यन्त मदोद्रेक के कारण मयूरों के स्वर सुन्दर लगते हैं, और शरद् ऋतु में अरमणीय स्वर हो जाते हैं, किन्तु इसके विपरीत वर्षाकाल में राजहंसों के शब्द अरमणीय होते हैं और शरद् काल में मदोद्रेक के कारण मधुर हो जाते हैं—इसप्रकार सभी प्राणियों की बल की समृद्धि को और बल के ह्रास को समय ही करनें वाला है, कोई अन्य कारण नहीं है—इसप्रकार का उपदेश देते हुये हंस (रमणीयता को प्राप्त हुये ।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (**'समय एव करोति बलाबलं**" इस वाक्य के अर्थ का "**इति**" शब्द से परामर्श किया गया है, अतः इसी) परामृश्यमान वाक्य के ("**समय एव करोति बलाबलम्**") अनन्तर ही "इति" शब्द का प्रयोग ठीक है, "**प्रणिगदन्तः**' इसके बाद नहीं । [ऐसा न करने से यहाँ **अक्रमत्व** दोष है । **केचितु**—कुछ विद्वान् **शरीरिणामपि बलाबलम्**' ऐसा अन्वय करके **क्लिष्टत्वदोष** मानते हैं ।] **एवमिति**—इसीप्रकार (अर्थात् केवल "इति" पद में ही यह दोष नहीं होता है, अपितु "च" आदि **पदों** में भी दोष होता है—इसका प्रतिपादन करते हैं ।) **द्वय गतमिति**—[**प्रसङ्ग—कुमारसम्भव**—के ५म सर्ग में शिवजी की प्राप्ति के लिये तपस्या करती हुई पार्वती के प्रति ब्रह्मचारी वेषधारी शिवजी की यह उक्ति है ।] (हे पार्वती ?) चन्द्रमा की शोभाशालिनी वह प्रसिद्ध (पूर्व ही शिवजी के सिर पर विद्यमान होने से) कला (सोलह भागों में से एक भाग) और इस (दृश्यमान) संसार के (आह्लाद देने के कारण) नेत्रों के लिये चन्द्रिका रूप तुम—(ये) दोनों शिवजी की प्राप्ति की कामना से इस समय (तुम्हारे इसप्रकार के निश्चय करने पर) शोचनीयता को प्राप्त हुये । [अर्थात् अभी तक तो अयोग्य शिवजी के साहचर्य से केवल चन्द्रकला ही शोच्या थी किन्तु इस समय तुम भी शोचनीय हो गई ।]

(दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "त्वम्" इसके अनन्तर ही "चकार" ठीक था ।

अमतपरार्थता यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता—' इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनिष्टः ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि उक्त उदाहरण में "**लोकस्य च**" यह "चकार" "**त्वम्**" इस पद के अनन्तर आना चाहिये था, क्योंकि "**त्वम्**" की ही शोच्यता व्यंग्य है । अतः "**जगदृशस्त्वञ्च विशुद्धचन्द्रिका**' यह पाठ ठीक है, ऐसा न होने से यहाँ "**अक्रमत्व दोष**" है ।

(२) अक्रमत्व की व्युत्पत्ति—**अविद्यमानः क्रमो यस्मिन् वाक्ये स तस्य भावः** अर्थात् जिस पद के अनन्तर जिस पद का आना ठीक है, उसका अन्यत्र उपादान कर देना "अक्रमत्व" कहलाता है । तथा च—**यस्य यदव्यवहितपूर्वत्वनियमेनयदव्यवहित-परत्वनियमेन वा विवक्षितार्थानुभावकं तस्य तत्परिहारेणान्यत्र विद्यमानत्वमक्रमत्वम्**—यह सामान्य लक्षण है ।

(३) **अक्रमत्व और अस्थानस्थपदता में भेद** :—

पदसन्निवेशरूपरचनायाः प्रस्तुतार्थप्रत्यायकत्वेऽक्रमत्वम्, प्रत्यायकत्वेऽप्यनौचित्येऽस्थानस्थपदता, अथवा अस्थाने अव्ययपदप्रयोगे अक्रमता, अस्थाने अनव्ययपद-प्रयोगे तु अस्थानस्थपदता ।

(४) **दुष्क्रमत्व और भग्नप्रक्रमता में भेद**—

"अर्थक्रमस्यानौचित्ये दुष्क्रमत्वम्, उपक्रमोक्तक्रमस्योपसंहारे भंगे **प्रक्रमभङ्गः**" इति ।

अक्रम से स्थित पदों के अन्वय में विलम्ब होने से रस की प्रतीति विलम्ब से होती है, अतः यह दोष है । यह नित्य दोष है ।

अर्थ—(१६) अमतपरार्थता (का उदाहरण) **यथा—राममन्मथेति**—[इसकी व्याख्या पृष्ठ २०१ पर की जा चुकी है ।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ शृङ्गार रस का व्यञ्जक द्वितीय अर्थ प्रकृत रस का (वीभत्स रस का) विरोधी होने से अनिष्ट (अमत) है ।

टिप्पणी—(१) अमतपरार्थता की व्युत्पत्ति—**अमत :—प्रकृतविरुद्धः (प्राकरणिकरसविरुद्धरसव्यञ्जक इति यावत्) परार्थः—श्लेषादिना प्रतीयमानो द्वितीयार्थो यत्र वाक्ये यस्य वाक्यस्य वा तत्तथोक्तम्, तस्य भावस्तत्वम्—अमतपरार्थ-त्वम्** ।

(२) लक्षण इसप्रकार हुआ कि—"**प्राकरणिकरसविरुद्धरसव्यञ्जक-प्रतीयमान द्वितीयार्थबोधकवाक्यत्वममतपरार्थत्वम्** "इति"

(३) प्रतीयमान प्राकरणिक रस का अपकर्षक होने से यह दोष का कारण है । यहाँ द्वितीय अर्थ "**दुर्गालंघित** ······ इत्यादि में प्राकरणिक राजा रूप अर्थ से दूसरा अप्राकरणिक शिवजी रूप व्यंग्यार्थ के समान प्रकृत उदाहरण में ताड़कावध रूप अर्थ से दूसरा अभिसारिका रूप व्यंग्यार्थ ही विरुद्ध रस का व्यञ्जक है, वाच्यार्थ नहीं, इसप्रकार प्रतिकूल विभावादिकों के ग्रहण से इसका भेद है ।

(४) यह नित्य दोष है ।

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि कुप्यसि ।'

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्यं वक्तव्यो नोक्तः । न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता, अपेस्तु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः । एवमन्यत्रापि । यथा वा—

'चरणानतकान्तायास्तन्वि कोपस्तथापि ते ।'

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

अर्थ—(१७) **वाच्यस्यानभिधान** (का उदाहरण) **यथा—व्यतिक्रमलवमिति**—(हे) सुनयने ! मेरे किस थोड़े से भी (प्रीतिहेतुक क्रिया के) व्यतिक्रम को देखकर क्रोधित होती हो ? (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "**व्यतिक्रमलवमपि**" ऐसा "अपि" अवश्य कहने योग्य नहीं कहा है । (अन्यथा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है ।) [**न्यूनपदत्व** से इसका भेद दिखाते हैं ।] **न्यूनपदत्वे इति—न्यूनपदत्वदोष** में वाचक पद की ही (द्योतक पद और अध्याहार पद की नहीं) न्यूनता विवक्षित होती है, "अपि" शब्द की तो उसप्रकार की (वाचकता) नहीं है ("**उपसर्गाणां द्योतकत्वमेव न वाचकत्वम्**" इस न्याय के अनुसार) यही इन दोनों में भेद है । **एवमिति**—इसी प्रकार अन्यत्र भी [अन्य प्रकार के द्योतक पद के अभाव वाले स्थलों पर भी "**वाच्यानभिधान दोष**" समझ लेना चाहिये । यथा—"**नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न निशाचरः**" इति । यहाँ "न तु" यह तु शब्द अवश्य कहना चाहिये, उसके न कहने से वाच्यानभिधान दोष है ।] **यथा—वेति**—अथवा (विभक्ति न्यूनता का उदाहरण देते हैं ।)

चरणेति—(हे) कृशाङ्गि ! चरणों में गिरा है पति जिसका ऐसे तुम्हारा तब भी क्रोध है । [यहाँ "तथापि" यह "तत्" शब्द का अर्थ पूर्वोक्त किसी अर्थ का कथन करता है, अतः पृथक् वाक्य का सम्पादन करने वाली "**चरणानतकान्ताऽसि**" यह प्रथमा विभक्ति अवश्य कहनी चाहिये, उसके कथन न करने से **वाच्यानभिधान** दोष है ।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति—**यहाँ "**चरणानतकान्ताऽसि**" यह कहना चाहिये । (**अयन्था** "तथापि" इसका अन्वय किसीप्रकार भी सम्भव नहीं हो सकता है ।)

टिप्पणी—(१) "**तथापि**" इसके अभिमत सम्बन्ध की अनुपपत्ति से "**अभवन्मतसम्बन्ध दोष**" है, ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि अभवन्मत पद के सन्निवेश से समाधान हो जाने पर 'अभवन्मतसम्बन्धता दोष" है, तथा अभवन्मत वाक्य के सन्निवेश से समाधान हो जाने पर "वाच्यानभिधानदोष" होता है ।

(२) यहाँ पर प्रथम उदाहरण के अन्दर "अपि" के अध्याहार करने के कारण विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होता है और द्वितीय उदाहरण में "तथापि" इस अन्वय से शाब्दबोध में विलम्ब होने के कारण रस की प्रतीति में विलम्ब होता है अतः यह दोष का कारण है ।

(३) **वाच्यानभिधान** की व्युत्पत्ति—यहाँ वाच्य शब्द शब्दपरक है, अर्थपरक नहीं क्योंकि अर्थपरक होने पर वाक्यदोष नहीं होता है, तथा च—**वाच्यम्—वाचकपदातिरिक्तम् अवश्यवक्तव्यं द्योतकं तस्य उच्चारणेनाध्याहारेण च अनभिधानं अनुक्तं यत्र वाक्ये तत्तथोक्तम्** ।

(४) अवश्य वक्तव्य पद के कथन न करने से उसके अनुसन्धान के कारण विलम्ब होने से रसोत्पत्ति में विलम्ब होता है, यह दोष है । यह नित्य दोष है ।

भग्नप्रक्रमता यथा—

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम्। तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः ।

अर्थ—(१८) ["भग्नप्रक्रमता" प्रकृति, पर्यायादि विषयक होने सेअ नेक प्रकार की होती है । उनमें से धातु रूप प्रकृति की **भग्नप्रकमता** (का उदाहरण) **यथा**—**एवमुक्त इति**—मुख्यमन्त्रियों के द्वारा इसप्रकार कहे हुये रावण ने उत्तर दिया । [दोष दिखाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ वच् धातु से प्रारम्भ किये हुये ("उक्तः" पद) का प्रत्युत्तर भी उसी से ही ("वच्" धातु से ही "**प्रत्यभाषत**" इस "भाष्" धातु की प्रकृति से नहीं) कहना ठीक है [अतः **भग्नप्रक्रमता दोष** है ।] इसलिये "**रावणः प्रत्यवोचत**" यह पाठ ठीक है । [**आशय** यह है कि यहाँ "**एवमुक्तः**" इसप्रकार साकांक्ष वाक्य से उत्पन्न प्रतिवचन की आकांक्षा है, और वह (आकांक्षा) पूर्वोक्त शब्द विशिष्ट से ही प्रतिवचन को अपना विषय बनाती है । यहाँ आकांक्षित "वच्" धातु रूप प्रकृति के प्रकार का "भाष्" धातु से निर्देश होने के कारण भङ्ग है, अतः "**भग्नप्रक्रमता दोष**" है ।]

टिप्पणी—(१) भिन्न शब्दों से कथन किया हुआ पदार्थ भिन्न के समान ही प्रतीत होता है, क्योंकि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते ।।

इस भर्तृहरि के न्याय के अनुसार शाब्दबोधात्मक ज्ञान के विषय में शब्द की भी विशेषण रूप से प्रतीति होती है, अतः प्रकृतस्थल पर विभिन्न शब्द वाली "**बोलने**" की प्रकृति से उपस्थित एक भी अर्थ भिन्न की तरह प्रतीत होता है । इसलिये "**उक्तः**" इस पद से वचन का उपादान करने पर भी प्रतिवचन के रूप में प्रतीति नहीं होती है । इसकी प्रतीति के लिये "**प्रत्यवोचत**" ऐसा पाठ कर देने पर ही प्रतिवचन की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है । **प्रश्न**—पर्यायवाची शब्दों की सामर्थ्य के कारण एक अर्थ की प्रतीति हो जाती है, अन्य अर्थ की प्रतीति किसप्रकार होती है ? **उत्तर**—जिनके मत के अनुसार शाब्दबोध होने पर शब्द की भी प्रतीति होती है, उनके अनुसार पर्यायवाची शब्दों से अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाया करती है । **तथाहि**—"इस शब्द से यह अर्थ समझना चाहिये" इत्याकारक की शब्द की शक्ति के कारण शब्द की विशेषणादि पदार्थ की तरह उसकी भी उपस्थिति हो जाती है, और दूसरे पद के ग्रहण करने पर उसकी उपस्थिति से अन्य प्रकार की प्रतीति स्फुट ही है, कहा भी है कि—'**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके**"—इस दूसरे मत के अन्दर भी पर्यायवाची पदों से उपस्थापित अर्थ अभिन्न होता हुआ भी अपनी शक्ति की महिमा से भिन्न के समान प्रतीत होता है । किन्तु जहाँ पर सर्वनाम से परामर्श होता है, वहाँ उनकी बुद्धि के विषय में शक्ति के स्वीकार करने से पूर्व पद की ही प्रतीति होती है, अतः यहाँ दोष नहीं होता है ।

एवं च सति न कथितपदत्वदोषः, । तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तविषयकत्वात् । इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देशत्वम् ।

अवतरणिका—प्रश्न "**एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत**" ऐसा पाठ हो जाने पर तो "**कथितपदत्वदोष**" दोष आ जायेगा तथा "**नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण**" इस **वामनाचार्य** के वचन से विरोध आता है ? इसका **समाधान** करते हैं—

अर्थ—(१६) और इसप्रकार ("**एवमुक्तो मंत्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत**") पाठ के कर देने पर कथितपदत्वदोष नहीं (आता) है (क्योंकि) उसके (**कथितपदत्वदोष** के) उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य के अतिरिक्त विषयक होने के कारण। [**उद्देश्यः—प्राक्प्रयुक्त एव प्रतिनिर्देश्यः—पुनः प्रयोज्यः यत्र तस्मात्, व्यतिरिक्तः—भिन्नः विषयः-अर्थः, प्रतिपाद्य इति यावत्, यस्य तत्वात्** अर्थात् पूर्वापर की अभिन्नता के प्रतिपादन के लिये जहाँ पहले प्रयुक्त अर्थ का उसी शब्द से और उसीप्रकार से पुनः प्रयोग की प्रयोजनीयता होती है, उससे भिन्न स्थान पर **कथितपदत्व दोष** होता है । यथा—

"**रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन्**"

इत्यादि में पहले निर्दिष्ट "लीला" अर्थ का उसी शब्द से और उसी रूप से पुनः प्रयुक्त करने की आवश्यकता के अभाव से पुनरुक्ति के कारण रसापकर्ष को उत्पन्न करने से दोषता होती है । प्रकृत उदाहरण में उसप्रकार की रसापकर्षकता को उत्पन्न न करने से अपितु अभेद की प्रतीति के लिये पुनरुक्ति उत्कर्ष का ही कारण होती है, अतः दोष नहीं होता है । उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य की अवस्था में **कथितपदत्व** गुण ही होता है, दोष नहीं । कहा भी है कि—

"**प्रतिक्रमस्यान्यथाभावे स एव एव तु महान् गुणः**" इति ।

इसीप्रकार **अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य** और **लाटानुप्रास** के अन्दर भी समझना चाहिये । इसी बात को स्पष्ट करते हैं ।] **इह** हीति—यहाँ ("**एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यवोचत**" यहाँ जिस भावना से मुख्यमन्त्रियों ने रावण से कहा उसी भावना से रावण ने भी उनको उत्तर दिया) तो वचन और प्रतिवचन का (उक्ति—प्रत्युक्ति की अभेद प्रतीति के लिये पुनः कहना प्रकर्ष का कारण है) उद्देश्य और प्रतिनिर्देश्य भाव है । [**अतः कथितपदत्वदोष** नहीं है ।]

टिप्पणी—उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्यभाव तीन प्रकार का होता है—

(१) **एकविषयार्थमुद्दिष्टस्य विषयान्तरे प्रतिनिर्देशः**—अर्थात् जहाँ किसी एक विषय में उद्देश्य रूप से अन्वित पदार्थ को दूसरे विषय में उद्देश्य रूप से अन्वित करने के लिये फिर ग्रहण करें । **यथा—उदेतीति**—यहां उदय काल में पहले सूर्य का ताम्रत्व (रक्तवर्णत्व) विधान किया है । उदयकालिक ताम्रत्व विधि में पहले "सविता" उद्देश्य हुआ है फिर वही अस्तकालिक ताम्रत्व विधि का उद्देश्य बनाया गया है । अतः यहाँ **कथितपदत्वदोष** नहीं हो सकता । (२) एकोद्देशेन विहितस्य **उद्देश्यान्तरे विधेयतया प्रतिनिर्देशः**—अर्थात् जहाँ किसी एक को उद्देश्य करके विहित पदार्थ का, फिर दूसरे उद्देश्य के लिये विधान किया जावे । **यथा—एवमुक्तः इत्यादि** । यहां पहले मन्त्रियों को उद्देश्य करके

यथा—

'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।'

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ इव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति ।

यथा वा—

'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥'

वचन का विधान है फिर रावण को उद्देश्य करके उसी (वचन) का पुनर्विधान या प्रतिनिर्देश है । (३) **एकोद्देशेन विहितस्य विषयान्तरे उद्देश्यतया प्रतिनिर्देशः**—अर्थात् जहाँ किसी एक के उद्देश्य से विहित पदार्थ अन्य विषय का उद्देश्य हो जाय । **यथा**—"**मिता भूः पत्यायां स च पतिरपां योजनशतम्**" । यहाँ पहले पृथ्वी को उद्देश्य करके "अपांपतिः" समुद्र का विधान (मान कर्तृत्वेन) है, अनन्तर उसी का योजनशत विधि में उद्देश्यतया सम्बन्ध किया है ।

अवतरणिका—उद्देश्य प्रतिनिर्देशभाव में एक शब्द का पुनः करने पर **कथितपदत्व** रूप दोष का आधायक नहीं होता है प्रत्युत उत्कर्ष का कारण होता है—इसका उदाहरण देकर प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(२०) अथवा—**उदेतीति**—सूर्य लाल उदित होता है और लाल ही अस्त होता है । [यहाँ उदयकालीन ताम्रत्व विधि में उद्दिष्ट सविता का अस्तकालीन ताम्रत्व विधि में उद्देश्यरूप से प्रतिनिर्देश हुआ है, अतः दोष नहीं है ।] (किन्तु) **इत्यत्रेति**—यहाँ पर (प्रकृत उदाहरण में) यदि दूसरे पद से (ताम्र के पर्यायवाची रक्त शब्द से) उसी अर्थ का (ताम्ररूप अर्थ का) प्रतिपादन किया जाता है, तो दूसरे अर्थ की तरह प्रतीत होता हुआ प्रतीति को (ऐक्य ज्ञान को) तिरोहित कर देता है ।

टिप्पणी—कहने का **आशय** यह है कि—उद्देश्य प्रतिनिर्देशभाव में दो बार प्रयोग करना आवश्यक है अन्यथा यहीं पर यदि "रक्त" आदि शब्द कर दिया जाये तो दूसरे पद से प्रतिपादन किया जाता हुआ वही अर्थ "**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके**" इस न्याय से शब्द के भी विशेषण होने के कारण शाब्दबोध में प्रतीति के कारण ऐक्य के समान प्रतीत होता हुआ अभेद की प्रतीति को तिरोहित कर दे । किन्तु उसी शब्द से पुनः कथन करने पर अनुवादत्वेन शीघ्र ही प्रयोजन की जिज्ञासा से उदय और अस्त में एकरूपता का ज्ञान व्यञ्जना से झटिति हो जाता है, अन्यथा विलम्ब से होवे । अतः उद्देश्य प्रतिनिर्देशभाव के अन्दर **कथितपदत्व नामक दोष** की अवतारणा न होने से जिसप्रकार यहाँ प्रक्रान्त ही ताम्र पद का प्रयोग होता है उसीप्रकार उदाहृत स्थल में भी "**प्रत्यवोचत**" ऐसा एक प्रकार से ही प्रक्रान्त दो शब्दों का प्रयोग ठीक है ।

अवतरणिका—प्रतिपादक रूप सर्वनाम का "**भग्नप्रक्रमत्व**" दिखाते हैं—

अर्थ—(२१) अथवा—**यथा**—**ते इति**—[**प्रसङ्ग**—कुमारसम्भव काव्य के षष्ठ सर्ग में यह पद्य है ।] वे (मरीची आदि सप्तर्षि मुनि) हिमालय से ("हम अब जाते हैं" ऐसी) अनुज्ञा लेकर और महादेव जी से पुनः मिलकर तथा शिवजी से सिद्ध अर्थ को (पार्वती के विवाह रूप प्रयोजन को) कहकर उनसे (महादेव जी से) आज्ञा लेकर आकाश को चले गये । (यहाँ पर सर्वनाम "इदम्" शब्द की **भग्नप्रक्रमता** दिखाते हैं ।)

अत्र 'अस्मै' इतीदमा प्रकान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन ।
यथा वा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम् ।'

अत्र 'मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्' इति युक्तः पाठः ।

अर्थ – **अत्रेति**—यहाँ "**अस्मै**" इसके अन्दर "इदम्" शब्द से प्रारम्भ किये हुये का उसी ("इदम्" शब्द) से ही अथवा उसके ("इदम्" शब्द के) समानार्थक "एतत् और अदस्" शब्द से परामर्श करना ठीक था, "तत्" शब्द से **तद्विसृष्टाः**) नहीं ।

टिप्पणी—**प्रश्न**—"**उदन्वच्छिन्ना भूः**" यहाँ पर पर्यायवाची शब्द के प्रयोग से जिसप्रकार **प्रक्रमभङ्ग** दोष है, उसीप्रकार "इदम्" शब्द के समानार्थक "एतत् और अदस्" शब्दों से परामर्श भी पर्यायवाची दूसरे शब्दों के प्रयोग से **भग्नप्रक्रमता** दोष हो जावेगा ? अतः उस उदाहरण का ही औचित्य ठीक मान लेना चाहिये ? **उत्तर**—ठीक है, इसीलिये तो ग्रन्थकार ने "इदम्" और "अदस्" शब्दों के परामर्श के पक्ष में "वा" शब्द से अनास्था सूचित की है । इसीलिये यहाँ पर कौन सा पाठ ठीक है, ऐसी आकांक्षा होने पर **काव्यप्रकाशकार** कहता है कि "**अनेन विसृष्टाः**" ऐसा कहना चाहिये । इसकी व्याख्या करते हुये **प्रदीपकार** का कथन है कि यहाँ "**अस्मै**" में "इदम्" से प्रारम्भ करके '**तद्विसृष्टाः**" यहाँ पर भी **अनेन विसृष्टाः**" यही कहना चाहिये क्योंकि 'तत्" और "इदम्" के अर्थ का अभेद नहीं है क्योंकि "इदम्" से प्रस्तुत प्रत्यक्ष का परामर्श होता है। इसीलिये कहते हैं कि – "**तदिमोः सर्वनामत्वाविशेषेऽपि पूर्वानुभूतपुरोवर्ति विषयत्वान्नैकरूपतेति**" । अतः अर्थभेद के कारण '**किं हिमालयेन आहोस्वित् शूलिना विसृष्टाः**" इसका निर्णय न होने से प्रतीति का स्थगन होता है । अतः "**भग्नप्रक्रमत्व दोष**" है ।

अर्थ—(अन्य उदाहरण) अथवा—**यथा**—**उदन्वदिति**—पृथिवी समुद्र से व्याप्त है और वह समुद्र सौ योजन तक है। [यहाँ "उदन्वत्" इससे प्रारम्भ करके पुनः पर्यायवाची शब्द "अपां पतिः" इसका प्रयोग करने से "**भग्नप्रक्रमता दोष**" है। **अत्रेति**—यहाँ "पृथिवी समुद्र से घिरी हुई है, और वह समुद्र सौ योजन है" यह पाठ ठीक है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "अपां पतिः" इससे प्रारम्भ करके "अपां पतिः" इसीसे परामर्श करने के कारण "**भग्नप्रक्रमता दोष**" नहीं है । और नहीं **कथितपदत्व** दोष है क्योंकि उद्देश्य-प्रतिनिर्देश भाव है ।

(२) पूरा पद्य इस प्रकार है—

उदन्वच्छिन्ना भूः स च पतिरपां योजनशतम्
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं गणयति ।
इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलिताः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयम सीमा विजयते ॥

एवम्—

'यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥'

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम् ।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये पर्यायविषयः, चतुर्थे प्रत्यय विषयः । एवमन्यत्रापि ।

अवतरणिका प्रत्यय का प्रत्ययभेद से "**भग्नप्रक्रमता**" का उदाहरण देते हैं:—

अर्थ—इसीप्रकार (प्रत्ययभेद से **भग्नप्रक्रमता** का उदाहरण) **यशोऽधिगन्तुमिति**—[**प्रसङ्ग किरातार्जुनीय** के तृतीय सर्ग में अर्जुन के प्रति द्रौपदी की यह उक्ति है ।] कीर्ति को प्राप्त करने के लिये, अथवा सुख प्राप्ति की इच्छा से, अथवा मनुष्यों में गणना का अतिक्रमण करके स्थित रहने के लिये अर्थात् मनुष्यों में दुर्लभ उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिये निरुद्वेग चित्तवालों की, (अथ च) उसके अनुकूल प्रयत्न करने वालों की सिद्धि अत्यन्त उत्कण्ठित (कामिनी के समान) गोद में (समीप) प्राप्त होती है । [यहाँ पर "**यशोऽधिगन्तुम्**" में "तुमुन्" प्रत्यय से प्रारम्भ करके "**सुखलिप्सया**" इसमें "सन्" प्रत्यय का ग्रहण करने से प्रत्यय भेद हो गया, अतः **भग्नप्रक्रमता दोष** है । अर्थात् "तुमुन्" प्रत्यय से क्रिया की प्रधानता से प्राप्ति होती है और फल की प्रतीति होती है किन्तु "सन्" प्रत्यय से ऐसा नहीं होता है, अतः एकरूपता रूप प्रतीति के तिरोहित होने से दोष है ।] **अत्रेति**—यहाँ ("**सुखलिप्सया**" के स्थान पर "**सुखमीहितुम्**" सुख प्राप्त करने के लिये—यह ठीक है । [इसप्रकार के पाठ हो जाने पर एक प्रकार के "**तुमुन्**" प्रत्यय से क्रिया की प्रधानता से प्रतीति होने के कारण "**भग्नप्रक्रमता**" दोष नहीं है ।] (अभी तक दिये गये उदाहरणों की विशेषता बतलाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (इन उदाहरणों मे) पहले दो (अर्थात् "**एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः**" और "**ते हिमालयमामन्त्र्य**" इन दो उदाहरणों में प्रकृति विषयक क्रम भिन्न हुआ है, तीसरे (अर्थात् '**उदन्वच्छिन्ना भूः**, इत्यादि) में पर्यायविषयक (**समान प्रवृत्तिनिमित्तकत्वे सति भिन्नानुपूर्वीकत्वम् पर्यायत्वम्**" यह पर्याय का लक्षण है।), (और) चतुर्थ (**अर्थात् यशोऽधिगन्तुम्**) में प्रत्यय विषयक (क्रम भिन्न हुआ) है । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र भी अर्थात् कारक और उपसर्गादिकों में भी समझना चाहिये ।

टिप्पणी (१) यह नित्य दोष है । इसीप्रकार लिङ्गादिकों में समझना चाहिये ।

(२) **भग्नप्रक्रमता की व्युत्पत्ति**—भग्नो—विच्छिन्नः प्रक्रमः-प्रस्तावः (उपक्रमः) यत्र वाक्ये तस्य भावः सा तथोक्ता । अतः—"**येन रूपेणोपक्रमस्तेनैवोपसंहारः**" इस नियम का भंग ही **भग्नप्रक्रमता** है । इसी दोष को "**प्रक्रमभङ्ग**" भी कहते हैं । प्रस्ताव—अर्थात् उपक्रम दो प्रकार का होता है—(१) शब्द से (२) अर्थ से । इनमें से पहला—"**एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः**" इत्यादि में और दूसरा "**अकलिततपः**" इत्यादि में समझना चाहिये ।

प्रसिद्धित्यागो यथा—

'घोरो वारिमुचां रवः।'

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम्। यदाहुः—

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु तु कूजितप्रभृति।
स्तनितमणितादिसुरते मेघादिषु गर्जितप्रमुखम्॥' इत्यादि।

अस्थानस्थपदता यथा—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम्।
अयत्नबालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः॥'

अर्थ—(१९) **प्रसिद्धित्याग** (का उदाहरण) **यथा—घोर इति**—बादलों का भयंकर शब्द। (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—मेघों के (शब्द के विषय में) गर्जित (शब्द) ही प्रसिद्ध है। [रव नहीं क्योंकि रव शब्द मण्डूकों का होता है, अतः प्रसिद्धित्याग नामक दोष है।] जैसा कहते हैं—**मञ्जीरादिष्विति**—नूपुरादिकों (के सम्बन्ध में) यहाँ "आदि" पद से रसना, घण्टा और भ्रमरादिकों का ग्रहण होता है) रणितादि [शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। यहाँ "प्रायः" पद "प्रभृति" अर्थ का द्योतक है, अतः क्वणित, शिञ्जित और गुञ्जितादिकों का ग्रहण होता है] और पक्षियों (के शब्द के विषय) में कूजित इत्यादि (प्रसिद्ध हैं। "च" से मण्डूकादिकों का ग्रहण होता है। "प्रभृति" पद से रवादिकों का ग्रहण होता है। सम्भोग के (शब्द के विषय) में स्तनित और मणितादि (प्रसिद्ध हैं। "आदि" शब्द से मणितादिकों का ग्रहण होता है।) मेघादिकों (के शब्द के विषय) में गर्जित इत्यादि (प्रसिद्ध) है। [यहाँ "आदि" पद से सिंह हस्ती आदिकों का ग्रहण होता है। "प्रमुख" पद से ध्वनि आदि का ग्रहण होता है। इसीप्रकार अश्वों के शब्द के विषय में ह्रेषितादि का प्रयोग करना चाहिये।]

टिप्पणी—(१) **प्रसिद्धित्याग** पद की व्याख्या—किसी सम्बन्ध विशेष में प्रसिद्ध अर्थ वाले शब्द का उस सम्बन्धित अर्थ में जब प्रयोग नहीं होता है। तब "**प्रसिद्धित्याग दोष**" होता है। अतः अप्रसिद्ध शब्द के प्रयोग से अर्थ की विलम्ब से प्रतीति होने के कारण रस की प्रतीति भी विलम्ब से होती है, अतः यह दोष है।

(२) सर्वदैव हेय होने के कारण यह नित्यदोष है।

अर्थ—(२०) **अस्थानस्थपदता** (**अस्थाने—अनुपयुक्तस्थाने याद्दशस्थानस्थस्य एव यत् पदस्य वाचकता तद्भिन्नस्थाने इति यावत्, पदं यत्र वाक्ये तस्य भावः सा** अर्थात् अनुपयुक्त स्थल पर वाचक पद का प्रयोग "अस्थानस्थपदता" दोष कहलाता है। उसका उदाहरण) **यथा—तीर्थे इति— प्रसङ्ग**—रघुवंशमहाकाव्य के १६ वें सर्ग में राजा कुश का यह वर्णन है।] उस (गंगा सम्बन्धिनी) जलावतरण में हाथियों के द्वारा पुल का निर्माण करके प्रतिकूलगामिनी गंगा को पार करते हुये इस (राजा कुश) के (सम्बन्ध में) आकाश को पार करने के लिये चंचल पंख वाले हंस अनायास ही चामर हो गये। [**अर्थात्** हाथियों के द्वारा गंगा को पार करने की इच्छा वाले कुश के सिर के ऊपर उड़ते हुये हंस की पंक्तियों ने चामर से व्यजन डुलाने का कार्य किया।]

टिप्पणी—(१) यहाँ "**तदीये**" इस 'तत्' शब्द के पहले परामर्श करने से परवर्ती गंगा के साथ परामर्श न हो सकने के कारण **अस्थानस्थपदता** दोष है।

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गंगामित्यस्य पाठो युक्तः। एवम्—

'हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः।'

अत्र संश्रृणुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थं प्रत्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता। एवमन्यत्रापि। इह केऽप्याहुः—'पदशब्देन वाचकमेव प्रायशो निगद्यते, न च नञो वाचकता निर्विवादात्स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहात्' इति। यथा—'द्वयं गतम्–' इत्यादौ त्वमित्यनन्तर चकारानुपादानादक्रमता तथात्रापीति।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण मे) "**तदीय**" पद से पूर्व "**गंगाम्**" इसका पाठ होना ठीक है। [ऐसा पाठ हो जाने पर पूर्ववर्ती गगा का "तदीय" शब्द के साथ परामर्श हो जाता है, अतः पुनः उक्त दोष नहीं रहता है।] **एवमिति**—इसीप्रकार—**हितान्न य इति**—[**प्रसङ्ग**—**किरातार्जुनीय** के तृतीय सर्ग में युधिष्ठिर के प्रति वनेचर की यह उक्ति है।] जो (प्रभु) हितेच्छु (व्यक्ति) से हितकारी (वचन) नही सुनता है, वह कुत्सित स्वामी (होता) है। [यहाँ क्रिया के अन्वयी नञ् का क्रिया के समीप ही पाठ होना चाहिये, वैसा न होने से "अस्थानस्थपदता" दोष है।] **अत्रेति**—यहाँ "**संशृणुते**" इससे पूर्व नञ् की स्थिति ठीक है। (अन्यथा "**हितान्न**" यह पद "अहितात्" इसप्रकार की भ्रान्त उत्पन्न करता है,) [**प्रश्न**—उक्त उदाहरण म केवल पद को ही अस्थान में स्थिति है, अतः पददोष ही होना चाहिये, वाक्यदोष किसप्रकार हो गया? इसका **उत्तर** देते है—] **अत्र चेति**—यहाँ केवल पद के अस्थान में प्रयुक्त होने पर भी सम्पूर्ण ही वाक्य विवक्षित अर्थ की प्रतीति कराने में शिथिल है, अतः वाक्यदोषता है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र भी (वाक्य में व्यापक होने से वाक्यदोषता समझ लेनी चाहिये)।

टिप्पणी—**हितान्न य इति**—यह पूरा पद्य इसप्रकार है:—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिप हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः॥ इति॥

अवतरणिका—कुछ विद्वानों का मत है कि '**हितान्न यः संशृणते स किंप्रभुः**" यह **अक्रमदोष** का उदाहरण होना चाहिये, **अस्थानस्थपदता** का नहीं। इसको दिखाते हैं:—

अर्थ—यहाँ ("**हितान्न यः संशृणुते**" इस उदाहरण के विषय में) कुछ (विद्वान्) कहते हैं कि—'पद" शब्द से ('अपदस्थपद" इसमें दूसरे पद शब्द से) वाचक (पदों का) ही प्रयोग सूचित होता है (घटपद-पटपद—इसप्रकार के प्रयोगों की तरह नञ् पद या च पद या वा पद का प्रयोग नहीं होता है), और नञ् की वाचकता निर्विवाद रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक (दूसरे पद के प्रयोग के बिना) अर्थ का ज्ञान न करा सकने के कारण नहीं है (क्योंकि प्रतियोगी पद के बिना नञ् का प्रयोग होता नहीं है, अतः नञ् के अन्दर वाचकता नहीं है।) अतः जिसप्रकार "**द्वय गतम**" इत्यादि में "**त्वम्**" के अनन्तर चकार का ग्रहण न करने से "अक्रमता" है, उसीप्रकार यहाँ पर भी (**हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः** इसमें भी "**यः**" पद के अनन्तर नञ् का प्रयोग न करने से "अक्रमत्वदोष ही है।)

अस्थानस्थसमासता यथा—

'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
त्फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी॥'

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः। कवेरुक्तौ कृतः।

टिप्पणी (१) **अत्र केचित्**—"**अक्रमता**" दोष के अन्दर किसी प्रयोग का नियम नहीं है, केवल रचना विशेष से ही उसकी दोषता है। "**अस्थानस्थपद**" के अन्दर तो प्रयोग का नियम है—यही इन दोनों में भेद है। अव्यवधान से ही जहाँ अभिमत प्रतीति की सामर्थ्य है, वही इसका (अस्थानस्थपदता) विषय है, इससे भिन्न दूसरे का (अक्रमता) विषय है।

(२) **अक्रमता और अस्थानस्थपदता में भेद**—

अक्रमतादोष में द्योतक पद का प्रयोग होता है, और **अस्थानस्थपदता दोष** में वाचक पद का प्रयोग होता है, यही इन दोनों में भेद है।

(३) अन्वय के उपयोगी स्थान के अनुसन्धान में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में भी विलम्ब होता है, अतः इसकी दोषता है।

(४) यह नित्य दोष है।

अर्थ—(२१) **अस्थानस्थसमासता** (का उदाहरण) **यथा**—**अद्यापीति**—[**प्रसंग**—सायंकाल बन्द कुमुदों की कलियों से पंक्तिबद्ध होकर निकलते हुये भ्रमरों की पंक्ति का वर्णन है।] यह (प्रणय की ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाला) मान इस समय भी (मेरे उदय काल में भी) नारियों के स्तन रूपी पर्वतों के दुर्ग से विषम हृदय में रहना चाहता है (अत एव मुझको) धिक्कार है (अर्थात् और समय इनके मध्य में रहे—उस विषय में मुझे किसीप्रकार का आक्रोश नहीं है, किन्तु मेरे उदय होने पर भी जो यहाँ रहना चाहता है, अतः मुझको धिक्कार है।) अतः मानों क्रोध से रक्तवर्ण वाला वह (दिखाई देने वाला) चन्द्रमा उदय होते हुये दूर तक फैलाये हैं किरणरूपी हाथ जिसने ऐसा उस समय विकसित कुमुदों के कोष से निकलती हुई भ्रमरों की पंक्ति रूपी कृपाण को निकाल रहा है। [यहाँ चन्द्रमा की नायकता और मान की प्रतिनायकता विवक्षित है। अतः जिसप्रकार पति जार को मारने के लिये तलवार को खींचता है, उसीप्रकार चन्द्रमा मान को मारने के लिये तलवार को खींच रहा है] दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (पूर्वार्ध में मान के प्रति) क्रोधी (चन्द्रमा) की उक्ति (में "**अद्यापि**" से लेकर "**धिक्**" पर्यन्त तो) समास नहीं किया, (किन्तु उत्तरार्ध में) कवि की उक्ति में ("**इति**" से लेकर "**शशी**" पर्यन्त समास) कर दिया।

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि दीर्घ समास ओज गुण का व्यञ्जक होता है, तथा कवि को रौद्र रसादि में ही ओजगुण का वर्णन करना चाहिये। यहाँ पूर्वार्ध **में रौद्र रस है** अत एव क्रुद्ध चन्द्रमा की उक्ति के अन्दर दीर्घ समास को करना चाहिये था, परन्तु नहीं किया। इसके विपरीत उत्तरार्ध में दीर्घ समास कर दिया जो कि निष्प्रयोजन है क्योंकि कवि की उक्ति में ओजगुण व्यञ्जक दीर्घ समास का कोई प्रयोजन नहीं है अतः **अस्थानस्थसमासतादोष** है। इसीप्रकार माधुर्य के समान शृंगारादि रस प्रधान पद्य के अन्दर दीर्घ समास होने पर यही दोष समझना चाहिये।

(२) **अस्थानस्थसमासता की व्याख्या**—जिस रस का व्यंजक जो समास होता है उस रस के व्यंजक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर उस समास को कर देने से "अस्थानस्थसमासता दोष" होता है। यह नित्य दोष है।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम् । यथा—

'चन्द्र मुञ्च कुरङ्गाक्षि पश्य मानं नभोऽङ्गने ।'

अत्र नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम् ।

'क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्' इत्यस्माद्भिन्नम् ।

वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता । यथा—

'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ।
वदामि सखि ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥'

अर्थ (२) (**सङ्कीर्णत्व दोष** का लक्षण) **वाक्यान्तरेति**—दूसरे वाक्यों के पदों का दूसरे वाक्य में अनुप्रवेश **संकीर्णत्व दोष** (कहलाता) है, [अर्थात् भिन्न-भिन्न वाक्यों के अर्थ के अन्वित पदों का उस उस अर्थ में आकांक्षा शून्य वाक्य में मिल जाना **सकीर्णत्व** कहलाता है] [**संकीर्णत्व दोष** का उदाहरण] **यथा—चन्द्रमिति**—(हे) मृगनयनी ! आकाश रूपी आंगन में चन्द्रमा को देख (और) मान को छोड़ दे । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (दोनों वाक्यों के पद परस्पर संकीर्ण हैं अत) **"नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्च"** यह (पाठ) ठीक है । (ऐसा हो जाने पर उक्त दोष नहीं रहता है) । **प्रश्न**—यहाँ पर भी अन्वय के दूरस्थ होने से क्लिष्टत्व दोष ही मान लिया जाये ? इसका **उत्तर** देते हैं—**क्लिष्टत्वमिति—क्लिष्टत्वदोष** एक वाक्य विषयक (होता) है, (और **संकीर्णत्वदोष** अनेक वाक्य विषयक होता है) अतः (**क्लिष्टत्व**) इससे (**संकीर्णत्व दोष** से) भिन्न है । [**अतः** यहाँ पर अनेक वाक्य विषयक होने से **संकीर्णत्व दोष** है । **'बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्"** इत्यादि में **बाले ! शृणु नाथ ? वद**—इसप्रकार उनके अध्याहृत क्रियापद से एक वाक्य की प्रतीति होने से 'संकीर्णत्व दोष" की शंका नहीं करनी चाहिये ।]

टिप्पणी (१) भिन्न-भिन्न वाक्य के अन्वयी पद के अनुसन्धान में विलम्ब होने से रस प्रतीति विलम्ब से ही होती है—यही दोष का कारण है । यह नित्य दोष है ।

अर्थ (२३)—(**गर्भितता दोष** का लक्षण) **वाक्यान्तर इति**—दूसरे वाक्य में भिन्न वाक्य का अनुप्रवेश **गर्भितता** (कहलाता) है । (गर्भितता दोष का उदाहरण) **रमण इति**—(हे) सखि ! पति के चरणों में प्रणाम करने में तत्पर होने पर इस समय कभी भी क्रोध करना उचित नहीं है. यह तुझे यथार्थ बात कहती हूँ ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में '**वदामि सखि ते तत्त्वम्**' यह भिन्न वाक्य '**रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना कदाचित् क्रुधो नोचिताः**" इस वाक्य के मध्य में आ गया है अतः **गर्भिततादोष** है । इसके दोनों चरणों को बदल देने से दोष नहीं रहता है । यथा—**वदामि सखि ते तत्त्वं नो विधेया कदाचन ।**
रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ॥इति॥

(२) **गर्भितता** की व्युत्पत्ति—**गर्भ—अभ्यन्तरगतं वाक्यमस्य सञ्जात इति गर्भितवाक्यम् तस्य भावो गर्भितता** । और यहाँ वाक्य कहीं स्वभाव से ही एक हो जाता है और कहीं हेतुहेतुमद्भाव से वाक्य के अन्दर ही एक वाक्य होने से एक हो जाता है । इसप्रकार गर्भितता दो प्रकार की होती है । इनमें से पहली गर्भितता का उदाहरण **रमणे चरणप्रान्ते** ··· **इत्यादि** में दिया जा चुका है दूसरी गर्भितता का उदाहरण— **"लग्नं रागावृताङ्ग्या"—इत्यादि** ।

यहाँ **तत्मत्तोऽयं न किंचिद्गणयति तेन भृत्येभ्यो दत्तास्मि"** इस वाक्य के एक वाक्य के बीच में '**विदितं तेऽस्तु**" यह भिन्न वाक्य आ गया है, अतः '**गर्भितता**" दोष है ।

(२) यहाँ पर भी भिन्न वाक्य के अन्दर भिन्न वाक्य के आ जाने से अन्वयिपदों के अनुसन्धान में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में भी विलम्ब हो जाता है, **अतः** इस दोष की दुष्टता है ।

(३) **गर्भितत्वं गुणः क्वापि"** इस कथन के अनुसार यह अनित्य दोष है ।

अर्थदोषानाह—

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥
सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते ।
साकाङ्क्षता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।
तयोर्विपर्ययौ विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

अथ **अर्थदोषनिरूपणम्**—

अवतरणिका—"**वाक्यदोषों**" के निरूपण के अनन्तर अब उद्देश्य क्रम से प्राप्त २३ (तेइस) "**अर्थदोषों**" का निरूपण करते है—

अर्थ—अर्थ के दोषों को बताते हैं—

टिप्पणी—(१) "**अर्थदोष**" का सामान्य लक्षण—

"**अन्वयव्यतिरेकप्रतिपादकतया अर्थप्रयोज्यदोषत्वमर्थदोषत्वम् ।**"

(२) यहाँ पर वाच्य-लक्ष्य और व्यंग्य तीनों अर्थों को समझना चाहिये ।

अर्थ—(१) **अपुष्टता** (२) **दुष्क्रमता** (३) **ग्राम्यता** (४) **व्याहतता** (५) **अश्लीलता** (६) **कष्टता** (७) **अनवीकृतता** (८) **निर्हेतुता** (९) **प्रकाशितविरुद्धता** (**प्रकाशितः**—द्योतितो विरुद्ध प्रतिकूलोऽअर्थो यत्र तस्य भावः सा तादृशी (१०) **संदिग्धता** (११) **पुनरुक्तता** (१२) **ख्यातविरुद्धता** (१३) **विद्याविरुद्धता** (१४) **साकांक्षता** (१५) **सहचरभिन्नता** (१६) **अस्थानयुक्तता** (१७) **अविशेष में विशेष** (१८) **अनियम में नियम** (१९) उन दोनों का (अर्थात् अविशेष में विशेष और अनियम में नियम का) विपर्यय अर्थात् **विशेष में अविशेष** (२०) **नियम में अनियम** (२१) **विध्ययुक्तता** (२२) **अनुव्यवायुक्तता** तथा (२३) **निर्मुक्तपुनरुक्तत्व**—ये (तेईस प्रकार के) "**अर्थदोष**" कहलाते हैं ।

टिप्पणी—(१) इन दोषों में से (१) **सन्दिग्धार्थत्व** (२) **कष्टार्थत्व** (३) **अश्लीलार्थत्व** (४) **ग्राम्यार्थत्व** (५) **निर्हेत्वर्थत्व** (६) **ख्यातिरुद्धार्थत्व** (७) **पुनरुक्तार्थत्व**—ये सात अर्थदोष अनित्य होते हैं तथा १६ (सोलह) दोष नित्य होते हैं ।

(२) इन दोषों की अर्थनिष्ठता इसीलिये है कि शब्द को बदल देने पर भी अर्थ के अन्दर दोष रहता है ।

अवतरणिका—उक्त कारिका के अन्दर "**तद्विपर्ययः**" पद अत्यन्त ही अस्फुट है अतः उसी की व्याख्या करते हैं ।

अर्थ—**तद्विपर्ययः**—उनका उल्टा अर्थात् विशेष में अविशेष और में नयिम अनियम ।

अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये ।'

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।

अधिकपदत्वेऽपदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः ।

अवतरणिका—उद्देश्य क्रम से प्राप्त इन अर्थदोषों की क्रम से उदाहरण सहित व्याख्या करते हैं—

अर्थ—(१) इनमें (२३ दोषों में से) मुख्य (प्रतिपाद्य अर्थ) का उपकारी न होना "**अपुष्टार्थत्वदोष**" (होता) है। ("**अपुष्टत्वदोष**" का उदाहरण) **यथा**—**विलोक्येति**—(हे) प्रिये ! विस्तृत आकाश में चन्द्रमा को देखकर मान को छोड़ दो। (लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**–यहाँ "**वितत**" शब्द (अपने अर्थज्ञान के द्वारा) मानत्याग के प्रति कुछ भी उपकार नहीं करता है। [अतएव "**अपुष्टतादोष**" है। यह तो केवल उपलक्षण है, तथा च कामोद्दीपक होने के कारण प्रसिद्ध चन्द्रमा का दर्शन ही मुख्य अर्थ मान को त्यागने के प्रति उपयोगी है, उसका आकाश में होना या आकाश का विस्तार मान त्याग में उपयोगी नहीं है, अतः "व्योम्नि" यह पद भी "अपुष्ट" है। इस प्रकार **प्रश्न**—दो पद यहाँ पर अधिक हैं (१) वितते और (२) व्योम्नि) अतः यहाँ **अधिकपदत्व** ही दोष है, **अपुष्टत्व** की दोषता को मानने की आवश्यकता नहीं है, अतः **अधिकपदत्वदोष** से इसका भेद दिखाते हैं।] **अधिकपदत्वे इति**—**अधिकपदत्वदोष** में ("**पल्लवाकृति समोष्ठो** यहाँ "आकृति" शब्द का निष्प्रयोजन रूप बाध) पदार्थ के अन्वय की प्रतीति के साथ ही बाध का ज्ञान हो जाता है, यहाँ (**अपुष्टत्व दोष** में पदार्थ के अन्वय की प्रतीति के) पश्चात् (बाध का ज्ञान होता है) यही भेद है। (इसी प्रकार "पुनरुक्ति" भी नहीं समझनी चाहिये)।

टिप्पणी—(१) इस 'अपुष्टत्व" दोष के अन्दर मुख्य के अनुपयोगी अर्थ के रहने के कारण अनुसन्धान में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में भी विलम्ब होता है—अतः यह विलम्ब ही दोष होने में कारण है। अथवा अशक्ति के कारण श्रोता की विमुखता होती है। अतएव

सकलां स कलां लक्ष्मीं बिभ्रद्बिभ्रद्विभा विभाः ।
रुचिरोरुचिरोचिष्णू राजन् राजन् महामहान् ॥

इत्यादि यमकादि में अदोषता है क्योंकि वहाँ अलंकार के अन्दर प्रारम्भ से ही अशक्ति का उन्नयन नहीं होता है। अतएव विशेषण देने के लिये विशेष्य के प्रयोग में भी दोष का अभाव होता है। इस प्रकार इस दोष की अनित्यता है।

(२) **अपुष्ट** अर्थ दो प्रकार का होता है—(१) अन्य लभ्य और (२) अनुपभोग के कारण।

इन दो प्रकार के अपुष्ट अर्थों में से दूसरे प्रकार का अर्थात् निष्प्रयोजन का उदाहरण '**विलोक्य इत्यादि**" है।

दुष्क्रमता यथा—

'देहि मे वाजिनं राजन् गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ।'

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

अर्थ—(२) **दुष्क्रमता** (**दुष्टः अनुचितः क्रमोयत्र स दुष्क्रमः**) दोष का उदाहरण) **यथा-देहीति**—(**लोकविरुद्ध क्रम का उदाहरण**) (हे) राजन् ! मुझे घोड़ा दे दीजिये अथवा मदोन्मत्त हाथी (दे दीजियेगा)। (लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ हाथी को पहले मांगना उचित है ।

टिप्पणी—(१) संसार का यह नियम है कि बहुमूल्य वस्तु पहले माँगी जाती है उसके प्राप्त न होने पर पुनः अल्पमूल्य की वस्तु की याचना की जाती है । यहाँ प्रकृत उदाहरण में बहुमूल्य की वस्तु को दान करने में समर्थ राजा से न्यून मूल्य वाले घोड़े को पहले माँगने मे नियम का उल्लंघन हो गया अतः क्रम के दूषित हो जाने से **दुष्क्रमत्व दोष** है ।

(२) लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध इस प्रकार क्रम की दुष्टता दो प्रकार की होती है । इनमें से उपर्युक्त उदाहरण लोकविरुद्ध दुष्क्रमत्व का है ।

(३) कुछ विद्वान् **दुष्क्रमत्व** का यह लक्षण करते हैं—

प्राग्वाच्य उच्यते पश्चात् पश्चाद्वाच्योऽथवाऽग्रतः ।

कविना शक्तिवैकल्याद्योऽर्थस्तं दुष्क्रम विदुः ॥ इति ॥

(१) इस दोष के अन्दर दुष्टता का कारण क्रमानुसार अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होने से रसोत्पत्ति में भी विलम्ब हो जाना है । यह भी नित्यदोष है ।

(२) जहाँ हाथियों की सुलभता होगी वहाँ उक्त उदाहरण नहीं होगा ।

अर्थ—(३) (**ग्राम्यतादोष** का उदाहरण) **स्वपिहीति**—'**प्रसङ्ग**—रमण की कामना करती हुई नायिका की नायक के प्रति उक्ति है ।] (हे) प्रिय ! तुम मेरे पास सोओ, (मैं) अभी सोता हूं । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ अर्थग्राम्य है ।

टिप्पणी—(१) **ग्राम्यत्व** का लक्षण—

स ग्राम्योऽर्थो हि रिरंसादिः पामरैर्यत्रकथ्यते ।

वैदग्ध्यवक्रिमलयं हि त्वंव वनितादिषु ॥इति॥

अर्थात् कामिनी आदिकों के विषय में विदग्ध चेष्टाओं के द्वारा अपनी इच्छा का प्रकट करना सभ्यों का प्रसिद्ध है, इससे विपरीत इच्छा का प्रकट करना ग्राम्यत्व कहलाता है ।

( ) ग्राम्यत्व से निकृष्ट अर्थ के ज्ञानमात्र से ही सहृदयों के हृदय के अन्दर विमुखता का उत्पन्न करने से अश्लील की तरह रस की प्रतीति की प्रतिबन्धकता दोष का कारण है । '**ग्राम्यत्वमधर्मोक्तिषु**'' इसके अनुसार विदूषकादिकों की उक्ति में उसके औचित्य के कारण यह अनित्य दोष है ।

(३) उक्त उदाहरण के अन्दर ''**स्वपिहि स्वपिमि**'' इन दो पदों का प्रयोग विदग्धता से रहित होने के कारण '**ग्राम्यत्व**'' है ।

(४) यहाँ अर्थ का ही दोष है शब्द का नहीं क्योंकि यह परिवृत्तिसह है ।

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम् । यथा—

'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥'

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः ।

अर्थ—(४) किसी (वस्तु) का पहले उत्कर्ष या अपकर्ष का कथन करके बाद में उसके विपरीत (अर्थात् उत्कर्ष का प्रतिपादन करके अपकर्ष का प्रतिपादन करना और अपकर्ष का प्रतिपादन करके उत्कर्ष का) प्रतिपादन करना **व्याहतत्व** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—प्रदीपकार ने "व्याहतत्व" का लक्षण इस प्रकार किया है—

उत्कर्षो वापकर्षो वा प्राग्यस्यैव निगद्यते ।
तस्यैवाथ तदन्यश्चेद् व्याहतोऽर्थस्तदा भवेत् ॥"

पूर्वापर सम्बन्ध का परस्पर विरोध होने से आपस में ही व्याघात होने के कारण इसका नाम **व्याहतत्व** है । इसीलिए श्रोता का किसी भी विषय में विश्वास न होने से वाक्य की अर्थ की प्रतीति में विमुखता उत्पन्न करने से रसोत्पत्ति की प्रतिबन्धकता ही इसमें दूषकता का कारण है । और कोई समाधान न होने से यह नित्य दोष है ।

अर्थ—[**व्याहतत्व** का (अर्थात् पहले अपकर्ष का कथन करके पश्चात् उत्कर्ष का कथन करने का) उदाहरण] **यथा-हरन्तीति**—नवीन (उदित हुई) चन्द्रमा की कला आदि ('आदि" पद से चन्द्रिका और पद्मादि का ग्रहण होता है) युवकों के हृदय को आकर्षित नहीं करती है (क्योंकि) जिन (युवकों) से संसार के नेत्रों की चन्द्रिका (अर्थात् आनन्द देने वाली) यह कृशाङ्गी देखी जाती है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ जिनके लिये चन्द्रमा की कला आनन्द का कारण नहीं है, उन्हीं के आनन्द के लिये कृशाङ्गी के अन्दर चन्द्रिकात्व का आरोप है । [अर्थात् "नवीन उदित हुए चन्द्रमा की कलायें युवकों के हृदय को आकर्षित नहीं करती हैं" इससे चन्द्रकला के अपकर्ष का कथन करके पुनः नायिका के उत्कर्ष को बताने के लिये चन्द्रकला की किरणरूप चन्द्रिका का आरोप किया गया है, अतः **व्याघात** है ।]

टिप्पणी—(१) उत्कर्ष का कथन करके पुनः अपकर्ष का कथन करना—**यथा**—

कान्ते ! तवमुखाम्भोजं सुतरां हृदयंगमम् ।
जितानि येन पद्मानि वसन्ति सलिले सदा ॥

यहाँ मुख में कमल का आरोप करके उत्कर्ष का कथन किया गया है, पश्चात् मुख से तिरस्कृत होने से अपकर्ष का कथन है ।

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यथा प्लावितः ।

अर्थ — (५) (व्रीडाव्यञ्जक अश्लीलत्व का उदाहरण) **हन्तुमेवेति** – [**प्रसङ्ग** — विवेचना से रहित युद्ध करने वाले का यह वर्णन है] (शत्रुओं को) मारने में ही उद्यत, निश्चल अथवा विवेक रहित, पर छिद्रान्वेषी (दुष्ट मनुष्य) का जितना शीघ्र पतन (शत्रु के आक्रमण से अभिभव) होता है, उतनी (शीघ्र) पुनः उन्नति (विजय) नहीं (होती) है । **प्रतीयमानार्थ** – (सुरत क्रिया रूप योनि को) ताडन करने में ही उद्यत, हठरूप से स्थित, स्त्री के योनिच्छिद्र का अन्वेषण करने वाले (दुष्ट लिङ्ग) का जितनी शीघ्र (वीर्य पतन से) नम्रता होती है, उतनी (शीघ्र) पुनः उन्नति (उद्गम) नहीं (होती) है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति** — यहाँ (इस प्रकरण में योद्धरूप अर्थ की प्रतीति के साथ ही स्तब्ध लिङ्ग रूप द्वितीय) अर्थ **अश्लील** है ।

टिप्पणी:—(१) यहाँ प्रकरणवशात् विशेष ज्ञान की प्रतीति होती है तथा द्वितीय अर्थ तो अर्थ के कारण ही है, अतः **अर्थदोष** है ।

(२) **अश्लीलत्व का लक्षण—अर्थस्य व्रीडाजुगुप्सा मंगलान्यतमप्रत्यायकत्वमश्लीलत्वम्** ॥

व्रीडा का प्रत्ययाक होने से संकोच उत्पन्न होता है, जुगुप्सा का प्रत्यायक होने से उद्वेग होता है—इस प्रकार सभी रूप से रस की प्रतीति का प्रतिबन्धक होने से दोष का कारण है । साधारणतया "**सुरतारम्भगोष्ठ्यादौ**" इत्यादि कहने के अनुसार समाधान हो सकने के कारण यह अनित्य दोष है ।

(३) **पदवाक्यगताश्लीलता** और **अर्थगताश्लीलता** में अन्तर :—

अर्थगताश्लीलता के अन्दर यदि दूसरे पदों को रख दिया जाये तब भी अश्लीलता रहती है किन्तु **पदवाक्यगताश्लीलता** में दूसरे पदों के रखने से अश्लीलता नहीं रहती है क्योंकि इसमें "साधनादि" पदों के कारण ही अश्लीलता है सेनादि पदों को रखने से उसके अर्थ में पुनः अश्लीलता नहीं रहती है—यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ—(६) (**कष्टत्वदोष का उदाहरण**) **वर्षतीति** [**प्रसङ्ग**—कामुक व्यक्ति ही अन्य कामिनी को धन सम्पत्ति आदि देता है, यह जानती हुई भी किसी नायिका की पति की दूती के प्रति दूसरे के व्याज से सव्यंग्योक्ति है ।] सूर्य अपनी किरणों में विद्यमान अथवा चन्द्रमण्डल में विद्यमान निर्मल जल की वर्षा करता है, मेघ नहीं, (अर्थात् वर्षा का कर्त्ता सूर्य है, मेघ केवल पानी के आधारमात्र है), वह (यमुना) सूर्य की पुत्री है, (यह बात) सत्य है, जिस (यमुना) के द्वारा गंगा का प्रवाह परिवर्द्धित होता है (अर्थात् सूर्य से जल की वर्षा होती है और वही जल यमुना के रूप में

व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः श्रद्धा न कस्य श्रुतौ
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम्। ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र

परिणत हो जाता। व्यास की उक्तियों पर (अर्थात् पुराणों में) कौन विश्वास नहीं करता है? (अथवा) किस (मनुष्य) की वेदों (के विषय) में श्रद्धा नहीं है? अपितु सभी पुराणों और वेदों में श्रद्धा करते हैं। तथापि (सूर्य की किरणों में जल होने के विश्वास को करने के लिये उचित प्रमाणों के होने पर भी) भ्रान्त हरिणी सूर्य की किरणों में पानी (होने) का विश्वास नहीं करती है।

टिप्पणी:—(१) यहाँ अप्राकरणिक सूर्य कर्तृक वर्षा आदि के प्रतिपादन से प्राकरणिक कामुक कर्तृक धनादिकों की प्रतीति से अप्रस्तुत-प्रशंसा नामक अलंकार कवि को अभिष्ट है। **अप्रस्तुतप्रशंसा** का लक्षण :—

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद्गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्॥ साहित्य दर्पण—१०म परिच्छेद॥

(२) सूर्य से वृष्टि होती है—इस विषय में श्रुति का प्रमाण —

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ इति श्रुतेः॥

यमुना सूर्य की पुत्री है, इस विषय में विष्णु पुराण का प्रमाण:—

सूर्यस्य पत्नी संज्ञाभूत् तनया विश्वकर्मणः।
मनुर्यमो यमी चैव तदपत्यानि वै मुने॥ यमी=यमुना॥

(३) क्लिष्टत्व का अभाव होने पर भी यदि अर्थ कष्टगम्य है, तो "कष्टत्व" दोष होता है। उस दोष का कारण तात्पर्य रूप अर्थ की दुर्ज्ञेयता है। उसके ज्ञान में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में भी विलम्ब होता है। "**वैय्याकरणमुख्येतु**" इस कथन के अनुसार कहीं निराकरण हो सकने के कारण यह अनित्य दोष है।

अर्थ— (प्रकृत उदाहरण में विवक्षित अर्थ की कष्टबोधता दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) जिस सूर्य से वृष्टि और यमुना की उत्पत्ति (हुई) है, उससे उन दोनों का (वृष्टि और यमुना का) जल भी सूर्य से उत्पन्न है। (क्योंकि वृष्टि और यमुना के जल से अभिन्न होने के कारण) इसलिये सूर्य की किरणों में जल है—इस विश्वास की कारणता उचित है (क्योंकि जल का स्थान सूर्य की किरण है) तथापि

जलप्रत्ययं न करोति। अयमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः दूरे चास्मत्प्रस्तुतार्थबाध इति कष्टार्थत्वम्।

'सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम्।

हरिणी भ्रान्त होने के कारण उसमें (सूर्य की किरणों में) जल होने का विश्वास नहीं करती है। [यद्यपि सूर्य की किरणों से यमुना के पानी की उत्पत्ति होती है तथापि प्यास से व्याकुल होकर हरिणी यमुना में ही प्रवृत्त होती है, उसमें जल का अविश्वास नहीं होता है, किन्तु किरणों में यमुना के समान पानी का भ्रम होने से विश्वास नहीं करती है— यह दिखाने के लिये] यह अप्रस्तुत भी अर्थ "**वर्षति**" इत्यादि से स्पष्ट कहा हुआ भी, दुर्बोध है, (पुनः) इससे (प्रतिपादित अप्रस्तुत अर्थ से) प्रस्तुत अर्थ का ज्ञान (प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति) तो अत्यन्त ही दूर (की बात) है, अतः **कष्टार्थत्व** है।

टिप्पणी—आशय यह है कि "**वर्षत्येतत्**" इत्यादि में "**तथापि मुग्धा हरिणी न प्रत्येति**" इस वाक्यार्थ का ज्ञान तात्पर्य के कारण दुर्बोध है, और यह अर्थ यहाँ अप्रस्तुत है, तथा तात्पर्य के ग्राहक के न होने से विलम्ब से बोध्य है। और इस (अप्रस्तुत अर्थ, से बोद्धव्य मुग्धा नायिका का नायक के पास से अभीष्ट की प्राप्ति के अभाव स्वरूप प्रस्तुत अर्थ अत्यन्त ही कठिन है। अतः दुर्बोध होने के कारण शाब्द-बोध का ज्ञान दूषकता का कारण है—इसलिये यहाँ पर "**कष्टार्थत्व**" है।

अर्थ (७)—(**अनवीकृतत्व** का उदाहरण) **सदेति**—सूर्य सर्वदा आकाश में भ्रमण करता है, पवन सदा प्रवाहित होता है, शेषनाग सदा पृथिवी को धारण करता है (तथा) धीर (मनुष्य) सदा अपनी प्रशंसा करने वाला नहीं होता है।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**सदा**" इसमें **अनवीकृतत्व दोष** है। [अनेक बार प्रतिपादनीय अर्थ का बिना किसी प्रकार परिवर्तन के एक ही प्रकार से पौनःपुन्येन उसी अर्थ का कथन करना **अनवीकृतत्व दोष** कहलाता है। यहाँ पर एक ही "सदा" शब्द से अनेक बार प्रतिपादनीय अर्थ पुरातन के समान प्रतीत होता हुआ रस का अपकर्षक है। अतः **अनवीकृतत्व दोष** है।]

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नान्यद्विच्छित्त्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्भेदः।

नवीकृतत्वं यथा –

'भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
बिभर्त्ति शेषः सततं धरित्रीं षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः॥' इति।

अर्थ—कथितपदत्व दोष से इसका भेद दिखाते हैं। **अत्रेति**—यहाँ (इस अनवीकृत अर्थ के बोधक "सदा") पद के दूसरे पर्यायवाची शब्द (सर्वदा, अजस्रादिरूप) से ग्रहण करने पर भी यदि पूर्वपद विभक्ति समासादि से प्रतिपादित अर्थ से भिन्न (अन्यत्) विभक्ति समासादि से प्रतिपादित अर्थ का चमत्कार (विच्छित्त्यन्तरम्) नहीं होता है, तो इस (अनवीकृतत्व) दोष की विद्यमानता (होती ही) है (किन्तु "कथितपदत्व दोष" के अन्दर दूसरी बार आये हुये उसी शब्द का पर्याय रख देने से दोष नहीं रहता है) यही **कथितपदत्व** से भेद है।

टिप्पणी—"यत्", "तत्" आदि पदों के असकृत् प्रयोग होने पर भी "कथितपदत्व दोष" की शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उन अर्थों का दूसरे शब्दों से प्रतिपादन नहीं हो सकता है। यथा—"ते **देशास्ते जनपदाः**" इत्यादि में और "**सकिसखा**" इत्यादि में दूसरे शब्दों से विवक्षित अर्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता है, अतः "**सदा** रति" इत्यादि में "कथितपदत्व" सम्भव हो सकता है; किन्तु —

**सदा चरति खे भानुर्नित्यं वहति मारुतः।
धत्तेक्ष्मां सर्वदा शेषोऽजस्रं धीरोऽविकत्थनः॥**

इस पाठ में "कथितपदत्व दोष" नहीं है। किन्तु इसके अन्दर "अनवीकृतत्व" दोष है क्योंकि कोई नवीन चमत्कार नहीं आया। अतएव एक प्रकार के अर्थ का कथन करने पर "**अनवीकृतत्व**" और भिन्न धर्म प्रकार से अर्थ का कथन करने पर "**नवीकृतत्व**" होता है, अतः इसकी अर्थदोषता है।

अवतरणिका नवीकृतत्व की प्रतीति के बिना अनवीकृतत्व की प्रतीति नहीं हो सकती है, अतः **नवीकृतत्व** का उदाहरण देते हैं।

अर्थ—नवीकृतत्व (का उदाहरण) **यथा-भानुरिति**—[**प्रसंग—अभिज्ञानशाकुन्तल** के पञ्चम अङ्क में कञ्चुकी की यह उक्ति है।] सूर्य एक बार (ही संसार के भ्रमण के लिये रथ में) जोड़े हैं घोड़े जिसने ऐसा ही है (अर्थात् घोड़ों को रथ में जोड़कर घूमने में प्रवृत्त है, उसको कभी भी विश्राम नहीं है), वायु, (भी) दिन-रात (अर्थात् निरन्तर) चलती रहती है [एक क्षण भी कभी चलने से विरत नहीं होती है, "गन्धवह" के उपादान से भारवहनपूर्वक गमन की प्रतीति होतीहै, तथा अत्यन्त विश्रान्ति की प्रतीति "रात्रिन्दिवं" पद से ध्वनित होती है।] शेषनाग पृथिवी को निरन्तर धारण करता है (कभी भी उसको शिर से उतार कर विश्राम नहीं लेता है), (प्रजा के द्वारा उत्पन्न धान्यादि वस्तुओं का) षष्ठ भाग ही है आजीविका जिसकी ऐसे (अर्थात् प्रजा से कररूपेण षष्ठ भाग लेकर जीवन व्यतीत करने वाले राजा का भी यह (निरन्तर परिश्रम करना) धर्म (नियम) है। [अतः राजा का निरन्तर कार्य करना अनिवार्य होने के कारण कण्व के शिष्यों के आगमन की सूचना दे सकता हूं—यह कञ्चुकी का आशय है।]

'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः।
परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-
द्विमोक्ष्ये शस्त्र त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥'
अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।

टिप्पणी—(१) यहाँ राजा की सूर्यादि के साथ उपमा देने से तेजस्विता. लोकोपकारिता और स्थिरता की अभिव्यञ्जना होती है।

(२) यहाँ—"**सकृत्-सततं-रात्रिन्दिवम्**" इस कथन भेद से वाच्यार्थ के ज्ञान के समय भिन्न-भिन्न प्रकार से ज्ञान होने से **नवीकृतत्व** दोष है।

अर्थ—(८) (निर्हेतुत्व का उदाहरण) **गृहीतमिति**—[**प्रसङ्ग—वेणीसंहार नाटक** के तीसरे अङ्क में द्रोणाचार्य के मारे जाने पर शोक से आविष्ट अश्वत्थामा की कर्ण के प्रति क्रोध से छोडते हुये शस्त्र के प्रति यह उक्ति है।] (हे) शस्त्र ! जिस (मेरे पिता द्रोणाचार्य) ने (क्षत्रियों के द्वारा किये जाने वाले) तिरस्कार के भय से अनुचित भी (ब्राह्मण के लिये शस्त्रधारण का निषेध होने से) तुझको ग्रहण किया था। जिस (मेरे पिता द्रोणाचार्य) के प्रभाव से कोई (भी मनुष्य) तुम्हारा लक्ष्य नहीं हुआ, ऐसी बात नहीं है (अर्थात् सभी को ही देव हो, मनुष्य हो या मुमुत्सु हो—अपना लक्ष्य बनाया। "**द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं गमयत**", **इति न्याय त**) उस (मेरे पिता) ने भी पुत्र के शोक मे (मेरी मिथ्या मृत्यु के समाचार से उत्पन्न शोक से) (शत्रुओं के) भय से नहीं, तुझको छोड़ दिया (अतः) मैं भी तुझको छोड़ता हूं (मेरे पास से) जाने वाले तुम्हारा कल्याण हो। [अर्थात् जिस मेरे शोक से उस मेरे पिता ने धनुष को छोड़ दिया—अतः उस अपने पिता के शोक से मेरा भी धनुष को छोड़ देना उचित है।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दूसरे के (अर्थात् अश्वत्थामा के अपने) शस्त्र को छोड़ने में (आकांक्षित) हेतु नहीं कहा, अतः **निर्हेतुत्व दोष** है। [अर्थात् जिस प्रकार द्रोणाचार्य के शस्त्र त्याग का कारण "**सुतशोकात्**" कहा था, उसी प्रकार "**पितृशोकात्**" यह कारण अवश्य कहना चाहिए था, वह नहीं कहा, अतः दोष है।]

टिप्पणी—निर्हेतुत्व का लक्षण—**निष्क्रान्तो हेतुर्यस्मात् स निर्हेतुः** अर्थात् आकांक्षित हेतु का कथन न करना "निर्हेतुत्व" कहलाता है। हेतु की आकांक्षा के होने पर भी उसके न कहने से उसके अनुसन्धान में विलम्ब होने के कारण रस की प्रतीति में विलम्ब होना दूषकता का कारण है। "**निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे**" इस कथन के अनुसार निराकरण हो सकने से यह अनित्य दोष है।

'कुमारस्ते नराधीश श्रियं समधिगच्छतु ।'
अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।
'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ।'
अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तश्रृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

अर्थ (९) – (**प्रकाशितविरुद्धता** का उदाहरण) **कुमार इति**—(हे) राजन् ! तुम्हारा पुत्र राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करे। (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ 'तुम मर जाओ" इस प्रकार के विरुद्ध अथ की प्रतीति होने से **प्रकाशितविरुद्धत्व दोष** (**प्रकाशितः–व्यञ्जितो विरुद्धः – विवक्षितार्थस्यप्रतिकूलोऽर्थो येन वाक्यार्थेन सतथोक्तः**) है ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि "**श्रिय समधिगच्छतु**" यहाँ राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करे—यह अर्थ प्रतीत होता है । तथा च पिता की मृत्यु के अनन्तर ही पुत्र को राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है, पिता के जीवित रहने पर उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है । अतः "तुम मर जाओ, अनन्तर यह राजकुमार राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करे" यह विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति होती है अतः **प्रकाशितविरुद्धत्व दोष** है ।

(२) **अनुचितार्थत्व** और **ख्यातविरुद्धत्व दोष** में भेद—**अनुचितार्थत्व दोष** में पद से विरुद्ध अर्थ की व्यञ्जना होती है, किन्तु **प्रकाशितविरुद्धत्व** में अर्थ से विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है ।

(३) **विरुद्धमतिकृत् दोष** में शब्द के दो अर्थ होते हैं परन्तु "**प्रकाशित विरुद्धत्व**" में दो अर्थ नहीं होते हैं, उसमें शब्दशक्तिमूलक विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है और इसमें अर्थशक्तिमूलक विरुद्ध अर्थ की प्रतीति होती है ।

(४) **प्रकाशितविरुद्धत्व** का सामान्य लक्षण—' **प्रतिपादितविवक्षितार्थविरोधिव्यञ्जकार्थकत्वं प्रकाशितविरुद्धत्वम्**" विवक्षित अर्थ से प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति के कारण श्रोता के हृदय में उद्वेग के उत्पन्न होने से रस की प्रतीति की प्रतिबन्धकता दोष का कारण है । किसी प्रकार का समाधान न होने से यह नित्य दोष है ।

अर्थ—(१०) (**सन्दिग्धत्व दोष** का उदाहरण) **अचला इति**—(हे) विद्वान् पुरुषो ! (परमेश्वर की आराधना करने के लिये) पर्वत अथवा कामिनियों का सेवन करना चाहिए । (यह तुम) बतलाओ ! [अर्थात् पर्वत पर रहकर तपश्चर्या करनी चाहिये या कामिनियों के साथ रमण करना चाहिये ।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ प्रकरण के न होने से (वक्ता के पहले विद्यमान न रहने से) शान्त (यदि वक्ता का अभिप्राय यह है कि पर्वत पर जाकर तपस्या करनी चाहिये, तब तो शान्त रस है) अथवा शृंगारी में से (यदि वक्ता का अभिप्राय कामिनियों के साथ रमण करने से है, तो शृंगार रस की अभिव्यञ्जना होती है) -कौन वक्ता है, इसका निश्चय न होने से **सन्दिग्धत्व दोष** है ।

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥'
अत्र द्वितीयार्धेव्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि यहाँ प्रकरण के न रहने से पर्वत का अथवा कामिनियों की सेव्यता व्यञ्जना के द्वारा प्रतिपादित करने की इच्छा है, उसके विरुद्ध दोनों की उपस्थिति होने से सन्देह उत्पन्न होता है, अतः दोष है।

(२) 'वन्द्याम्" इत्यादि में (पृष्ठ······पर) द्वितीया और सप्तमी विभक्त्यन्त होने से पद में ही दोष है किन्तु यहीं पर अर्थ के अन्दर दोष है—यही **पद सन्दिग्धत्व** से इसके अन्दर भिन्नता है।

(३) **काव्यप्रकाश** के अन्दर उदाहरण इस प्रकार है:—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समयदिप्युदाहरन्तु
सेव्याः नितम्बाः किमु भूधराणामुतस्मरस्मेरविलासिनीनाम ' इति"

(४) **सन्दिग्धत्व** का लक्षण:—**सन्दिग्धः—सन्देहविषयीभूतोऽर्थोयत्रतस्य भावः सन्दिग्धत्वम्**। अर्थात् **सन्देहविषयीभूतार्थत्वं सन्दिग्धत्वम्**"। सन्दिग्ध स्थल पर किसी एक पक्ष के निर्णय के लिये कारण के अनुसन्धान में विलम्ब होने के कारण रस की प्रतीति मे विलम्ब होना दुष्टता का कारण है। "**सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुति पर्यवसायिचेत्**" इसके अनुसार समाधान न हो सकने के कारण यह नित्य दोष है।

अर्थ—(११) (**पुनरुक्तत्व** का उदाहरण) **सहसेति**—[**प्रसङ्ग—किरातार्जुनीय** के तीसरे सर्ग में भीमसेन के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति है।] बिना विचार किये (सहसा किसी भी) कार्य को नहीं करना चाहिये (क्योंकि) अविवेक (बिना सोचे समझे कार्य करना) महाविपत्तियों का कारण (पदम्) होता है। क्योंकि समृद्धियाँ गुणों से आकृष्ट होकर (स्वयमेव) विवेकी पुरुष को (विचारपूर्वक कार्य करने वाले को) वरण करती है, अर्थात् जहाँ विमृश्यकारिता होगी वहाँ सम्पत्तियाँ होंगी।

अर्थ—(दोष दिखाते हैं **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दूसरे आधे (श्लोक) में (विद्यमान अर्थ) व्यतिरेक (व्याप्ति) से द्वितीय पाद का ही ("**अविवेकः परमापदां पदम्**") अर्थ (प्रतीत होता है।) अतः **पुनरुक्तता दोष** है।

टिप्पणी:—(१) जिस प्रकार '**धर्मः सुखसाधनम्**" ऐसा कहने पर अधर्म की दुःखसाधनता अर्थ से उपलब्ध होती है, और जिस प्रकार "**अज्ञानी क्लेशवान्**" ऐसा कहने पर "**ज्ञानी सुखवान्**" यह स्वभाव से ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार यहाँ पर भी "**अविवेकः परमापदां पदम्**" यह कहने पर '**विवेकी सपदां परं पदम्**" यह स्वभाव से ही व्यतिरेकव्याप्ति के द्वारा प्रतीत होता है। तथापि "**वृणुते**"······इत्यादि से पुनः उसी अर्थ का प्रत्यय कराने से "**पुनरुक्तता**" है।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः ।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः ।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता ।

---

(२) किसी शब्द से प्रतिपादन किये हुये अर्थ का पुनः उसी के वाचक शब्द से भिन्न प्रकार से उसीका प्रतिपादन किया जावे तो "**पुनरुक्तता**" होती है । द्वितीय बार प्रतिपादन करने वाले कारण के अनुसन्धान में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होना दोष का कारण है । "**धनुर्ज्या दिषु शब्दपु**" इत्यादि के द्वारा समाधान हो सकने के कारण यह अनित्य दोष है ।

(३) **कथितपदत्व** से भेदः—यहाँ पर भी पूर्व की तरह शब्दमूलक और अर्थमूलक भेद के कारण "कथितपदत्वदोष" से इसकी भिन्नता है ।

(४) यह "पुनरुक्तत्व" दो प्रकार का होता है—(१) पदार्थ भेद से और (२) वाक्यार्थ भेद से। इनमें से "वाक्यार्थ से पुनरुक्ति" का उदाहरण ऊपर दिया जाचुका है ।

अर्थ—(१२) **ख्यातिविरुद्धता** (का उदाहरण) **यथा-तत इति**—उसके बाद लाल त्रिशूल को धारण किये विष्णु युद्ध में घूमने लगे । (दोष दिखाते हैं)

अत्रेति—यहाँ विष्णु का त्रिशूल लोक में प्रसिद्ध नहीं है । (अपितु महादेव जी का त्रिशूल प्रसिद्ध है और विष्णु का चक्र प्रसिद्ध है) ।।

टिप्पणी:—(१) **ख्यातिविरुद्धता** का लक्षणः—**ख्यातिः** और **प्रसिद्धिः** पर्यायवाची शब्द है, अतः **प्रसिद्धेः ख्यातेः विरुद्धता** अर्थात् लोक कवि सम्प्रदाय के विपरीत। जिस अर्थ में जो प्रसिद्ध नहीं है, वह प्रसिद्धि विरुद्ध कहलाता है ।

(२) प्रकृत उदाहरण में "**शितशूलधरो हरिः**" ऐसा कहने पर सामाजिकों को शूल शब्द के अर्थ के संशय से पहले अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, अतः वीर रस के आस्वाद में बाधा पड़ती है—यही इसकी दोषता है ।

(३) "**कवीनां समये ख्याते**" इस कथन के अनुसार समाधान हो सकने के कारण यह अनित्य दोष है । यह दो प्रकार का होता है—(१) लोक प्रसिद्ध विरुद्ध और (२) कवि प्रसिद्ध विरुद्ध । इनमें से लोक प्रसिद्ध विरुद्ध का उदाहरण प्रकृत उदाहरण है ।

अर्थ—(**कवि प्रसिद्ध विरुद्ध** का उदाहरण) **अथवा—पादेति**—(हे प्रिये !) तुम्हारे पाद—प्रहार से अशोक वृक्ष के अन्दर अकुर रूपी कण्टक उत्पन्न हो गये हैं । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पाद-प्रहार से अशोक वृक्षों में पुष्प ही उत्पन्न होता है—ऐसा (कवि सम्प्रदाय में) प्रसिद्ध है. अंकुर नहीं, अतः कवि सम्प्रदाय के सिद्धान्त की प्रसिद्धि में विरुद्धता है ।

'अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः ।'

अत्र शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।
एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

टिप्पणीः—(१) प्रश्न—कालिदास के काव्य में "कुसुम कृतदोहद त्वया" इस प्रकार दोहद के भी वर्णन होने से अङ्कुर क्यों प्रसिद्ध नहीं है ?

उत्तर—वस्तुतः किसी भी कवि ने अङ्कुर के रूप में वर्णन नहीं किया है, अतः दोष है। यद्यपि पुष्प की उत्पत्ति से नवीन अङ्कुर का उदय होता ही है, अतः किसी प्रकार की बाधा नहीं है तथापि कवियों के द्वारा वर्णन न करने से कवि सम्प्रदाय के विरुद्ध है।

(२) कविप्रसिद्ध का उदाहरणः—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधु गण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरबकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदु हसनाच्चम्पको वक्त्रवाता—
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

तथा—"पादाघातादशोक विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यैः ॥ इति ।

अर्थ (१३) (विद्याविरुद्धता का उदाहरण) यथा-अधर इति—मृगनयनी (कामिनी) के अधर पर नखक्षत (अङ्कित) है। (दोष दिखाते हैं) अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शृगारशास्त्र के विरुद्ध होने के कारण (वात्स्यायन मुनि आदि से प्रणीत कामशास्त्र के अन्दर स्तनों पर नख-क्षत्र का विधान है, अधरों पर नहीं, अधरों पर दन्तक्षत का विधान है। विधा विरुद्धता है)। इसी प्रकार अन्य शास्त्रों के विरुद्ध भी (उदाहरण समझ लेने चाहियें)।

टिप्पणीः—(१) कामशास्त्र के अन्दर इस प्रकार का विधान है:—

नखक्षतस्य स्थानानि कुक्षौवक्षस्तथा गलः ।
पार्श्वौ जघनमूरू च स्तनमण्डललाटिकाः ॥

(२) उद्योतकार ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

कक्षाकरोरुजघनस्तनपृष्ठपार्श्वहृत्कन्धरासु नखशः खलेगयोः स्युः ।
अप्यन्ययोर्नवरते कलहे च शान्ते पुष्पोद्गमे प्रवसने विरहे च योज्याः ॥

(३) यहाँ विधा पद से शास्त्र का ग्रहण होता है। अतः व्याकरण से भिन्न शास्त्रविरुद्धता "विधाविरुद्धता" कहलाती है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार नियमों के साहित्य में "च्युतसंस्कारत्वदोष" होता है। अतः एव "व्याकरण से भिन्न" ऐसा कहा है। विरुद्ध अर्थ की प्रतिति होने से रस की प्रतीति विलम्ब से होती है. अतः सहृदयों के हृदय में विरसता का संचार होने से दूषकता का कारण यह दोष है। और क्योंकि यह हास्य रस के अन्दर उपयोगी होने से गुण भी है, अतः अनित्यदोष समझना चाहिये।

(४) प्रतिज्ञाविरुद्धत्व का उदाहरणः—यथा—

यावज्जीवमहं मौनी ब्रह्मचारी च मे पिता ।
माता च मम वन्ध्यासीत् स्मरामोऽनुपमोभवान ॥

यहाँ स्वयं वक्ता का ही "यावज्जीवमहं मौनी" इन पदों को कहना प्रतीति का विरोधी है, अतः "प्रतिज्ञा विरुधत्व" है। इसी प्रकार—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ।
मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धरः ॥ इति ॥

इत्यादिकों में भी यथा सम्भव विरुद्धता समझनी चाहिये।

'ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम् ।
स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥'

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमिति साकाङ्क्षता ।

'सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।
खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥'

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचरभिन्नत्वम् ।

अर्थ—(१०) (**साकांक्षता** का उदाहरण) **ऐशस्येति**-परशुराम इस समय शिवजी के धनुष का भङ्ग और क्षत्रिय जाति की उन्नति तथा सीता जी की (उपेक्षा) किस प्रकार सहन कर सकता है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "**स्त्रीरत्नम्**" (के आगे) "**उपेक्षितुम्**" इस (पद) की (आकांक्षा होने से) **साकांक्षता** है ।

टिप्पणी (१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में शिवजी के धनुष का भङ्ग और क्षत्रियों की उन्नति तो असह्य हो सकती है परन्तु दुष्कुल से भी उत्पन्न स्त्री रत्न कदापि द्वेष्य (असह्य) नहीं होता है, अतः उसकी उपेक्षा रूप द्वेष्यता में आकांक्षा है ।

(२) **न्यूनपदत्व** और **साकांक्षत्व** में भेद-"न्यूनपदत्व" के अन्दर शब्द का अध्याहार होता है और "साकांक्षत्व" में अर्थ का अध्याहार होता है—यही इन दोनों में भिन्नता है ।

(३) **साकांक्षत्व** की व्युत्पत्ति—**आकांक्षया सहवर्तत इति स कांक्षस्तस्य भावः साकांक्षत्वम्**" । अर्थात् " **अनुपात्तार्थाकांक्षा विषयार्थकत्वम् साकांक्षत्वम्** ॥ **इति** ॥

(४) आकांक्षित अर्थ का प्रतिपादन न करने से विवक्षित अर्थ की अप्रतीति में रस की प्रतीति के सर्वथा न होने से सहृदयों के चित्त की विमुखता ही दोष का कारण है । समाधान हो सकने से कारण यह अनित्य दोष है ।

अर्थ—(११) (**सहचरभिन्नत्व** का उदाहरण) **सज्जन इति**—सज्जन दुरावस्था में पडा हुआ है, कामिनी गलितस्तनी (ढीले स्तन वाली) है, दुष्ट सभा में पूजा जा रहा है, (ये सब) मेरे चित्त को दुःख देने वाले हैं । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ सज्जन और कामिनी शोभन हैं (किन्तु) उनके साथ (पढ़ा हुआ) खल अशोभन है, अतः "**सहचरभिन्नत्व**" दोष है ।

टिप्पणी—(१) उत्कृष्ट के साथ निकृष्ट का और निकृष्ट के साथ उत्कृष्ट का एक स्थान पर कथन करने से **सहचरभिन्नता** (**सहचरेषुसमभिव्याहृतेषु अथवा सहचरेभ्यः—समभिव्याहृतेभ्यः भिन्नोविजातीयः तस्यभावः सहचरभिन्नत्वम्**) कहलाती है ।

(२) उत्कृष्ट के साथ उत्कृष्ट का कथन करना और निकृष्ट के साथ निकृष्ट का कथन करना ठीक है किन्तु उत्कृष्ट और निकृष्ट का एकत्र कथन करना-यह नियम की प्रतिकूलता है, अतः इस प्रतिकूलता के कारण सहृदयों के चित्त में विरसता का भाव उत्पन्न होता है और इस प्रकार रस प्रतीति में बाधा पड़ती है, अतः यह दोष का कारण है ।

'आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥'

अर्थ—(१६) (**अस्थानयुक्तता** का उदाहरण) **यथा आज्ञेति**—[**प्रसंग-बाल-रामायण** में रावण के पुरोहित द्वारा रावण के लिये सीता की प्रार्थना करने पर राजा जनक के पुरोहित शतानन्द की रावण की प्रशंसापूर्वक "**आश्चर्यं एकोऽपि गरीयान् दोषः समग्रमपि गुणग्रामं दूषयति तथाहि**" यहाँ से लेकर जनक के प्रति यह उक्ति है।] (इस रावण की) आज्ञा इन्द्र के किरीट में विद्यमान मणि की सङ्गिनी है अर्थात् इन्द्र के द्वारा शिर पर विद्यमान मणि के समान रावण की आज्ञा धारण की जाती है (इससे रावण की वीरता सूचित होती है, और स्त्रियों को अभिमत है।) शास्त्र ही (इस रावण के) नूतन (बीस नेत्रों से अतिरिक्त) चक्षु हैं (शास्त्रानुसार काम करने के कारण—इससे रावण की बुद्धिमत्ता सूचित की है।) संम्पूर्ण प्राणियों के अधिपति शिवजी में भक्ति है (इससे सम्पत्ति-ऐश्वर्य-प्रजाभोगित्व सूचित किया है क्योंकि सम्पदादिकों की प्राप्ति शिवजी की सेवा का फल ही है।) लङ्का (इस नाम से प्रसिद्ध) उत्तम नगरी निवास स्थान है; और ब्रह्मा के वंश में उत्पत्ति है (ब्रह्मा से पुलस्त्य, पुलस्त्य से विश्रवा और विश्रवा से रावण उत्पन्न हुआ है। इससे सत्कुलोत्पन्नता सूचित की है।) इसलिये आश्चर्य है? कि ऐसा (उक्त गुणों से युक्त) वर (अभिलषित वस्तु अथवा जामाता किसी को) नहीं मिलता है, अर्थात दुर्लभ है। (अतः इसको सीता दे दो—इसलिये कहते हैं। **स्याच्चेदिति**—यदि यह रावण (**रावयति-क्रन्दयति पीड़नेन लोकानिति रावणः**) न होता अर्थात् बुरे व्यवहार के कारण प्रसिद्ध न होता (तभी इसको सीता दी जा सकती थी) इससे गुणों की विकलता दिखाई है, सभी मनुष्यों में (सर्वत्र) सभी गुण पुनः कहाँ (होते) हैं अर्थात् कहीं भी नहीं होते हैं। [कहने का आशय यह है कि सभी मनुष्यों में दोषों से मिश्रित ही गुण होते हैं। रावण ही सभी गुणों के कारण सर्वोत्कृष्ट है, परन्तु संसार को सन्ताप देने वाला होने के कारण सर्वथा उपेक्षणीय है।]

टिप्पणी—(१) वर के विषय में निम्न दृष्टि रखी जाती है—

माता वरयते वित्तं पिता वरयते कुलम्।
कन्या वरयते रूपं मिष्टान्नमितरे जनाः॥

(२) **अस्थानयुक्तत्वम्** का लक्षणः—

"**अनुपयुक्तस्थाने समापितवाक्यार्थत्वमस्थान युक्तत्वम्।**"

यह दो प्रकार का होता है—(१) **वाक्यार्थस्य समापनोपयोगे चाविषयम्**

अत्र न रावणं इत्येतावतैव समाप्यम ।

हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।'

अत्र रत्नानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

---

(२) अधिकोपयोगे समापनम् । कहा भी है कि—

युक्ताधिक्ये विलम्बः स्यादाधिक्यं च समापने ।

अर्थप्रकल्पिते यत्र सोऽस्थाने स्यात्समुज्झितः । इति

इनमें से पहले में आधिक्य के कारण का अनुसन्धान करने में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होता है और दूसरे में आधिक्य के न होने पर भी उसके न होने से रस की प्रतीति की अपूर्णता रहती है, अतः दूषकता का कारण है । इसका समाधान न होने के कारण यह अनित्य दोष है । पहले प्रकार की "अस्थानयुक्तता" का उदाहरण अभी दिया जा चुका है ।

अर्थ यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) '**न रावणः**" यहीं पर ही समाप्त कर देना चाहिये था ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में "रावणः" पद से ही दूसरे अर्थ के संक्रमित होने से सभी को दुःख देने वाला होने के कारण यह रावण वर के योग्य नहीं है—इस विवक्षित अर्थ का पर्यवसान हो जाता है । अतः यहीं पर ही वाक्य को समाप्त कर देना ठीक था । पुनः जो "**क्व नु पुनः**" से दोष का समर्थन किया है, वह विवक्षित अर्थ के प्रतिकूल जाता है क्योंकि ईप्सित दोष का ही समर्थन ठीक है, छोड़ने योग्य दोष का समर्थन ठीक नहीं है । अतः "**क्व नु पुनः**" इत्यादि से अयोग्य का समर्थन करने वाले वाक्य की अधिकता के कारण "**अस्थानस्थयुक्तत्व दोष**" है ।

(२) **समाप्तपुनरात्तत्व** के अन्दर विशेषण का ग्रहण होता है, और **अस्थानयुक्तता** में विशेष्य का; **अधिकपदत्व** में प्रतीति होने के साथ ही आधिक्य की प्रतीति होती है, और **अस्थानस्थयुक्तता** में बाद में प्रतीति होती है—यही इनमें परस्पर भेद है ।

अर्थ—(१७) (**अविशेष में विशेष** का उदाहरण) **यथा-हीरकाणामिति**—हीरों के निधि इस समुद्र का क्या वर्णन करें ? (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "**रत्नानांनिधे**" ऐसा सामान्य ही कहना चाहिये था । [ऐसा कहने पर दोष नहीं रहता है ।]

टिप्पणी—(१) **वस्तुतः—"रत्ननिधे**" ऐसा सामान्य रूप से कथन करना चाहिये था, परन्तु ऐसा न कहकर "**हीरकनिधे**" इस विशेष का कथन किया है, अतः '**अविशेष में विशेष दोष**" है ।

(४) **अविशेष में विशेष** का लक्षण—जहाँ सामान्य का कथन करना चाहिये था वहाँ विशेष का कथन करना "**अविशेष में विशेष**" दोष होता है । इसमें विवक्षित अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होना दोष का कारण है । इसका समाधान न हो सकने के कारण यह नित्य दोष है ।

'आवर्त एव नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे।
भङ्गाश्च वलयस्तेन त्व लावण्याम्बुवापिका॥'
अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः।
'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः।'
अत्र तमिस्त्रास्विति रजनीविशेषो वाच्यः।

---

(३) यहाँ पर "हीरकाणाम्" कहना अयुक्त है—क्योंकि हीरे समुद्र में नहीं होते, खान से निकला करते हैं अतः यहाँ पर "**अविशेष में विशेष**" का उदाहरण असंगत है। इसके स्थान पर 'विद्रुमाणां निधि" पाठ होने से यह उदाहरण ठीक हो सकता है क्योंकि मूंगे समुद्र में ही उत्पन्न होते हैं।

अर्थ – (१८) (**अनियम में नियम** का उदाहरण) **यथा आवर्त इति**—(हे प्रियतमे!) तुम्हारी नाभि भँवर ही है, दोनों नेत्र दो नीलकमल हैं, और त्रिवली तरंगें हैं, अतः तुम सौन्दर्यरूपी जल की वापी हो (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ '**आवर्त एव**' ऐसा नियमार्थक ("एव" शब्द) नहीं कहना चाहिए। (क्योंकि ऐसा कहने का कोई फल नहीं है।)

टिप्पणी – (१) **अनियम में नियम** का लक्षण—अनियम का कथन करने पर नियम का कथन करना "**अनियम में नियम दोष**" कहलाता है। इसमें विवक्षित अर्थ की प्रतीति में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होना दोष का कारण है। इसका समाधान न हो सकने के कारण यह नित्य दोष है।

(२) इस उदाहरण के अन्दर "नाभिः" के अनन्तर "एव" पद का कथन करना चाहिये था, परन्तु 'आवर्तः" के पश्चात् ही 'एव" का कथन कर दिया है—ऐसे में **अस्थानस्थपदत्व** दोष की कल्पना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नियम का कथन करने के लिये "एव" का प्रयोग किया है।

अर्थ—(१९) (**विशेष में अविशेष = सामान्य** का उदाहरण) **यथा-यान्तीति**—(अन्धकार में कोई भी देख न ले इसलिये) नीलवस्त्रों को धारण किये हुये अभिसरिकायें रात्रियों में (अपने नायिकों के घर) जा रही हैं। किन्तु चाँदनी रात्रियों में अभिसारिकाओं को शुभ्र वस्त्र पहनना ही उचित है) (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ 'तमिस्रासु" अन्धकारयुक्त रात्रियों में—ऐसी रात्रि विशेष का कथन करना चाहिये। [ऐसा कथन करने पर अन्धकार के समान स्वरूप वाले नीलवस्त्रों के पहनने से अन्य मनुष्य के देख न सकने से चुपचाप ही जाना ठीक है, अतः उक्त दोष नहीं रहता है।]

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में '**रजनीषु**" ऐसा सामान्य कथन करने से चाँदनी से युक्त रात्रियों का भी ग्रहण हो जाता है। किन्तु उनमें नीले वस्त्र पहनकर जाने से बड़ी आसानी से अन्य मनुष्य देख सकते हैं, अतः चुपचाप जाना बन नहीं सकता है—अतः कवि के द्वारा अभिमत की प्रतीति न होने से उक्त दोष है।

(२) **विशेष में अविशेष** का लक्षण—विशेष का कथन करने पर सामान्य का कथन करना 'विशेष में अविशेष" दोष कहलाता है। इसमें ज्ञान की अनुपपत्ति से रस प्रतीति में प्रतिबन्ध होता है, अतः दूषकता का कारण है। यह भी समाधान रहित होने से नित्य दोष है।

'आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते ।'

अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः ।

ननु वाच्यस्यानभिधाने 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादावपेरभावः, इह चैवकारस्येति कोऽनयोर्भेदः । अत्राह—'नियमस्य वचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्तेर्विषयः' इति, तन्न । तथा सत्यपि द्वयोः शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात् ।

अर्थ (२०) (**नियम में अनियम** का उदाहरण) **आपातेति**—प्रारम्भ में ही सुख देने वाले विषयों के उपयोग में लिप्त (मनुष्य) क्या नहीं करते हैं ? अर्थात् सभी कुछ अकार्य भी करते ही हैं । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "**आपात एव**" ऐसा नियम का कथन करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में सभी कालों में सुख देने वाले विषयों में निमग्न रहना बुरा नहीं है, अतः "सभी समय" इसकी व्यावृत्ति के लिये 'आपाततः एव" ऐसे नियम का विधान करना चाहिये । ऐसा न करने पर विवक्षितार्थ की प्रतीति न होने से दोष है ।

(२) **नियम में अनियम का लक्षण**—जहाँ नियम का निर्धारण करना चाहिये था, वहाँ यदि अनियम का कथन कर दिया जाय तो "नियम में अनियम" दोष कहलाता है । इसमें विवक्षितार्थ की प्रतीति में विलम्ब होने से रस की प्रतीति में विलम्ब होना दूषकता का कारण है । समाधान न हो सकने के कारण यह नित्य दोष है ।

अवतरणिका—"**वाच्यानभिधानदोष**" से "**नियम में अनियम**" दोष का भेद दिखाते हैं—

अर्थ—**प्रश्न**—**वाच्यानभिधानदोष** के "**व्यतिक्रमलवम**" इत्यादि (उदाहृत-पद्य) में "अपि" (शब्द का अभाव है, और यहाँ (**नियम में अनियम दोष** में) "एव" (शब्द) का (अभाव) है—अतः इन दोनों (दोषों) में क्या भेद है ? इस विषय में (**कोई उत्तर**) देता है—**नियमस्येति** नियम का न कहना ही (अर्थात् नियम के द्योतक पद का कथन न करना ही) विशेष रूप से नियम परिवृत्ति का (**नियम में अनियम नामक दोष** का) विषय है; इति—[नियम के द्योतक पद का कथन न करने पर "नियम में अनियम नामक दोष" होता है । और इससे भिन्न द्योतक पदों का कथन न करना "**वाच्यानभिधान नामक दोष**" का विषय होता है—यही इन दोनों में भेद है ।] (इस मत का खण्डन करते हैं) **तन्नेति**—ऐसी बात नहीं है—(क्योंकि) ऐसा होने पर भी दोनों (दोषों) के अन्दर (**वाच्यानभिधान** और **नियम में अनियम दोष** के अन्दर) शब्द और अर्थ की दोषता में (अर्थात् **वाच्यानभिधान** के शब्ददोष होने में और **नियम में अनियम** के अर्थ दोष होने में) नियामक का सर्वथा अभाव है ।

तत्का गतिरिति चेत, 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादौ शब्दोच्चारणानन्तरमेव दोषप्रतिभासः। इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमिति भेदः। एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वा-सहत्वाभ्यां पूर्वैराहृतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति— यो दोष. शब्द-परिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव।

अर्थ—तदिति—प्रश्न—(अच्छा ! तो फिर इन दोनों दोषों में भेद के प्रति-पादन करने में) कौनसा सिद्धान्त है ? (**समाधान** करते हैं) **व्यतिक्रमलवमिति**— "**व्यतिक्रमलवम्**" इत्यादि में शब्द के उच्चारण के अनन्तर ही दोष की प्रतीति होती है, यहाँ तो ("**आपात सुरसे**" इत्यादि **नियम में अनियम दोष** के अन्दर) अर्थज्ञान के अनन्तर (दोष की प्रतीति होती है) यही (इन दोनों में) भेद है। [इस प्रकार दोनों दोषों की शब्द-दोषता और अर्थदोषता में नियामक की स्थिति हो जाती है।]

अवतरणिका—कहीं-कहीं शब्ददोषता में और अर्थदोषता में ग्रन्थकार की इच्छा ही नियामक होती है अन्यथा वाक्यगत "विधेयाविमर्श दोष" में, और "दुष्क्रम-त्व दोष" में दोनों के वाक्य रचना की विपरीतता के आधीन होने पर भी एक शब्द-दोष है और दूसरा अर्थदोष है—इसमें कौनसा नियम है ? इस प्रकार स्वयं ऊपर कहाहुआ शब्ददोष और अर्थदोष का नियामक भी कहीं व्यभिचरित हो जाता है क्योंकि "अप्रयुक्तत्वादि" शब्द दोषों की प्रतीति के अनन्तर होती है और 'कष्टार्थत्वं" रूप अर्थदोष के अन्दर पहले अर्थ का बोध न होने से शब्द ही अर्थ का बोधक होता है) इसलिये कहीं तो प्राचीन विद्वानों द्वारा कहा हुआ नियामक होता है और कहीं नवीन आचार्यों द्वारा कहा हुआ नियामक होता है—इसी का प्रतिपादन करते हैं।]

एवञ्चेति—इस प्रकार शब्दपरिवृत्ति सह होने से और शब्द परिवृत्ति को सहन न करने वाले होने से (अर्थात् शब्द का परिवर्तन कर देने पर दोष के रहने और न रहने से) प्राचीन (आचार्यों) से स्वीकृत भी (इस प्रकार दोषों के अन्वय-व्यतिरेकी के अनुसार होने से अर्थात जो-जो दोष उस-उस शब्द को बदल देने पर भी केवल अर्थ का आश्रय लेकर रहता है, वह-वह अर्थदोष कहलाता है और जो-जो दोष केवल शब्द पर अवलम्बित होने के कारण उस-उस शब्द के बदल देने पर नहीं रहता है, वह-वह शब्ददोष कहलाता है।) शब्ददोष और अर्थदोषों का विभाग इस प्रकार परिणत होता है कि—जो दोष (अर्थ साम्य होने पर) शब्द के परिवर्तन को सहन नहीं कर सकता है अर्थात शब्द परिवृत्तिसह नहीं है, वह शब्ददोष ही (होता) है। [**यथा "पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी"** यहाँ पर "पल्लवाकार" कर देने पर भी

यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः। यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति। एवं चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वादे र्भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थत्वे तु 'राममन्मथशरेण—' इत्यादौ नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता। अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम्।

शब्ददोष ही है। **निरर्थकश्रुतिकटु** आदि शब्ददोषों के अन्दर अर्थसाम्य न होने से यह नियम नहीं लगता है क्योंकि उक्त नियम शब्दों के उच्चारण के अनन्तर ही प्रतीयमान होता है] और जो पदार्थों के अन्वय की प्रतीति से पूर्व ही प्रतीत हो जावे वह भी शब्ददोष (कहलाता है। [**यथा न्यूनपदत्व** और **अधिकपदत्व** आदि में] और जो अर्थ की प्रतीति के अनन्तर प्रतीत होता है, वह अर्थ के आश्रित (दोष होता) है. इति। **एवञ्चेति**—और इसीप्रकार "अनियम परिवृत्तित्वादि" से (अनियम में नियम=**आवर्त एव नाभिरस्ते**" इत्यादि में) "आदि" पद से "अपुष्टत्व और 'अस्थानस्थयुक्तता" का परिग्रह होता है।] "अधिकपदत्व" आदि से ("आदि" पद से 'न्यूनपदत्व" और "समाप्तपुनरात्तत्व" आदि का ग्रहण होता है) भेद समझना चाहिये)। ["**अनियम में नियम**" आदि में अर्थ की प्रतीति के बाद ही दोष की प्रतीति होती है, और "**कथितपदत्व**" में शब्द श्रवण के अनन्तर ही दोष की प्रतीति होती है—यही इन दोनों में भेद समझना चाहिये।] **प्रश्न**—इस प्रकार से तो "**अमतपरार्थत्वादि**" में अर्थ की प्रतीति के अनन्तर ही दोष की प्रतीति होती है, अत: अर्थदोष ही होना चाहिये। पुन: क्यों 'वाक्यदोषों" में इसकी गणना की है? इसका **उत्तर** देते हैं—**अमतेति**—**अमतपरार्थत्व** के (उदाहरण) "**राममन्मथशरेण**" इत्यादि में (अर्थज्ञान के अनन्तर ही उक्त दोष की प्रतीति होती है, तथापि नियम से वाक्य के अन्दर व्यापक होने के अभिप्राय से (अर्थात् वाक्य के अन्वय और व्यतिरेक के अनुसार होने से) वाक्यदोषता है। **प्रश्न**—इस प्रकार तो 'अश्लीलत्व दोष" के उदाहरण "**हन्तुमेवप्रवृत्तस्य**" इत्यादि में भी अश्लील अर्थ के वाक्य के अन्दर व्यापक होने से 'वाक्यदोष" होना चाहिये था—इसकी गणना अर्थदोष में क्यों की है? इसका **समाधान** करते हैं—**अश्लीलत्वादाविति** -"**अश्लीलत्वादि**" में तो नियम से वाक्य के अन्दर व्यापकता नहीं होती है। [अर्थात् '**हन्तुमेवप्रवृत्तस्य**" इत्यादि में कहीं तो वाक्य के अन्दर व्यापकता होती है, और कहीं "विदर्भिणः" इत्यादि में पदनिष्ठ व्यापकता होती है। अत: वाक्यगतदोषता न होकर "अश्लीलत्वदोष" की अर्थगत ही दोषता होती है। इसी प्रकार "**अकालेप्रस्थितकान्तम्**" इत्यादि में केवल **प्रस्थित पद में ही अमंगलरूप अश्लीलत्व दोष** होने के कारण वाक्य के अन्दर व्यापी नहीं है, अत: अर्थगत अश्लीलता दोष है।]

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति ।'
अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम् ।
'चण्डीशचूडाभरण चन्द्र लोकतमोपह ।
विरहिप्राणहरण कदर्थय न मां वृथा ॥'
अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः ।

अथ (२१) (विध्ययुक्तता का उदाहरण) आनन्देति– नन्दित किया है अपने पक्ष को जिसने ऐसा वह शत्रुओं के पक्ष को मार डालेगा । (दोष दिखाते हैं)

अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "शत्रु के पक्ष को मार कर अपने पक्ष को आनन्दित करेगा" ऐसा विधान करना ठीक है । (क्योंकि ऐसा होने पर कोई दोष नहीं रहता ।) ।

टिप्पणी—उपर्युक्त उदाहरण के अन्दर शत्रुपक्ष को मारना और अपने पक्ष को आनन्दित करना इन दोनों के ही विधेय होने पर भी शत्रुपक्ष को मारने के अनन्तर ही अपने पक्ष को आनन्दित करना इष्ट होने के कारण, आनन्दित करने की क्रिया में ही तात्पर्य को करना उचित था पर वैसा न करके शत्रुपक्ष को मारने की क्रिया में कर दिया है, अतः **विध्ययुक्तता दोष** है ।

(२) विध्ययुक्तता का लक्षण—'**विधेयतात्पर्याप्ययोग्ये तात्पर्यार्पणत्वं विध्ययुक्तत्वम् ।**"

(३) इस दोष के अन्दर विवक्षित अर्थ का निर्वाह न होना ही दूषकता का कारण है । समाधान न हो सकने से यह नित्य दोष है ।

विधेयाविमर्श में शब्द श्रवण के अनन्तर ही दोष की प्रतीति होती है किन्तु **विध्ययुक्तता** में अर्थज्ञान के अनन्तर दोष की प्रतीति होती है—यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ–(२२) (**अनुवादायुक्तता** का उदाहरण) **यथा-चण्डीशेति**–[**प्रसंग**—चन्द्रमा के प्रति किसी विरहिणी की उक्ति है ।) (हे) शिवजी की शिखा के मणि ! (हे) संसार के अन्धकार को नष्ट करने वाले ! (हे विरहियों के प्राणों का हरण करने वाले मुझ (विरहिणी) को व्यर्थ ही (अपराध के बिना ही) दुःखित मत करो । [यहाँ विरहिणी नायिका का अपने को दुःख न देने की प्राथना करने में विरहियों के प्राणों को हरण करने के रूप में कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो विरहियों के प्राणों का हरण करता है उससे कोई विरही अपनी प्राणरक्षा की भिक्षा कैसे मांग सकता है ।] (समाधान करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ विरही की उक्ति में तृतीय चरण का अर्थ चन्द्रमा के विशेषण रूप मे नहीं रखना चाहिये (नानुवाद्यः) ।

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में पहले तीन विशेषणों से तो महत्व की प्रतीति होती है किन्तु "विरहिप्राणहरण" ! यह तृतीय चरणगत सम्बोधन के अर्थ का विशेषण के रूप में रखना ठीक नहीं है । अतः "विरहिप्राणहरण" ? इसके स्थान पर "संसारानन्ददति," ऐसा कर देने पर यह दोष नहीं रहता है

'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्टचारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥'

---

(८) **विध्ययुक्तता** का लक्षण--**अनुवाद्यविशेषणस्य विधिविरोधित्व— मनुवादायुक्तता**।'' इसके अन्दर विधि की विरुद्धता ही दूषकता का कारण है। पाठ परिवर्तन कर देने पर भी समाधान न हो सकने से यह नित्य दोष है।

अर्थ (२३)–(**निर्मुक्तपुनरुक्तत्व दोष** का उदाहरण) **यथा—लग्नमिति—** [**प्रसङ्ग**--राजा की यह प्रशंसा है] रुधिर की लालिमा से व्याप्त है शरीर जिसका ऐसी **अन्यत्र** अनुराग से पूर्ण है अवयव जिसकी ऐसी जो तलवार **अन्यत्र** तलवार के समान कोई नायिका इस (संग्राम) में शत्रुओं के कण्ठ में दृढ़तापूर्वक (शिरों का कर्त्तन करने के लिये) लगी है अर्थात शत्रुओं के शिरों को काटा है **अन्यत्र**— आलिङ्गन करने के लिये लगी है। (तथा) जो (तलवार) **अन्यत्र**—नायिका इस (संग्राम) में हाथियों के ऊपर स्वयमेव जाकर (टुकड़े करने के लिये) गिरती हुई शत्रुओं के योद्धाओं ने देखी है अर्थात् तलवार से हाथियों को मारा है **अन्यत्र**—कामशास्त्रोक्त पुरुष विशेषों के ऊपर (हस्तिभिः) स्वयमेव जाकर (रमण करने के लिये) घूमती हुई उदासीन मनुष्यों में अथवा उत्कृष्ट मनुष्यों ने देखी है। उस (तलवार) में आसक्त अर्थात् केवल युद्ध में आसक्त **अन्यत्र** स्वैरिणी नायिका में आसक्त यह तुम्हारा जमाता और मेरा स्वामी) कुछ भी (मेरे सुख दि को) नहीं गिनता है (अपितु) उस (राजा) ने (अपने) नौकरों को अर्थात् मन्त्री आदिकों को (मुझे) दे दिया है— (यह बात) तुम्हें (मेरे पिता समुद्र को) ज्ञात होनी चाहिये–(अनन्तर अपनी कन्या के दुःख को समाप्त करने के लिये जो करने योग्य है वह करना चाहिये यह भाव है।) यह (समाचार) लक्ष्मी की आज्ञा से (मेरे पिता को तुम जाकर ऐसा कह दो—इस आज्ञा से) कहने के लिये जिसकी कीर्ति (लक्ष्मी की सहचरी) मानो समुद्र तक गई है।

टिप्पणी–(१) **तात्पर्य** यह है किसी वीर राजा की कीर्ति समुद्र पर्यन्त पहुंची है–उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि राजा तलवार पर आसक्त होकर उसी का हो रहा है अतः लक्ष्मी को सपत्नी द्रोह हुआ है और उसने उसकी कीर्ति को अपने पिता के पास उक्त शिकायत करने भेजा है--जिसमें तलवार (सपत्नी) की बुराई, राजा की लापरवाही और अपनी दुर्दशा का हाल है।

(२) यहाँ कथन वैशिष्ट्य में शौर्य, दातृत्व और यश के उत्कर्ष का वर्णन किया है। इसमें "**व्याजस्तुति**' अलकार है। उसका लक्षणः—

उक्ता व्याजस्तुति पुनः।

निन्दास्तुताभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः सा० द० १० म० परि० ॥

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम्।
अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः।
अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः।

---

(३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व का लक्षण—प्रादौनिर्मुक्तः-समाप्तः पश्चात् पुनरुक्तः—पुनः प्रतिपादितः तस्य भावः तत्वम् निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम्। अर्थात् कारक के क्रिया के साथ अन्वय समाप्त होने पर भी पुनः उस कारक का उपादान करना निर्मुक्त-पुनरुक्तत्व" दोष कहलाता है।

(४) समाप्तपुनरात्तत्व और निर्मुक्तपुनरुक्तत्वदोष में भेद—विशेषणमात्र से पुनः उपादान करना 'समाप्तपुनरात्तत्व" होता है और विशेष्य रूप से विद्यमान दूसरे कारक से पुनः उपादान करना "निर्मुक्तपुनरुक्तत्वदोष" होता है।

(५) जिस प्रकार संसार में त्यक्त किये हुये भोजनादि का पुनः भक्षण करना विरसता को पैदा करता है। उसी प्रकार यहाँ सहृदयों के हृदय में विरसता को उत्पन्न करना दूषकता का कारण है। समाधान न होने के कारण यह नित्य दोष है।

अर्थ—(दोष का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "**विदिततेऽस्तु**" इससे समाप्त (किये) भी वचन का '**तेन**" इत्यादि से पुनः उपादान किया है (अतः "निर्मुक्तपुनरुक्तत्वदोष" है।)

अथ रसदोषनिरूपणम्:—

अर्थ—इसके बाद (**अर्थदोष** के निरूपणोपरान्त) "**रसदोष**" का निरूपण करते हैं—

अर्थ (१)—अपने शब्द से (अपने) रस का (अथवा शृंगारादि का) कथन करना, (२-३) स्थायीभाव रत्यादि और सञ्चारी निर्वेदादि का (अपने शब्द से कथन करना), [**अर्थात् रस का रस शब्द से अथवा शृंगारादि शब्द से, स्थायीभाव का स्थायी शब्द से अथवा रत्यादि शब्द से, सञ्चारीभाव का सञ्चारी शब्द से अथवा निर्वेदादि शब्द से उपादान** करने पर तीन दोष होते हैं] (४) विरुद्ध (प्रतिकूल स्वभाव वाले) रस के अङ्गभूत विभावादि का उपादान करना, (५) कष्ट से (अनुसन्धेय प्रकरणादि की पर्यालोचना से) अनुभाव और (६) विभाव का कल्पित आक्षेप करना (७-८) असमय में अथवा सहसा (रस का) विस्तार और विच्छेद हो जाना (बीच में छोड़ देना) (९) तथा (रस की) पौनःपुन्येन उद्दीप्ति (१०) प्रधान रस का प्रकाशन न करना (११) और गौण (रस का) वर्णन करना (१२) अङ्गरूप रस का अत्यन्त विस्तार करना (१३) धीरोदात्तादि नायकोचित धर्मों का अन्यथा वर्णन करना (यह एक प्रकार का अनौचित्य है और) (१४) दूसरा (प्रकृतिविपर्यय से भिन्न) अर्थों का अनौचित्य है—ये (दोष) रसगत दोष मानेगये हैं।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।'

टिप्पणी—(१) रसदोषों का परिगणन इस प्रकार है—(१) **रसस्य स्वशब्दवाच्यत्वम्** (२) **स्थायिनः स्वशब्दवाच्यत्वम्** (३) **सञ्चारिणः स्वशब्दवाच्यत्वम्** (४) **परिगृहीतविरुद्धरसांगविभावादित्वम्** (५) **कष्टकल्पितानुभावत्वम्** (६) **कष्टाक्षिप्तविभावत्वम्** (७) **अकाण्डे रसप्रथनम्** (८) **अकाण्डे रसच्छेदः** (९) **रसस्य पुनः पुनरुद्दीपितत्वम्** १० **अंगिरसाननुसन्धानम्** (११) **अनङ्गरसकीर्तनम्** (१२) **अंगरसातिविस्तृतिः** (१३) **प्रकृतिविपर्ययः** (१४) **अर्थानौचित्यम्**—ये चौदह (१४) रस दोष समझना चाहियें ।

(२) इन रसदोषों में से (१) **सञ्चारिशब्दवाच्यत्वम्** और (२) **परिगृहीतविरुद्धरसांगविभावादित्वम्** ये दोष अनित्य हैं, शेष नित्य है । '**सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बोध्यत्वेन वचोः गुणाः**" ऐसा कह काव्य प्रकाशकार ने भी कुछ दोषों के गुणत्व को स्वीकार किया है ।

अर्थ—("**स्वशब्देन**" इस पद की व्याख्या करते हैं) **रसस्येति**—रस का अपने (रस का बोधक) शब्द (विशेष का कथन न होने से और निश्चय का अभाव होने से सामान्य रस का बोधक है) स्वशब्द और शृंगारादि शब्द (अर्थात् विशेष रस का बोधक-दोनों प्रकार का ग्रहण होता) है ।

टिप्पणी—कहने का **आशयः** यह है कि रस की अपने शब्द से वाच्यता का तात्पर्य है कि रस शब्द से अथवा शृंगारादि शब्द से रस को उपस्थित करना इसी प्रकार स्थायीभाव और सञ्चारीभाव की भी अपने शब्द से वाच्यता समझनी चाहिये । सूक्ष्मवस्त्र से आच्छादित रमणी के कुचकलश के समान व्यञ्जनावृत्ति से गम्य कुछ श्रम से ही प्रतीत होता हुआ रस विलक्षण आनन्द को उत्पन्न करता है, तथा अत्यन्त स्फुट नाम्ना कहा जाता हुआ और बिना परिश्रम के प्रतीत होता रस किसी प्रकार की चमत्कारिता को पैदा नहीं करता है अतः रस की प्रतीति का प्रतिबन्धक होने के कारण दोष का कारण है । इसी प्रकार ही स्थायी और सञ्चारीभाव की स्वशब्दवाच्यता समझनी चाहिये । समाधान न हो सकने से नित्य दोष हैं ।

अर्थ—(१) क्रम से **यथा**—(रस का सामान्यतः रस शब्द से वाच्यता दोष का उदाहरण) **तामिति**—इस मृगनयनी को देखकर हमारे हृदयों में अनिर्वचनीय रस उत्पन्न हुआ

टिप्पणी—यहाँ दूसरे चरण में "रस" शब्द का प्रयोग होने से रस का सामान्यतः स्वशब्दवाच्यता दोष है । यद्यपि रस पद के प्रयोग से उस उस रस से आक्षिप्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों से रस की अभिव्यक्ति हो जाती है तथापि "रस" पद का कथन करने से रस का अपकर्ष होता है । यहाँ **विकारः कोऽप्यजायत**" ऐसा पाठ होने पर तो कोई दोष नहीं है । समाधान हो सकने से यह अनित्य दोष है ।

'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम ॥'

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'अजायत रतिस्तस्य स्त्वयि लोचनगोचरे ।'

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने ।'

अत्र प्रथमे पादे 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' इति लज्जाया अनुभावमुखेन कथने युक्तः पाठः ।

अर्थ—('रस का विशेष वाचक शृंगार शब्द से वाच्यता'' का उदाहरण) **यथा—चन्द्रेति**—(उसके मुखरूपी) चन्द्र मण्डल को देखकर (मेरा) अन्तःकरण शृंगार रस में आसक्त हो गया ।

टिप्पणीः—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में रस के विशेष वाचक शृंगार शब्द के प्रयोग से '**स्वशब्दवाच्यतादोष**'' है । यद्यपि शृंगार पद से गृहीत सम्भोग शृंगार के विभाव-अनुभाव और सञ्चारी भावों से रस की अभिव्यक्ति हो जाती है तथापि शृंगार शब्द से वाच्य होने के कारण रस का अपकर्ष होता है । समाधान हो सकने से यह भी अनित्य दोष है ।

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने निम्न उदाहरण दिया है:—

आलोक्य कोमलकपोलतलाभिषिक्तव्यक्तानुरागसुभगामभिरामसूर्तिम् ।

पश्यैष बाल्यमतिवृत्य विवर्तमानः शृंगारसीमनि तरङ्गितमातनोति ॥

अर्थ—स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता (का उदाहरण) **यथा अजायतेति**—तुम्हारे दिखाई देने पर उसके (मेरे सखी के हृदय में) अनुराग उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणीः—यहाँ 'रति'' शब्द के प्रयोग से शृंगार रस के स्थायी भाव की स्वशब्दवाच्यता है ।

अर्थ—(६) **व्यभिचारीभाव की स्वशब्दवाच्यता** (का उदाहरण) **यथा**—**जातेति**—मुग्धा (अप्राप्तयौवना नायिका) प्रिय के चुम्बन करने पर लज्जित हो गई । [यहाँ ''लज्जा'' शब्द के प्रयोग से व्यभिचारीभाव की **स्वशब्दवाच्यतादोष** है ।] (समाधान करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ उदाहृत वाक्य में) प्रथम चरण में ''**आसीन्मुकुलिताक्षी सा**'' इस प्रकार अनुभाव के द्वारा (मुकुलताक्षत्वरूप अनुभाव के द्वारा) वर्णन करना उचित है — [चुम्बन के समय ''आँखों का बन्द होना'' लज्जाजनक होने से अनुभावता है ।]

टिप्पणीः—(१) व्यभिचारीभाव अपने अपने अनुभाव से व्यक्त होते हुये ही सहृदयों के आस्वाद्य होते हैं । और जहाँ एक स्थान पर व्यभिचारियों का अनुभाव के द्वारा वर्णन होता है और अपने शब्द से कथन होता है वहाँ रसादि में दोष नहीं होता । यथा—

''लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बालाचिरं चुम्बितां इति''

(२)''**क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः**'' इस कथन के अनुसार समाधान संभव होने से यह अनित्य दोष है ।

'मानं मा कुरु तन्वङ्गि ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम् ।'

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

'धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।
इषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥'

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना ।

अर्थ (४)—**परिगृहीतविरुद्धरसाङ्गविभावादित्व** का उदाहरण) **मानमिति**—(हे) कृशाङ्गि ! यौवन चञ्चल समझकर अभिमान मत करो । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पक्ष में) यौवन की चञ्चलता का वर्णन शृंगार रस के विरोधी (**"शान्तस्तुवीरशृंगाररौद्रहास्यभयानकैः"** इस न्याय के अनुसार) शान्त रस का अङ्ग है, और शान्त रस का ही (शृंगार रस का नहीं) उद्दीपन विभाव है, अतः शृंगार रस में उसका (यौवन की अस्थिरता का) वर्णन करना उचित नहीं है ।

टिप्पणीः—(१) कहने का **आशय** यह है कि निर्वेद स्थायीभाव वाले शान्त रस में ही यौवनादिकों की अस्थिरता का वर्णन करके अभिमान के परित्याग का उपदेश देना ठीक है । शृंगार और शान्त रस में महान् विभेद है - अतः विरोधी रस के अङ्गभूत विभाव का ग्रहण इस उदाहरण में है । किन्तु—

**त्यजत मानमलं बत । विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः ।
परभृताभिरितीव निवेदिते स्मरमते ऽरमतेष्ट सखीजनः ॥**

यहाँ रघु के विषय में यौवन की अस्थिरता का कथन करना दोष नहीं है ।

(२) **"विभावादे"** इसमें "आदि" पद से अनुभाव और सञ्चारीभावों का ग्रहण होता है ।

अर्थ—(५) (**अनुभाव के कष्ट से आक्षिप्त** होने का उदाहरण) **धवलयतीति**—संसार के नेत्रों को आनन्द देने वाले, शीतल किरणों वाले (चन्द्रमा) के, संसार को (अपनी किरणों से) शुभ्र करते हुये होने पर किंचित् कटाक्ष विक्षेप करती हुई मन्दहास्यमुखी उस (जो तुम्हारे अनुनय-विनय करने पर भी अपने मान को नहीं छोड़ती थी) सुन्दरी(तन्वी) को देखो । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शृंगार रस के उद्दीपन विभाव (चन्द्र, कटाक्ष और मन्दहास) और आलम्बन विभाव (नायिका) अनुभाव पर्यवसायी रूप से स्थित हैं—अर्थात् **अनुभाव—नायककर्तृकनायिकानिरीक्षणजन्यमानभङ्गसनाथीकृताह्लादं पर्यवसायतः–प्रकरणाद्यनुसन्धानसापेक्षतया विलम्बेनावगमयतः तौ**—अतः अनुभाव की कठिनता से कल्पना (होती) है ।

'परिहरति रतिं मतिं लुनीते स्खलतितरां परिवर्तते च भूयः ।
इति बत विषमा दशास्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥'

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्रादाक्षेप्यः ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में नायक के द्वारा नायिका का देखा जाना—नायक के देखने से नायिका का मानभङ्ग होना—और नायिका के मानभङ्ग होने से नायक का प्रसन्न होना रूप अनुभाव का किसी पद से कथन नहीं किया है तथापि चन्द्रमा आदि उद्दीपन विभाव से और नायिका रूप आलम्बन विभाव से नायक के अनुभाव की कल्पना का आक्षेप कठिनता से होता है । नायिका के कटाक्ष-विक्षेप और स्मित यद्यपि रति के कार्य हैं किन्तु नायक का स्पष्ट वर्णन न होने के कारण यह कहना कठिन है कि वे रति के कार्य हैं या स्वाभाविक विलासभाव ।

(२) यहाँ पर नायक शृङ्गारी है । इसका भी निश्चितरूपेण कुछ पता नहीं चलता—अतः अनुभाव का नायिका के प्रति दृष्टिपात करने की कल्पना कठिनता से होती है । और यदि नायक शृङ्गारी नहीं है तो नायिका के प्रति दृष्टिपात करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता—अतः उस समय में उस प्रकार की नायिका में मुनि का भी मनःविक्षोभ हो जाना स्वाभाविक ही है—अतः उसकी ओर देखना—इस अनुभाव की कल्पना कष्ट से होती है ।

(३) समाधान न हो सकने से यह नित्यदोष है ।

अर्थ—(६) (**विभाव की कष्ट कल्पना** का उदाहरण) **परिहरतीति**–[**प्रसङ्ग**—किसी दुर्लभ नायिका में अत्यन्त अनुरक्त किसी युवक को देखकर उसके मित्र की किसी दूसरे से यह उक्ति है ।]—(यह मित्र) किसी अन्य वस्तु के प्रति इच्छा को नहीं करता है. बुद्धि को विनष्ट कर रहा है (धैर्य धारण कराने वाली बुद्धि को भी छोड़ रहा है), अत्यधिक भूमि पर गिरता है अथवा स्खलित वचन बोलता है, पौनः पुन्येन (शय्या पर) करवटें बदलता है; बड़े दुःख की बात है (बत !) कि इस प्रकार की विषम अवस्था इस (मित्र) के शरीर को बलात् पीड़ा पहुंचा रही है, इस विषय में (हम) क्या करें ? (कोई उपाय नहीं सूझ रहा है ।) (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदधृत पद्य में) (किसी वस्तु के प्रति) रति (अनुराग) के परिहारादिक (अनुभावों) के करुणादिकों में भी सम्भव होने से ["आदि" पद से भयानक और बीभत्स का तथा विषयों से वैराग्य को उत्पन्न करने वाले शान्त रस का ग्रहण होता है—और इनमें से संशय के कारण किसी का भी निश्चय नहीं होता है] कामिनीरूप (विप्रलम्भ शृङ्गार का) आलम्बन विभाव की (प्रकरणादि के मालूम न होने के कारण) कठिनता से कल्पना होती है । [अतः दोष है ।]

अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षये-काले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम् ।

छेदो यथा—वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे कङ्कण-मोचनाय गच्छामीति राघवस्योक्तिः ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर नायकनिष्ठ विप्रलम्भ शृङ्गार के आलम्बन विभाव कामिनी रूप का वर्णन नहीं किया है जो जिन अनुभावों का वर्णन किया है, वे रति परिहारादि अनुभाव दूसरे रसों में भी सम्भव हो सकते हैं, अतः प्रकरण आदि के अननुसन्धान से विभाव की कल्पना क्लिष्टता से होती है ।

(२) समाधान न हो सकने से यह नित्यदोष है ।

अर्थ—(७) **अकाण्ड में रस के विस्तार** (का उदाहरण) **यथा वेणीसंहार**—(नामक नाटक) के द्वितीय अंक में प्रारम्भ हुए अनेक वीरों के (भीष्मादिकों के) विनाश के अवसर पर दुर्योधन का (अपनी पत्नी) भानुमति के साथ शृङ्गार का विस्तार (से वर्णन किया) है ।

टिप्पणी—(१) ऐसे समय में वीर रस का अथवा करुण रस का अवसर होता है, शृङ्गार रस का नहीं । शृङ्गार का तो वहाँ प्रवेश भी नहीं हो सकता है, अतः दोष है ।

(२) विरोधी रसों के मध्य में मुख्यतया रस विशेष का विस्तार से वर्णन कर देना "असमय में रस का विस्तार" कहलाता है । किन्तु गौण रूप से विरोधी रस का वर्णन कर देने में दोष नहीं है क्योंकि स्वयं ही कहा है कि "**विरोधिनोऽपि स्मरणः**" **इत्यादि** । विरोधी रस के वर्णन से दोनों ओर से खींचा जाता हुआ रस के चमत्कार का नाश हो जाता है, अतः यह दूषकता का कारण है । समाधान सम्भव हो सकने से यह अनित्य दोष है ।

अर्थ—(८) (**अकाण्ड में रस के**) **विच्छेद** (का उदाहरण) **यथा**--**महावीर-चरित** में रामचन्द्रजी और परशुराम के धारावाहिक (वीर रस के) युद्धोत्साह के प्रारम्भ होने पर "कङ्कण खोलने के लिये जाता हूं" यह राघव की उक्ति (दोषा-धायक है) ।

टिप्पणी—(१) "कङ्कण खोलने के लिये जाता हूं" ऐसा असमय में कहना बहाने से युद्धस्थल से चले जाने का प्रतिपादन करती हुई श्री रामचन्द्रजी की कायरता को व्यक्त करती है । अतः धीरोदात्त नायक रामचंद्रजी में वीर रस का परिपाक नहीं होता है, अतः यह दोष है । तथा उस प्रकार के समाज में उस प्रकार का आच-रण करना अशक्ति का द्योतक होने से कीर्त्ति को नष्ट करने वाला है—यह भाव है ।

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे।

---

(२) वस्तुतः महावीरचरित में श्री रामचन्द्रजी ने उक्त वाक्य नहीं कहा है अपितु कञ्चुकी ने आकर राजा जनक से यह कहा है कि **"देव्यः कङ्कणमोचनाय मिलिता राजन वरः प्रेष्यताम्"** इति।

(३) कङ्कण खोलने की प्रक्रिया विवाह के दस दिन पश्चात् होती है किन्तु अब तो दूसरे, तीसरे, पाँचवें या छठे दिन सम्पन्न कर दी जाती है।

(४) रस का पूर्ण परिपाक हुए बिना रस का विच्छेद कर देना "अकाण्ड में रस विच्छेद" कहलाता है। और रस के विश्लेष से चमत्कृति का भी भङ्ग हो जाता है—अतः यह दूषकता का कारण है।

अर्थ—(९) पौनः पुन्येन रस की उद्दीप्ति (का उदाहरण) **यथा—कुमारसम्भव** के रति विलाप (के प्रकरण) में (पुनः पुनः रस की उद्दीप्ति हुई है)।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि कुमारसम्भव के रति विलाप के समय **"अथ मोहपरायणासती"** इससे उद्दीप्त होता हुआ भी करुण रस—

अथ सापुनरेव विह्वला वसुधालिंगनधूसरस्तनी।
विललाप विकीर्णमूर्धजा समदुःखामिव कुर्वति स्थलीम्॥ पुनः इससे

उद्दीपन कर दिया गया। अथ च वसन्त को देखकर कम होता हुआ भी करुण रस पुनरपि—

तमवेक्ष्य रुरोदसा भृशं स्तन सम्बाधमुरो जघान च।
स्वजनस्य हि दुःखमग्रतो विवृतद्वारमिवोपजायते॥ इससे उद्दीप्त हो गया। अतः बार बार करुण रस का विस्तार करने के कारण अमांगलिक होने से अनुचित है।

(२) **पुनः पुनर्दीप्ति** का लक्षण—जिस किसी भी अपनी सामग्री से परिपुष्ट रस का बीच बीच में रुक-रुक कर बार-बार पुष्ट होने को "**पुनः पुनर्दीप्ति**" कहते हैं। इसमें एक ही रस का पौनः-पुन्येन आस्वाद सहृदयों के हृदय में विरसता को उत्पन्न करता है, अतः दूषकता का कारण है। ध्वनिकार ने भी कहा है कि—**"उपयुक्तो हि रसः स्वसामग्री लब्ध परितोषः पुनः पुनः परामृश्यमानः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्प्यते। परिपाकं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनं रसस्य स्याद्विरोधाय"** इति। यह पुनः पुनः दीप्ति गौण रसादिकों की ही होती है; अङ्गी (प्रधान) रस की नहीं। मुख्य रस की पुनः पुनः दीप्ति तो महाभारतादि में शान्तादि रस की तरह विरसता को उत्पन्न नहीं करती है। अतएव यह अनित्य दोष है।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम्।

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादिः।

अर्थ—(१०) **प्रधान रस के अननुसन्धान (विस्मृति) दोष** (का उदाहरण) **यथा—रत्नावल्यामिति—रत्नावली नामक नाटिका** के चतुर्थ अंक में बाभ्रव्य (सागरिका के पिता सिंहलेश्वर के पास से आये हुये बाभ्रव्य नामक कञ्चुकी) के आने पर (विजयवर्मा के वृत्तान्त को सुनने में एकाग्रचित राजा वत्सराज द्वारा) सागरिका की (नाम भी न लेने से) विस्मृति है। अतः नाटिका के अन्दर प्रतिपाद्य शृंगार रस प्रायः खण्डित हो गया है—इसलिए दोष है।

टिप्पणी—(१) **अंगिनोऽननुसन्धानम्** की व्याख्या—प्रधान पात्र का निर्देश न करने से प्रधान रस की उद्दीप्ति न होना 'अगिनोऽननुसन्धानम्" कहलाता है।

(२) **अकाण्ड में रसविच्छित्ति और अंगी का अननुसंधान** में भेद—"अकाण्ड में रसविच्छेद के अन्दर आलम्बन का निर्देश होने पर भी सहसा रस का विच्छेद हो जाता है परन्तु "अङ्गी का अनुसन्धान न करने" में आलम्बन का निर्देशन करने से रस की विच्छित्ति हो जाती है- यही इन दोनों में भेद है।

(३) इसके अन्दर प्रधान पात्र के अनुसन्धान के अधीन शृंगार रस की धारा उसके विस्मृत हो जाने पर रुक जाती है। अतः यह दूषकता का कारण है।

(४) समाधान न हो सकने से यह नित्य दोष है।

अर्थ—(११) **अनंग रस का** (प्रधान रस के अनुपकारी रस का) **कीर्तन** (वर्णन करना) **यथा—कर्पूरमञ्जर्यामिति—कर्पूरमञ्जरी नामक** (राजशेखर कृत) **सट्टक** में राजा और नायिका का (चपल और विभ्रमलेखा का) स्वयं किये हुए वसन्त वर्णन का अनादर करके वन्दी द्वारा किये हुये (वसन्त के) वर्णन की प्रशंसा करना।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि **"जधा किल णिवेदिवं बवीहि षडट्वाज्जेव्व मल ग्रांणिला तधाहि"** यहाँ से लेकर विदूषक की उक्ति पर्यन्त प्रकरण से अप्रधान वसन्तवर्णन की प्रशंसा करना प्रकृत रस के अनुपयुक्त होने पर भी किया है, यही दूषकता का कारण है।

(२) यह अनित्य दोष है।

अर्थ—(१२) **अंगभूत रस का अत्यन्त विस्तार करने** (का उदाहरण) **यथा—किरात इति—किरातार्जुनीय नामक काव्य** में अप्सराओं के विलासादि (का वर्णन)।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः।

टिप्पणी:—(१) किरातार्जुनीय नामक काव्य वीररसप्रधान काव्य है, शृंगारादि उसके अङ्गभूत रस हैं प्रधान रस नहीं किन्तु पुनरपि सप्तम सर्ग से लेकर दशम सर्ग पर्यन्त चारों ही सर्गों में अप्सराओं के विलासादि के वर्णन के विस्तार से वीर रस तिरोहित सा प्रतीत होता है, अतः यह दोष है।

(२) इस दोष के कारण प्रधान रस तिरोहित सा हो जाता है, अतः दूषकता का कारण है।

(३) समाधान न हो सकने से नित्य दोष है।

अर्थ—(१३) (प्रकृतिविपर्यय का उदाहण देने के लिये प्रकृति-नायक का वर्णन करते हैं) प्रकृतय इति–प्रकृतियाँ (**प्रक्रियते-प्रकर्षेण रस उद्बोध्यते अभिरिति प्रकृतयः**) अर्थात् नायकादि (तीन प्रकार के होते हैं)–(१) दिव्य (**दिवि-स्वर्गे भवाः दिव्याः** अर्थात देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व और राक्षस आदि), (२) अदिव्य (मनुष्य रूप दुष्यन्तादि) और (३) दिव्यादिव्य (अर्थात् दिव्य होते हुए भी मनुष्य रूप से अवतीर्ण अपने आपको अदिव्य मानने वाले श्री रामादि) उनके (दिव्यादि नायकों के) धीरोदत्तादि (नायक) होते हैं। ('आदि" पद से धीरोद्धातादिकों का ग्रहण होता है), उनमें भी (धीरोदात्तादिकों में) उत्तमत्व एवं मध्यमत्व और अधमत्व (प्रकृति होती) है। (**प्रकृतिविपर्यय** दिखाते हैं) और उनमें से जो जिस प्रकार से (प्रसिद्ध) है, उसका अन्यथा वर्णन करने में (वैसा वर्णन न करने में) प्रकृतिविपर्यय दोष (होता) है।

टिप्पणी:—(१) दिव्यादि नायकों का अन्यथा वर्णन करने से प्रकृतिविपर्यय" होता है। अतः प्रकृतिविपर्यय के ज्ञान के लिये उनके उचित वर्णन का वर्णन करते हैं। यथा—

> **रतिस्तथैव हासश्च शोक आश्चर्यमेव च।**
> **दिव्यानामुचितं वर्ण्यमदिव्योत्तमनेतृवत् ॥**
> **किन्तु संभोगशृंगारो वर्ण्योनोत्तमदेवयोः।**
> **सद्यः फलप्रदः क्रोधो भ्रुकुटयादिविवर्जितः ॥**
> **उत्साहस्वर्गपाताल गत्यब्धि लंघनादिषु।**
> **दिव्यानामेव नेतृणां वर्ण्यते ह्युचितं बुधैः ॥**
> **ख्यातं लोकपुराणादौ यच्चान्यत् स्यादबाधितम्।**
> **वर्णनीयमदिव्यानामन्येषां तूभयं बुधैः ॥**
> **पूज्यादौ तु तत्रभवन् भगवन्निति चोच्यते।**
> **भट्टारकेति राजादौ परमेशेति चोच्यते ॥**
> **इत्याद्युचितमेतेषां विरुद्धं दूषणं भवेत् ॥ इति ॥**

(२) काव्य के अन्दर नायकों के अयथार्थ रूप से ज्ञान होने से श्रोताओं के हृदय में विमुखता की उत्पत्ति होती है, अतः दूषकता का कारण है।

(३) समाधान न हो सकने से यह नित्य दोष है।

यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः । यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम् । 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः ।

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम् । तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासंभवः ।

अर्थ — (**प्रकृतिविपर्यय** का उदाहरण) **यथा–धीरोदात्तस्येति**—धीरोदात्त (नायक) श्री रामचन्द्र जी का धीरोद्धत (नायक) की तरह कपट से बालि का वध करना । **अथवा** – कुमारसम्भव में उत्तम देवता पार्वती और शिवजी का संभोग शृंगार का वर्णन । "यह (संभोग शृंगार) माता-पिता के सम्भोग के वर्णन की तरह अत्यन्त अनुचित है" ऐसा (प्राचीन आचार्य मम्मट) कहते हैं ।

टिप्पणी—उत्तम देवता का शृंगार रस वर्णन अनुचित है—इस कहने का **आशय** यह है कि जो-जो शृंगार के व्यञ्जक रहस्यमय अर्थ माता-पिता के वर्णन में अनुचित हैं—उनका वर्णन नहीं करना चाहिये । अन्यथा रघुवंश में रावण वध के अनन्तर अपने राज्य में लौटे हुये श्री रामचन्द्र जी की सीता के प्रवाद का वर्णन अथवा उसी प्रकार किसी अन्य कविकृत वर्णन अनुचित हो जावेगा । अनुचित ही सभी महाकवियों के प्रबन्धकाव्यों में उस-उस प्रकार का वर्णन अनुचित होता है । परन्तु—

यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥

(**यथा**—कपट से बालि का वध मायुराज ने **उदात्तराघव** नाटक में छोड़ दिया है । **वीरचरित नाटक** में भवभूति ने रावण की मित्रता से रामचन्द्र जी को मारने के लिये आये हुये बालि का वध रामचन्द्र जी द्वारा करवा दिया है । इस प्रकार कथानक को बदल दिया है ।

अर्थ (१४)—**अर्थ के अनौचित्य** का उदाहरण देने के लिये उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं, **अन्यदिति** —(अर्थों के) अनौचित्य से अतिरिक्त (अन्यत्) देश (पर्वत, वन और राष्ट्र आदि), काल (रात्रि, दिन और ऋतुयें) आदिकों का जो अन्यथा वर्णन है (उसे भी अनौचित्य के अन्तर्गत समझना चाहिये) । [अनौचित्य केवल रस की अपकर्षकता के दोष का ही कारण नहीं है, अपितु काव्य के अन्दर प्रवृत्ति और निवृत्ति की उपदेशपरता के व्याघात का भी कारण है – क्योंकि] **तथासतीति** —वैसा होने पर (अन्यथा रूप से वर्णन होने पर) काव्य की अप्रामाणिकता के ज्ञान से विनेय (शिक्षणीय) पुरुषों की (काव्य के अध्ययन में) प्रवृत्ति असम्भव है । [और इस प्रकार से रस की प्रतीति ही नहीं होगी ।]

टिप्पणी—(१) "**देशकालादीनाम्**"—यहाँ "आदि" पद से लोक, जाति और वयःप्रभृति का ग्रहण होता है । लोक का लक्षण—

"**चराचराणां भूतानां प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता ।।**"

इसीप्रकार देवताओं के अवयवों का शिर से प्रारम्भ करके वर्णन नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके शिर के पूज्य होने के कारण पैर से वर्णन करना ही ठीक है । और मनुष्यों का पैर से प्रारम्भ करके वर्णन नहीं करना चाहिये क्योंकि उनका शिर से प्रारम्भ करके ही वर्णन इष्ट है । अतः सुकवियों को रसभङ्ग के कारण सभी प्रकार के अनौचित्य को प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिये । ध्वनिकार ने कहा है कि—

अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

(२) वस्तुतः सभी दोष अनौचित्य मूलक होते हैं अर्थात् सभी दोषों का मूलकारण अनौचित्य हुआ करता है ।

सम्पूर्ण दोषों का परिगणन संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) दुःश्रवत्वम् = "**कातार्थ्यम्**"— । (२) अश्लीलत्वम् (त्रिविधम्) = **दृप्तारि**—,"**प्रससार**—" । (३) अनुचितार्थत्वम् = "**शूरा**—" । (४) अप्रयुक्तत्वम् = "**भाति**—" । (५) ग्राम्यत्वम् = "**कटिः**—" । (६) अप्रतीतत्वम् = "**योगेन**—" । (७) सन्दिग्धत्वम्—'**आशीः**—" । (८) नेयार्थत्वम् = "**कमले**—" । (९) निहितार्थम् = "**यमुना**—" । (१०) अवाचकत्वम् = "**शीतेषु**—" । (११) क्लिष्टत्वम् = "**क्षीरोद**—" । (१२) विरुद्धमतिकारित्वम् = "**भूतये**—" । (१३) **अविमृष्टविधेयांशत्वम्** = '**स्वर्गग्रामटिका**—" । (१४) निरर्थकत्वम् = "**मुञ्चमान**—" । (१५) असमर्थत्वम् = "**कुञ्जं हन्ति**—" । (१६) च्युतसंस्कारत्वम् = '**गाण्डीवी**—" ।

इनमें से 'दुःश्रवत्वादि" तेरह (१३) पददोष और वाक्यदोष हैं । क्लिष्टत्वादि तीन समास के अन्दर ही पददोष हैं । निरर्थकत्वादि तीन केवल पदमात्रवृत्ति हैं । इसीप्रकार दुःश्रवत्वादि यथासम्भव पदांशवृत्ति भी होते हैं ।

(१) प्रतिकूलवर्णत्वम् = "**अवेच्छद्**—" । (२) लुप्तविसर्गत्वम् = "**गतानिशा**—" । (३) आहतविसर्गत्वम् = "**धीरो वरो**—" । (४) अधिकपदत्वम् = "**पल्लवाकृति**—" (५) न्यूनपदत्वम् = "**यदिमदर्पापिता**—" । (६) कथितपदत्वम् (पुनरुक्तत्वम्) = "**रतिलीला**"— । (७) हतवृत्तत्वम् = '**हन्त**—" । (८) पतत्प्रकर्णत्यम् = "**प्रोज्वलन्**—" । (९) सन्धिविश्लेषत्वम् = '**दलित उत्पले**—" । (१०) सन्ध्यश्लीलत्वम् = "**चलण्डा**—" । (११) सन्धिकष्टत्वम् = "**उर्व्यसा**—" । (१२) अर्धान्तरैकपदत्वम् =

"**इन्द्र**—"। (१३) समाप्तपुनरात्तत्वम् = "**नाशयन्तो**—"। (१४) अभवन्मतसम्बन्धत्वम् = "**या जयश्रीः**—"। (१५) अक्रमत्वम् = "**समय एव**—"। (१६) अमतपरार्थत्वम् = "**राममन्मथ**—"। (१७) अनभिहितवाच्यत्वम् = "**व्यतिक्रम**—"। (१८) भग्नप्रक्रमत्वम् = "**एवमुक्तो**—"। (१९) प्रसिद्धित्यागत्वम् = "**घोरो**—"। (२०) अस्थानस्थपदत्वम् = "**तीर्थे**—"। (२१) अस्थानस्थसमासत्वम् = "**अद्यापि**—"। (२२) संकीर्णत्वम् = "**चन्द्रं भुङ्क्ष्व**—"। (२३) गर्भितत्वम् = "**रमणे**—"।

ये प्रतिकूलवर्णत्वादि तेईस (दोष) केवल वाक्यगत होते हैं।

(१) अपुष्टत्वम् = "**विलोक्य**—"। (२) दुष्क्रमत्वम् = "**देहि**—"। (३) ग्राम्यत्वम् = "**स्वपिहि**—"। (४) व्याहतत्वम् = "**हरन्ति**—"। (५) अश्लीलत्वम् = "**हन्तुमेव**—"। (६) कष्टत्वम् = "**वर्षत्येत**—"। (७) अनवीकृतत्वम् = "**सदाचरति**—"। (८) निर्हेतुत्वम् = "**गृहीतम्**—"। (९) प्रकाशितविरुद्धत्वम् = "**कुमारस्ते**—"। (१०) सन्दिग्धत्वम् = "**अचला**—"। (११) पुनरुक्तत्वम् = "**सहसा**—"। (१२) प्रसिद्धिविरुद्धत्वम् = "**ततश्चचार**—"। (१३) विद्याविरुद्धत्वम् = "**अधरे**—"। (१४) साकांक्षत्वम् = "**ऐशस्य**—"। (१५) सहचरभिन्नत्वम् = "**सज्जनो**—"। (१६) अस्थानयुक्तत्वम् = "**आज्ञा**—"। (१७) अविशेषविशेषत्वम् = "**हीरकाणाम्**—"। (१८) अनियमनियमत्वम् = "**आवर्तएव**—"। (१९) विशेष विशेषत्वम् = "**य ीत**—"। (२०) नियमानियमत्वम् = "**आपात**—"। (२१) विध्ययुक्तत्वम् = "**आनन्दित**—"। (२२) अनुवादायुक्तत्वम् = "**चण्डीश**—"। (२३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् = "**लग्नम्**—"।

ये अपुष्टत्वादि तेईस (२३) अर्थदोष हैं।

(१) रसशब्दोक्तिः (२) स्थायिशब्दोक्तिः (३) व्यभिचारिशब्दोक्तिः (४) प्रतिकूलविभावादिग्रहः (५) अनुभावकष्टाक्षेपः (६) विभावकष्टाक्षेपः (७) अकाण्डप्रथनम् (८) अकाण्डच्छेदः (९) पुनः पुनर्दीप्तिः (१०) अङ्ग्यननुसन्धानम् (११) अनङ्गाभिधानम् (१२) अङ्गातिविस्तृतिः (१३) प्रकृतिविपर्ययः (१४) अर्थानौचित्यम्।

ये चौदह (१४) रसदोष है।

अथालङ्कारदोषाणां परिगणितदोषेष्वन्तर्भावनिरूपणम्—

अवतरणिका—**प्रश्न** = "सरस्वतीकण्ठाभरण" में भोजराज ने कहा है कि—

"**हीनोपमं भवेच्चोन्यदधिकोपत्रमेव च। असदृशोपमञ्चान्यदधिकोपमेव च॥**
इसके अनुसार परम्परा से काव्य की आत्माभूत रस का अपकर्षक होने के कारण कुछ अलंकार दोषों का भी कथन किया है, अतः प्रधानतः दोषों के छः प्रकार के होने से '**ते पुनः पञ्चधामताः**" इसप्रकार की संगति कैसे हो सकती है? इसका समाधान करते हैं—

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥१५॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः । तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम् । क्रमेण यथा—

ग्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम् ।'
प्रज्वलज्जलधारावन्निपतन्ति शरास्तव ।'

अर्थ—इन (उक्त काव्यदोषों) से भिन्न अलंकारदोषों का होना सम्भव नहीं है । [अर्थात् हीनोपमादि अलंकार दोषों का इन्ही उक्त दोषों के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है । अतः उनके पृथक्त्वेन स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है ।] (कारिकोक्त "**एभ्यः**" पद की व्याख्या करते हैं ।) **एभ्यः** = अर्थात उक्त दोषों से । (अन्तर्भाव के प्रकार को बताते हैं) **तथाहीति**—उपमालङ्कार में असादृश्य अर्थात् साधारण धर्म की अप्रसिद्धि से सादृश्य से शून्य होने पर और असम्भव अर्थात् उपमान की अप्रसिद्धि होने पर (तथा उसी उपमालंकार में) उपमान की (जिससे सादृश्य का अनुमान किया जाता है उसकी) जातिगत न्यूनता और प्रमाणगत न्यूनता एवं जातिगत अधिकता और प्रमाणगत अधिकता होने पर तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार में उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन होने पर **अनुचितार्थत्वदोष** (होता) है । [अतः असदृश उपमादि अलंकार दोषों को स्वीकार करना व्यर्थ है ।]

अर्थ—(१) क्रम से [अर्थात् **उपमालङ्कार में सादृश्य प्रसिद्ध न होने पर अनुचितार्थ दोष** का उदाहरण] **यथा—ग्रथ्नामीति**—फैल रहे हैं अर्थ किरणों की तरह जिसके ऐसे काव्य को चन्द्रमा की तरह (उपमितसमास है—"**काव्यंशशीव" इति,** रूपक समास नहीं है—"**काव्यमेवशशी इति**") रचता हूं ।

[यहाँ अर्थ और रश्मि का तथा काव्य और चन्द्रमा का कोई भी साधारण धर्म प्रसिद्ध नहीं है । काव्य और चन्द्रमा का आह्लादकत्व रूप एक धर्म सम्भव होने पर भी अर्थ और रश्मि का वैसा कोई धर्म सम्भव नहीं है, अतः यहाँ साधर्म्य की प्रतीति न होने से उपमा के अन्दर असादृश्य रूप **अनुचितार्थत्व दोष** है । यहाँ रूपक भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि रूपक भी सादृश्य मूलक होता है, अतः उसमें भी वही (अनुचितार्थत्व दोष) दोष रहता है ।]

(२) [**उपमालङ्कार में उपमान की अप्रसिद्धि होने पर अनुचितार्थत्व दोष** का उदाहरण] **प्रज्वलदिति**—जलती हुई जल की धाराओं की तरह तुम्हारे बाण गिर रहे हैं ।

[यहाँ प्रकृत उदाहरण में अग्नि के कार्य जलन का जल में असम्भव होने से उससे विशिष्ट जल की धाराओं में भी असम्भव है—इसप्रकार उपमान रूप पदार्थ के सम्भव न होने से उपमा के अन्दर **अनुचितार्थत्व दोष** है ।

प्रश्न—यदि यहाँ पर अभूतोपमा मान ले तो ? **उत्तर**—नहीं, यहाँ अभूतोपमा नहीं है क्योंकि जहाँ उपमान की प्रसिद्धि की सम्भावना भी होती है वही अभूतोपमा होती है । यथा—**सर्वपद्मप्रभासारः समाहृत इव क्वचित् । त्वदाननं विभातीति**

'चण्डाल इव राजासौ संग्रामेऽधिकसाहसः।'
'कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम्।'
'हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः।'
'स्तनावद्रिसमानौ ते।'
'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरण प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसामतीव॥'

ताम भूतोपमां विदुः" यहाँ दण्डी ने "क्वचित्" पद से ब्रह्मा के विधान से कहीं सभी पद्मों की कान्ति की हरणता की सम्भावना दिखाकर इसप्रकार के उपमान से "अभूतोपमा" प्रदर्शित की है। अतएव "**बालप्रवाल विटप प्रभवालतेव**" यहाँ पर भी वटादि वृक्षों पर लताओं को देखकर प्रवाल के वृक्ष पर लता की सम्भावना करके अभूतोपमा दिखायी है। किन्तु प्रकृत उदाहरण में तो जल में अग्नि कार्य के सर्वथा बाध होने से जलती हुई जल की धाराओं की सम्भावना भी नहीं की जा सकती है, अतः **अनुचितार्थत्व दोष** है। (३) [**उपमालङ्कार में उपमान की जातिगत न्यूनता होने पर अनुचितार्थत्व दोष का उदाहरण**] **चाण्डाल इति**—चण्डाल की तरह वह राजा युद्ध के अन्दर अधिक साहसी है। [यहाँ उपमानभूत "चण्डाल" पद की जातिगत न्यूनता उपमेयभूत राजा की क्षत्रिय जाति की अति नीचता व्यज्जित करती है, अतः उपमा के अन्दर **अनुचितार्थत्व दोष** है।] (४) [**उपमालङ्कार में उपमान की प्रमाणगत न्यूनता होने पर अनुचितार्थत्व दोष** का उदाहरण] **कर्पूरेति**—पूरा पद्य इस प्रकार है—

"शुभ्रांशुजालप्रसरेण दिवाकरोत्थं तापं प्रशाम्य सुखमत्यधिकं प्रयच्छः—
न्नक्षत्रमण्डल विशोभितमन्तरिक्षे कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्र बिम्बम्।

चन्द्रमण्डल कपूर के खण्ड की तरह सुशोभित होता है। [यहाँ उपमेयभूत चन्द्रबिम्ब के प्रमाण की अपेक्षा उपमानभूत कपूरखण्ड की प्रमाणगत न्यूनता चन्द्रबिम्ब का अत्यन्त क्षुद्र रूप व्यञ्जित करती हैं, अतः उपमा के अन्दर "**अनुचितार्थत्वदोष**" है।] (५) [**उपमालङ्कार में उपमान की जातिगत अधिकता होने पर अनुचितार्थत्व दोष**" का उदाहरण] **हरवदिति**—महादेवजी के समान नीलकण्ठ वाला यह मयूर सुशोभित होता है। [यहाँ उपमेयभूत विहंगम जाति के मयूर की अपेक्षा उपमानभूत देव जाति के महादेवजी की जाति की श्रेष्ठता होने के कारण उपमा के अन्दर "**अनुचितार्थत्व दोष**" है।] (६) [**उपमालङ्कार में उपमान की प्रमाणगत अधिकता होने पर अनुचितार्थत्व दोष** का उदाहरण] **स्तनाविति**—तुम्हारे स्तन पर्वत के समान (विशाल) हैं। [यहाँ उपमेयभूत स्तनों की अति महत्ता को बताने वाला उपमानभूत अद्रिपद में प्रमाण की अधिकता होने से उपमा के अन्दर **अनुचितार्थत्वदोष** है।] (७) [**उत्प्रेक्षालङ्कार में उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन करने पर अनुचितार्थत्वदोष** का उदाहरण] **दिवाकरादिति**—[**प्रसङ्ग—कुमारसम्भव** के प्रथम सर्ग में हिमालय का यह वर्णन है।] जो (हिमालय) कन्दराओं में छिपे हुये अन्धकार की दिन में डरे हुये की तरह सूर्य से रक्षा करता है (वह है)। (क्योंकि) निश्चय ही क्षुद्र व्यक्ति की शरण में आ जाने पर अर्थात् शरणागत हो जाने पर महात्माओं की अतीव ममता (हो जाती) है।

एवमादिषूत्प्रेक्षितार्थस्यासंभूततयैव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम् ।

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः । यथा—

'सहसाभिजनैः स्निग्धैः सह सा कुञ्जमन्दिरम् ।
उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी ।'

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम् ।

यथा—

'एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम् ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में **"अनुचितार्थत्वदोष"** दिखाते हैं ।) **एवमिति**—इत्यादि (उदाहरणों) में उत्प्रेक्षित अर्थ के (अचेतन अन्धकार के भय की) सम्भावना न होने के कारण ही (मिथ्या रूप से) प्रतीत होना स्वभाव है, अतः उस (उत्प्रेक्षित पदार्थ) का (अर्थान्तरन्यास से) समर्थन करना (यथार्थ रूप से प्रतिपादन करना) अनुचित ही है । [क्योंकि असद् रूप से विद्यमान वस्तु के अन्दर समर्थन की संभावना ही नहीं होती है, अतः उक्त उदाहरण में उत्प्रेक्षा के अन्दर **अनुचितार्थत्वदोष है** ।] (८) यमक (नामक शब्दालङ्कार) के तीन चरणों के अन्दर होने पर (चौथे चरण पर न हो) **अप्रयुक्तत्वदोष** (होता) है । **यथा—सहसेति**—वह (सुन्दरी) चन्द्रमा के उदित होने पर प्रिय सखियों के साथ हंसती हुई (सहसा) झटिति (सहसा) लतागृह को जाती है ।

टिप्पणी—यहाँ तीसरे चरण में "सहसा" इस पद के न होने से यमक का अभाव है । तथा तीन चरणों में यमक की विद्यमानता का **'यमक तु विद्यातव्यं न कदाचिदपि त्रिपात"** इस न्याय के अनुसार शास्त्र द्वारा निषेध है । अतः प्रयोगार्ह **न** होने के कारण **'अप्रयुक्तत्व दोष"** है ।

अर्थ—उत्प्रेक्षा (नामक अलङ्कार) में "यथा" शब्द के (सादृश्य मात्र के व्यञ्जक "यथा" इस निपात के) उत्प्रेक्षाद्योतक होने पर **अवाचकत्व दोष** (होता) है । [क्योंकि यथा शब्द के सादृश्य मात्र के द्योतक होने से ध्रुवम्, इव आदि शब्द की तरह सम्भावना के अर्थ का द्योतक नहीं है ।] **यथा—एष इति**—यह राजा साक्षात् मूर्तिमान् मानों धर्म है, ऐसे पृथ्वी की रक्षा करता है । [धर्म की पूर्ति न होने के कारण उसकी उत्प्रेक्षा है. धर्म सब देवता की उपमा नहीं है । क्योंकि उपमा होने से तो "मूर्तः" यह विशेषण व्यर्थ हो जाता ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ यथा शब्द की **"व वा यथा तथैवैवं साम्ये"** इसके अनुसार सादृश्य मात्र की बोधकता है, सम्भावना की बोधकता नहीं है । क्योंकि **"ध्रुव-मिव नूनमवैमि शङ्के मन्ये जाने"** इत्यादिकों की ही सम्भावना की बोधकता है । इस प्रकार यथा शब्द की सम्भावना अर्थ में "अवाचकता" स्पष्ट ही है । कहा भी है कि—**"सम्भावनं ध्रुवेवादय एव शब्दा न तु यथा शब्दोऽपि, केवलस्यास्य साधर्म्यमेवं प्रतिपादयितुं पर्याप्तत्वात्"** ॥ इति ।

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम् ।

यथा—

'ओवट्टइ उल्लटटइ—' इत्यादौ ।

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च । क्रमेणोदाहरणम् —

'नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।
विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥'

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

अर्थ (१०)—इसीप्रकार अनुप्रास (नामक अलङ्कार) में वृत्तिविरुद्धत्व अर्थात् विरोधी रस के अनुगुण वर्णों की रचना को "प्रतिकूलवर्णत्व नामक दोष" (के अन्तर्गत समझना चाहिये) **यथा**—"**ओवट्टइ**" इत्यादि में (इसकी व्याख्या पृष्ठ··· पर की जा चुकी है ।) ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में अनेक टकारों के विन्यास की प्रकृत शृंगार रस के अनुकूल गुणों के व्यञ्जक चकारादि के स्थान पर प्रतिकूल वर्णों के प्रयोग से विरोधी वीर रस के अनुकूल ओजगुण के व्यञ्जक होने से "प्रतिकूल-वर्णता" है ।

अर्थ (११)—उपमा (नामक अलंकार) में साधारण धर्म के (उपमान और उपमेय दोनों के अन्दर समानवृत्ति वाले समान धर्म के) अधिक और न्यून होने पर "अधिकपदत्व" और "न्यूनपदत्व" दोष (होता) है ।

[**अर्थात्** "**उपमेयेऽनिर्दिष्टधर्मसमानधर्मस्योपमाने निर्देशोऽधिकपदत्वम्**" **तथा** "**उपमेये निर्दिष्टधर्मसमानधर्मस्योपमानेऽनुपादानं न्यूनपदत्वम्**" **इति**]

क्रम से (अर्थात् **अधिकपदत्वदोष** का उदाहरण)—**नयनेति**—भस्म से शुभ्र-कान्ति वाले महादेवजी (अपने भालस्थित तृतीय) नेत्र की ज्योति से इसप्रकार सुशोभित होते हैं जैसे नीले बादल के खण्ड को धारण करने वाले विद्युत् से अलंकृत शरद्कालीन मेघ (सुशोभित होता है ।) (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ भगवान् (शिव) की नीलकण्ठता का प्रयोग न होने से चतुर्थ चरण (**नील वारिद-खण्डधृक्**) अधिक है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में शम्भु उपमेय हैं, शरद्कालीन मेघ उपमान है, नयनज्योति विद्युत् है तथा भस्म के कारण शुभ्रता और शारदीय शुभ्रता के होने से समान धर्म का भी निर्देश है परन्तु शम्भु के उपमेय की नीलकण्ठता का उपादान न करने से उसके समान धर्म वाले नीले बादल का उपादान शरद्कालीन मेघ में अधिक है, अतः "**अधिकपदत्वदोष**" है । समान धर्म के अन्दर ही यह नियम है, किसी दूसरे धर्म का उपादान करने पर अधिकता नहीं है । यथा—यहीं "**नभोमण्डल-मध्यम**" इसके चतुर्थ चरण में । अथवा द्वितीय चरण में "**नीलकण्ठसितद्युतिः**" ऐसा कर देने पर भी "अधिकपदत्व" नहीं रहता है ।]

'कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुरं द्विषन् ।
विद्युद्विभूषिता नीलजीमूत इव राजते ।'

अत्रोपमानस्य सबलाकत्वं वाच्यम् ।

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम् — 'सुधेव विमलश्चन्द्रः ।'

अर्थ (१२) [**न्यूनपदत्व दोष** का उदाहरण] **कमलेति**—लक्ष्मी से आलिङ्गित, केवल मुक्ताओं के हार के कारण मनोहर श्रीकृष्ण जी (मुरंद्विष) विद्युत् से विभूषित श्याम मेघ के समान सुशोभित होते हैं। (दोष दिखाते हैं)। **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) उपमान की (श्याम मेघ की) सबलाकता (अर्थात् बगुलों की पंक्ति से युक्तता) कहनी चाहिये। (ऐसा न कहने से "**न्यूनपदत्वदोष**" है।)

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि मोतियों के हार का उपमान कोई नहीं है, अतः सबलाकत्व का कथन करना चाहिये था किन्तु श्याम मेघ के विशेषण होने के कारण उसका कथन नहीं किया है, अतः '**न्यूनपदत्वदोष**" है। "**विद्युत्तो बलाकावान् राजते नीलमेघवत्**" ऐसा कहने पर कोई दोष नहीं था।

अवतरणिका—उपमा में उपमान और उपमेय के अन्दर लिङ्ग, वचन, काल, पुरुष और विध्यादि की भिन्नता से होने वाले दोष '**भग्नप्रक्रमत्वदोष**" के अन्तर्गत हो जाते हैं—इसी का प्रतिपादन करते है—अतः इन अलङ्कार दोषों को पृथक् नहीं मानना चाहिये।

अर्थ—इसी (उपमालंकार) में ही उपमान और उपमेय के लिङ्ग (पुंल्लिग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिङ्ग) और वचन (एकवचन, द्विवचन और बहुवचन) का भेद हो और काल (वर्तमान, भूत और भविष्यत्), पुरुष (प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष) और विधि (विधि की प्रतिपादक तिङ् विभक्ति) आदिक में ('आदि" पद से अन्य विभक्तियों का ग्रहण होता है) भेद हो (तो) "**भग्नप्रक्रमत्वदोष**" (होता) है।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि जिस लिङ्ग से या जिस एक या द्वि या बहुवचन से उपमेय का कथन किया जाय, उसी लिङ्ग या वचन से उपमान का भी कथन करना चाहिये। और यदि ऐसा नहीं कहा जाता है तो "भग्नप्रक्रमता नामकदोष" होता है। इसी प्रकार वर्तमान आदि और कालादि के भेद का आकांक्षित रूप से कथन नहीं किया जाता है तब भी "भग्नप्रक्रमता" ही समझनी चाहिये।

अर्थ (१३) क्रम से (अर्थात् **उपमा में उपमान और उपमेय के अन्दर लिङ्ग भेद होने पर भग्नप्रक्रमत्व दोष का**) उदाहरण—सुधेवेति—सुधा के समान चन्द्रमा विमल है। [यहाँ प्रकृत उदाहरण में "विमल" यह साधारण धर्म है, और वह केवल उपमेय में है, उपमान में नहीं है क्योंकि यह पुंल्लिग है। तथा "सुधा" इस उपमान पद का स्त्रीलिंग से प्रारम्भ है और "चन्द्रमा" इस उपमेय पद में पुंल्लिग होने से क्रम भंग हो गया है, अतः सांकांक्षता है। और "विमल" इस साधारण धर्मवाचक पद के अन्दर— "**या विशेष्येषु दृश्यन्ते लिङ्गसंख्या विभक्तयः।**
प्रायस्ता एव कर्तव्याः समानार्थे विशेषणे ॥

इस नियम के अनुसार लिङ्ग व्यत्यय आवश्यक है, परन्तु वैसा न करने से **भग्नप्रक्रमत्व दोष है।**]

'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः ।'
'कान्त्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेशयोः ।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥"

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत् । अपि तु सर्वदापि भवति ।

'लतेव राजसे तन्वि ।'

अत्र लता राजते त्वं तु राजसे ।

'चिरं जीवतु ते सूनुर्मार्कण्डेयमुनिर्यथा ।'

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव न खल्वेतदस्य 'जीवतु' इत्यनेन विधेयम् ।

अर्थ (१४) [उपमा में उपमान और उपमेय के अन्दर वचन भेद होने पर **भग्नप्रक्रमता दोष** का उदाहरण] **ज्योत्स्नाः इति**—चन्द्रिका के समान शुभ्र कीर्ति है। [यहाँ "ज्योत्स्नाः" इस बहुवचन से उपमान पद का प्रारम्भ करके "कीर्तिः" इस उपमेय पद में एकवचन होने के कारण और वहाँ "सिता" इस साधारण धर्म का वचन व्यत्यय की आवश्यकता के कारण "भग्नप्रक्रमता" है।] (१५) [**उपमालंकार में उपमान और उपमेय के अन्दर काल भेद होने पर भग्नप्रक्रमता दोष** का उदाहरण] **कान्तीति**—[**प्रसङ्ग**—**रघुवंश** के प्रथम सर्ग में पुत्र प्राप्ति की कामना से वशिष्ठ के आश्रम में जाते हुये, सुदक्षिणा और दलीप का यह वर्णन है।] (गुरु वशिष्ठ के आश्रम में) जाते हुए, पवित्र वेश वाले उन दोनों की (सुदक्षिणा और दिलीप की) हिम से मुक्त चित्रा और चन्द्रमा के समान एक स्थान पर अनिर्वचनीय शोभा थी। (दोष दिखाते हैं)। **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) उस प्रकार की (शिशिर के आवरण से शून्य) चित्रा और चन्द्रमा की शोभा (उस समय ही) नहीं थी अपितु (हेमन्त ऋतु के अवन्तर प्रतिवर्ष) सदैव होती है। [**टिप्पणी**—अतीतकाल से उपमेय का प्रारम्भ करके उस प्रकार के चित्रा और चन्द्रमा का योग प्रतिवर्ष अवश्यम्भावी होने के कारण वहाँ अतीतकालिक सम्बन्ध की अनुपपत्ति से "अस्ति" इस वर्तमान काल के प्रयोग की आवश्यकता के कारण "भग्नप्रक्रमता दोष" है।] (१६) [**उपमालङ्कार में उपमान और उपमेय के अन्दर पुरुष भेद होने पर भग्नप्रक्रमता दोष** का उदाहरण] **लतेवेति**—(हे) कृशाङ्गि ! (तुम) लता की तरह सुशोभित होती हो। (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "लता" (इस उपमान पद के संज्ञा होने के कारण) "राजते" (इस प्रथम पुरुष का प्रयोग होना चाहिये) और "त्वम्" (इस उपमेयपद के अन्दर युष्मद् शब्द का प्रयोग होने से **युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः** इससे मध्यम पुरुष) "राजसे" (होना चाहिये, किन्तु ऐसा न होने से "भग्नप्रक्रमत्व" दोष है)। (१७) [**उपमालंकार में उपमान और उपमेय के अन्दर विधि का भेद होने पर भग्नप्रक्रमता दोष** का उदाहरण] **चिरमिति**—मार्कण्डेय मुनि के समान तुम्हारा पुत्र चिरञ्जीवी हो। (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मार्कण्डेय मुनि (तो) जीते ही हैं (क्योंकि अश्वत्थामादि आठ व्यक्तियों की चिरञ्जीविता प्रसिद्ध है), अतः यह (चिरञ्जीवी होना) इसका (अर्थात् मार्कण्डेय मुनि का) 'जीवतु' इससे विधेय नहीं है।

इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः। क्रमेणोदाहरणम्—

'मुखं चन्द्र इवाभाति।'

टिप्पणी—"अप्राप्तज्ञापणं हि विधिः"—यह विधि का लक्षण है। और क्योंकि मार्कण्डेय मुनि का चिरकाल तक जीवित रहना शास्त्र से उपलब्ध है, अतः इसके विषय में विधि असम्भव है। विधि ५ प्रकार की होती है—

"प्रेष्यादिर्वाऽथ संकल्प भेदोऽभीष्टाभ्युपायता
शब्दव्यापार भेदो वा कार्यभेदोऽथवा विधिः ॥

उक्त उदाहरण के अन्दर "प्रेष्यादि' यहाँ "आदि" पद से ग्राह्य अभीष्ट वस्तु की आशंसन रूप विधि है। अन्य विधि भेद का उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिये।

चमूरियं दूरविमुक्तगंगा गंगेव मे योधमनुप्रयातु।
ययारिसज्ञा विमटाः प्रकाम नश्यन्त्यधर्मा इव खेदसाध्याः॥

यहाँ "गंगा प्रयाति, चमूः प्रयातु" यह प्रक्रान्त विधि भङ्ग होने से भग्न-प्रक्रमत्व दोष है।

अवतरणिका—लिंग भेद होने पर और वचन भेद होने पर साधारण धर्म का निर्दिष्ट रूप से दोनों स्थानों पर अन्वय न हो सकना दूषकता का कारण है, और यदि निर्दिष्ट रूप से ही दोनों स्थानों पर अन्वय सम्भव हो सके तो दोष नहीं होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—यहाँ पर (अर्थात् उपमालंकार गत दोष प्रकरण के अन्दर) जहाँ (जिस उदाहरण में) लिंग भेद और वचन भेद होने पर भी (अर्थात् उपमान और उपमेय के प्रतिपादक पदों के अन्दर) साधारण धर्म का (उपमान और उपमेय दोनों के अन्दर विद्यमान समान धर्म के प्रतिपादक पद का) अन्यथाभाव नहीं है (अर्थात् एक समय में दोनों के साथ सम्बन्ध होने पर भी स्वरूप के अन्दर विषमता नहीं है) वहाँ दोष (भग्नप्रक्रमत्वदोष) नहीं है।

टिप्पणी—ऐसे स्थलों पर जहाँ सभी के सामञ्जस्य के कारण श्रोताओं की विमुखता नहीं होती है, वहाँ सामान्यतया दोष की प्रसक्ति भी नहीं होती है क्योंकि रसापकर्ष होने के कारण ही श्रोताओं की विमुखता होने से दोषों की प्रतीति हुआ करती है। दण्डी ने कहा भी है कि—

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमा दूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥इति॥

अर्थ—क्रम से (अर्थात् **लिङ्ग भेद होने पर भी भग्नप्रक्रमत्व दोष की अदोषता** का) उदाहरण—**मुखमिति**—मुख चन्द्रमा की तरह सुशोभित होता है। [यहाँ उपमान और उपमेय मुख और चन्द्रमा के नपुंसक और पुंलिंग के भेद से प्रक्रम भङ्ग होने होने पर भी "आभाति" इसका दोनों स्थलों पर सम्बन्ध हो जाने से क्रियात्वेन स्वरूप का भंग न होने से भग्नप्रक्रमत्वदोष नहीं है।]

'तद्वेशोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः ।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव ।।'

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः ।

(**वचनभेद होने पर भी भग्नप्रक्रमत्व दोष की अदोषता** का उदाहरण) **तद्वेश इति**—उसका वेश अन्य स्त्रियों से असाधारण तथा मधुरता को धारण करने वाला (**मधुरतां बिभ्रतीति मधुरताभृता**) और सौन्दर्य से पूर्ण (**मधुरतया-सौन्दर्येणभृतः पूरितः, माधुर्यजुषः इत्यर्थः**) उसके (उस नायिका सम्बन्धी) विलास की तरह अनिर्वचनीय शोभा को धारण करता था।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण के अन्दर "असदृशः" जब "वेशः" इसका विशेषण होगा तब तो टक् प्रत्ययान्त होने से और अकारान्त होने से एकवचन होगा और जब "विभ्रमाः" इसका विशेषण होगा तो क्विपन्त होने से और तकारान्त होने से बहुवचन होगा। तथा "मधुरताभृतः" यह "वेशः" इसका विशेषण होगा तब क्त प्रत्ययान्त होने से और अकारान्त होने से एकवचन होगा, इसी प्रकार "दधते" यह क्रिया पद "वेशः" के कर्त्ता होने पर "दध् धारणे" इस आत्मनेपदी दध् धातु के प्रथम पुरुष के एकवचन का रूप होगा और इसका जब कर्त्ता 'विभ्रमाः' होगा तब "डुधाञ्-धारणपोषणयोः इस धातु के प्रथमपुरुष का बहुवचन का रूप होगा अतः वचन-भेद होने पर भी "असदृशः" इत्यादि पदों के श्लेष केवल से उपमान के अन्दर अन्वय हो जाने से साधारण धर्मों के एक रूप होने से भग्नप्रक्रमत्व दोष नहीं है।

अवतरणिका—इन दोनों उदाहरणों के अन्दर पूर्वोक्त उदाहरणों की अपेक्षा विलक्षणता दिखाने के लिये पूर्व के उदाहरणों में भग्नप्रक्रमता दिखाते हैं—

अर्थ-पूर्वोक्त उदाहरणों में (अर्थात् 'सुधेव" **विमलश्चन्द्रः** से लेकर "**मार्कण्डेय-मुनिर्यथा**" तक) उपमान और उपमेय में से (किसी) एक का ही (उपमान का अथवा उपमेय का) साधारण धर्म के साथ (अर्थात् **यथा**—"विमलः" यह पद 'चन्द्रः" इसके साथ अन्वित होता है "सुधा" इसके साथ नहीं) अन्वय सिद्ध होने से (योग्य होने के कारण) पूर्वप्रतिपादित अर्थ का स्पष्ट अनिर्वाह (उपमान के साथ अन्वय की अनुपपत्ति) होती है (अयोग्य होने के कारण)।

टिप्पणी—**आशय** कहने का यह है कि लिंगपरिवर्तनादि से योग्य समानाधिकरण्य के उपादान करने पर प्रथम उत्थापित आकांक्षा अविषयीकृत प्रकार से पुनः न कहने से भग्नप्रक्रमत्व दोष होता है। यहाँ पर दोनों के साथ अन्वय के अभिप्राय से प्रयुक्त किसी एक के साथ अन्वय सम्भव हो जाने पर अभवन्मत योग्यतत्व है, ऐसा कुछ मानते हैं।

अवतरणिका—इसके बाद अनुप्रास की निरर्थकता को "**अपुष्टार्थत्वदोष**" के अन्तर्गत दिखाते हैं—

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम् ।

यथा—'अनणुरणन्मणिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम् ।

परिसरणमरुणचरणे रणरणकमकारणं कुरुते ॥'

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशादपरार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयैव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम् ।

अर्थ–(१८) इसी प्रकार अनुप्रास (नामक अलकार) में निरर्थकता का (अनुप्रास के लिये गृहीत विशेषण की व्यर्थता का) अर्थात् प्रकृत रस मे उत्कर्ष के अनाधायक का "अपुष्टार्थत्व दोष" (के अन्तगत अतर्भाव हो जाता) है । **यथा**—**अनणिति**—

प्रसंग–विलाससहित जाती हुई वेश्या को देखकर शान्त पुरुष की यह उक्ति है।]

(हे) लाल चरणों वाली ! (महावर लगाने के कारण अथवा स्वभाव से लाल कमल के समान चरणों वाली) अत्यधिक शब्द कर रही हैं मणिनिर्मित मेखला जिसमें ऐसा, (तथा) निरन्तर अव्यक्त कर शब्द करते हुये सुन्दर नूपुर हैं जिसमें ऐसा (तुम्हारा) चलना-फिरना निरर्थक (ही) कामवासना को उत्पन्न कर रहा है । [अर्थात् निस्पृह मुझसे तुम्हारी किसी प्रकार की भी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती हैं, अतः सविलास गति के कारण कामवासना को उत्पन्न करना व्यर्थ है ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में वक्ता के शान्त होने से कामोउद्दीपक संचरण के विशेषण अनणु आदिकों की अपुष्टार्थता है क्योंकि केवल अनुप्रास के लिये ही उनका ग्रहण हुआ है । तथा मणिनिर्मित मेखलादिकों का मन्द-मन्द शब्द करना ही कामना को उद्दीप्त करता है—दीर्घरणन नहीं—अतः यह सञ्चरण के प्रति किसी प्रकार की विशेषता का आधान नहीं करता है । इसीलिये प्रकृत शान्त रसादि का अनुपकारी होने से "**अपुष्टार्थत्व दोष**" है ।

अवतरणिका—समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा के अन्दर सम्भाव्यमान दोषों का "पुनरुक्ततादोष" के अन्दर अन्तर्भाव दिखाते हैं—

अर्थ—इसीप्रकार समासोक्ति (नामक अलंकार) में साधारण (उपमान के अनुपयोगी) विशेषण के बल से दूसरे अर्थ के (संयोगादि से अनियन्त्रित अर्थ के अर्थात् रूपक अथवा उपमान के) प्रतीत होने पर भी पुनः उसका (प्रतीयमान पदार्थ का उसके वाचक) शब्द से ग्रहण करने का, और (इसी प्रकार) अप्रस्तुतप्रशंसा (नामक अलंकार) में व्यञ्जना के द्वारा ही (उसमें भिन्न वृत्ति से नहीं) प्रस्तुत (उपमेय) **अर्थ** की **अवगति** होने पर (अर्थात् उसका अनादर करके) शब्द से उसका (प्रस्तुत अर्थ का) कथन करने का "पुनरुक्तत्वदोष" (के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता) है ।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि—प्रकरण संगत अर्थ का कथन करने से अप्राकरणिक अर्थ की व्यञ्जना होना "समासोक्ति" है और अप्राकरणिक अर्थ से प्रकरण गत अर्थ की व्यञ्जना होना "अप्रस्तुतप्रशंसा" है । इन दोनों अलंकारों के अन्दर अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ के व्यंग्य होने पर भी शब्द से उनका कथन करने पर इन दोनों का "पुनरुक्तत्वदोष" के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ।"

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते।

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम् ।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम् ।।'

अर्थ—(१९) क्रम से (अर्थात् समासोक्ति में पुनरुक्तत्वदोष का) उदाहरण—अनुरागवन्तमिति ।

प्रसंग—शिशुपालवध के नवम सर्ग में सूर्यास्त का यह वर्णन है ।] पश्चिम दिशा रूपी वेश्या ने लालिमा वाले (अस्त होते समय रक्त वर्ण वाले) अथवा प्रेम करने वाले (अनुरागः—रक्तिमा प्रेम च सोऽस्या स्तीति तं तादृशम्—अनुरागवन्तम्), नेत्रों को सुख देने वाले (शान्त होने के कारण अथवा रमणीय होने के कारण) अर्थात् मनोहर, सन्ताप न देने वाले अर्थात् सौम्य शरीर का धारण करते हुये भी विनष्ट किरणों वाले (अपेता नष्टा वसवो—रश्मयो यस्य तम्), अथवा निर्धन (अपेतं वसु-धनं यस्यतम्) सूर्य को अथवा नायक को आकाशरूपी घर से अथवा आकाश के समान (शून्य-मनुष्यों के सञ्चार से रहित अतः एव सम्भोग के योग्य) घर से दूसरे द्वीप में पहुंचा दिया अथवा बाहर कर दिया । (दोष दिखाते हैं) अत्रेति—यहां (प्रकृत उदाहरण में) "अपर दिक्" इतने से ही उसका (पश्चिम दिशा का) गणिकात्व प्रतीत होता है ।

टिप्पणी—(१) तात्पर्य कहने का यह है कि यहाँ श्लेषार्थक विशेषणों के बल से अनुराग करने वाले और नेत्रों को सुख देने वाले सौम्य एवं मनोहारी शरीर को धारण करने वाले नायक का धन के अभाव के कारण वेश्या के द्वारा अपने घर से निकाल देना व्यञ्जना से प्रतीत होता है । और वहाँ जिस प्रकार निर्धन नायक की श्लेषार्थक विशेषणों से व्यंग्यता है, उसी प्रकार वेश्या की भी व्यंग्यता उचित है, किन्तु "गणिका" शब्द से पुनः कथन करने पर पुनरुक्ति दोष है ।

अर्थ—(२०)—(अप्रस्तुतप्रशंसा में पुनरुक्ति का उदाहरण—आहूतेष्विति—[प्रसंग—भट्टोल्लटशतक का यह पद्य है । राजमण्डल के बुलाने पर कभी आगे और कभी बीच में कोई क्षुद्र पृथ्वी का स्वामी आ गया—उनकी निन्दा के लिये यह उक्ति है ।] पक्षियों के (विहायसा-आकाशमार्गेण गच्छन्ति ये ते विहगमा-हंसकोकिलादयः तेषु) अर्थात् हंस कोकिलादिकों के बुलाये जाने पर (अपने आप को पक्षी समझने वाला) मच्छर आगे आता हुआ (किसी से) रोका नहीं जाता है । तृणमपि—प्रस्तरविशेष (जिस प्रकार लोहे को आकर्षित करने वाला लोहमणि कहलाता है, उसी प्रकार तिनकों को आकर्षित करने वाला तृणमणि कहलाता है ।) मरकतादि मणियों के मध्य में या आगे विद्यमान होता हुआ (मणियों के) नाम को—भार को (धुरम्) धारण करता है (वह भी किसी से निकाला नहीं जाता है), तथा तेजस्वी (प्राणियों) के (सूर्य-चन्द्रादिकों के) मध्य में भी जुगनू जाने में नहीं डरता है (क्योंकि उसके अन्दर भी तेजस्विता है) अतएव जिस वस्तुतत्व की विवेचना नहीं की है, ऐसे उस (क्षुद्र) प्रभु के समान सदपद विवेक से शून्य सामान्य (व्यक्ति को) धिक्कार है । [अर्थात् मुख्य-मुख्य गुणी विद्वानों के होने पर हीन व्यक्तियों की धृष्टता अर्थात् उनके बीच में जाना केवल धिक्कार के योग्य ही होता है ।]

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम् ।

एवमनुप्रासे प्रसिद्धयभावस्य ख्यातविरुद्धत्वम् ।

यथा—

'चक्राधिष्ठितताँ चक्री गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितम् ।
वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छन्नस्य भूभुजः ॥'

उक्तदोषाणां च क्वचिद् दोषत्वं क्वचिद् गुणत्वमित्याह—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते तथा वाच्ये समुद्धते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥१६॥

अथ—(दोष दिखाते हैं, **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) सदसद्-विवेक की चेतना से शून्य प्रभु का कहना अनुचित है ।

टिप्पणी—(१) **आशय**-यह है कि अप्राकरणिक मशकादिकों के कथन करने से ही क्षुद्र होने के कारण सदसद् विवेक से शून्य स्वामी की व्यञ्जना से प्रतीति हो जाती है। अतएव यहाँ पर व्यञ्जना से बोधित भी क्षुद्र स्वामी का पुनः शब्द से कहने के कारण "पुनरुक्तत्वदोष" है ।

अवतरणिका—अनुप्रासालंकार में प्रसिद्धि के अभाव का ख्यातविरुद्धत्वदोष के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है—इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(२१) इसीप्रकार अनुप्रास (नामक अलकार) में प्रसिद्धि के अभाव का (अर्थात अनुप्रासित पदार्थ का विवक्षित अन्वय में लोक व्यवहार से अथवा शास्त्र से प्रसिद्ध न होने पर, 'ख्यातविरुद्धत्व दोष" (के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता) है। [यहाँ **अनुप्रास** पद शब्दालकारमात्र का उपलक्षण है ।) **यथा-चक्राधिष्ठितामिति**—इस राजा को विष्णु ने चक्रवर्तित्व, इन्द्र ने उन्नत वंश और महादेव ने धर्म दिया है।

टिप्पणी—यहाँ कर्ता, कर्म के नियम से राजा की स्तुति चक्र इत्यादि पदों के प्रयोग में केवल अनुप्रास के अनुरोध से ही की है क्योंकि विष्णु का चक्रवर्तित्व दान, इन्द्र का उन्नत कुलदान और शिवजी का धर्मदान न तो पुराणों में और न ही इतिहासादिकों में प्रसिद्ध है, अतः "ख्यातिविरुद्धत्व दोष" है ।

अथदोषगुणत्वनिरूपणम्—

अवतरणिका—सम्प्रति दोषों की नित्यता और अनित्यता के ज्ञान के लिये अनित्य दोषों का वर्णन करते हैं ।

अर्थ—उक्त (दुःश्रवत्वादि) दोषों में से (किन्हीं की) कहीं अदोषता (जहां किसी वक्तादि के विशिष्ट होने पर रसादिकों की अपकर्षता और उत्कर्षकता नहीं है वहां अदोषता होती है) और कहीं गुणता (जहाँ रसादिकों की अपकर्षकता न होकर उत्कर्षकता है) होती है—इसका प्रतिपादन करते हैं:—

अवतरणिका—उन पूर्वोक्त दोषों में से उद्देश्य क्रम से उनका यथासम्भव वर्णन करते हैं—

अर्थ—(१) वक्ता के क्रोध युक्त होने पर तथा प्रतिपाद्य अर्थ के भीषण होने पर (तथा) रौद्रादि ("आदि" पद से वीर और वीभत्स का ग्रहण होता है) रस में (वाक्यगत) दुःश्रवत्व अत्यन्त गुण होता है ।

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद् गुण इति व्यपदेशो भाक्तः।

क्रमेण यथा—

'तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं
क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम्।
शम्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल
ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना॥"

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता।

अवतरणिका—प्रश्न—माधुर्यादि केवल तीन ही गुण होते हैं, पुनः दुःश्रवत्वादि की गुणता कैसे ? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—इन (गुणरूप से कहे जाने वाले दुःश्रवत्वादिकों) में रसभावादिकों के (आस्वाद) साधर्म्य विशेष रूप होने के कारण मुख्य गुणों के द्वारा (माधुर्यादि) किये हुये रसादि के उत्कर्ष के अनुकूल होने के कारण "गुण" इस प्रकार का व्यवहार गौण है।

टिप्पणी—कहने का भाव यह है कि काव्य की आत्मा रस है. उसका अपकर्ष न करने पर दुःश्रवत्वादिकों की अदुष्टतामात्र है, अपकर्षक न होने पर तथा उत्कर्षक होने पर पुनः उनकी गुणता है—यह "गुणता" का प्रयोग गौणरूप से है। रस के साक्षात् उपकारक माधुर्यादि गुण हैं किन्तु दुःश्रवत्वादि परम्परया रस के उपकारक हैं।

अर्थ—क्रम से (**वक्ता के क्रोध युक्त होने पर दुःश्रवत्व की गुणता** का उदाहरण) **यथा तद्विति**—उस (प्राणप्रिया) के विरह से कृश, कण्ठागत प्राण वाले मेरे मन को निर्दयता से अत्यन्त तीक्ष्ण बाणों से बुरी तरह (नितराम्) बींधता हुआ (मारता हुआ नहीं क्योंकि मारने के बाद तो किसी प्रकार दुःख सम्भव नहीं है।) अतएव क्रूर वह कामदेव सम्पूर्ण शरीर से पुनः (मुझ जैसे) प्राणियों पर दया के वशीभूत है मन जिसका ऐसे शिवजी की अत्यन्त प्रचण्ड तृतीय नेत्र की अग्नि की ज्वालाओं के समूह से दग्ध हो जावे। [यद्यपि पहले शिवजी की नेत्राग्नि से उसका पाञ्चभौतिक शरीर जल गया था और अब उसका लिंग शरीर भी दग्ध हो जावे।] (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ [उदाहृत पद्य में क्रोध के आस्वाद्यमान होने पर भी प्रकरण के अनुसार प्रधान रूप से रति के आस्वाद्यमान होने से शृंगारता ही है, रौद्रता नहीं है—इसीलिये कहा है कि] शृंगार रस में वक्ता कुपित है।

टिप्पणी—(१) वक्ता के क्रोधयुक्त होने पर रौद्र रस की प्रतीति होने से ओजगुण अवश्य होता है, क्योंकि उसके अन्दर विकट वर्णों की रचना आवश्यक होती है। इसीलिये प्रकृत उदाहरण के अन्दर "विच्छेद, कण्ठलुठितादि" में विद्यमान छकार-ठकारादि वर्णों वाला दुःश्रवदोष गुणता की प्रतीति कराता है।

(२) यह ग्रन्थकार का स्वनिर्मित पद्य है।

'मूर्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-
द्भूताम्भः क्षोददम्भात्प्रसभमभिनभःक्षिप्तनक्षत्रलक्षम् ।
ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग—
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः ॥'

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम । इमे पद्ये मम ।

रौद्रादिरसत्वे एतद्द्वितयापेक्षापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः ।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—' इत्यादि ।

अत्र बीभत्सो रसः ।

अर्थ—(**औद्धत्य व्यञ्जक वाच्य होने पर दुःश्रवत्व दोष की गुणता** का उदाहरण) मूर्धेति—शिर पर सञ्चरण करती हुई अतएव शब्द करती हुई गंगा की चञ्चल तरंगमालाओं से (चारों ओर) फेंके हुये जलकणों के बहाने से सहसा आकाश में फेंका जा रहा है नक्षत्रों का समूह जिसमें ऐसा, (तथा) ऊपर उठाये हुए चरणरूप दण्ड के घूमने से उत्पन्न वेग से ऊपर उठती हुई वायु के वेग से (कुलाल के चक्र की तरह) घूम रहा है। ब्रह्मांड खण्ड जिसमें ऐसा शिवजी सम्बन्धी ताण्डव-नृत्य तुम्हारा कल्याण करे। (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—उद्धत ताण्डव (नृत्य) वाच्य है। ये दोनों (ऊपर उदाहृत) पद्य मेरे (अर्थात् ग्रन्थकार निर्मित) हैं।

टिप्पणी—(१) ताण्डव नृत्य से सम्पूर्ण संसार का प्रलय हो जाता है, अतः उद्धत है। तथा ताण्डव नृत्य में ओजस्वी रचना होने के कारण ओजगुण से युक्त, दीर्घसमास और विकट वर्ण वाली गुणों के अनुरूप '**मूर्धव्याधूयमानध्वनत्**" इत्यादि में विद्यमान विकट शब्दों वाला दुःश्रवत्वदोष गुण ही है, क्योंकि वह प्रकृत रस के अनुकूल है।

अवतरणिका—प्रश्न—रौद्रादि रस में दुःश्रवत्वदोष की अतिशय गुणता क्यों है? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—रौद्रादि रस में तो इन दोनों की अपेक्षा भी (वक्ता के क्रोधयुक्त होने पर और समुद्धत वाच्य की अपेक्षा) दुःश्रवत्व अत्यन्त गुण (होता) है। [क्योंकि '**क्रोधादेः स्थायित्वेन रसोत्कर्षात्**" इति] **यथा**—"**उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिमिति**—[उस पद्य की व्याख्या पृष्ठ······पर पूर्व की जा चुकी है] इत्यादि। इसमें बीभत्स रस है।

टिप्पणी (१) पूर्वोक्त उदाहरण में जुगुप्सा के स्थायी भाव होने से ओजगुण विशिष्ट रचना के रस का उत्कर्षक होने के कारण दुःश्रवत्वदोष गुण है।

(२) **यहाँ यह समझना चाहिए** कि सर्वथा आस्वाद से रहित काव्य के अन्दर दुःश्रवत्वादिकों की दोषता नहीं होती है और न गुणता ही होती है, क्योंकि काव्य के धर्म, दोष और गुणों की वहाँ आवश्यकता ही नहीं है।

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ।

तथा पुनरिति गुण एव ।

यथा—

'करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते ।
उपसर्पन् ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते ।"

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितिः ।

आदिशब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम् ।

अवतरणिका—अश्लीलत्वदोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(२) काम की चेष्टा वाली गोष्ठी आदि में ("आदि" शब्द से शम कथा प्रभृति का ग्रहण होता है) अर्थात् सम्भोग के लिये एकत्रित स्त्री-पुरुषों के समूह में अश्लीलत्व दोष गुण ही होता है । (कारिकागत "**तथापुनः**" को स्पष्ट करते हैं) **तथापुनः**=गुण ही ।

अवतरणिका—तीन प्रकार के अश्लीलत्व दोष में व्रीडा व्यञ्जक वाक्यगत अश्लीलत्व दोष की गुणता का उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—(**व्रीडाव्यञ्जक वाक्यगत अश्लीलत्व दोष** की गुणता का उदाहरण) **यथा**—**करीति**—[**प्रसंग**—मुग्धा नायिका की द्व्यर्थक पदों से सुरतसम्भोग के उपाय का कथन है] (मनुष्य और अश्वादि की निविडता से) दुष्प्रवेश (शत्रु सैन्य) में हाथियों की सूँडों से अन्तः प्रदेश को विलोडित करने के उपरान्त सेनाओं के मध्य में (जीतने की इच्छा वाले) वीर पुरुष का ध्वज फहराता हुआ सुशोभित होता है । **अश्लीलार्थवस्तु**—संकुचित होने पर भी करिहस्त से (काम-शास्त्रोक्त कृत्रिम लिंग से) अन्तः प्रदेश को विलोडित करने के उपरान्त (स्त्री की) योनी के अन्दर प्रविष्ट होकर गतागत करता हुआ मनुष्य का लिङ्ग सुशोभित होता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ व्रीडा व्यञ्जक अश्लीलता दोष सहसा सुनने वाले के हृदय में भी काम की उद्दीप्ति करता है, अतः प्रकृत रस के अन्दर उत्कर्ष का आधायक होने से गुण हो गया है ।

(२) **करिहस्त का लक्षण**—

तर्जन्य नामिके युक्ते मध्यमास्याद्बहिष्कृता ।
करिहस्तः समुद्दिष्टः कामशास्त्र विशारदैः ॥

अर्थ—(**अश्लीलत्व दोष की गुणता** दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ सुरतसम्भोग के लिये कामचेष्टा वाली गोष्ठी में "द्व्यर्थक पदों से (प्रकाशित और अप्रकाशित अर्थों वाले पदों से) रहस्य वस्तु को सूचित करना चाहिये" यह कामशास्त्र का नियम है । [कारिका के अन्दर विद्यमान ("**सुरतारम्भगोष्ठ्यादौ**" यहाँ) "आदि" पद से शान्ति की कथा इत्यादिकों को समझना चाहिए । ["**शमकथा प्रभृतिषु**" यहाँ "प्रभृति" शब्द से वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा का ग्रहण करना चाहिये ।]

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाप्रयुक्तते ॥१७॥

यथा— 'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम् ।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥'

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः । सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः ।

टिप्पणी—(१) वक्ता के अमांगलिक अभिप्राय के समान अश्लीलता गुण होता है । यथा—"**निर्वाणवैर दहनाः**" इति (पृष्ठ······पर) ।

यहाँ कौरवों की भावी अमंगलजनक अश्लीलता का वर्णन नट ने कपट से किया है, अतः अतिशय चमत्कार का व्यञ्जक होने से गुण ही है । इसी प्रकार—

सत्यक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥

इत्यादि में भी अमंगलजनक अश्लीलता का गुणत्व ही समझना चाहिए ।

अवतरणिका—निहतार्थत्व और अप्रयुक्तत्व की अदोषता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(३ ४) श्लेषादि में ("आदि" पद से समासोक्ति और यमकादि का ग्रहण होता है) निहतार्थत्व और अप्रयुक्तत्व (ये दोनों) दोष नहीं होते हैं अर्थात् न दोष होते हैं और न गुण होते हैं ।

अर्थ—निहतार्थत्व और **अप्रयुक्तत्व** इन दोनों **दोषों की अदोषता श्लेष में** एक उदाहरण से दिखाते हैं ।] **यथा—पर्वतभेदीति**—[**प्रसंग**—त्रिविक्रम का यह पद्य है ।] (हे मुमुक्षु मनुष्यो!) इन्द्र के समान विष्णु के समान और सिंह के समान (पृथ्वी पर) गिरते हुये गंगाजल को नमस्कार करो । (जो गंगाजल) पर्वत का (हिमालय का) भेदन करने वाला है अर्थात् हिमालय के वक्षःस्थल को विदीर्ण करके प्रवाहित होने वाला है, पवित्र है, (पाप को नष्ट करने वाला है), पारलौकिक दुःख का (नरकस्य) विनाशक है, बहुतों के द्वारा पूजित है, (प्रबल प्रवाह वाला होने से) दुरवगाह है अथवा गम्भीर है । **इन्द्रपक्ष में**—(जो इन्द्र) पर्वतों के पखों का) कर्तन करने वाला है, वज्र को धारण (त्रायते-धारयति) करने वाला है, जयशील है, मनुष्य समूह का (नरकस्य) अतिशय पूज्य है, दुर्जय है (गहनम्), **विष्णुपक्ष में**—(जो विष्णु) गोवर्धन पर्वत का उद्वार (उखाड़ना) करने वाला है, पवित्र है, (पापनाशक है) नरक नामक असुर का विनाशक है, (जीतने वाला है), अज्ञेय है अर्थात् समाधिगम्य है (गहनम्), **सिंहपक्ष में**—(जो सिंह) पर्वत की कन्दराओं का आश्रय लेने वाला है, पवित्र है ("**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्**" इस गीता वचन के अनुसार) मनुष्य समूह का (नरकस्य) विनाशक है, और अनेक हाथियों को मारने वाला है, (बहून् मतङ्गान् हन्ति इति तम्—बहुमतङ्गहनम्) ।

अर्थ—(निहतार्थत्व और अप्रयुक्तत्व दोषों की अदोषता दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ प्रकृत—उदाहरण में) इन्द्रपक्ष में पवित्र शब्द निहतार्थ है (अर्थात्—**निहतः प्रसिद्धतया पावनरूपेणार्थेनोपस्थितो प्रतिहतः अर्थो वज्रधारिरूपार्थो यस्य स तथोक्तः**—पवित्र शब्द पून अर्थ में प्रसिद्ध होने के कारण "पवित्रात्त्रायते" इस वज्रधारी रूप इन्द्र के अर्थ में निहतार्थ है । अतएव इस पक्ष में निहतार्थत्व दोष है ।] और सिंह पक्ष में मतङ्ग शब्द मातंग के अर्थ में अप्रयुक्त है [अर्थात मतंग शब्द लक्षण के द्वारा मातंग अर्थ में प्रसिद्ध होने पर भी कवियों के द्वारा अनाहत होने से **अप्रयुक्तत्व दोष है** ।]

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ।

यथा—

'त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम् ।
त्वद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः ॥'

टिप्पणी (१) उक्त उदाहरण में श्लिष्ट पदों का प्रयोग होने से कवि का दो अर्थों में तात्पर्य होने के कारण निहतार्थत्व और अप्रयुक्तत्व दोष नहीं है ।

(२) "**हरिमिव**" इसमें अनवीकृत्य और कथितपदत्व दोष भी नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक पद से वाच्य अनेक दृष्टान्तों की विचित्रता की विशेषता बताने से दोष नहीं है ।

(३) **ध्वनि में** उदाहरण—यथा—'**मुक्तिमुक्तिकृदेकान्त**"—इत्यादि में (पृष्ठ······पर) । यहाँ "मुक्ति" शब्द निर्वाण अर्थ में प्रसिद्ध है, विरह दुःख के छोड़ने के अर्थ में निहतार्थ है ।

अवतरणिका—अप्रतीतार्थत्व दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(५) यदि वक्ता और वाच्य (श्रोता) की (उस, उस शब्द के संकेत के विषय में) अभिज्ञता हो (तो) अप्रतीतार्थत्व दोष गुण होता है ।

टिप्पणी- **अप्रतीतार्थत्वदोष** के अन्दर प्रतीति का न होना दोष होने का कारण होता है, किन्तु उसके ज्ञान लेने पर फिर दोषता नहीं रहती है ।

अर्थ—(अप्रतीतार्थत्व दोष की गुणता का उदाहरण)—**यथा**—**त्वामिति**—[**प्रसंग**—**कुमारसम्भव** के दूसरे सर्ग में तारकासुर से पीडित देवताओं की ब्रह्मा के प्रति यह स्तुति है ।] (हे देव !) आपको (विद्वान्) भोग और अपवर्ग को सिद्ध करने वाला अथवा धर्मार्थकाममोक्ष का उत्पन्न करने वाला मूलकारण अथवा प्रधान कहते हैं, (तथा) तुझको ही उस (प्रकृति) का (साक्षित्वेन) द्रष्टा कूटस्थ (सर्वत्र असक्त—क्योंकि सभी कार्यों के उत्पन्न करने में कोई स्वार्थ नहीं है) पुरुष समझते हैं ।

टिप्पणी—(१) श्रुति में आता है कि—"**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां नमेम । "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते"**····· **इत्यादि** ।" यहाँ "**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः**" ······**नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः**", "**गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति**", '**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः**"; '**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" । "**क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः**" इत्यादि प्रकृति और पुरुष का अभेद कथन सांख्य मतानुसार है । वेदान्तियों के मतानुसार तो "**प्रकृतिश्चदष्टान्तानुपरोधात्**" इस कथन के अनुसार ब्रह्म प्रकृति रूप ही है । यहाँ प्रकृत उदाहरण में प्रकृति आदि अर्थों का सांख्य और योगदर्शन में ही प्रसिद्ध होने के कारण उनके अर्थ को न जानने वाले वक्ता और श्रोता के पक्ष में अप्रतीत अर्थ होने पर भी देवताओं और ब्रह्मा के अभिज्ञ होने के कारण उनका अर्थ ज्ञात होने से अप्रतीतत्व दोष नहीं है, अपितु गुण ही है ।

(२) कहने का आशय यह है कि एक देशमात्र में प्रसिद्ध होने के कारण उनमें अनभिज्ञ वक्ता और बोद्धव्य को प्रतीत न होने से ही अप्रतीतत्व दोष होता है, किन्तु जब वक्ता और बोद्धव्य उस अर्थ ज्ञान से अभिज्ञ होते हैं तब अप्रतीतत्व दोष न होकर चमत्कार का पोषक होने से गुण हो जाता है ।

स्वयं वापि परामर्शे—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते ।

यथा— 'युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्ध्यै क्षीणश्च ताभिः क्षतये य एषाम् ।
शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि ॥'

— कथितं च पदं पुनः ॥१८॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥१९॥
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

अर्थ—अथवा स्वयं (अपने आप ही) पर्यालोचन करने पर 'अप्रतीतत्व दोष" गुण हो जाता है । **अप्रतीतत्वमिति**—अप्रतीतत्व (दोष) गुण (होता) है—इसका अध्याहार हो जाता है [**अर्थात्**—वक्ता के स्वयमेव पर्यालोचन करने पर अप्रतीतार्थत्व दोष ही होता है ।]

अर्थ—(अप्रतीतत्व दोष की गुणता का उदाहरण) यथा—**युक्तइति**—(मैं) उस (अपूर्व) आत्मारूपी चन्द्रमा का परिशीलन करता हूं, जो कलाओं से (उपनिषदों में वर्णित पृथिव्यादि कलाओं मे) युक्त होकर अन्धकार (अज्ञान)की वृद्धि करता है, और जो उन (कलाओं) से क्षीण (रहित) होकर (अज्ञान) अन्धकार को नष्ट करता है, (जो) शुद्ध है, आलम्ब पद में अवलम्बित नहीं है अर्थात् सबका आश्रय है स्वयं किसी का आश्रित नहीं है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ आतमा रूपी चन्द्रमा का लौकिक चन्द्रमा से व्यतिरेक सूचित किया है । लौकिक चन्द्रमा कलायुक्त होने पर अन्धकार को दूर करता है और क्षीण होने पर नहीं करता है, किन्तु आत्मारूपी चन्द्रमा इससे सर्वथा विपरीत है । यह कलायुक्त होने पर अन्धकार की वृद्धि करता है और क्षीणकला होने पर उसका नाश करता है । एवम् लौकिक चन्द्रमा कलङ्कयुक्त होने से अशुद्ध है, परन्तु वह शुद्ध निष्कलङ्क है । यह आलम्बपद विष्णुपद=आकाश में आलम्बित रहता है, किन्तु वह (आत्मचन्द्र) आलम्ब पद से निर्गत है, किसी का आश्रित नहीं है । इसी वैलक्षण्य को सूचित करने के लिये 'तम्'—अपूर्व—"बुद्धिस्थम्" पद दिया है ।

(२) प्रकृत उदाहरण मे कला निरालम्बपद और आत्मपदों की तत्वादि-वाचकता योग शास्त्र में ही प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ अपने आप में प्रतीति का उद्देश्य होने के कारण अप्रतीतार्थत्व दोष की गुणता है ।

अवतरणिका -'कथितपदत्वदोष" की गुणता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(६) (पूर्व) विहित का अनुवाद करने में अर्थात् उद्देश्य—प्रतिनिर्देश्य स्थल में, विषाद में, विस्मय में, क्रोध में, हीन उक्ति में, लाटानुप्रास (नामक शब्दालङ्कार) में, अनुकम्पा में, प्रसन्न करने में, अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यध्वनि में, हर्ष में और अवधारण (निश्चय) में 'कथितपदत्वदोष" गुण ही होता है ।

टिप्पणी—(१) विहितानुवाद्यत्वादि एकादशस्थलों पर कथितपदत्वदोष गुण हो जाता है । इसके गुण हो जाने के कारण को प्रत्येक उदाहरण के साथ ही स्पष्ट कर दिया जावेगा । कहा भी है कि—

विषादे, विस्मये हर्षे दैन्ये कोपेऽवधारणे ।
प्रसादनेऽनुकम्पायां द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति ॥ इति

यथा— 'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः । 'हन्त हन्त गतः कान्तो वसन्ते सखि नागतः ।'

अत्र विषादः । 'चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मयः । 'सुनयने नयने निधेहि—' इति ।

अत्र लाटानुप्रासः । 'नयने तस्यैव नयने च ।'

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।

एवमन्यत्रापि ।

अर्थ—(१) [**कथितपदत्वदोष** की **विहितानुवाद** होने पर गुणता का उदाहरण] **यथा—उदेतिइति**—सूर्य लाल उदय होता है—इत्यादि । यहाँ विहितानुवाद अर्थात् उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य भाव है ।

टिप्पणी—(१) उदय होते हुए सूर्य के उद्देश्य में ताम्रता का विधान किया है तथा पुनः अस्त होते हुये सूर्य का उद्देश्य रूप से विधान करना प्रतिनिर्देश्य रूप अनुवाद है अतः उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य स्थल पर उक्त पदों के प्रयोग से दूसरे अर्थ की प्रतीति न होने से शीघ्र ही शाब्दबोध हो जाता है तथा शीघ्र ही रस की प्रतीति हो जाती है—इसीलिये यहाँ कथितपदत्व दोष की गुणता है । किन्तु यदि दूसरे शब्द से कथन किया जावे तो भिन्न रूप से अर्थ की प्रतीति होने से रस की प्रतीति विलम्ब से होने में दोष हो जावेगा । क्योंकि—

"न कोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते" इति ॥

अर्थ—(२) [**कथितपदत्वदोष** की विषाद मे गुणता का उदाहरण] **हन्त-इति**—(हे) सखि ! बड़ा दुःख है कि (परदेश में) गया हुआ प्रिय वसन्त ऋतु के आ जाने पर (भी) नहीं आया है । यहाँ विषाद है । [अतः अतिशय व्यञ्जक होने से गुण है।]

टिप्पणी—**आशय** कहने का यह है कि हन्त ! हन्त ! इन दो पदों के प्रयोग से कथितपदत्व दोष अतिशय विषाद का व्यञ्जक होने से गुण है ।

अर्थ—(३) [**कथितपदत्वदोष** की **विस्मय** में गुणता का उदाहरण] **चित्र-मिति**—[**प्रसङ्ग**—किसी विदग्ध नायक की अपनी प्रिया के मुख का चन्द्रमा के साथ अभेद रूप से वर्णन करते हुए उक्ति है ।] (हे) सुमुखी ! महान् आश्चर्य है कि आकाश से भिन्न स्थल पर (अनाकाशे) चन्द्रमा कैसे ? यहाँ आश्चर्य है । [अतः "चित्रम् चित्रम्" इन दो शब्दों के प्रयोग से कथितपदत्वदोष अतिशय विस्मय का व्यञ्जक होने से गुण है ।]

अर्थ—(४) [**लाटानुप्रास** में **कथितपदत्वदोष** की गुणता का उदाहरण] **सुनयने इति**—(हे) सुनयने ! (मेरे ऊपर) नयनों को अर्थात् कृपा करो । यहाँ लाटानुप्रास है ।

टिप्पणी—लाटानुप्रास के अन्दर कथितपदत्व दोष रस का उपकारक होता है क्योंकि बिना उसके वैचित्र्य की उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये "नयने, नयने" इन दो शब्दों के प्रयोग से विशिष्ट वैचित्र्य की प्रतीति होने से कथितपदत्व गुण है ।

अर्थ—(५) [**अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि** में **कथितपदत्वदोष** की गुणता का उदाहरण] **नयने इति** नेत्र (वस्तुतः) उसी के नेत्र हैं, इत्यादि में अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि है । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र (क्रोधादि में) भी (उदाहरण **समझ** लेने चाहिएं) ।

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥२०॥

गुण इत्येव यथा—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव ।
विल सत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥"

टिप्पणी—(१) पूर्वोक्त उदाहरण में "**नयने-नयने**" इन दो शब्दों से कथित पदत्वदोष अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि वृत्ति होने के कारण विशेष चमत्कार का आधायक है। अतः गुण है।

(२) **अनुकम्पा में कथितपदत्व दोष की गुणता** का उदाहरण—

"आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।"

यहाँ आश्रम के मृग पर अतिशय अनुकम्पा की व्यञ्जना होने से कथितपदत्व गुण है।

(३) अवधारण दो प्रकार का होता है—(१) अयोगव्यवच्छेदक और (२) अन्ययोग व्यवच्छेदक। दोनों के उदाहरण देख लेने चाहिएं।

अवतरणिका—सन्दिग्धत्वदोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—(७) यदि व्याजस्तुति में पर्यवसान होता हो अर्थात् व्याजस्तुति का प्रत्यापक हो (तो) "सन्दिग्धत्वदोष" गुण ही होता है।

अर्थ—(**सन्दिग्धत्वदोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा—पृथुकार्तस्वरेति**—[**प्रसंग**—राजा के प्रति किसी दरिद्र की उक्ति है।] हे राजन्! इस समय (जब तक आप दान नहीं देते हैं, तब तक) हम दोनों का (मेरा और आपका) घर समान है (आपसे दान पाने के उपरान्त मेरा घर आपके घर के समान नहीं रहेगा, यह "सम्प्रति" इस पद से ध्वनित होता है।) (साम्य दिखाते हैं) **पृथ्विति—राजसदन पक्ष में**—अत्यधिक हैं स्वर्ण के पात्र जिसमें ऐसा है, (रत्नादिकों से) अलंकृत है सम्पूर्ण सेवक जिसमें ऐसा है (तथा) शोभित होती हुई हस्तिनियों से व्याप्त (अर्थात् दुष्प्रवेश) है। **दरिद्रसदन के पक्ष में**—बच्चों की (पृथुक) कातर ध्वनि का (भोजन न मिलने से बुभुक्षा के कारण) आस्पद है, पृथिवी पर (भू) स्थित है (उषित—अर्थात् आसनादि के न होने से) सम्पूर्ण परिवार के व्यथित (पुत्र कलत्रादि) जिसमें ऐसा है, (तथा) चहों की (बिलेषु गृहेषु सीदन्ति—अवतिष्ठन्ते ये ते बिलसत्काः—मूषिकाः तेषाम्) धूलि से (अथवा बिलेषु सन्ति इति विलसन्तः सन्त एव सत्काः बिलेषु सत्काः=वर्तमाना येरेणवः तैः) अथवा बिलों में विद्यमान धूलि से गहन है, अथवा बिल में विद्यमान पानी और धूलि से युक्त है (बिले सत्=वर्तमानं कं—जलं रेणुश्च ताभ्यां गहनं—संकीर्णम्)।

टिप्पणी—(१) यहाँ "पृथुकार्त्तस्वरपात्र" आदि विशेषण "पृथूनिकार्त्तस्वरस्य पात्राणि यत्र तत्" इत्यादि अर्थ वाले हैं अथवा "पृथुकानामार्त्तस्वरस्यपात्रम्" इत्यादि अर्थ वाले हैं, इस प्रकार के सन्देह से सन्दिग्धत्व दोष है। किन्तु ऐसा होने पर भी उक्त विशेषणों की योग्यता से उस, उस पक्ष के अनुकूल अर्थ का निश्चय होने से राजा की व्याजस्तुति का प्रत्यायक होने से 'सन्दिग्धत्व दोष" गुण ही है।

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ।
कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव ।

यथा—

'दीधीवेवीड्समः कश्चिद्गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥'

अत्रार्थः कष्टः । वैयाकरणश्च वक्ता । एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि ।

अवतरणिका—कष्टार्थत्व और दुःश्रवत्व दोषों की गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(८, ९) "वैय्याकरणादि के [**व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैय्याकरणः सः मुख्यः—आदिः यस्य तादृशे" इति वैय्याकरणमुख्ये** । यहाँ "मुख्य" पद से शुष्क स्मार्त और तार्किकों का ग्रहण होता है ।] श्रोता अथवा वक्ता होने पर "कष्टार्थत्व और दुःश्रवत्व दोष गुण ही होता है ।

(वैय्याकरण के वक्ता होने पर कष्टार्थत्व दोष की गुणता का उदाहरण) **यथा**—दीधीति—[**प्रसङ्ग**—इस ग्राम में किस प्रकार के मनुष्य रहते हैं—ऐसा पूछने वाले के प्रति किसी वैय्याकरण का उत्तर है ।] कोई (पुरुष तो) दीधीङ् ("**दीधीङ्-दीप्तिदेवनयोः**") और वेवीङ् (धातु) के और इडागम के समान गुण (दाक्षिण्यादिगुण) और वृद्धि (अभ्युन्नति) के पात्र नहीं हैं **अन्यत्र**—"**अदेङ्गुणः**' "१/१/२" से गुण और **वृद्धिरादैच् १/१/१** से वृद्धि होने पर "**दीधीवेवीटाम्** ' १/१/६ से गुण और वृद्धि का निषेध हो जाता है । **यथा**—**आदीध्यन्** और **आवेव्यन्** यहाँ गुण का निषेध हो गया और **आदीध्यक** और **आवेव्यकः** यहाँ वृद्धि का निषेध होगा **सविता** यहाँ पर इट् के आगम को गुण का निषेध हो जाता है । (केवल इतना ही नहीं है किन्तु) कोई (मनुष्य) क्विप् प्रत्यय के समान (सर्वथा विनष्ट) है, [अर्थात् "क्विप्" प्रत्यय का भी सर्वापहारी लोप हो जाता है—यथा—'क्विप" के अन्दर '**हलन्त्यम्**" इससे पकार का "**लशक्वतद्धिते**" इससे ककार का, "**उपदेशेऽजनुनासिकइत्**" इससे इकार का "**वेदपृक्तस्य**" इससे वकार का लोप हो जाता है, इस प्रकार क्विप् समाप्त हो जाता है] जिस (व्यक्ति या क्विप् प्रत्यय) के निकट होने पर वे दोनों (अर्थात् गुण और वृद्धि, दूसरे के भी) नहीं होते हैं । [**अर्थात्** क्विप् प्रत्यय के परे होने पर गुण और वृद्धि नहीं होते हैं क्योंकि **क्ङिति च** यह निषेध कर देता है । जैसे—**लिट्, भिद** इत्यादि में '**पुगन्तलघूपधस्य च**" इस सूत्र के गुण प्राप्त होने पर गुण का निषेध हो जाता है, इसी प्रकार 'मृट्" यहाँ पर "**मृजेर्वृद्धिः**" इस सूत्र से प्राप्त वृद्धि का निषेध हो जाता है । इसी प्रकार कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनके सन्निहित होने से उनके पास बैठने वालों तक की गुणवृद्धि नष्ट हो जाती है । उनकी स्वयं की तो बात ही क्या, वे तो क्विप् प्रत्यय के समान सर्वथा नष्ट ही हैं ।] (गुणता का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ अर्थ (साधारण पुरुष की दृष्टि से) कष्ट (गम्य) है (क्योंकि उन, उन व्याकरण के सूत्रों से अर्थ की प्रतीति होती है) और वैय्याकरण वक्ता है [अर्थात् **विलम्ब से अर्थ की प्रतीति** होने पर भी वक्ता क्योंकि वैय्याकरण है, अतः वह उन, उन सूत्रों के अर्थ को समझता है, इसलिये कष्टार्थ की प्रतीति का अभाव होने से वही दोष गुण हो गया है ।] **एवमिति**—इसी प्रकार इसके (वैय्याकरण के) श्रोता होने पर भी (उदाहरण समझना चाहिए) ।

'अत्रास्मार्षमुपाध्याय त्वामहं न कदाचन ।'
अत्र दुःश्रवत्वम् । वैयाकरणो वाच्यः । एवमस्य वक्तृत्वेऽपि ।

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥२१॥

गुण इत्येव । यथा मम—

"एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डो व्व ।
एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्व ॥"
**[एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव ।
एते चांशुसमूहाः पतन्त्याशासु दुग्धधारा इव ॥]**

इयं विदूषकोक्तिः ।

अथ—(वैयाकरण के श्रोता होने पर दुःश्रवत्वदोष की गुणता का उदाहरण) **अत्रेति**—(हे, उपाध्याय ! इस विषय में मैंने तुमको कभी भी स्मरण नहीं किया। (अर्थात् तुम्हारी सहायता के बिना ही मैंने सारा उत्तर दे दिया।) **अत्रेति**—यहाँ ("अस्मार्षम्") दुःश्रवत्व (गुण) है। वैयाकरण वाच्य (श्रोता) है। इसीप्रकार इसके (वैयाकरण के) वक्ता होने पर भी (दुःश्रवत्व को गुण समझ लेना चाहिये)।

टिप्पणी—(१) काव्यप्रकाशकार ने निम्न उदाहरण दिया है—

**यदा त्वामहमद्राक्षं पदविद्याविशारदम् ।
उपाध्याय तदाऽस्मार्षं समस्प्राक्षं च सम्मदम् ॥**

यहाँ वक्ता और बोद्धा दोनों ही वैय्याकरण के होने से कष्टत्व और दुःश्रवत्व गुण है।

(२) **शुष्क तार्किक के वक्ता होने पर कष्टत्व की गुणता** का उदाहरण—यथा—

**न्यायानुमानविगुणं कुयशस्ते महीपते ।
हेत्वाभासवदुद्माव्यं विदुषो याति निग्रहम् ।**

यहाँ पञ्चावयवोपपन्नन्याय के प्रयोग में दुष्ट हेतु का प्रयोग वादि का निग्रह कराने वाला होता है। इससे अनभिज्ञों के लिये कष्टत्व दोष है, और जो समझते हैं उनके लिये गुण है। इसीप्रकार—"**साध्यं निश्चितमन्वयेन**" इत्यादि में ये कष्टत्व गुण ही होता है।

अवतरणिका—ग्राम्यत्व दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—(१०) अधम (पुरुषों) की उक्तियों में ग्राम्यत्व दोष गुण ही होता है। (**ग्राम्यत्वदोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा**—मेरा (अर्थात् ग्रन्थकारकृत) यह चन्द्रमा का बिम्ब मक्खन के गोले के समान दिखायी देता है, और ये (चन्द्रमा की) किरणें दुग्ध की धाराओं के समान दिशाओं में गिर रही हैं। **इयमिति**– यह विदूषक की उक्ति है।

टिप्पणी (१) यहाँ उक्त उदाहरण में "हैयङ्गवीन पिण्ड और दुग्धधारा" शब्द ग्राम्य होता हुआ भी विदूषक की अधमता की प्रतीति कराने वाला होने से बालक के अर्धप्रस्फुटित वचन के समान अद्भुत कौतूहल को उत्पन्न करता है, अतः गुण ही है।

(२) इसी प्रकार "**मुग्धा दुग्धधिया**" इत्यादि में अनुप्रास विशेषादि में ग्राम्यत्व दोष की अदोषता ही समझनी चाहिये।

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—'संप्रति सन्ध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।'

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥२२॥

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः;
रक्तौ च क्रोधरागौ; सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥२३॥
पादाघातादशोकं विकसति बकुलं योषितामास्यमद्यै-
र्यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।

अवतरणिका—निहेतुत्व दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(११) लोक प्रसिद्ध अर्थ में निर्हेतुता नामक दोष दोषता को प्राप्त नहीं होता है । [तथा अतिशय चमत्कार को उत्पन्न न करने के कारण गुण भी नहीं होता है ।] (**निर्हेतुत्व दोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा—सम्प्रतीति**—इस समय सन्ध्याकाल चक्रवाक पक्षियों के युगल को (परस्पर) विघटित कर रहा है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ सायकाल का सपत्नीक चक्रवाक पक्षियों का परस्पर पृथक् करना लोक मे प्रसिद्ध ही है—अतः इसमें हेतु की आकांक्षा न होने से 'निर्हे-तुता" दोष नहीं है ।

अवतरणिका—ख्यातविरुद्धता दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(१२) कवियों के प्रसिद्ध सिद्धान्त अथवा नियम (समये) में ख्यात-विरुद्धतादोष (लौकिक प्रसिद्धि विरोधिता) गुण (होता) है ।

कवि सम्प्रदाय की प्रसिद्धियाँ (प्रतिपादित की जाती) हैं ।

(निराकार होने के कारण सामान्यतः रूप रहित होने पर भी) आकाश में, पाप में मालनता (कृष्णवर्णता), यशः, हास और कीर्ति में शुभ्रता (कवियों के द्वारा) वर्णित की जाती है । (यद्यपि "**यशः, कीर्तिः, समज्या च**" इस अमरकोश के अनुसार यश और कीर्ति में भेद नहीं है, तथापि "**खड्गादिप्रभवा कीर्तिःविद्यादिप्रभवं यशः**" इस निमित्त भेद से भेद मानकर यहाँ यश और कीर्ति का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है ।] क्रोध और अनुराग रक्त वर्ण वाले (वर्णित किये जाते) हैं, श्वेत कमल (पद्म) और नील कमलादि (इन्दीवर—"आदि" पद से कुमुद, शैवाल और रत्नादिकों का ग्रहण होता है) 'नदियों और समुद्रों में उत्पन्न होते हैं" (ऐसा वर्णन किया जाता है) सभी जलाशयो में हंसादि ('आदि" शब्द से चक्रवाकादि का ग्रहण होता है) पक्षियों का समुदाय विचरण करता है (ऐसा वर्णन किया जाता है) चकोरों के द्वारा चन्द्रिका पी जाती है (और) वर्षाकाल मे मानसरोवर को चले जाते हैं (ऐसा वर्णन किया जाता है ।) कामनियों के पदाघात में अशोक नामक पुष्प, (और) मुखवासित मद्य से केसर नामक पुष्प (मौलसिरी) विकसित होता है । युवक और युवतियों के अंगों पर (कण्ठ और वक्षःस्थल पर) हार और विरह के सन्तापों से हृदय विदीर्ण होता है (ऐसा वर्णित किया जाता है) ।

मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ॥२४॥
अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसित कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात् ।
न स्याज्जाती वसन्ते; न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥२५॥
एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

अर्थ—कामदेव की धनुष की प्रत्यञ्चा भ्रमर पक्ति धनुष और बाण पुष्प सम्बन्धी (वर्णित किये जाते है) इस (कामदेव) के बाणों से और उसी प्रकार कामनियों के कटाक्ष से युवकों का हृदय विदीर्ण हो जाता है (ऐसा वर्णन किया जाता है)। (दोनों का विकास दोनों समय देखने पर भी) दिन में कमल, (और) रात्रि में कुमुद विकसित होता है, चाँदनी शुक्ल पक्ष में ही (कृष्ण पक्ष में नहीं—वर्णित की जाती) (अन्यत्र सम्भव होने पर भी) मेघों की ध्वनि होने पर मयूरों का नृत्य होता है, अशोक वृक्ष पर फल नहीं लगता है, बसन्त ऋतु में मालती (जाति पुष्प) पुष्प (विकसित) नहीं होता है, चन्दन के वृक्षों पर (बहुवचन प्रयोग से इक्षु इत्यादिकों का भी ग्रहण होता है) पुष्प और फल नहीं होते हैं (ऐसा सर्वत्र कवियों द्वारा वर्णन किया जाता है), इत्यादि कवि सम्प्रदाय में प्रसिद्ध अन्य वस्तुओं को सत् कवियों के कालिदासादिकों के) प्रबन्ध काव्य में देखना चाहिये।

टिप्पणी—कवि सम्प्रदाय प्रसिद्धि के कारण महलादिकों का मेघादि के ऊपर तक ऊँचे होने का वर्णन अत्यन्त ऊँचे होने की सूचना देने के लिये किया जाता है तथा यश और कीर्ति की शुभ्रता की तरह उनके विपरीत दुर्यश और दुष्कीर्ति की मलिनता वर्णित की जाती है।

(२) अन्य विद्वानों की दृष्टि से कविप्रसिद्धि—

स्त्रीणां स्पर्शात्प्रियङ्गुर्विकसति बकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम् ।
मन्दारो नर्मवाक्यात् पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवाता-
च्चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात्कर्णिकारः ॥

(३) कवि समय चार प्रकार का है, तथाहि—

"सतोऽपि चानिबन्धः स्यादसतोऽपि निबन्धनम् ।
नियमेन निबन्धश्च विकल्पेन निबन्धनम् ॥
एवं कवीनां समयश्चतुर्धा परिकीर्तितः ॥

अर्थ—इनके (कवि सम्प्रदाय प्रसिद्धियों के) सत्कवियों के प्रबन्ध काव्यों में (आकरेषु) स्पष्ट है।

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।
आरूढत्वादिबोधाय—

यथा—'पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।'
अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुः शब्देन ज्याया धनुष्यायत्तीकरणं बोध्यते । आदिशब्दात्

'भाति कर्णावतंसस्ते ।'

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः । एवं श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-प्रभृतिः । एवं निरुपपदा मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि 'पुष्प-माला विभाति ते ।' अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पवद्धचै ।

अवतरणिका - पुनरुक्तता दोष की अदोषता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(१३) धनुर्ज्यादि शब्दों में (विद्यमान) धनुः आदि शब्द (ज्या को धनुष पर) चढ़ी हुई बतलाने के लिये (प्रयुक्त किये जाते) हैं । [अतः पुनरुक्तत्वदोष दोष न होकर गुण हो जाता है ।]

टिप्पणी—यद्यपि ज्या शब्द से ही धनुष की प्रत्यञ्चा का ज्ञान हो जाता है तथापि यहाँ पर धनुः शब्द ज्या को चढ़ा हुआ बताने के लिये है । अतः पुनरुक्तत्व दोष गुण है ।

अर्थ—(**पुनरुक्तत्वदोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा—पूरितेइति**—धनुष की प्रत्यञ्चा के सीधे खींचने से उत्पन्न होने वाले शब्दों में द्यावापृथिवी व्याप्त हो गये । (अदोषता दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) ज्या शब्द (के प्रयोग मात्र) से भी गतार्थ हो जाने पर (अर्थात् धनुष पर प्रत्यञ्चा का चढ़ा होना ज्ञात हो जाने पर, धनुः शब्द के साथ (प्रयुक्त ज्या शब्द से=धनुर्ज्या) प्रत्यञ्चा का धनुष पर चढ़ा होना ज्ञात होता है । [कारिकागत "**आदि**" शब्द की सार्थकता का प्रतिपादन करते हैं] **आदिशब्दादिति**—"आदि" शब्द से तुम्हारा (नायिका का) कर्णभूषण सुशोभित होता है" । यहाँ (आभूषण के) कान में स्थित होने का ज्ञान कराने के लिये कर्ण शब्द (का प्रयोग हुआ) है । [यद्यपि अवतंस शब्द से ही कर्ण-भूषण की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि अवतंस कान के आभूषण को ही कहते हैं, तथापि कान में स्थित होने की प्रतीति के लिये कर्ण शब्द का प्रयोग किया है । इस प्रकार के स्थलों पर कर्ण में स्थित आदि रूप अधिक अर्थ का ज्ञान कराने के लिये कर्ण शब्द का ग्रहण किया जाता है ।] इसी प्रकार श्रवणकुण्डल और शिरः शेखर प्रभृति (का प्रयोग समझना चाहिये—अर्थात् कुण्डल और शेखर शब्दों से ही कर्ण-भूषण और शिरोभूषण की प्रतीति हो जाती है तथापि वहाँ वहाँ पर उनकी स्थिति का ज्ञान कराने के लिए श्रवण और शिरः शब्द हैं । "प्रभृति" पद से नेत्राञ्जनादि का ग्रहण होता है । इसी प्रकार मयूर-केका-करिकलभ-गजबृंहित-अश्वहेषा-शैलात्व-त्नादि शब्दों में समझना चाहिए । यहाँ सर्वत्र लक्षणा माननी चाहिए ।] **एवमिति**—इसी प्रकार विशेषण रहित (निरुपपद) माला शब्द पुष्पमाला को ही बताता है—ऐसा होने पर भी "तुम्हारे (कण्ठ में) पुष्पमाला सुशोभित हो रही है" (ऐसा प्रयोग होता है) । **अत्रेति**—यहाँ पुष्प शब्द उत्कृष्ट पुष्पों के आधिक्य का ज्ञान कराने के लिये है । [यद्यपि माला शब्द पुष्पों की माला के अर्थ का ही ज्ञान कराने में समर्थ है, तथापि पुष्प शब्द लक्षणा के द्वारा अपुष्ट अर्थ उत्कृष्टता का प्रतिपादन करता है ।

एवं 'मुक्ताहार' इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम् ।

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता जघनकाञ्चीकरकङ्कणादयः ।

अर्थ—[कारिका के अन्दर विद्यमान द्वितीय "आदि" शब्द की सार्थकता दिखाते हैं।] **एवमिति**—इसीप्रकार "मुक्ताहारः" यहाँ मुक्ता शब्द अन्य रत्नों की अभिश्रिता (को सूचित करता) है। [यद्यपि "हार" शब्द से मुक्तामय हार की प्रतीति हो जाने पर भी, अधिक मुक्ता शब्द पद्मरागादि अन्य रत्नों से अभिश्रितता का ज्ञान कराता है, अतः वह अदुष्ट है।]

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि **"मौर्वीज्या शिञ्जिनी गुणः"** इस अमरकोष के अनुसार "ज्या" शब्द से ही धनुष की प्रत्यञ्चा का ज्ञान हो जाने पर भी धनुष शब्द का प्रयोग प्रत्यञ्चा के चढ़े हुये का ज्ञान कराने में अधिक है। इसप्रकार के अर्थ की प्रतीति में वर्णन की उत्कृष्टता है, अतः पुनरुक्तत्वादि दोष नहीं है। और जहाँ धनुष पर प्रत्यञ्चा के आरोपित होने के ज्ञान का प्रयोजन नहीं है, वहाँ धनुष शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिये, केवल ज्या शब्द का प्रयोग ही ठीक है। यथा—**ज्याबन्धनिष्पन्दभुजेन यस्य विनिःश्वसद्वक्त्रपरम्परेण ।**

कारागृहे निर्जितवासवेन लङ्केश्वरेणोषितमा प्रसादात् ॥

यहाँ प्रत्यञ्चा का धनुष पर आरोपित होना प्रयोजन नहीं है, अतः धनुः शब्द का ग्रहण नहीं किया है।

(२) इसीप्रकार "मरकत शिला" इत्यादि में शिलापद विस्तीर्णता का ज्ञान कराने के लिये है। तथा च **"सकीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः"** इत्यादि में **"कीचकावेणवास्तेस्युः ये स्वनत्यानिलोद्धताः"** इस अमरकोष के अनुसार "मारुतपूर्णरन्ध्रैः इत्यादि अदुष्ट है।

(३) **काव्यप्रकाश** में उदाहरण इसप्रकार है—

"अस्याः कर्णावतंसेन जितं सर्वं विभूषणम् ।"
तथैव शोभतेऽत्यर्थानस्याः श्रवणकुण्डलम् ॥
अपूर्वमधुरामोदप्रमोदितदिशस्ततः ।
आययुर्भृङ्गमुखराः शिरः शेखरशालिनः ॥

अर्थ—ये (धनुर्ज्यादि शब्द अर्थात् पुनरुक्तत्वदोष वाले शब्द महाकाव्यों में) विद्यमान (ही) प्रयोग किये जाने चाहिये। [अर्थात् जिनका पुनरुक्तत्वदोष होने पर भी अधिकता से प्रयोग अधिक स्थानों में दिखाई दे उनका ही प्रयोग करना चाहिये।]

(कारिका के अर्थ को स्पष्ट करते है) जो धनुर्ज्यादि (शब्द) महाकाव्यों के अन्दर प्रयुक्त हैं (उनका) ही प्रयोग करना चाहिये, (महाकाव्यों में) अप्रयुक्त जघनकाञ्ची और करकङ्कणादि (शब्दों का प्रयोग) नहीं (करना चाहिये)। (क्योंकि प्रायः उनका वैसा प्रयोग दिखाई नहीं देता है।)

टिप्पणी—महाकवियों के प्रबन्धकाव्यों में प्रयुक्त कर्णावतसादि शब्दों का पूर्वोक्त प्रकार से समर्थन किया जाता है। किन्तु यदि महाकवियों ने प्रयोग नहीं किया और किन्हीं अन्य कवियों ने प्रयोग कर दिया है तो ऐसे जघनकाञ्ची इत्यादि शब्दों में पुनरुक्तिदोष होता ही है। इसीलिये—"उत्क्षिप्तौ करकङ्कणद्वयमिदम्" इत्यादि मे पुनरुक्तत्वदोष ही है।

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ॥

यथा—

'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

अवतरणिका—न्यूनपदत्वदोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ (१४)—आनन्द में निमग्नादि (व्यक्ति) की उक्ति होने पर ("आदि" पद से शोक और दुःख में निमग्नता का भी ग्रहण होता है) न्यूनपदत्वदोष गुण होता है ।

(**न्यूनपदत्वदोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा**— गाढेति—[प्रसङ्ग— **अमरुकशतक** में अतिशय शृंगार रस में निमग्न किसी नायक की सुरत सम्भोग के अनन्तर रतिक्रीड़ा के श्रम में चूर नायिका को अनेक प्रकार से देखकर यह विचार-सरणी है ।] दृढ़ आलिङ्गन से कुछ-कुछ झुक गये हैं कुच जिसके ऐसी (इसमें कुचों की पीनता और उच्चता ध्वनित होती है) अतएव अत्यन्त अङ्कुरित हो रहे हैं रोमाञ्च जिसके ऐसी, तथा (प्रियतम के) प्रगाढ़ स्नेह के आधिक्य से स्खलित हो गया है सुन्दर नितम्ब से वस्त्र जिसका ऐसी, (हे) मानखण्डक ! (मानं–अभिमानं द्यति–खण्डयति इति मानद !) अथवा सम्मानदायक (मान–सम्मानं ददाति इति मानद !) मुझको (दुःखित) मत करो, मुझे अत्यन्त मत (पीड़ित करो), इतना ही पर्याप्त है—इसप्रकार अल्पाक्षरभाषिणी (प्रियतमा) क्या सो गई है ? (स्थिर होने के कारण), क्या मर गई है ? (सो जाने पर इसका श्वास के निस्पन्द हो जाने के कारण), क्या मेरे मन में लीन हो गई है ? (क्योंकि मर जाने पर भी बाहर अनुभव होता, अतः क्या जंतुकाष्ठ न्याय से ऐक्य को प्राप्त हो गई है) क्या सर्वथा (नीर-क्षीर न्याय के समान) मन की सारूप्यता को प्राप्त हो गई है (विलीना) ? **अथवा**—क्षार जल में नमक के समान मिश्रित हो गई है । (दोष दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ "पीडय" यह (पद) न्यून है ।

टिप्पणी—(१) "पीडय" यह पद उपलक्षण है, अतः "आयासय" यह पद भी न्यून समझना चाहिये यहाँ "माया" इसस पूर्व "आयासय" और "माद्रतिमाम्" इसके पश्चात् "पीडय" यह पद न्यून होता हुआ भी दुष्ट नहीं है, क्योंकि शीघ्र ही अध्याहार से प्रतीति स्पष्ट हो जाती है । परन्तु इसके विपरीत हर्ष, ग्लानि, सम्मोह और प्रहर्ष का अतिशय प्रत्यायक होने से और अतिशय रस का व्यञ्जक होने से गुण है ।

(२) **शोक और दुःख में मग्न होने पर न्यूनपदत्वदोष की गुणता का उदाहरण—यथा—**

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्यमुग्धां तामेवशान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥"

यहाँ "त्यक्तवानसि" इस क्रिया पद का ग्रहण न करने से न्यूनपदत्वदोष भी कुछ कह न सकने के कारण अतिशय शोक का पोषक होने से गुणत्व को प्राप्त हो गया है ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं नैतद्यत इति पदानि न्यूनानि । एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारि-भावस्योत्कर्षाकरणान्न गुणः । दीर्घं न सेत्यादिवाक्यजन्यया च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेर्बाधः स्फुटमेवावभासत इति न दोषः ।

अर्थ—कहीं (इसका अनपकर्षक होने से और रस का अनुत्कर्ष होने से) न्यूनपदत्वदोष न दोष (होता) है, और न गुण ही (होता) है । [अर्थात् दोषत्व को छोड़कर भी गुणत्व को प्राप्त नहीं होता है ।]

अर्थ—(**न्यूनपदत्वदोष की दोषाभावमात्रता** का उदाहरण) यथा—**तिष्ठेदिति**—[प्रसङ्ग—**विक्रमोर्वशीयनाटक** के चतुर्थ अङ्क में उर्वशी के लतारूप हो जाने पर विरही राजा पुरुरवा की यह उक्ति है ।] (वह उर्वशी मेरे प्रति किसी) क्रोध के कारण (अपने) दिव्य प्रभाव से (कदाचित्) अन्तर्ध्यान हो गई हो ? (किन्तु ऐसा हो नहीं सकता क्योंकि) वह देर तक कुपित नहीं होती है । (अर्थात् क्रोध से अन्तर्ध्यान होती हुई भी चिरकाल तक क्रोध के स्थिर न रहने से क्षण भर पश्चात् पुनः आ जानी चाहिये ।) कदाचित् स्वर्ग को (सुष्ठु अर्ज्यते इति स्वर्गः अथवा सुष्ठु ऋज्यते इति स्वर्गः) चली गई हो ? (किन्तु ऐसा भी सम्भव नहीं है क्योंकि) इस (उर्वशी) का मन मुझमें पुनः (पूर्णतया) स्नेह से सरस है अर्थात् अनुरक्त है (अतः चिरकाल तक रहने वाले विरह को स्वयं ही नहीं करेगी ।) [तो क्या असुरों ने अपहृत कर लिया है ? अतः कहते हैं कि] मेरे सामने विद्यमान उस (उर्वशी) को हरण करने में असुर भी समर्थ नहीं हैं (क्योंकि उनके अन्दर वैसा साहस और बल नहीं है) । (इस प्रकार उसके अदृश्य हो जाने में कोई भी कारण नहीं है, तथापि) वह नेत्रों से सर्वथा ओझल हो गई है, इसप्रकार यह कौनसा (विधिना का) विधान है ।

(**न्यूनपदत्वदोषकी अगुणता और अदोषता** का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत-उदाहरण में) "**प्रभावपिहिता**" इसके और "**भवेत्**" इसके पश्चात् "**नैतद्यतः**" ये (तीन) पद न्यून हैं । [यहाँ न्यूनपदत्व गुण नहीं है, क्योंकि विशेष चमत्कार की प्रतीति नहीं होती है, और न ही दोष है क्योंकि उसके व्यतिरेक से भी "दीर्घं न साकुप्यति" इत्यादि की प्रतीति होने से "तिष्ठेत् कोपवश्यत्" इत्यादि प्रतीति का बाध हो जाता है । इति] **एषामिति**—इन पदों की (अर्थात् "न एतत् यतः" इन तीन पदों की) न्यूनता होने पर भी इस वाक्य ("तिष्ठेत्" इत्यादि) के व्यंग्य वितर्क नामक व्यभिचारी भाव का उत्कर्ष न होने के कारण (अर्थात् "किंरुद्धः प्रियया" इत्यादि में और "करतले विन्यस्य वस्त्राम्बुजम्" इसकी तरह किसी दूसरे पद से रस के उत्कर्ष को उत्पन्न न करने के कारण) गुण नहीं है । "**दीर्घं न सा**" इत्यादि वाक्य से उत्पन्न प्रतीति के द्वारा "**तिष्ठेत्**" इत्यादि वाक्य से उत्पन्न प्रतीति का निरास स्पष्ट ही प्रतीत होता है, अतः दोष नहीं है ।

—गुणः क्वाप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

'आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तन्न न जाने जाने स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥'

अत्र 'न न जाने' इत्ययोगव्यवच्छेदे ।

द्वितीये 'जाने' इत्यनेन नाहमेव जाने इत्यन्ययोगव्यवच्छेदा द्विच्छित्ति-विशेषः ।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि "नैतद्यतः" इन तीन पदों से प्रतीत होने वाला "**तिष्ठेत्**" इत्यादि वाक्यार्थ की प्रतीति का निरास "**दीर्घं न सा कुप्यति**" इस वाक्य से उत्पन्न होने वाले ज्ञान से ही स्पष्ट प्रतीत हो जाता है, अतः न्यूनपदत्वदोष नहीं है ।

(२) उक्त उदाहरण के अन्दर **प्रदीपकार** के अनुसार '**नैतद् युज्यते यतः**' इन पदों से न्यूनता है और इसीप्रकार द्वितीय चरण में भी ये पद न्यून है ।

(३) **प्रश्न**—गुण और दोषों में से पहले गुणत्व का उपादान करने की तरह अगुणत्व और अदोषत्व के बीच में भी पहले अगुणत्व का उपादान करना ही ठीक था, और तत्पश्चात् अदोषत्व का उपादान करना चाहिये था । पुनः कारिका के अन्दर ऐसा क्यों नहीं किया ?

उत्तर—कारिका के अन्दर ऐसा केवल वृत्त पूर्ति के उद्देश्य से ही नहीं किया है ।

अवतरणिका—अधिकपदत्व की गुणता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(१५) कहीं (जहाँ विशेष की प्रतीति होती है, वहाँ) अधिकपदत्व दोष गुण (होता) है ।

अर्थ—(**अधिकपदत्व की गुणता** का उदाहरण) **यथा—आचरतीति**—दुष्ट व्यक्ति सहसा जो मन से भी (कहने का तो कहना ही क्या) अतर्कित (कभी मन से भी न सोचे हुये) कार्यों को करता है, उनको नहीं जानता हूं ऐसी बात नहीं है (अपितु) जानता ही हूं, किन्तु (मेरा) मन निष्ठुरता का (दुष्ट मनुष्यों के हृदय की तरह) आश्रय नहीं लेता है । (अर्थात् दुर्जन की दुर्जनता का निवारण करने के लिये निष्ठुरता आवश्यक है, परन्तु मन उसका अवलम्बन नहीं करना चाहता है ।]

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**न न जाने**" इससे अयोग का अर्थात् अपने में दुर्जन के अपकार विषयक ज्ञान के असम्बन्ध का व्यवच्छेद-निराकरण होता है । (तथा) दूसरे "**जाने**" इससे मैं ही जानता हूं—इससे अन्य (मुझसे भिन्न व्यक्ति) के योग का अर्थात् दुर्जन के अपकार विषयक ज्ञान के सम्बन्ध का निराकरण होने से अतिशय चमत्कार होता है ।

टिप्पणी—(१) अवधारण दो प्रकार का होता है—(१) अयोगव्यवच्छेद और (२) अन्ययोग व्यवच्छेद । यहाँ दोनों ही अवधारणों के होने से अधिकपदत्व नामक दोष गुण हो गया है । इनमें से पहले अवधारण में "जाने" इससे ही ज्ञान की प्रतीति हो जाने पर दो नञों की अधिकता के उपादान से अधिकपदत्वदोष की प्राप्ति

समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।
यथा—'अन्यास्ता गुणरत्न—' इत्यादि ।
अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।
एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

होने पर भी "द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं सातिशयं बोधयतः" इस न्याय से उत्तम प्रकार का अतिशय चमत्कार का ज्ञान कराने से गुण हो गया है । और दूसरे अवधारण में "न न जाने" इससे ही अपने विषय में अयोग व्यवच्छेद का ज्ञान होने से दूसरे "जाने" से अन्ययोग व्यवच्छेद का ही अर्थात् मैं ही जानता हूं, दूसरे को नहीं कहता हूं, इसका ज्ञान होना है । अतएव अधिकपदत्वदोष के सम्भव होने पर भी गुणत्व ही समझना चाहिये ।

(२) प्रश्न—यहां अधिकपदत्व कैसे हैं ? क्योंकि दूसरे "जाने" इस पद से "मैं ही जानता हूं दूसरे को नहीं बताता हूं" इस अर्थ की विवक्षा है । और पद के अर्थ की विवक्षा होने पर ही अधिकपदत्वदोष हुआ करता है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है क्योंकि "गुणाः क्वाप्याधिकंपदम्" यहां पर आपततः जो अधिकपदत्व है, वह कहीं गुण हो जाता है—इस अर्थ से उक्त शंका का निराकरण हो जाता है । अन्यथा पाप की पुण्यता की तरह दोष की गुणता हो जायेगी यह विचारणीय है । और न ही इस प्रकार "न न जाने जाने" यहां एक के आनुपूर्वी शब्दों के अनेक बार प्रयोग करने से कथितपदत्वदोष की शंका करनी चाहिये ? क्योंकि आनुपूर्वी भेद के न होने पर भी अर्थभेद की उपलब्धि होती है और जहां अभिन्नार्थक एकानुपूर्वीय शब्दों का अनेक बार प्रयोग किया जाता है, वहां कथितपदत्वदोष होता है । किन्तु इस प्रकार के स्थलों पर "कथितं च पदं पुनः" इसके अनुसार कथित॰ पदत्व भी गुण ही होता है ।

अवतरणिका—समाप्तपुनरात्तता दोष की अगुणता और अदोषता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—कहीं (अन्वय के समाप्त होने पर भी दूसरे वाक्य से पुनः उपादान करने पर) समाप्तपुनरात्तत्वदोष न दोष (होता) है और न गुण (होता) है ।

टिप्पणी—जहां विशेषण मात्र का पुनः उपादान होता है, वहीं इसकी दोषता है, दूसरे वाक्य के पुनः उपादान से दोष नहीं होता है ।

अर्थ—(समाप्तपुनरात्तत्वदोष की अदोषता और अगुणता का उदाहरण)—यथा—"अन्यास्ता" इति । [इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ····· पर पूर्व की जा चुकी है ।] अत्रेति—यहां (प्रकृत उदाहरण में, पूर्वार्द्ध से वाक्य के समाप्त होने पर भी उत्तरार्द्ध के वाक्य ('श्रीमत्कान्तिजुषाम्'—इत्यादि) का पुनः ग्रहण किया है (अतः न दोष है और न गुण है) एवमिति—और इस प्रकार विशेषण मात्र के (अनाकांक्षित के) पुनः उपादान करने पर समाप्तपुनरात्तत्व (दोष होता है), अन्य वाक्य के (उपादान करने पर दोष) नहीं (होता) है—ऐसा समझना चाहिये ।

गर्भितत्वं गुणः क्वापि—

यथा—'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मात्प्रादुरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥'

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्णाति ।

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

तथेति क्वचिद् गुणः । यथा—'चञ्चद्भुज–' इत्यादि ।
अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः ।

टिप्पणी—(१) "विशेषण मात्र"—यह तो केवल उपलक्षण है, इससे कर्त्ता कर्मादि अन्य पदों का भी वाक्य की समाप्ति पर कथन करने पर समाप्तपुनरात्तत्व दोष होता है । (२) **तथा चाहुर्वृद्धाः**—

स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥ इति ॥

(३) समाप्तपुनरात्तत्वदोष में पूर्व वाक्य के उत्तरवाक्य से साकांक्ष होने पर रस का अपकर्ष न होने से दोषता नहीं होती है, और अतिशय चमत्कार के आधायक न होने से गुणता भी नहीं होती है ।

अवतरणिका—गर्भितत्वदोष की गुणता का प्रतिपादन करते है—

अर्थ—(१७) गर्भितत्वदोष कहीं (चमत्काराधायक स्थलपर) गुण (होता) है ।

(गर्भितत्वदोष की गुणता का उदाहरण) **यथा—दिङ्मातङ्गेति**—[**प्रसङ्ग**—यह प्रभाकरभट्ट का पद्य है ।] दिग्गजों के समूहों से विभक्त है चार सीमायें जिसकी ऐसी पृथ्वी जीती जाती है, (समस्त राजन्यों की विजय से) जीती हुई भी वह पृथिवी कहते-कहते ही हम (अद्भुत रस से) रोमाञ्चित हो जाते हैं—(तुम सब) देखो (इसमें कुछ अपरोक्ष नहीं है) ब्राह्मण (कश्यप) को दे दी जाती है । इससे अधिक (अपरम्) और क्या (कहें), जिससे यह (समस्त पृथिवी की दान रूप) अद्भुत कथा उत्पन्न हुई, और जिसमें ही (किसी अन्य मे नहीं) अस्त हो गई (अर्थात् जिससे श्रेष्ठ वीर और दाता न कोई हुआ, न है और न होगा) उस (जमदग्नि के पुत्र) परशुराम को नमस्कार है । [अर्थात् इसप्रकार का अद्भुत कर्म कोई भी कभी भी नहीं कर सकता है ।]

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "वदन्त एव" इत्यादि वाक्य दूसरे वाक्य (**सिद्धा-साऽपि विप्रायप्रतिपाद्यते**") में प्रविष्ट होने से अतिशय चमत्कार को (युद्धवीर और दानवीर के परिपोष को) पुष्ट करता है ।

अवतरणिका—पतत्प्रकर्षता दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—(१८) **पतत्प्रकर्षता नामक दोष** उसीप्रकार (कहीं गुण होता) है । [**कारिकास्थ** 'तथा' पद की व्याख्या करते हैं ।] **तथेति—तथा**—अर्थात् कहीं (जिस पद्यांश में सुकुमारता है, वहीं) गुण (होना) है । (**पतत्प्रकर्षता दोष की गुणता** का उदाहरण) **यथा—चञ्चद्भुजेति**—[इस पद्य की पहले पृष्ठ···पर व्याख्या की जा चुकी है] **अत्रेति**—यहाँ चतुर्थ चरण में (उत्तंसयिष्यति **कचांस्तवदेवि ! भीमः** इस अन्तिम चरण में) सुकुमार अर्थ होने के कारण (द्रौपदी के केशों के संयमन रूप अर्थ के अनुद्धत होने से वर्णों के अन्दर समास न होने के कारण सुकुमारता है) कठोर वर्णों का त्याग कर देना गुण है (क्योंकि शब्दों के सुकुमार होने से अर्थ की भी सुकुमारता का ज्ञान होता है ।)

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः ।
अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः ।

यथा— 'औत्सुक्येन कृतत्वरा सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः ।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः ॥'

टिप्पणी—कहने का सारांश यह है कि अभिधेय के अनुद्धत होने से उसप्रकार का पतत्प्रकर्ष उचित है, यही इसकी अदोषता है, तथा देवी द्रौपदी के विषय में सुकुमारता के प्रकाशन के अत्यन्त उचित होने से इसकी गुणता समझनी चाहिये ।

अवतरणिका—इसके बाद यथासम्भव शब्द और अर्थ दोषों की अदोषता और गुणता का प्रतिपादन करके रस दोषों के विशेष विषय के विषय में यथासम्भव अदोषता और गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—जहाँ (जिस स्थल पर) अनुभाव और विभाव (के प्रतिपादक शब्दों) से रचना (व्यञ्जन) उचित नहीं है, (अर्थात् अभिप्रेत अर्थ का प्रतिपादन असम्भव होने से सम्भावना नहीं होती है) (वहाँ) कहीं व्यभिचारी भाव का (रस के स्थायीभाव सञ्चारी का नहीं) अपने शब्द से कथन करने पर दोष नहीं (होता) है । [अर्थात् व्यभिचारीभाव का अपने शब्द से कथन करना न दोष होता है और न गुण होता है ।]

(कारिका की व्याख्या करते हैं) **यत्रेति**—जहाँ अनुभाव और विभाव (के प्रतिपादक शब्दों) के द्वारा प्रतिपादन करने में (व्यभिचारी भावों की सहृदयों को) स्पष्टतया अनुभूति नहीं होती है, और जहाँ विभाव और अनुभावों द्वारा विहित पुष्टि का न होना ही (रसादि की प्रतीति के) अनुकूल है, वहाँ व्यभिचारी भावों के अपने शब्द से कथन कर देने पर दोष नहीं होता है ।

[(१) विभाव और अनुभाव के द्वारा प्रतिपादन करने पर विशद प्रतीति का न होना और (२) विभाव और अनुभाव के द्वारा विहित पुष्टि का न होना ही रस प्रतीति के अनुकूल है—इन दोनों का एक ही उदाहरण देते हैं ।] **यथा**—**औत्सुक्येनेति**—[**प्रसङ्ग**—**रत्नावली नाटिका** में प्रथम अङ्क के अन्दर मंगलाचरण के रूप में यह पद्य है ।] नवीन समागम में (पति के साथ नवीन समागम के प्रति) उत्कण्ठा के कारण शीघ्रता करती हुई, स्वाभाविक लज्जा के कारण (नवोढा होने के कारण) (पौनः पुन्येन) पीछे हटती हुई (यह पीछे हटना क्रोधादिसे भी हो सकता है, अतः "ह्रिया" कहा है), (और उसके बाद) सखियों के (अर्थात् कुबेरादि देवताओं की स्त्रियों के) उन उन (उस समय के योग्य) वचनों से ("लज्जा मत करो, घर में प्रवेश करो, इत्यादि वाक्यों से) पुनः (निवासगृह में जाने के लिये) सामने लाई गई, (तथा) सम्मुख (खड़े हुये, प्रिय (दिगम्बर व्याघ्रचर्म के वस्त्र वाले, तीन नेत्रों वाले, कपाल वाले—इत्यादि विशेषणों से विभूषित शंकर) को देखकर भयभीत होती हुई, (उसके बाद) हंसते हुये (हंसना विश्वास को उत्पन्न करने के लिये है) शिवजी से आलिङ्गन की जाती हुई अतएव रोमाञ्जित शरीर वाली (प्रिय के करस्पर्श से सात्विक भावों के उदय होने से) पार्वती जी तुम्हारे कल्याण के लिये होवें ।

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सङ्गमे न झटिति प्रतीतिः। त्वराया भयादिनापि सम्भवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च व्यावर्तमानस्य कोपादिनापि सम्भवात्। साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम्।

प्रकाश—उक्त पद्य के अन्दर "**औत्सुक्य**" **ह्री**—**साध्वस और ह्रास**—ये चार व्यभिचारी भाव है। इनमें से "**निर्दक्षवेगदंन**" इत्यादि से **औत्सुक्य** और ह्री का परिगणन किया है, तथा "**शृंगारवीरयोर्हासः**" इत्यादि से व्यभिचारीभाव रूप से **साध्वस** और **ह्रास** का ग्रहण किया है। और ये सभी इस उदाहरण में अपने शब्दों से कहे गये हैं, अतः "**रसस्योक्तिः स्वशब्देनस्थ यिसञ्चारिणोरपि**" इस पूर्वोक्त नियम के अनुसार औत्सुक्यादि चारों व्यभिचारिभावों के अन्दर "**स्वशब्दोक्तिदोष**" है, अतः उसके समाधान के उपाय का प्रतिपादन करते हैं—**अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) त्वरारूप अनुभाव के द्वारा प्रतिपादन करने पर (शिवजी के साथ) सङ्गम के विषय में (औत्सुक्य की) झटिति प्रतीति नहीं होती है (क्योंकि) त्वरा की भयादि से भी ("आदि" पद से हर्षादिकों का ग्रहण होता है) प्रतीति सम्भव हो सकती है। और अनुभाव ह्री के (लज्जारूप कार्य के) विमुखीभाव (की झटिति प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि विमुखीभाव) क्रोधादि के द्वारा भी सम्भव हो सकता है। ("आदि" पद से भयादिकों का ग्रहण होता है)। [सारांश यह है कि त्वरा रूप अनुभाव की प्रतीति औत्सुक्य और भय दोनों से ही हो सकती है परन्तु यहाँ पर उसकी प्रतीति औत्सुक्य से होती है या भय से इस संशय के कारण उस त्वरा रूप अनुभाव की प्रतीति औत्सुक्य से होती है, इसकी व्यंजना न हो सकने के कारण औत्सुक्य का अपने शब्द से कथन किया है, अतः दोष नहीं है।] **साध्वसहासयोरिति**—(यदि) साध्वस = भय और हास विभावादिकों ("आदि" पद से अनुभाव का ग्रहण होता है।) से परिपुष्ट किये जायें (तो) प्रकृत रस के (शृंगार के) प्रतिकूल हो जाते हैं, अतः इनका (औत्सुक्य, ह्री, साध्वस और हास का) नामक व्यभिचारी भावों का अपने शब्द से कथन करना ही उचित है।

टिप्पणी—भय और हास—ये दोनों भयानक और हास्य रस के स्थायी भाव होते हुए भी पार्वती और महादेवजी के शृंगार रस में यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) व्यभिचारीभाव हैं। अतः यदि इन दोनों की अपने-अपने विभावादिकों से परिपुष्ट की जावेगी तो शृंगार रस के प्रतिकूल हो जायेंगे अर्थात् यदि भय अपने विभावादिकों से परिपुष्ट होता है, तो भयानक रस को प्राप्त हो जाता है, और यदि हास अपने विभावादिकों से परिपुष्ट होता है, तो हास्य रसता को प्राप्त हो जाता है—इसप्रकार दोनों ही प्रकृत शृंगार रस के प्रतिकूल हो जाते हैं। तथाहि पार्वती के साध्वस का अनुभाव कम्प है और शिवजी का हास्य उद्दीपन विभाव है। अतः यदि साध्वस और हास का ग्रहण न करके कम्प का ग्रहण करें तो शिवजी के शरीर पर सर्प के देखने से भय के कारण और सद्यः हत हाथी के चर्म और कपाल को देखने से जुगुप्सा के कारण शृंगार के प्रतिकूल रस कम्प के होने से शृंगार रस के व्यभिचारी साध्वस और हास की ही व्यंजना नहीं होगी क्योंकि उस अवस्था में भय और जुगुप्सा की प्रतीति होगी। अतः इन औत्सुक्य, ह्री, साध्वस और हास व्यभिचारी भावों का अपने शब्द से कथन करना दोष न होकर गुण ही है।

अवतरणिका—"**परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः**" इस दोष की गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः ।

यथा— 'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्–' इत्यादि ।

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति ।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥

भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—

'अयं स रसनोत्कर्षी–' इत्यादि ।

अत्रालम्बनविच्छेदे रतेररसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूलता ।

अर्थ—(प्रकृत रस के) प्रतिकूल रस के अङ्गभूत) व्यभिचारीभावादि का ("आदि" पद से विभाव और अनुभाव का ग्रहण होता है) बाध्यरूप से कथन करना गुण (होता) है ।

(उदाहरण) **यथा**—**क्वाकार्यमिति**—[**प्रसङ्ग**—भावशवलता का यह उदाहरण है]

[इस पद्य की पृष्ठ······पर व्याख्या की जा चुकी है । अब "गुणता" दिखाते हैं ।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शान्तरस के अनुकूल (प्रशमाङ्गानाम्) वितर्कमतिशङ्का और धृति का शृंगार रस के अनुकूल (अभिलाषाङ्ग), औत्सुक्य-स्मृति-दैन्य और चिन्ता से अभिभव हो गया है, (और) अन्त में चिन्ता है अवधित रूप से मुख्य कारण जिसका ऐसे रसोत्कर्ष को अर्थात् विप्रलम्भ शृंगार के परिपोष को उत्पन्न करता है । [इसीलिए ही इसकी गुणता है, क्योंकि यहाँ पर '**का खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति**'' इस प्रकार की समाप्ति में धारावाहिकरूपेण चिन्ता की ही मुख्यता है ।

अवतरणिका—विरुद्ध रसों का सम्पर्क दोष ही होता है—इसीलिये कहा है कि— **"प्रत्यनीको रसो द्वौ द्वौ तत्सम्पर्कं विवर्जयेत्' इति ।**

इन दोनों के विषयों का विभाग करने से गुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—विरुद्ध रस (के अंग सञ्चारी भावादि) के भी स्मरण करने पर, अथवा सादृश्य के कथन करने पर अर्थात् सादृश्य दिखाने के लिये ग्रहण करने पर (तथा किसी रस या भावादि में) मुख्य रूप से स्थित होने पर (अंगिनि) उसकी अंगता को प्राप्त (किन्हीं दो विरोधी रसों का) परस्पर विरोध दोष नहीं होता है (किन्तु यथा सम्भव गुण ही होता है । यहाँ "आप्तयोः" यह द्विवचन बहुतों का उपलक्षण है) ।

क्रम से उदाहरण) **यथा**—**अयं स इति**—[इसकी व्याख्या गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण के समय पृष्ठ······पर की जा चुकी है । यहाँ पर विरुद्ध भी शृंगार रस का स्मरण किया जाने से करुण रस के साथ सम्पर्क दोष नहीं है ।] (स्पष्ट करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) आलम्बन का (शृंगार रस के आलम्बन भूरिश्रवा का) विच्छेद (मरण) हो जाने से (शृंगार रस के स्थायी भाव) रति के (उस समय अनुभावादिकों के न होने से शृंगार के) रस रूप से परिणत न होने के कारण स्मरण किये जाने वाले उसके (रति के) अगों की (अनुभावादि रसनोत्कर्षणादिकों की) शोक को उद्दीप्त करने वाले होने से (क्योंकि मृत्यु होने पर प्रियजन के किये हुये उपकारों का स्मरण अतिशय शोक को उद्दीप्त करने वाला होता है) करुण रस के प्रति अनुकूलता है । [अतः शृंगार के स्मर्यमाण होने से करुण के साथ विरोध गुण ही है ।]

'सुरागया स्रुतघनवर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥'

अत्र सम्भोगश्रृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन विवक्षितः ।

अर्थ—(साम्य से कथन करने पर विरोधी रसों के विरोध के अभाव उदाहरण)—**सरागयेति** [**प्रसङ्ग**—**शिशुपाल वध** के सत्रहवें सर्ग में कृष्ण के प्रति कटुभाषी शिशुपाल को देखकर तत्पक्षीय राजाओं की क्रोधोत्पत्ति का वर्णन है ।] (सभासद) राजा लोग (क्रोध **अथवा** अनुराग के कारण) मुख की लालिमा से युक्त (आवेग **अथवा** सत्वोद्रेक से) निकल रहा है अविरल पसीना जिसमें **अथवा** जिसके ऐसी [क्रोध का उद्रेक होने पर और रति सम्भोग के परिश्रम के बाद पसीना निकलना स्वतः सिद्ध है ।] हाथ के आघात से ध्वनित किया है विशाल बहुमूल्य आसन (उरुपीठम्) जिसमें अथवा उरु और पीठ जिसमें ऐसी [क्रोध आने पर वीरों के द्वारा उरु और पीठ का आहनन किया जाता है] **अथवा** उरु ही है पीठ जिसके ऐसी (अतिप्रौढ़ कासना वाली नायिकाओं के हाथ से उरु का आहनन किया जाता है, ऐसा कामशास्त्र में प्रसिद्ध है ।) पौनः पुन्येन दाँतों से चबाये हैं ओष्ठ जिसमें ऐसी **अथवा** पति के दाँतों से किया गया है अधरदशन जिसके ऐसी रुष् (क्रोध) से प्रियतमा के समान प्राप्त हुये ।

(उदाहृतपद्य में विरोध का परिहार करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ पर सम्भोग शृंगार वर्णनीय वीररस के सञ्चारी भाव क्रोध का अनुभाव की संभावना से वर्णित हुआ है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कामी पुरुष अनुरागवती, व्यक्त मन्मथ विकार वाली प्रियतमा के अत्यन्त उपादेय होने के कारण बड़े प्रेमपूर्वक स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार यहाँ (उदाहृत पद्य में) राजाओं ने सुव्यक्त लक्षण वाले (क्रोध) को स्वीकार किया है, इस अर्थज्ञान से रागादि साधारण अनुभावरूप वाले अगों की समानता की विवक्षा से अंगी वीर और शृंगार की समानता विवक्षित की है, अतः शृंगार रस यहाँ पर उपमान रूप से वीर रस का अंग है । और इस प्रकार इन दोनों रसों का एकत्र समावेश दोष नहीं है क्योंकि दोनों में से कोई भी किसी का उपमर्दन नहीं करता । यहाँ "वीरव्यभिचारिणः" ऐसा कहकर उत्साह के ही स्थायीभाव होने से वीर ही रस है, क्रोध तो उसीका व्यभिचारी भाव है । अतः क्रोध के स्थायीभाव न होने से "रुषा" इससे क्रोध का कथन करने पर भी "स्थायिनः स्वशब्दोक्तिदोषः" दोष नहीं है । और न रौद्र रस की ही आस्वाद रूप से अभिव्यक्ति होती है ।

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम् ।
अन्यद्दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः ।

यथा वा— 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गनयोऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥'

अर्थ(३)— एक मुख्य अंगी के वर्णन में अंगता को प्राप्त विरोधी रसों के विरोध के अभाव का उदाहरण) **एकमिति**—एक (नेत्र) ध्यान करने के लिये बन्द कर लेने से मुकुलियप्राय है, और दूसरा (नेत्र) पार्वती के मुख रूपी कमल और स्तनों के उभार में सम्भोग की भावना से अर्थात् मुख का चुम्बन और स्तनों का मर्दन करने की भावना से सतृष्ण है, (और) तृतीय नेत्र अत्यन्त दूर तक खींचा है धनुष को जिसने ऐसे कामदेव पर क्रोधाग्नि से प्रज्वलित है, (अतएव) समाधि के समय विभिन्न प्रकार के (तीन) रसों की व्यञ्जना करने वाले शिवजी के तीनों नेत्र तुम्हारी रक्षा करें ।

अर्थ— यहाँ शान्त-शृंगार और रौद्र रस से परिपुष्ट भगवद् विषयक रति है ।

टिप्पणी— इस पद्य के प्रथम चरण में शान्त, दूसरे चरण में शृंगार और तृतीय चरण में रौद्र रस है । यहाँ मुख्य भगवद् विषयक रतिभाव में अंगता को प्राप्त शान्त-शृंगार और वीर रसों में परस्पर विरोध नहीं है, तथा शृंगारी की भी समाधि भंग नहीं हुई है, अतः शृंगार की परम्परा से क्रोध समाधि के विघ्नों को निराकरण करने वाला है, और इस प्रकार उसके परिणामी रौद्र रस साक्षात् देवविषयक रति भाव को पुष्ट करता है ।

अर्थ—(दूसरा उदाहरण) **अथवा—क्षिप्त इति**—[**प्रसङ्ग**— यह अमरुकशतक का पद्य है ।] आंसुओं से युक्त हैं नेत्र कमल जिनके ऐसी (**एकत्र**— पति के वियोग से **अन्यत्र**—पति के अपराध से), त्रिपुर में अवस्थित असुरों की कामिनियों ने जो शम्भु सम्बन्धी शराग्नि के अभिनव अपराध करने वाले कामी पति के समान हाथ में लगा हुआ ही (**एकत्र**—जलाने के लिए **अन्यत्र**—मानभंग करने के लिये) दूर कर दिया, बलात् पीटा जाता हुआ भी आञ्चल को पकडते हुए (तथा) केशों को पकड़ते हुए ही दूर कर दिया (**एकत्र**—जलाने के लिए **अन्यत्र**—चुम्बन के लिए) चरणों में गिरा हुआ भी (**एकत्र** – जलाने के लिए **अन्यत्र**—अपराध की क्षमा माँगने के लिये) सम्भ्रम से नहीं देखा, आलिंगन करता हुआ (**एकत्र**—सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करता हुआ **अन्यत्र**—आलिंगन करता हुआ) तिरस्कृत कर दिया, वह तुम्हारे पाप को भस्म कर दे ।

टिप्पणी— एतद्विषयक कथा महाभारत के कर्णपर्व में इस प्रकार है—

प्राचीन काल में तारकासुर के तारकाक्ष, कमलाक्ष और विद्युन्माली नामक तीन पुत्र थे । ये तीनों ब्रह्मा से वर पाकर मय नामक राक्षस से बनाये हुए सोने के, चाँदी के और लोहे के—इसप्रकार तीन प्रकार के घरों में क्रमशः सपरिवार रहा करते थे । इन असुरों को शिवजी ने अपनी बाण की अग्नि से जला दिया था ।

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम्। तस्याः परिपोषकतया भगवतस्त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्तया भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम्। तस्य च कामीवेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः।

अर्थ—(विरोध का अभाव दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कविनिष्ठ शम्भुविषयक रति प्रधान है। उस (शम्भुविषयक रति) के पोषक की रूप से (अवस्थित) भगवान् (शम्भु) का त्रिपुर को ध्वंस करने के प्रति उत्साह के पुष्ट न होने से रसत्व को प्राप्त न हुये (क्योंकि विभावादिकों से परिपुष्ट ही रस को प्राप्त होता है।) भावमात्र का भाव शब्द से प्रतिपाद्य का—"**उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते**" (इस उक्ति के अनुसार) करुण अग है [अर्थात् दुष्टों के दमन के प्रति भगवान् के उत्साह के अनुभाव रूप करुण के स्थायीभाव स्त्रियों के शोक से प्रकट हुआ है, अतः करुण का अंग है।] और उस (करुण रस) का कामी के समान" [अर्थात् पहले जैसे कामक आचरण करता था वैसे ही आचरण इस समय शराग्नि कर रहा है।] इस सादृश्य के बल से उपस्थित (स्मृत विषमता को प्राप्त) शृंगार (ईर्ष्यामान नामक विप्रलम्भ शृंगार) अंग है। [अर्थात् स्मरण की जाती हुई पूर्व अवस्था वाली रति करुण के स्थायीभाव स्त्रियों के शोक को उद्दीप्त करने के कारण अंग है।]

टिप्पणी—**सारांश** यह है कि उक्त पद्य के अन्दर भगवद्विषयक रति भाव प्रधान है। इस रति भाव का पोषक है भगवान् का त्रिपुरदाह के प्रति उत्साह। किन्तु यह उत्साह वीररस का स्थायी भाव होता हुआ भी विभावादिकों से पुष्ट नहीं हुआ, अतः इसकी चरम परिणति वीर रस रूप में न होकर केवल भावमात्र में ही हुई। क्योंकि "**उद्बुद्धमात्र. स्थायीभाव इत्यभिधीयते**।" इस उत्साह का अंग है, करुण रस, क्योंकि भगवान् के त्रिपुर को जलाने के उत्साह से ही असुरों की स्त्रियों की शोच्य अवस्था हुई थी। इन असुर स्त्रियों ने अपने मृत पतियों की काम चेष्टाओं का बार-बार स्मरण किया है, अतः इस करुण रस का अग ईर्ष्यामान नामक विप्रलम्भ शृङ्गार है। इस प्रकार मुख्य भगवद्विषयक रति का उत्साह पोषण है, उत्साह का अग करुण है और इस करुण का अंग ईर्ष्यामान नामक विप्रलम्भ शृङ्गार है। अतः इन सभी विरोधी रसों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव होने से दोष न होकर गुण है।

अवतरणिका—इस प्रकार भगवद् उत्साह से पुष्ट भगवद् विषयक कविनिष्ठ रतिभाव की परम्परा से करुण और शृंगार विरोधी होते हुए भी अविरोधी है, इसका प्रतिपादन करते हैं—**अथवा**—**प्रश्न**—उक्त पद्य के अन्दर "करुण रस की प्रधानता है" क्योंकि त्रिपुर स्त्रियों का शोक वाच्य है, अश्रु अनुभाव है, उद्दीपन विभाव व्यग्य है, तथा झटिति आक्षेप से लभ्य मृत पति आलम्बन विभाव हैं। पुनः इसकी अंगता किस प्रकार से सिद्ध हो सकती है? इसका समाधान करते हैं।

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गतैवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भगवदुत्साहपरिपुष्टतद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया यौगपद्यसद्भावादङ्गत्वेन न विरोधः।

अर्थ—और इसप्रकार (साम्य बल से शृङ्गार के आ जाने पर भी) विश्रांति के धाम न होने से (अर्थात् साकाक्ष वाक्यों से व्यग्य होने से) करुण रस (के सम्बन्ध मे शृंगार) की अप्रधानता ही है, (क्योंकि शृंगार करुण का आश्रय लेकर ही है) इसप्रकार दोनों करुण और शृंगार के भगवान् (शम्भु) के उत्साह से (त्रिपुरध्वंस के प्रति चित्त के उत्कर्ष से) परिपुष्ट (कवि की) तद्विषयक (शम्भु विषयक) रति (अनुराग नामक) भाव के ही आस्वाद के पुष्टिकारक होने से (उत्कर्ष के आधायक होने से) एक समय में समावेश होने के कारण भी अंग रूप से होने में (करुण और शृगार) का विरोध नहीं है। (इस प्रकार से यहाँ पर कवि की भगवद् विषयक रति प्रधान है, भगवदुत्साह उसका अंग है, इस उत्साह का भी करुण अग है, और उस करुण का भी पुनः शृंगार अग है—इस प्रकार परम्परा से अंगत्व को प्राप्त परस्पर विरोधी करुण और शृंगार के अग होने से विरोध नही है।)

टिप्पणी—(१) **अथवा**—जिन असुर कामिनियों के प्राणेश्वर पहले निरन्तर उनका हस्त धारणादि के द्वारा प्रम दन किया करते थे उन्हीं कामिनियों की इस समय शिवजी का बाण उन्हीं कर्मों के द्वारा वैसी दुर्दशा कर रहा है। इसप्रकार शृंगार से परिपुष्ट कवि का करुण रस ही बाणों से उत्पन्न भगवान् का दुष्टो के दमन करने में उत्साह का ज्ञान होने से कविनिष्ठभगवद्विषयक रति का उत्पन्न करके सहृदय सामाजिकों के हृदयों में रसास्वाद को उत्पन्न करता है। अतः करुण और शृंगार की अगता ही है।

(२) कहने का तात्पर्य यह है कि पदों से सम्पूर्ण अर्थ के उपस्थित हो जाने पर "खलेकपोत" न्याय से विशेष्य का विशेषण, उसमें भी अन्य विशेषण इस रीति से शाब्दबोध होने पर व्यंग्यबोध में भी यह रीति अपनानी चाहिये। तथा च प्रकृत उदाहरण में भगवान् का उत्साह, उसमें करुण, उसमें भी शृगार व्यञ्जना के द्वारा एक समय में ही अगों रूप से प्रतीत होते हैं, इस उक्ति से अवान्तर वाक्य के अर्थ के बोध क्रम से शाब्दबोध के पक्ष में व्यग्यार्थ बोध की भी उसी रीति के द्वारा विशिष्ट वैशिष्ट्य है। इस रीति के अनुसार शृंगार विशिष्ट करुण का ज्ञान होने पर करुण विशिष्ट भगवान् के उत्साह का बोध होता है। उसके अनन्तर भगवान् के उत्साह विशिष्ट भाव का बोध क्रम से होता है, इसप्रकार परम्परा से प्रधान रति के करुण और शृंगार अंग हैं—यह स्पष्ट हो जाता है।

(३) **प्रश्न**—**"गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्"** इस न्याय के अनुसार करुण और शृंगार का परस्पर अंगाङ्गिभाव नहीं हो सकता है?

उत्तर— **गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते।**
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते॥

अर्थ—अप्रधान (गुण) किया है अपना संस्कार (दूसरे से परिपुष्ट) जिसने ऐसा प्रधान (अंगी) के साथ अन्वित होता है तथा (आत्मसंस्कार से) प्रधान (अंगी) का महान् उपकार करता है। इस न्याय के अपवाद होने के कारण। अतः **प्रकल्प्य चापवाद विषयं ततः उपसर्गोऽपिनिविशते** इस न्याय के अनुसार अपवाद के विषय को छोड़कर उपसर्ग की प्रवृत्ति हुआ करती है। जहाँ दोनों की ही अंगों की प्रधान में साक्षात् अंगता है वहीं **"गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्"** इस न्याय की प्रवृत्ति होती है। यहाँ तो शृंगार की परम्परा से प्रधान के प्रति अंगता है, अतः न्याय प्रवृत्ति नहीं होती।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः सम्भावनीयः। एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावयौगपद्यविरहेण परस्परोपमर्दकत्वानुपपत्तेः। नाप्यङ्गाङ्गिभावः। द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः।

अवतरणिका—यदि रसों का परस्पर विरोध होता अथवा अंगांगिभाव होता तो उनको परिहार के समय कहना चाहिए था किन्तु इस प्रकार के दोनों ही प्रकार उन रसों के सम्भव नहीं हैं (अर्थात् न तो रसों का परस्पर विरोध होता है और न ही परस्पर अङ्गाङ्गि भाव होता है; अतः उनकी दोषता भी सम्भव न होने से उसका समाधान भी अनुचित है ? इस प्रकार की शङ्का उठाते हैं।

अर्थ—प्रश्न—समूह (**"प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणोरसोभवेत्"** इसके अनुसार विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव और स्थायीभावों के ज्ञान की समष्टि) ही है आलम्बन (आश्रय) जिसका ऐसे स्वरूप (आत्मा) वाले अखण्ड (दूसरे आनन्द से अभिश्रित), सान्द्र और आनन्द स्वरूप वाले रस का, उसीप्रकार के (अर्थात् समूहालम्बनात्मक पूर्ण घनानन्द स्वरूप वाले) दूसरे रस से विरोध किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? (क्योंकि) एक वाक्य में स्थिति, प्रादुर्भाव तथा समकालिकता (यौगपद्य) के अभाव से (अर्थात् दो रसों की एकत्र स्थिति नहीं होती, एकत्र उत्पत्ति नहीं होती और नहीं कालिकता होती है) परस्पर उपमर्दक होने की अनुपपत्ति होती है। अर्थात् उपमर्दक नहीं हो सकते हैं। [**आशय** यह है कि परस्पर बाध्य और बाधकता का होना विरोध कहलाता है. और वह (बाध्य-बाधकता एक ही समय में और एक ही स्थान पर विद्यमान अथवा उत्पन्न पदार्थों की संभावना हो सकती है। और रसों के ज्ञानानन्द स्वरूप होने से और क्षणिक रूप से **"अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते"** इस सिद्धान्त के अनुसार एक ही वाक्य में विद्यमानता और उत्पत्ति असम्भव होने से उक्त विरोध संभव नहीं है, अतएव **"राममन्मथ"** इत्यादि में वीभत्स और शृङ्गार की युगपत् उत्पत्ति संभव नहीं है, किन्तु अभिधेय के ज्ञान के अनन्तर वीभत्स की, और व्यंग्य के ज्ञान के अनन्तर शृङ्गार की इस क्रम से ही उत्पत्ति होती है, अतः यहाँ पर विरोध की उपपत्ति नहीं है।] **नापीति**—(और नहीं दो रसों का) अङ्गांगिभाव (अर्थात् एक का अङ्गत्व और दूसरे का अङ्गित्व अर्थात् गौण और मुख्यत्व हो सकता है) क्योंकि दोनों (परस्पर विरोधी शृंगार और करुण) की ही ("द्वि" शब्द यहाँ बहुतों का उपलक्षण है) पूर्ण होने से (अखण्ड रूप होने से) स्वतन्त्रतापूर्वक (पृथक्-पृथक् मुख्य भाव से) विश्रान्त होने से। [**आशय** यह है कि दो भिन्न रसों का अंगांगिभाव तभी संभव हो सकता है, जब उनमें से एक मुख्य अंगी हो, और दूसरा अमुख्य अंग हो, एक उपकार्य हो और दूसरा उपकारी हो। परन्तु प्रकृत उदाहरण में तो दोनों ही मुख्य हैं, अतः अंगांगिभाव कैसे हो सकता है, और जब अंगांगिभाव ही नहीं है तो फिर विरोध का परिहार कैसा ?]

सत्यमुक्तम् । अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रामराहित्यात्पूर्ण-रसभावमात्राच्च विलक्षणतया सचारिरसनाम्ना व्यपदेशो प्राच्यानाम् ।

अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना । यदाहु :—

'अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे ।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥' इति ।

उत्तर—सत्यमुक्तमिति—ठीक कहा है । इसीलिए ही (उक्त निर्वाह के कारण ही) यहाँ (अनेक रसों के एकत्र अवस्थित होने के विषय में) प्रधान रस से भिन्न रसों में अर्थात् अंग रसों में [प्रधान रस वाक्यार्थ की आकांक्षा की पूर्ति होने तक स्थिर रहता है, और अप्रधान रस वाक्यार्थ की आकांक्षा की पूर्ति से पूर्व ही विरत हो जाता है ।] स्वतन्त्रतापूर्वक विश्राम का अभाव होने से और पूर्ण रस मात्र और भाव मात्र से विलक्षण होने से अर्थात् अपूर्ण होने से सञ्चारी रस के नाम से प्राचीन आचार्यों ने कथन किया है । अर्थात् प्राचीन आचार्य उसप्रकार के रस को सञ्चारी भाव कहते हैं । [**सारांश** यह है कि जिस प्रकार से व्यभिचारी भाव जल के बुद्बुद् के समान उत्पन्न होता हुआ स्थायी भाव का उपकार करके पुनः जल बुद्बुद् के समान तिरोहित हो जाता है, इस प्रकार स्थायी भाव के उपकार के लिए सञ्चरण करने से सञ्चारी भाव कहलाता है, उसी प्रकार अंगरस भी उत्पन्न होता हुआ प्रधान रस का उपकार करके उसके पूर्व ही विरत हो जाता है, इस प्रकार मुख्य रस के उपकार के लिये संचरण करने से संचारी रस प्राचीन आचार्यों के मत में कहलाता है ।] **अस्मदिति**—हमारे (साहित्यदर्पणकार के) पितामह के अनुज कवि पंडित श्री चण्डीदास जी (प्रधान से भिन्न रसों में) खण्डरस नाम से (व्यवहार करते हैं) [अर्थात् प्राचीन आचार्यों के मत से जो संचारी रस कहलाता है उसी को अर्वाचीन खण्डरस कहते हैं । अतः पूर्ण रसों के अन्दर विरोध की सम्भावना न होने पर भी खण्डरस और पूर्णरस के अन्दर विरोध सम्भव हो सकता है इसीलिये परिहार भी आवश्यक है ।] कहा भी है कि—**अङ्गमिति**—प्रधान रस (अंगी) अन्य रस में यदि अंग (उपकारक होने से अप्रधान) हो जाये अथवा बाध्य हो जाये (अर्थात् विरुद्ध भी स्मरणादि के कारण समाविष्ट हो जावे) अथवा संसर्गी हो जावे (अर्थात् अविरोधी होकर प्रधान का उपकार न करता हुआ स्वतन्त्रता से सम्मिलित हो जावे) तो पूर्ण रूप से आस्वाद नहीं किया जाता है, अतः खण्डरस कहलाता है । [**सारांश** यह है कि एक रस का दूसरे रस से साक्षात् विरोध न होने से जहाँ विरोध का अनुभव किया जाता है, वहाँ रस की संचारिता, अथवा खण्डता मानकर व्यवहार करना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) एक रस के दूसरे रस के अंग होने का उदाहरण—यथा **"अयंसरशनोत्कर्षी"** इत्यादि में शृंगार करुण का अंग है । (२) **संसर्गी** का उदाहरण **"कपोले जानक्याः"** इत्यादि में शृंगार वीर रस का संसर्गी है ।

(३) इस प्रकार पूर्व उदाहरण में शान्तादि रस प्राचीनों के मत में संचारी रस है और अर्वाचीनों के मत में खण्ड रस है ।

ननु 'आद्य: करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्युक्तनयेन विरोधिनोर्वीर-श्रृङ्गारयोः कथमेकत्र—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फोरोड्डमरपुलक ववत्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्छृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थि द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

इत्यादौ समावेशः । अत्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधितायाः अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था । कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चिन्नैरन्तर्येणेति । तत्र वीरश्रृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः । तथा हास्यरौद्रवी-

---

अवतरणिका—केवल स्मरणादि में ही विरुद्धरसों का समावेश प्रतिप्रसूत है, किन्तु "**कपोले जानक्याः**" यहाँ विरुद्ध श्रृंगार और वीर रसों में उसके (स्मरण के) न होने से समावेश कैसे हो गया ? इस शंका को उठाते है ।

अर्थ—**प्रश्न**—(जब प्राचीन आचार्यों के) श्रृंगार का करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक के साथ (विरोध) है इस सिद्धान्त के अनुसार विरुद्ध वीर और श्रृंगार का एक स्थान पर (समावेश) कैसे ("**कपोले जानक्याः**" इत्यादि में) है ? **कपोलइति**—[**प्रसङ्ग**—किसी समय दण्डकारण्य मे निवास करते हुये श्री रामचन्द्र जी का यह वर्णन है ।] रघुवंशीय राजाओं के स्वामी अर्थात् रामचन्द्र जी हाथी के बच्चे की दांत की कांति को चुराने वाले अर्थात् अत्यन्त निर्मल जानकी जी के कपोल पर कामोद्रेक से विकसित हो रहा है उत्कट रोमांच जिसमें ऐसे मुख कमल को पौनः पुण्येन देखते हुये (और राक्षसों की सेना के कोलाहल को सुनते हुये जटाजूट की ग्रन्थि को (युद्ध के लिये) बांध रहे हैं ।

टिप्पणी—(१) यहाँ श्रृंगार रस में जानकी आलम्बन विभाव है, उनके कपोल का पुलकाङ्कित होना उद्दीपन विभाव है, उसके मुख कमल को देखना अनुभाव है, और रति स्थायी भाव है । और वीर रस में राक्षसों की सेना आलम्बनविभाव है, सेना का कोलाहल उद्दीपन विभाव है, जटाजूट की ग्रन्थि को बांधना अनुभाव है, और उत्साह स्थायी भाव है । इसप्रकार ये दोनों परस्पर अबाध और मुख्य रूप से अपने आप में स्वतन्त्रतापूर्वक उपलब्ध होते हैं, तो फिर इन दोनों का एकत्र समावेश कैसे हो सकता है ? यह शंका उठाने वाले का आशय है ।

अर्थ—**उत्तर**—इस विषय में कहा जाता है कि **इहेति**—यहाँ (मीमांसा के अवसर पर) रसों का (अर्थात् श्रृंगारादि रसों का) विरोध या अविरोध का नियम तीन प्रकार से है । किन्हीं (दो रसों) का आलम्बन की एकता से (विरोध या अविरोध होता है), किन्हीं का आश्रय (नायक) की एकता से, और किन्हीं का नैरन्तर्य (अव्यवधान) से (विरोध या अविरोध) होता है, इति । उन (विरोधी रसों) में वीर और श्रृगार का आलम्बन की एकता से (अर्थात् एक आलम्बन होने पर ही, अन्यथा नहीं क्योंकि एक आलम्बन में एक समय उत्साह और रति नहीं हो सकते हैं ।) विरोध (होता) है, तथा (आलम्बन की एकता से) ।

भत्सैः सम्भोगस्य । वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य । (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः । नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः । त्रिधाप्यं विरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राभ्याम् । शृङ्गारस्याद्भुतेन भयानकस्य बीभत्सेनेति तेनात्र वीरशृङ्गारयोर्भिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः ।

सम्भोग शृङ्गार का हास्य, रौद्र और बीभत्स रसों के साथ (विरोध होता) है [क्योंकि सम्भोग के समय ह्रास, क्रोध और जुगुप्सा का उदय नहीं हो सकता है, परन्तु क्योंकि विप्रलम्भ शृङ्गार के अवसर पर हास सम्भव हो सकता है, अतः उसक निराकरण करने के लिये "सम्भोग शृङ्गार का" यह कथन किया है ।], वीर, करुणा और रौद्रादिकों के साथ ("आदि" पद से भयानक और बीभत्स का ग्रहण होता है ।) विप्रलम्भ शृङ्गार का (आलम्बन की एकता से विरोध होता है—क्योंकि एक ही आलम्बन में अनुराग के समय उत्साह-शोक-भय और जुगुप्सादिकों का उदय नहीं हो सकता है ।] (आलम्बन की एकता से) और आश्रय की एकता से वीर और भयानक का (विरोध होता) है । [क्योंकि एक ही समय एक के प्रति एक के उत्साह और भय की उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।] अव्यवधानता (अर्थात् अव्यवधान से आलम्बन की एकता से) और विभाव की एकता से शान्त और शृङ्गार का (विरोध होता) है । [क्योंकि शम और रति के सामीप्य में एक ही आलम्बन में उत्पत्ति नहीं हो सकती है । शान्त और शृङ्गार का आश्रय की एकता से भी विरोध होता है ।] तीनों प्रकार से भी (अर्थात् आलम्बन की एकता से, आश्रय की एकता से और नैरन्तर्य से भी) वीर रस का अद्भुत और रौद्र के साथ अविरोध है । [अर्थात् एक समय में इनका समावेश हो सकता है । एक ही व्यक्ति की एक ही व्यक्ति में क्रमशः उत्साह-विस्मय और क्रोध की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है ।] शृङ्गार का अद्भुत के साथ (अविरोध है—अर्थात् एक ही नायक का एक ही नायिका में एक समय में ही अनुराग रूपादि से उत्पन्न रति और विस्मय का एक साथ समावेश सम्भव हो सकता है ।] भयानक का बीभत्स के साथ (अविरोध है—एक का ही एक बार में एक ही पिशाचादि में भय और जुगुप्सा की उत्पत्ति हो सकती है ।] तेनात्रेति—इसलिये (उक्त नियमों के युक्तियुक्त होने से) यहां ("कपोले जानक्याः" इस उदाहृत पद्य में) वीर और शृङ्गार का भिन्न आलम्बन होने से (अर्थात् वीररस में राक्षसों की सेना उत्साह का आलम्बन विभाव है और शृङ्गार रस में जानकी रति का आलम्बन है—इस प्रकार दो भिन्न आलम्बन होने पर] विरोध नहीं है ।

एवं च वीरस्य नायकनिष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठत्वेन निबन्धे भिन्नाश्रयत्वेन न विरोधः। यश्चनागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभावान्न शान्तश्रृङ्गारयोर्विरोधः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्। 'पाण्डुक्षामं वदनम्—' इत्यादौ च पाण्डुतादीनामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः।

एवञ्चेति—(आश्रय की एकता से वीर और भयानक का विरोध दिखाया है, अब आश्रय के भेद से उन दोनों में विरोध नहीं होता है, इसका प्रतिपादन करते हैं) और इस प्रकार (वीर और भयानक का आश्रय की एकता से विरोध होने पर) वीर रस (निष्ठ उत्साह) के नायकनिष्ठ होने से, (और) भयानक रस (निष्ठ भय) के प्रति नायक निष्ठ रूप से वर्णन करने पर आश्रय के भिन्न होने से विरोध नहीं (होता) है। [**प्रश्न** शान्त और श्रृङ्गार के नैरन्तर्य में विरोध होता है, तो फिर नागानन्द नाटक में एक ही नायक जीमूतवाहन के विषय में दोनों रसों को एकत्र क्यों वर्णित कर दिया है, इसका समाधान करते हैं।] **यश्चेति**—और जो **नागानन्द नाटक** में शान्तरस के आश्रय जीमूतवाहन का मलयवती (नायिका) में अनुराग दिखाया है, वहाँ "अहो! जीतमहो! **वादित्रम्**" इस अद्भुत रस के मध्य में (शान्त और श्रृङ्गार के) सन्निवेश कर देने से नैरन्तर्य के न रहने से शान्त और श्रृङ्गार का विरोध नहीं है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यों की भी (अविरोधिता) समझनी चाहिये। [यथा—श्रृङ्गार के नायकनिष्ठ होने पर और वीररस के प्रति नायकनिष्ठ होने पर विरोध नहीं होता है।] [**प्रश्न**—करुण और श्रृङ्गार का विरोध होने से उनका निबन्धन करने पर "**परिपन्थि रसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः**" इसके अनुसार दोष माना है, तो "**पाण्डु-क्षामम्**", इत्यादि में करुण रस के अनुभाव मुख की पाण्डुतादिकों का उसी रूप से श्रृङ्गार रस प्रधान मालतीमाधव में कैसे सन्निवेश कर दिया? क्योंकि अङ्गी का विरोध होने पर उसके अङ्गों का भी विरोध होता है? इसका समाधान करते हैं।] **पाण्डुक्षाममिति**—"**पाण्डु-क्षामं-वदनम्**" इत्यादि में (पृष्ठ ··· पर) (करुण रस के अङ्ग) पाण्डुतादिकों का अङ्गभाव है, (वह केवल करुण रस के अन्दर ही नहीं अपितु) करुण विप्रलम्भश्रृङ्गार के अन्दर भी (हो सकता है) अतः विरोध नहीं है। [इससे यह **निष्कर्ष** निकलता है कि विरुद्ध रस के असाधारण अङ्गों का वर्णन ही दोष होता है, साधारण अङ्गों का वर्णन दोष नहीं होता है।]

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥
सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम् ।
यथा—

'एष दुश्च्यवनं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ।'

अत्र दुश्च्यवनशब्दोऽप्रयुक्तः ।

टिप्पणी—(१) आश्रय के भेद से वीर और भयानक का विरोध नहीं होता है ।

(२) यदि व्यवधान रहित स्थिति दो विरोधी रसों के मध्य में अन्य रस का समावेश हो जावें—तो उनमें विरोध नहीं रहता है । ध्वनिकार ने कहा भी है कि—

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्यं विरोधवान् ।
रसान्तर व्यवधिना रसोन्यस्यः सुमेधरता ॥

अन्य भी रसों के विरोध के परिहार का प्रकार यहाँ कवियों के प्रबन्ध काव्यों में देखना चाहिये ।

(३) यहाँ सर्वत्र रस पद से स्थायीभाव का ग्रहण जानना चाहिये क्योंकि वास्तविक रस, एकतो नायकादिकों में रहता ही नहीं, वह सामाजिकों में ही रहता है—दूसरे अखण्ड, चिदानन्दस्वरूप रस में विरोध की सम्भावना ही नहीं होती ।
अवतरणिका—सभी दोषों का एक अमोघ समाधान का उपाय बताते है:—

अर्थ—अनुकरण करने पर (किसी अन्य के द्वारा कहे हुये शब्द का पुनः उसी रूप में कथन करने पर) सभी दोषों की (जिनका समाधान कहा है या नहीं कहा है—उन सभी दुःश्रवत्वादिकों की) दोषता नहीं होती है और नहीं गुणता होती है) ।

टिप्पणी—अनुकार्य शब्दादिकों में नित्यदोष और अनित्य दोष होते हैं किन्तु अनुकरण किये हुये शब्दादिकों में अदोषता ही समझनी चाहिये ।

अर्थ—(कारिकास्थ "**सर्वेषाम्**" पद की व्याख्या करते हैं) **सर्वेषामिति-सर्वेषाम्**=सभी दुःश्रवत्व प्रकृति दोषों की ।

अर्थ—(अनुकरण में अदोषता का उदाहरण) **यथा--एषइति** –यह (मैं) इन्द्र को नमस्कार करता हूँ--इत्यादि कोई कह रहा है । **अत्रेति**—यहाँ (इन्द्र के अर्थ में) दुश्च्यवन शब्द अप्रयुक्त है ।

टिप्पणी—इन्द्र के अर्थ में कोशादि में दुश्च्यवन शब्द प्रसिद्ध होता हुआ भी कवियों के द्वारा अनादृत होने के कारण अप्रयुक्तत्व दोष है । किन्तु यहाँ अनुकरण निष्ठ होने से दोष नहीं हैं । "अप्रयुक्त" तो केवल उपलक्षण है—अतः दुःश्रवत्व और च्युत-संस्कारत्व का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥३२॥

अनुभयात्मता अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।

अर्थ—इस प्रकार औचित्य के अनुसार विद्वानों के द्वारा अन्य भी दोषों की (दोष रूप से पहले कहे हुओं की) अदोषता--(कही विद्यमान दोषत्व के वैपरीत्य से) गुणता और अनुभयात्मता (अदोषता और गुणता) समझनी चाहिये ।

अर्थ—(कारिकास्थित "अनुभयात्मता" पद की व्याख्या करते हैं) **अनुभयेति—अनुभयात्मता** = अर्थात् अदोष गुणता ॥ इति ॥

———०———

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरुपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ॥

मूल कारिका = ३२ **कुलकारिकायें** = ६७८

उदाहरण श्लोक = १६६ **कुल उदाहरण श्लोक** = ४८७

इति सप्तमः परिच्छेदः

अष्टमः परिच्छेदः

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः—

अथ गुणनिरूपणम्—

अवतरणिका—इस प्रकार काव्यापकर्षक दोषों का निरूपण करके **"उत्कर्ष-हेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः"** इसके अनुसार काव्य-लक्षण की कारिका के अनुसार उद्देश्य क्रम प्राप्त गुणों का निरूपण करते हैं—

अर्थ—गुणों का (सत्त्व, रजस्, तमस् इनसे भिन्न स्वरूप वाले, माधुर्य, ओज और प्रसाद वाले, काव्य की आत्मा भूत रसनिष्ठ और धर्मविशेष वाले) निरूपण करते हैं—

(गुण का लक्षण) **रसस्येति**—जिसप्रकार (लोक में) शरीरत्व को प्राप्त (आत्मा) के शौर्यादि ("आदि" पद से सौन्दर्यादिकों का ग्रहण होता है) धर्म होते हैं (उसीप्रकार) (शब्दार्थादि समुदाय के मध्य में) अङ्गीत्व को (मुख्यता को) प्राप्त रस के (रसवदादि) अलङ्कार की तरह अङ्गता को प्राप्त के नहीं) धर्म (साक्षात् उसके आश्रित) गुण (कहलाते) हैं ।

टिप्पणी (१)—जिस प्रकार पुरुष के उत्कर्षक होने से शौर्यादि गुण चेतन आत्मा के ही धर्म हैं, उसके और शरीर के नहीं उसीप्रकार शब्दार्थादि समुदाय में मुख्यता को प्राप्त रस के धर्म गुण कहलाते हैं । क्योंकि आत्मा के धर्मों में ही गुण का मुख्य रूप से व्यवहार होता है । शारीरिक सौन्दर्य के होने पर भी शौर्य और पाण्डित्यादि से रहित होने पर निर्गुणत्व का ही व्यवहार लोक में किया जाता है ।

(२) **"अङ्गित्वमाप्तयोः"** इससे काव्य का अङ्गरस अङ्गी ही कहलाता है, अङ्गि पद से अङ्ग रस की व्यावृत्ति नहीं होती है, क्योंकि उसके अन्दर भी माधुर्यादि का अनुभव होता है ।

(३) रस पद की यहाँ भी **"रस्यते-आस्वाद्यते इति रसः"** इस व्युत्पत्ति से भावादिकों का ही ग्रहण होता है । क्योंकि उनके अन्दर भी गुणता स्वीकार की गई है ।

(४) दोषों का व्यवच्छेद करने के लिये कारिका में **"धर्माः"** यह कहा है ।

(५) गुण का सामान्य लक्षण **"स्थिरत्वेसति रसादीनां साक्षादुत्कर्षजनकधर्मत्वं गुणत्वम्"** इति ।

(६) **काव्यप्रकाशकार** ने भी कहा है कि—

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥ इति ।

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः । यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव ।

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं) **यथेति**—जिस प्रकार (लोक में) शरीरीत्व को (मुख्यता को) प्राप्त देही के (व्यक्ति के) उत्कर्ष के कारण होने से शौर्यादि धर्म ("आदि" पद से औदार्य और ओजादि का ग्रहण होता है, गुण शब्द से वाच्य हैं अर्थात् गुण कहलाते हैं, उसीप्रकार काव्य में (कवि कृति में) अङ्गीत्व को (मुख्यता को) प्राप्त [अर्थात् विभावादि के समुदाय से पूर्णता को प्राप्त (इससे खण्ड रस में माधुर्यादिकों की अनुभूति नहीं होगी—यह सूचित किया है) रस के धर्म (साक्षात् समवाय सम्बन्ध से रस के आश्रित) अतएव स्वरूप विशेष वाले (**स्वं-आत्मा रूप्यते-इतरव्यावृत्ततया बोध्यते अनेनेति स्वरूपम्—असाधारणं लक्षणं तद्विशेषास्तत्प्रकारभूता इत्यर्थः ।** यथा "**गन्धवती पृथिवी**" यहाँ गन्धवत्ता पृथिवी का असाधारण धर्म है, उसप्रकार से, असाधारण लक्षण वाले) माधुर्य-ओज और प्रसाद भी [**स्वं रसस्तस्य समर्पको व्यञ्जको यः पदसन्दर्भः—पदसमूहरसव्यञ्जकवाक्यमित्यर्थः, तस्य यः काव्यव्यपदेशः—काव्यव्यवहारस्तस्य औपधिकमुपायभूतमुपयोगीनियावत् पदानुगुण्यं-स्वाश्रयिणा रसेन सहकाव्ये स्थितिरूपं तद्भाजः—न्यायानुगतानुकूलत्व कर्तारः रसव्यञ्जकवाक्यस्य काव्यसंज्ञत्वाः प्रयोजिका इतियावत्**] अर्थात् अपने को (रस को) उद्बुद्ध करने वाले (अर्थात् व्यञ्जक) वाक्य में काव्य-व्यवहार के (व्यपदेश) उपयोगी अनुकूलता को प्राप्त होते हैं । [अतः इनकी गुणशब्द वाच्यता है] **यथेति**—और जिसप्रकार से इनकी (गुणों की) रस की धर्मता है, (वह काव्यप्रकाशकृत काव्य लक्षण के निराकरण के प्रकरण प्रथम परिच्छेद में) दिखा ही दी है ।।

टिप्पणी—(१) यद्यपि वर्णों से ही गुण की अभिव्यञ्जना होती है, पदों से नहीं, अतः पदसमूह के अन्दर गुण समर्पकता नहीं है, तथापि पदसमूह का निर्माण वर्णों से होता है, अतः वर्ण पदों को गुणों का समर्पण करते हैं, और पद गुणों की अभिव्यञ्जना करते हैं । इसप्रकार परम्परा से गुण की व्याख्या की है । यह सम्पूर्ण व्याख्या "**काव्यप्रकाशकार** के मत का आश्रय लेकर की है क्योंकि उनके मतानुसार काव्य का लक्षण है—"**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**" । इस लक्षण के अनुसार गुणों के भी काव्य के प्रयोजक होने से काव्य संज्ञा की भी प्रयोजकता है । इसके विपरीत साहित्यपर्पणकार के मत में "**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**" इस लक्षण के अनुसार रसादिकों के ही काव्यत्व के प्रयोजक होने से, गुणों के अन्दर काव्यत्व प्रयोजकता का अभाव होने से काव्य संज्ञा की भी प्रयोजकता का अभाव समझना चाहिये ।

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥ १ ॥

ते गुणाः ।

---

(२) **वामनाचार्य** ने "**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणाः**" ऐसा सूत्र बनाकर "जो शब्द और अर्थ के धर्म काव्य की शोभा करते हैं, वे गुण कहलाते हैं।" इसके अनुसार गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म बतलाया है। इसीप्रकार "**काव्यप्रकाशकार**" ने भी गुणों को शब्द और अर्थ का धर्म बतलाया है। परन्तु इसके विपरीत **साहित्य-दर्पणकार** ने गुणों को रस का धर्म प्रतिपादित किया है। इसकी स्थापना प्रथम परिच्छेद के अन्दर हुई है।

(३) यद्यपि "**मधुरा वर्णाः**" इस लोक व्यवहार से वर्ण के धर्म गुण हैं, रस के धर्म नहीं, तथापि औपचारिक रूप से गुण को वर्ण का धर्म मानकर "**मधुरा वर्णाः**" यह व्यवहार किया जाता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि गुण वर्ण के धर्म हैं।

(४) **सारांश** यह है कि विशाल आकार वाले व्यक्ति की और सुकुमार वर्णों की अन्यों से विलक्षणता बतलाने के लिये जिसप्रकार "**यजमानः प्रस्तरः**" यहाँ प्रस्तर को हवि और आसनादि के द्वारा यज्ञ में साधन होने से और यजमान के साक्षात् यज्ञ में साधन होने से दोनो में साम्य के आधार पर प्रस्तर में यजमानत्व का उपचार प्रयोग कर लिया जाता है। उसीप्रकार यह "**आकार एव शूरः एतेवर्णा एवमधुराः**" इत्यादि प्रयोग विद्वानों से किये जाते हैं, किन्तु इस बात को न समझने वाले अनभिज्ञ व्यक्ति विशाल आकृति वाले व्यक्ति के अन्दर शूरत्व की तरह सुकुमार वर्णादिकों के अन्दर ही माधुर्यादि गुणों का व्यवहार कर देते हैं, पर इससे गुण वर्ण के धर्म हैं यह सिद्ध नहीं होता है।

अवतरणिका—गुणों का विभाग करते हैं—

अर्थ—वे (गुण) माधुर्य (**माधुरस्य भावः माधुर्यम्**) ओज और प्रसाद इस-प्रकार तीन प्रकार के हैं। (कारिकास्थ "ते" पद की व्याख्या करते हैं) ते—अर्थात् वे गुण।

टिप्पणी—(१) **प्रश्न**—कारिका के अन्दर माधुर्य, ओज और प्रसाद इस-प्रकार तीन शब्दों से गणना करने पर ही गुणों की त्रिविधता का ज्ञान हो जाता है, पुनः "**त्रिधा**" का प्रयोग क्यों किया है ?

उत्तर—**वामनाचार्य** ने गुणों की संख्या दस और भोजराज ने २४ मानी है, अतः तीन से अधिक संख्या का व्यवच्छेद करने के लिये "त्रिधा" शब्द का ग्रहण किया है। **आचार्य वामन** कृत दस गुणों का परिगणनः—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥

इनमें से प्रत्येक गुण का लक्षण करते हैंः—

(१) "पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः। अनेनाधिष्ठिताः प्रायः शब्दाः श्रोत्र-रसायनम्।
(२) श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते। अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः॥
(३) यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि। अनालक्षितसंधीनां स श्लेषः परमोगुणः॥
(४) प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः। दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः॥
(५) आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो द्वि यत्। समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती॥
(६) बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः। अनेन हि पदन्यासाः कामं धारामधुश्च्युतः॥
यथाहि च्छिद्यते रेखा चतुरं चित्रपण्डितैः। तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता॥
(७) बन्धस्याजरठत्वं च सौकुमार्यमुदाहृतम्। एतेन वर्जिता वाचो रूक्षत्वान्न श्रुतिक्षमाः॥
(८) विकटत्वं च बन्धस्य कथयन्ति ह्युदारताम्। वैचित्र्यं न प्रपद्यन्ते यथाशून्याः पदक्रमाः॥
(९) पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः। यत्रार्थ व्यक्तिहेतुत्वात्सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतोगुणाः॥
(१०) औज्ज्वल्यं कान्तिरित्याहुर्गुणं गुणविशारदाः। पुराणचित्रस्थानीयं तेनवन्ध्यं कवेर्वचः॥

भोजराज कृत सरस्वतीकण्ठाभरण में २४ गुणों की संख्या है। उनमें से दस का लक्षण ऊपर कर दिया—अब शेष का लक्षण करते हैं:—

(११) श्लाघ्य विशेषणयोगत्वमुदात्तता। (१२) गाढबन्धत्वमौर्जित्वम्। (१३) चाटूक्तिसहकारिप्रियतराख्यानत्वं प्रेयः। (१४) सुप्तिङ्व्युत्पादनं सुशब्दता। (१५) शब्दानामन्तः संजल्परूपत्वं सौक्ष्म्यम्। (१६) ध्वनिमत्ता गाम्भीर्यम् (१७) व्यासेनाभिधानम् विस्तरः। (१८) समासेनाभिधानम् संक्षेपः। (१९) यावदर्थपदत्वम् संमितत्वम्। (२०) भावतो वाक्यवृत्तिर्भाविकम्। (२१) आरोहावरोहयोः क्रमो गतिः। (२२) उपक्रमनिर्वाहो रीतिः। (२३) विशिष्टभणितिरुक्तिः। (२४) उक्तिप्रौढपरिपाकः प्रौढिः।

(२) साहित्यदर्पणकार ने इन दस या २४ गुणों को क्यों स्वीकार नहीं किया है? इसका कारण बताते हैं कि—सामाजिकों की नौ रसों से उत्पन्न होने वाली अवस्था तीन प्रकार की होती है—(१) द्रुति (२) विस्तार और (३) विकास। इनमें से शृङ्गार, करुण और शान्त रसों से चित्त की द्रुति अवस्था होती है, वीर, रौद्र और बीभत्स से चित्त की विस्तार और हास्य, अद्भुत और भयानक से चित्त की विकास अवस्था होती है। तथा हास्य रस में मुख का, अद्भुत रस में नयनों का, और भयानक रस में शीघ्र अपसरण रूप भागने का विकास होता है। यह विकास विभावों की विचित्रता से कहीं द्रुति के कारण और कहीं विस्तार के कारण होता है। और प्रसाद तो सभी का उत्कर्ष करने वाला है, इसलिये तीन अवस्थाओं वाले विचित्र कर्म के नियामक होने से तीन ही कारणों को स्वीकार किया है, क्योंकि कारणों के वैचित्र्य से इन तीन की उपलब्धि स्पष्टतया हो जाती है। अन्य गुणों की अङ्गाङ्गिभाव की विचित्रता से अनन्त होने से और अस्फुट होने से स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है।

तत्र—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु-केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न । द्रवीभावस्यास्वाद-स्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्चस्वाभाविकानाविष्टत्वात्म-ककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविक्षेपपरित्यागेन रत्याद्या-कारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम् ।

अथ माधुर्य गुणनिरूपणाम्ः—

अर्थ—उनमें से (अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद में से **माधुर्य** का लक्षण)—**चित्तद्रवीभावेति**—चित्त का द्रव भाव स्वरूप (**द्रवीभूयते इति द्रवी भावः तन्मयः, अद्रवस्य द्रव इवावस्थानं चित्तद्रवीभावमम**ः—सहृदयों के हृदय का गलित प्राय स्वरूप) आनन्द विशेष (सुखसंवलित प्रतीति) माधुर्य (**'मधुरस्य रसस्य भावः इति माधुर्याम्**) नामक गुण (विद्वानों के द्वारा) कहलाता है ।

अवतरणिका—"**चित्तद्रवीभावरूपोह्लादो माधुर्यमुच्यते**" इसके अनुसार "चित्त का द्रवी-भाव ही माधुर्य है" यह प्रतिपादित होता है, किन्तु "**आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकरणम्**" इस काव्यप्रकाश की उक्ति से "चित्त के द्रवीभाव का कारण ही माधुर्य है" ऐसा प्रतीत होता है । इस प्रकार ये दोनों लक्षण विरुद्ध प्रतीत होते हैं । अतः काव्यप्रकाश के मत का निराकरण करने के लिये प्रश्न उठाते हैं ।

अर्थ—और जो किसीने (अर्थात् **काव्यप्रकाशकार** ने) कहा है कि—(**आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्** अर्थात् शृंगारादिकों में अनुभव सिद्ध आह्लाद को उत्पन्न करने वाला माधुर्य ही द्रुति का कारण है [अर्थात्—**द्रुतिः—शौर्यक्रोधाद्याहितविक्षेप-परित्यागेन चित्तस्यार्द्रतख्यो नेत्राम्बुपुलकादिसाक्षिको वृत्तिविशेषः तत्कारण च सुखविशेषः वृत्तिरूपाह्लादगतवैजात्यम्, तदेव माधुर्यम्**] इति । **तन्नेति**—यह ठीक नहीं है, क्योंकि द्रवीभाव के आस्वाद (आस्वादनं आस्वादः अर्थात् रसानुभाव) स्वरूप आह्लाद से अभिन्न होने के कारण उसकी (माधुर्य की) कार्यता का अभाव होने से [**आशय** यह है कि चित्त की द्रवीभाव और आह्लाद के अन्दर भेद की प्रतीति न होने से अभिन्नता ही कहनी चाहिये, और आह्लादकत्व आह्लाद ही है और माधुर्य उसका स्वरूप है अतः सभी का अभेद होने से माधुर्य द्रुति का कारण कैसे हो सकता है क्योंकि जन्म और जनक का भिन्न अधिकरण होना चाहिये, अतः यह ठीक ही कहा है कि '**चित्तद्रवीभावमयोः इति** ।"] [**प्रश्न**—द्रवीभाव और आस्वादस्वरूप आह्लाद की अभिन्न रूप से प्रतीति होने से-पूर्वोक्त रीति से रस और माधुर्य के भी एक हो जाने से पुनः माधुर्य की रसधर्मता नहीं रह सकती है ? इसका समाधान करते हैं ।] **द्रवीभावश्चेति**—सहज अनाविष्टता (गूढ विषय) में संचरण की अक्षमता) ही है स्वरूप जिसका ऐसे कठोरता (कोमलता का अभाव, शोक अथवा क्रोधादि से ("आदि" पद से भयजुगुप्सादिकों का ग्रहण होता है) उत्पन्न की है (चित्त की) दीप्तता (दग्धप्रायता) जिसकी ऐसे, (तथा) विस्मय और हासादि से ("आदि" पद से आवेग आदि का ग्रहण होता है) उत्पन्न विक्षेप (आवरण) के परित्याग से, रत्यादिकों की ("आदि" पद से माधुर्य के आश्रय करुण और शान्त रस के स्थायी भाव शोक और शम का ग्रहण होता है ।) परिपुष्टि से संवलित आनन्द के उद्बुद्ध होने से सहृदय सामाजिकों के (अर्थात् काव्यार्थ की भावना से परिपक्व अन्तःकरण वालों के) चित्त की आर्द्रप्रायता (अर्थात् प्रायः विगलित स्वरूप से स्थित होना) द्रवीभाव (कहलाता) है ।

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥२॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि। तेन सम्भोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थितिर्ज्ञेया।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार शृङ्गार, करुण और शान्त रस के ज्ञान के अनन्तर उत्पन्न होने वाला रत्यादि के अविषयक सहृदयों के चित के द्रवीभाव रूप केवल आनन्द का अनुभव ही माधुर्य कहलाता है, और उस माधुर्य के जनकता सम्बन्ध से रस सम्बन्धी होने के कारण रस धर्मता भी रहती है। किन्तु यह रस धर्मता का सिद्धान्त आह्लाद के मनोवृत्तिरूप मानने से ही सम्भव हो सकता है, अन्यथा द्रुति और आह्लाद की अभिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्ष (२)—कुछ विद्वान ऐसा मानते हैं कि रति, शोक और शम में गुर्जरी आदि की अनुराग की वृत्ति के समान कोई एक धर्म है, और वही धर्म माधुर्य कहलाता है, जिससे सामाजिकों का चित्त द्रवित हो जाता है क्योंकि रत्यादिकों के रस रूप होने के कारण परिणाम से उसकी रसवत्ता है।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वैसे धर्म को स्वीकार करने में किसी भी तरह का प्रभाव नहीं है। और न ही द्रुति रूप कार्य की अन्यथा अनुपपत्ति से वैसी कल्पना ठीक है, ऐसा कहना चाहिये क्योंकि उसके रस के स्वभाव से ही सिद्ध होने से उसके लिये अन्य धर्म की कल्पना अनुचित है, किन्तु गुर्जरी आदि में तो वैसा धर्म प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

पूर्वपक्ष (३)—और जो आचार्य भामह ने "**श्रव्यं नाति समस्तार्थं शब्दं मधुरमिष्यते**" इस लक्षण के अनुसार शब्द वृत्ति को माधुर्य कहा गया है ?

उत्तरपक्ष—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि श्रवणों को जो उद्वेजक नहीं है वह श्रव्यता है। इसके अनुसार ओज और प्रसाद के अन्दर भी इसकी अतिव्याप्ति हो जायेगी क्योंकि ओज के अन्दर "**योयः शास्त्रंविभर्ति**" इत्यादि में क्रोधादि से उत्पन्न दीप्ति की ही प्रतीति होती है, माधुर्य की नहीं, और प्रसाद के अन्दर "**सूचीमुखेनसकृदेव**" इत्यादि में माधुर्य के नियत वर्णों के न होने से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है, अतः माधुर्य को शब्दवृत्ति मानना स्वीकरणीय नहीं है।

अवतरणिका—माधुर्य के विषय का निरूपण करते हैं।

अर्थ—और वह (माधुर्य) सम्भोग शृङ्गार में (नायक और नायिका के परस्पर संयोग विशेष आलम्बन वाले शृङ्गार में) करुण रस में (शोक प्रधान करुण रस में), विप्रलम्भ शृङ्गार रस में (वैराग्य के दूसरे पर्याय निर्वेद स्थायी भाव वाले) शान्त रस में क्रम से (पूर्व पूर्व की अपेक्षा) अधिक (होता) है। **सम्भोगेति**—सम्भोगादि शब्द उपलक्षण (उपलक्ष्यतेऽन्योप्यर्थोऽनेनेत्युपलक्षणम्) है, अतः सम्भोग भासनादिकों में भी इसकी (माधुर्य की) स्थिति समझनी चाहिये।

टिप्पणी (१) कहने का आशय यह है कि सम्भोग की अपेक्षा करुण में, करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ में, और इसकी अपेक्षा शान्त रस में अधिक माधुर्य होता है।

(२) **केचित्तु**—कुछ विद्वान् "करुणे" इसको "विप्रलम्भे" इसका विशेषण मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि **"अश्रुपातादयस्तत्रद्रुतत्वाच्येतसोमता:"** इससे करुण के अन्दर भी चित्त के द्रवीभाव को स्वीकार करने से माधुर्य को भी स्वीकार कर लिया है। **"अपसारय घनसारम्"**—इत्यादि में विप्रलम्भ के अन्दर भी माधुर्य की उपलब्धि होती है। इसीलिये **काव्यप्रकाशकार** ने भी कहा है कि **"शृङ्गारे (अर्थात् सम्भोगे**, ऐसा कहकर **"करुणेविप्रलम्भेतच्छान्तेचातिशयान्वितम्"** ऐसा कहा है।

(२) **सारांश**—यह है कि रतिप्रधान शृङ्गार दो प्रकार का होता है—(१) सम्भोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार । उनमें से सम्भोग शृङ्गार में विषयों के प्रति उत्कृष्ट राग के होने से विषयों में अलंप्रत्ययता का अभाव होता है, अतः निर्वेद के न होने से उसमें करुणादि की तरह द्रवीभाव नहीं होता है, इसीलिये यहाँ (सम्भोग शृङ्गार में) अश्रुपात आदि का लेश भी नहीं होता है, किन्तु इसके विपरीत करुणादि में ऐसा नहीं है क्योंकि करुण के सञ्चारी भाव निर्वेद के विषयों में अलंप्रत्ययता का कारण होता है, अतः प्रतिबन्धक विषयों के राग का उच्छेदक होने से द्रवीभाव अधिक होता है। करुण के स्थायीभाव शोक की अपेक्षा विप्रलम्भ के स्थायीभाव रति के अधिक कोमल होने से करुण में प्रिय की मृत्यु से मिलन की आशा समाप्त हो जाती है और निर्वेद के विरोधी चित्तविक्षेप के होने से विप्रलम्भ शृङ्गार में प्रिय से मिलन की आशा बनी रहने से प्रिय की अप्राप्ति से अन्य विषयों के प्रति अनुराग सर्वथा विनष्ट हो जाता है, अतः निर्वेद की दृढ़ता होने से करुण की अपेक्षा विप्रलम्भ में अधिक द्रवीभाव होता है। तथा शान्त में निर्वेद के स्थायी होने से सर्वात्मना विषयों से पराङ्मुख होकर निर्भर आत्मसुख आलम्बन होता है, अतः अधिक द्रवीभाव होता है। इस प्रकार स्पष्ट ही पूर्व-पूर्व की अपेक्षा तारतम्य अधिक है।

अवतरणिका—माधुर्यादिकों के रस के धर्म होने पर विद्वान् "मधुरः शब्दः", "मधुरोऽर्थः" इसप्रकार का शब्द और अर्थ के अन्दर क्यों मधुरादि का प्रयोग करते हैं—इसप्रश्न का आत्मा के गुण शौर्यादिकों के स्थूल शरीर की तरह रसवृत्ति वाले माधुर्य, ओज और प्रसाद नाम वाले गुणों के व्यञ्जक होने पर सुकुमारादि वर्णों में, अर्थों में और रचनाओं में गौण प्रयोग होता है—ऐसा समाधान करने के उपरान्त माधुर्य के व्यञ्जकों का वर्णन करते हैं—

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना ।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥३॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा ॥

अर्थ—शिरोभाग में वर्गों के (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, ओर पवर्गों के) अन्तिम वर्णों से (अर्थात् ञ, म, ङ, ण, न,) युक्त टकार, ठकार, डकार, ढकार के बिना स्पर्श वर्ण [अर्थात् ट ठ ड ढ इन वर्णों को छोड़कर ककार से लेकर मकार तक स्पर्श) **यथा**—अङ्क-शङ्क, सङ्ग और सङ्क इत्यादि रूप शब्द) लघु प्रयत्न से उच्चारण किये जाने वाले (अर्थात् दूसरे वर्णों से असम्बद्ध रेफ) और णकार उस (माधुर्य) की व्यञ्जना करने में कारण हैं। [अर्थात् माधुर्य की व्यञ्जकता में निमित्त हैं] तथा सर्वथा समास से विरहित अथवा स्वल्प समास वाली (दो-तीन-चार पदों में से निर्मित्त) मनोहारिणी (दुःश्रवत्व वर्णों से रहित मृदुल पदों से निर्मित अनुप्रासादिकों से रुचिर) रचना (कवि शिरोमणि की रति माधुर्य गुण की व्यञ्जिका होती है।)

टिप्पणी (१)—वर्ण १. विहित २. अविहित और ३. निषिद्ध-इन भेदों से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें लघु प्रयत्न से उच्चारण किये जाने वाले रेफ और णकार, और शिरोभाग पर स्थित है अपने वर्ग के अन्तिम अक्षर जिसके ऐसे स्पर्श वर्ण विहित है, टवर्ग निषिद्ध हैं और शेष अविहित हैं। निषिद्ध वर्णों का बहुलता से प्रयोग करना दोष है। यद्यपि टकार, ठकार, डकार और ढकार इनके अतिरिक्त सभी वर्गों के अन्तर्गत वर्णों के स्वीकार करने से मूर्धन्य णकार का भी स्वभावतः ग्रहण हो जाता है तथापि ट-ठ-ड-ढ इनसे साहचर्य से उनका निषेध होने से णकार का भी निषेध न हो जाये अतः पृथक् रूपेण णकार का ग्रहण किया है। **केचित्तु**—कुछ विद्वान् इसप्रकार मानते हैं कि रेफ का उपादान करना अत्यावश्यक होनेसे—किन्तु अपने वर्गों के अन्तर्गत न आने से उसका ग्रहण सम्भव नहीं था अतः रेफ का उपादान पृथक् नाम्ना किया है क्योंकि—

"अपसारय घनसारं कुरुहारं दूर एव किं कमलैः ।
अलमलमालिमृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इत्यादि में शरों की भी माधुर्य की व्यञ्जकता प्रतीत होती है, अतः केवल वर्ग के वर्ण ही माधुर्य के व्यञ्जक नहीं हैं, अपितु ट-ठ-ड-ढ से अतिरिक्त अन्य वर्ण भी माधुर्य के व्यञ्जक हैं—इसकी व्यञ्जना करने के लिये रेफ का उपादान किया है—

(२) **निष्कर्ष** यह है कि—"**निरुक्तवर्णबहुला बहुतर निष्ठुराक्षररहिता निःसमासा अल्पसमासा वा सुकुमारार्थप्रतिपादिका माधुर्यव्यञ्जिका**"। **इति** ॥

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तःसन्तापसन्ततिम्॥'

यथा वा मम—

'लताकुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि॥'

अर्थ—(वर्ग के अन्तिम वर्णों से सम्बद्ध वर्णों की माधुर्य व्यञ्जकता का उदाहरण) **अनङ्गेति**—[**प्रसङ्ग**—किसी दुर्भाग्यशाली व्यक्ति की मित्र के प्रति अथवा सखी के प्रति किसी प्रेयसी के साथ समागम न होने से अपने आन्तरिक सन्ताप को कम करने के लिये सखेद यह उक्ति है।] कामदेव के मांगलिक स्थान, उस (प्रसिद्ध सुन्दर हावभाव शालिनी नायिका) के नेत्रप्रान्त की भङ्गिमा युवकों के अन्तःकरणों में पौनः पुन्येन सन्तापातिशय को उत्पन्न करती है।

टिप्पणी—यहाँ पूर्वार्ध में शिरोभाग पर स्थित कवर्ग के अन्तिम वर्ण ङकार के साथ उसी वर्ग के गकार के सम्बद्ध होने से और उत्तरार्थ में शिरोभाग पर स्थित तवर्ग के अन्तिम वर्ण नकार के साथ उसी वर्ग के तकार के साथ-सम्बन्ध होने से माधुर्य गुण की व्यञ्जना करते हैं, यहाँ अल्प समासवाली रचना है।

अर्थ—(**समास राहित्य और अल्प समासता का एक ही उदाहरण में उक्तबन्ध वर्गान्तर वर्गों की माधुर्य व्यञ्जकता** का उदाहरण) **यथा**—अथवा मेरा (अर्थात् साहित्य दर्पणकार निर्मित) **लताकुञ्जमिति**—[**प्रसङ्ग**—वसन्तकालीन वायु का वर्णन है।] वायु शब्द करते हुये और मदमत्त हैं भ्रमर समूह जिसमें ऐसे लताकुञ्ज को (**यूथी मालती प्रभृतिवल्ली विशेषगुच्छावष्टम्भविशेषम्**) हिलाता हुआ, (विहार करने वालों के) शरीर का स्पर्श करता हुआ, कामदेव को अतिशीघ्र बढ़ाता हुआ, विकसित कमल वन को (जाति में एकवचन है) शनैः शनैः (शीघ्र नहीं जिससे सुरभि नष्ट न हो जावे, और उसको ग्रहण किया जा सके) कम्पित करता हुआ, सुरभित पुष्प के अन्दर विद्यमान) पराग समूह को ग्रहण करता हुआ प्रत्येक दिशा में पुष्प रस को फैला रहा है।

टिप्पणी—(१) इस पद्य के प्रथम चरण में मकार-जकार; द्वितीय चरण में ङकार, गकार; तृतीय और चतुर्थ चरण में नकार-दकार-माधुर्य गुण के व्यञ्जक हैं। प्रथम और चतुर्थ चरण में अल्प समास है. द्वितीय और तृतीय चरण में ससास नहीं है।

(२) टवर्ग के अन्तिम वर्ण णकार के शिरोभाग पर स्थित होने से ट, ठ, ड, ढ वर्ण माधुर्य की व्यञ्जना नहीं करते हैं—यथा—

"**अण्टने कुण्ठमध्यस्थ पिण्डीकृत्योभयोर्वसु।**
सवस्त्रं मानेन किं पुनर्मिश्रितं त्वया॥

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥४॥
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि । तेन वीराभासादावप्यस्यावस्थितिः ।

अथ ओजगुणनिरूपणम्—

अर्थ—(**ओजगुण** का लक्षण) **ओज इति**—(सामाजिकों के) चित्त की विस्तार स्वरूप (अर्थात् वीरादि रस के आस्वाद के समय में द्रवीभाव के प्रतिकूल विस्मय विशेष ही है स्वरूप जिसका ऐसी) दीप्तता (विकास विशेष अथात् उत्साहादि के आकार से अनुविद्ध चमत्कार के उद्बुद्ध होने से उत्पन्न होने वाला उत्साहादि के अविषयक चमत्कार का उद्बोध) ओज (नामक गुण) कहलाता है। तथा वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रम से अर्थात् (पूर्व पूर्व की अपेक्षा) इसकी (ओजकी) अधिकता होती है अर्थात् वीर की अपेक्षा वीभत्स में और वीभत्स की अपेक्षा रौद्र रस में ओज की अधिकता होती है ।

टिप्पणी (१) **केचित्**—कुछ विद्वान् **दीप्तत्व** का लक्षण—**दीप्तत्वं कटुवर्ण श्रवणजन्यश्रोत्रदुखसम्भिन्नसुखविशेषः—स एव चित्त विस्तारः**" ऐसा करते है, पर यह ठीक नहीं है क्योंकि इस लक्षण के अनुसार अक्षरों की संघटना से व्यक्त होने वाले वीरादि में ओज गुण की प्रतीति नहीं होगी ।

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने ओज का लक्षण "**चित्तविस्ताररूपः दीप्तत्वजनकम् ओजः**" यह किया है । किन्तु यह भी लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि वीरादिकों से ही उत्पन्न होने वाली दीप्तता के ही ओज रूप से स्वीकार करने से, उसको उत्पन्न करने वाले अन्य धर्मों की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं होता ।

अर्थ—(कारिका को स्पष्ट करते हैं) **अस्येति**—"**अस्य**" अर्थात् ओज की (ऐसा अर्थ समझना चाहिये) । यहाँ पर भी (जिस प्रकार "सम्भोग" इस कारिकांश में सम्भोगादि शब्दों की उपलक्षणता थी, उसीप्रकार इस कारिका के अंश में भी) वीरादि शब्द उपलक्षण है, इससे (अर्थात् वीरादि शब्दों की उपलक्षणात्मकता स्वीकार करने से) वीर-शान्तादिकों में भी दूसरे (ओज) की स्थिति (सम्भव) है ।

टिप्पणी—**सारांश** यह है कि सुकोमल हृदय वाले सामाजिक के चित्त के अन्दर भी द्वेष्य विषय के साथ सम्बन्ध होने से दीप्तता—उष्णता पैदा हो जाती है । उनमे से वीर रस में द्वेष्य को निग्रह करने में केवल विजिगीषा होती है, बीभत्स रस में जुगुप्सित विषय को अत्यन्त त्यागने की इच्छा होती है, रौद्र रस में अपकारी व्यक्ति के मारने में अधिक प्रयास होता है, इसप्रकार क्रम से दीप्ति की अधिकता होती है । इसप्रकार परिशेषानुमान से उक्त रसों से भिन्न हास्य, भयानक और अद्भुत रस में दोनों ही माधुर्य और ओज का समावेश हो सकता है । उनमें से हास्य आदिको में शृङ्गार के अङ्ग विभाव के मुख्य होने से माधुर्य प्रधान होता है और वीरादि के अङ्ग विभावादि के मुख्य होने पर ओज प्रधान होता है । हास्य में सर्वदैव माधुर्य की प्रकृष्टता होती है, ओज स्वल्प होता है; भयानक और अद्भुत रस में ओज की प्रधानता होती है और माधुर्य कम होता है । ऐसा चण्डीदासादिकों का मत है । इनके अनुसार बीभत्स की अपेक्षा रौद्र और वीर के अन्दर ओज गुण अधिक होता है ।

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।।५।।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गता ।।६।।
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

अवतणिका—ओजोगुण व्यञ्जक वर्णों का निरूपण करते है :—

अर्थ—वर्ग के (अर्थात् कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्गों में से जिस किसी भी सजातीय या विजातीय का विन्यास हो, उनमें से किसी एक वर्ग के) प्रथम (क-च-ट-त और प) और तृतीय (ग-ज-ड-द और ब) वर्णों के साथ युक्त उनके अन्तिम (अर्थात् कवर्ग-चवर्ग-टवर्ग-तवर्ग और पवर्ग में से किसी भी वर्ग के प्रथम और तृतीय वर्ण के अन्तिम अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ ख-फ-छ-ठ-थ-घ-झ-ठ-ध और भ) वर्ण (तथा) शिरोभाग पर (**यथा-तर्क उदर्क** और अर्जित) अधो भाग पर (**यथा-क्षिप्र**) अथवा शिरोभाग और अधोभाग दोनों भागों में रेफ से युक्त (**यथा-आर्द्र इत्यादि**) तथा ट-ठ-ड और ढ कार से संयुक्त (माधुर्य गुण ट-ठ-ड-ढ निषिद्ध हैं, पर यहाँ नहीं) **यथा-अट्टहास-विसष्ठुल-गड्डलिका-शब्द**) शकार और सकार (दूसरे वर्णों के साथ असंयुक्त भी) उस (ओजगुण) की व्यञ्जकता को प्राप्त होते हैं अर्थात् ओज-गुण-व्यञ्जक होते हैं। तथा समासबहुल (ओज के व्यञ्जक वर्णों से निर्मित समास की प्रचुरता वाली) उद्भट अक्षरों वाली अथवा उद्भट अर्थ की प्रतिपादिका रचना (ओज गुण की व्यञ्जक होती) है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर श और ष क्योंकि तालु और मूर्धा से उच्चरित हैं अतः प्रयत्न की गौरवता से ये महाप्राण हैं; इसलिये उनका ओजगुण की व्यञ्जकता में उपादान कर दिया है, परन्तु दन्त्य सकार के उच्चारण मे बाह्य दन्त्यगत होने से प्रयत्नलाघव होता है, अतः इसका यहाँ पर ग्रहण नहीं किया है। यथा—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभः ।। "वर्षति शीर्षमेघः"

(२) वस्तुतः माधुर्य के व्यञ्जक वर्णों से भिन्न दूसरे वर्णों से संयुक्त दो-तीन अन्य भी वर्ण ओजव्यञ्जक होते हैं। यथा—

समरेभाति संरम्भादुद्यद्दिनकरद्युतिः । हुताशकुण्डसंकाशलोचनोनृपपुङ्गवः ।।

यहाँ द्वितीय चरण में तीन संयुक्त वर्ण ओज के व्यञ्जक हैं।

(३) ओज की व्यञ्जक अक्षरों से निर्मित अतिशय समास वाली रचना अतिशय ओज की व्यजञ्क होती है। यथा—

दीप्तबह्निचयोदीप्तनेत्रापतितद्विषद्दलः । चण्डध्वानपरिध्वस्तहस्तिवानोऽस्त्यसौ युधि । उद्यद्दिनकरवक्त्रः प्रज्ज्वलञ्जलनेक्षणः । मार्गवो नृपवर्गस्य मृत्युरेवधुरि स्थितेः ।।

(४) निष्कर्ष यह है कि ख-घ छ-झ ठ-ढ-थ-ध-फ और भ ये वर्ण क-ग-च-ज-ट-ड-त-द-प और ब इनके साथ संयुक्त शिरो भाग पर, अधो भाग पर या दोनों ही स्थानों पर रेफ से संयुक्त वर्ण ट ठ ड और ढ से संयुक्त अथवा रेफ से संयुक्त शकार और षकार, समासबहुलता और दुःश्रत्वजनिका रचना, ओज गुण की अभिव्यक्ति के कारण हैं। रचना की दुःश्रवता पास-पास अथवा अनेक स्थलों पर संयुक्त वर्णों के रहने से अथवा मिले हुये समासादि से, विरूपता के सम्पादन करने से और जिह्वामूलीय और उपध्मानीयों के सम्बन्ध से होती हैं।

यथा—

'चञ्चद्भुज–' इत्यादि।

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥७॥

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

व्याप्नोति आविष्करोति।

अर्थ—(ओजगुण का उदाहरण) यथा—चञ्चद्भुजेति—[इस पद्य की व्याख्या षष्ठ परिच्छेद में पृष्ठ······पर की जा चुकी है।] इत्यादि।

टिप्पणी—(१) यहाँ "द्भु" और "द्ध" इसमें तृतीय वर्ण से युक्त चतुर्थ वर्ण है।" "भ्रमित" यहाँ रेफ युक्त वर्ण है। "ण्ड" यहाँ णकार संयुक्त है "शो-शो" यहाँ दो तालव्य शकार है—और भी अन्य संयुक्त वर्ण ओज के व्यञ्जक हैं।

अथ प्रसादगुणनिरूपणम्—

अवतरणिका—इस प्रकार उद्देश क्रम से माधुर्य और ओज गुणों का वर्णन करने के अनन्तर समस्त काव्य के एकमात्र जीवनभूत प्रसादगुण का निरूपण करते हैं—

अर्थ—(**प्रसादगुण** का लक्षण) **चित्तमति**—जिस प्रकार अग्नि शुष्क इन्धन में झटिति व्याप्त हो जाती है (क्योंकि उसीमें ही अग्नि की झटिति उत्पत्ति हो सकती है) (उसी प्रकार) जो (गुण) चित्त को शीघ्र ही आविष्ट कर लेता है अर्थात् सहसा अर्थ के ज्ञान से विमल कर देता है (वह "**प्रसादयति स्व सौन्दर्यद्वारा विषयान्तर सम्बन्ध परित्यागेन चित्तं प्रसन्नं करोति इति सः**" प्रसाद नामक गुण कहलाता है।) और वह प्रसाद (गुण) सभी शृङ्गारादि) रसों में (आधाराधेय सम्बन्ध से) और सभी (समास रहित अथवा अल्प समास वाली) रचनाओं में (पद योजनाओं में व्यंग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध से) रह सकता है। (कारिकास्थ" व्याप्नोति" पद की व्याख्या करते हैं)।

व्याप्नोति—प्रकट करता है। (इससे अतिशय चमत्कार को सूचित किया है)।

टिप्पणी—(१) यहाँ "**शुष्केन्धनमिवानलः**" यह सामान्य रूप से ही प्रतिपादित किया है, विशेष रूप से दो "**जलौघो विमलं वसनमिव**" यह प्रतिपादन करना ही अधिक उचित था। अर्थात् अग्नि जिसप्रकार शुष्क इन्धन में झटिति फैल जाती है (क्यों कि आर्द्र इन्धन में अग्नि शीघ्र नहीं लग सकती है), जल का समुदाय जिसप्रकार स्वच्छ वस्त्र के अन्दर झटिति ही फैल जाता है (क्योंकि मलिन वस्त्रों में जल शीघ्र ही स्थान नहीं पाता है) उसकी तरह।

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने भी कहा है कि—

"**शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।**
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥

ध्वनिकार ने कहा है कि—**समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वान् रसान् प्रति।**
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥इति॥

(३) कुछ इस प्रकार की भी व्याख्या करते हैं कि जब वीर रौद्रादि रसों में चित्त आविष्ट होता है तब शुष्क इन्धन में अग्नि की तरह, और जब शृङ्गार करुणादिकों में आविष्ट होता है तब स्वच्छ जल की तरह।

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥९॥

यथा—

'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

अवतरणिका—प्रश्न—इस प्रसाद गुण की सभी रचनाओं में स्थिति स्वीकार कर लेने पर मधुर असमस्त और अल्प समास वाली रचनाओं में माधुर्य गुण के साथ सांकर्य पैदा होगा ? अतः इसका समाधान करते हैः—

अर्थ—श्रवण मात्र से (ही) अर्थ का ज्ञान कराने वाले शब्द उस (प्रसाद-गुण) के व्यञ्जक होते हैं ।

टिप्पणी—इस प्रकार समास रहित या अल्प समास वाले स्थलों पर कोमल शब्दों के व्यंग्य होने पर प्रसाद गुण, श्रुतिमाधुर्य होने पर अकोमल शब्दों के व्यंग्य होने पर माधुर्य गुण और विकट अर्थ का ज्ञान कराने वाले शब्दों के व्यंग्य होने पर ओज गुण होता है । अतः व्यञ्जक के भेद के कारण भेद होने से परस्पर सांकर्य नहीं आ सकता है ।

अर्थ—(प्रसादगुण का उदाहरण) **यथा--सूचीमुखेनेति**—[**प्रसङ्ग—श्रीकृष्णानन्द** निर्मित **सहृदयानन्द** के द्वितीय अङ्क में प्रिया के स्तनों पर लुढ़कते हुये मुक्ताहार को कल्पना से सम्बोधन करके विरही की उक्ति है] (हे) मौक्तिक हार! सुई के अग्रभाग से एक बार ही (बार बार नहीं) छेद किया हुआ (डोरा डालने के लिये) प्रिया के (जहाँ कहीं भी वह रहती है वहाँ) स्तनों पर लोटते रहते हो (केवल देखना आदि ही नहीं करते हो) (किन्तु) मैं (तो स्मरण मात्र से उत्पन्न होने वाले) काम देव के बाणों से (सुई आदि से नहीं) अनेक बार भयरहित होकर भी स्वप्न में भी उस प्रिया को (जिसके स्तनो पर तुम लोटा करते हो) क्यों नहीं देखपाता हूँ ? [तात्पर्य यह है कि ऐसा कौन सा प्रत्यवाय है जिससे स्वप्न में भी उसको देखने के सौभाग्य से वञ्चित कर दिया गया हूँ । यदि कृतच्छिद्रता ही प्रिया की प्राप्ति का कारण है तो तुम से बहुत अधिक बार छिद्रित किया जाता हुआ भी क्यों नहीं तुम्हारी तरह प्रिया को पाता हूँ, यह बड़ा ही आश्चर्यकारी विधि का विधान है ।]

टिप्पणी— १. यहाँ श्रवण मात्र से ही अर्थ के प्रतिपादक शब्दों के व्यंग्य होने से झटिति चित्त को आविष्ट करने से प्रसादगुण है ।

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः ।

अवतरणिका—प्रश्न—"रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः" इसमें गुणों की रस धर्मता स्वीकार करने पर **"ये खलु शब्दार्थयो धर्माः काव्य शोभां कुर्वन्ति ते गुणाः"** इसप्रकार प्राचीन वामनादि आचार्यों से सम्मत इन गुणों की शब्दार्थ धर्मता कैसे हो सकती है ? इसका समाधान करते है—

अर्थ—इन(माधुर्य-ओज और प्रसाद गुणों) को शब्द का गुण और अर्थ का गुण (यहाँ "शब्द" पद अर्थ का भी उपलक्षण है) वामनादि विद्वानों के द्वारा उपचार (लक्षणा) से अर्थात् अपने आश्रय रूप रसादि की व्यञ्जकतारूप परम्परा से कहलाता है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि माधुर्यादि गुणों को शब्द का गुण और अर्थ का गुण कहा जाता है, वस्तुतः स्वीकार नहीं किया जाता है क्योंकि गुणों के रसादि के आस्वाद से अभिन्न होने के कारण वस्तुः रसादि की ही धर्मता है । उनका साक्षात् सम्बन्ध न होने के कारण शब्द और अर्थ की धर्मता वास्तविक नहीं है ।

अर्थ—शरीर के शौर्य आदि ("आदि" पद से औदार्य, तेज प्रभृति का ग्रहण होता है) गुणों के सम्बन्ध की तरह" यह शेष है अर्थात् कारिका के साथ संयुक्त करके पढ़ना चाहिये । [अतः कारिका की व्याख्या इसप्रकार हुई—शौर्यादिगुण साक्षात् आत्मा के धर्म होते हुऐ भी अपने आश्रय और आश्रयी रूप परम्परा सम्बन्ध से शरीर के अन्दर भी कल्पना कर लिये जाते हैं और व्यवहृत किये जाते हैं, उसी-प्रकार माधुर्य आदि गुण साक्षात् रस के धर्म होते हुये भी अपने आश्रय रसादि की व्यञ्जकता रूप परम्परा सम्बन्ध से शब्द और अर्थ के धर्म रूप से कल्पना कर लिये जाते हैं और व्यवहृत किये जाते हैं ।]

टिप्पणी—प्रश्न—गुणों की रसधर्मता की और ऊपर कहे हुये परम्परा सम्बन्ध की कल्पना करने में गौरव आता है, अतः इनको शब्द और अर्थ का ही धर्म मान लेना उचित है ।

उत्तर—नहीं, यह ठीक नहीं है क्योंकि कहीं नीरस काव्य के अन्दर गुण की अभिव्यञ्जना करने वाले शब्द और अर्थ के होने पर भी माधुर्यादि की उपलब्धि नहीं होती है–और कहीं गुण के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के न होने पर भी रसत्वेन ही माधुर्यादिकों की उपलब्धि हो जाती है। अतः रस के अन्वय-व्यतिरेकी होने के अनुसार ही माधुर्यादि गुणों को रस की धर्मता स्वीकार करना उचित है। और कारिका के अन्दर विद्यमान [गुणवृत्ति को स्वाश्रयोपस्थापकत्व रूप समझना चाहिये ।] काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि–**"गुणवृत्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मतः "इति"** ।

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥६॥
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते ।
ओजसि भवत्या ओजःपदवाच्ये शब्द (अर्थ) धर्मविशेषे ।
तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा ।

अथ प्राचोक्त गुणगतार्थत्व निरूपणम्—

अवतरणिका—श्लेपादि दस शब्द गुण और ओज आदि दस अर्थ गुण वामनादि आचार्यों ने स्वीकार किये हैं। अतः उन गुणों का अपने द्वारा स्वीकृत तीन गुणों के अन्दर अन्तर्भाव दिखाते हैं—श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद नामक शब्द गुणों का ओजगुण के अन्दर अन्तर्भाव दिखाते हैं—

अर्थ—प्राचीनों (वामनादिकों) ने श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद (नाम वाले) जो (शब्द गत) गुण कहे हैं, वे (शब्दगत गुण) ओज पद से प्रतिपाद्य शब्द-गुण विशेष में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

अवतरणिका—प्रश्न—"ओज" पद की चित्तविस्तार रूप दीप्तता में ही शक्ति होने से शब्द धर्म वाले श्लेषादिकों का उसमें (ओज में) कैसे अन्तर्भाव हो सकता है ? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—(कारिका के अन्दर विद्यमान) "**ओजसि**" का अर्थ लक्षणा से (उपादान लक्षणा से) ओजपद से प्रतिपाद्य शब्द के धर्म विशेष में (ऐसा करना चाहिये)।

टिप्पणी—(१) अतः उक्त कारिका के अन्दर उपादान लक्षणा से "ओज" पद से शब्द धर्म विशेष का अर्थ प्रतीत होने से शब्द के धर्म श्लेपादिकों का अन्तर्भाव हो सकता है, अतः उक्त शङ्का का अब अवकाश नहीं रहता है।

(२) जहाँ पर "**शब्दार्थधर्मविशेषे**" ऐसा पाठ है, वहाँ "अर्थ" पद चिन्त्य है क्योंकि अर्थ धर्म वाले प्रौढत्व रूप ओज में शब्दश्लेषादिकों का अन्तर्भाव सम्भव नहीं हो सकता है।

अर्थ—(१) (**वामनादि के मतानुसार श्लेष का** लक्षण) **तत्रेति**—उनमें से (श्लेषादिकों में से) बहुत पदों की भी एक पद की तरह प्रतीत होने वाला (**अर्थात्** सन्धि आदि के कारण अनेक पदों के उच्चारण का भेद स्पष्ट नहीं प्रतीत होता है। श्लेष (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) **अर्थात्** एकेन पदेन अन्यस्य पदस्य ऐक्यभावेन श्लेषणात् श्लेष इति।

(२) **प्रकाशकारकृत** लक्षण—**बहूनामपि पदानाम् एकपदवद्भा सनात्मापः श्लेषः** ।

(३) **वामनकृत** लक्षण—**यत्रैक पदवद्भावः पदानां भूयसामपि ।**
अनालक्षित सन्धीनां स श्लेषो परमोगुणः ॥

यथा—

'उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायप्रेंखदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुदगच्छति ॥

अयं बन्धवैकटयात्मकत्वादोज एव।

समाधिरारोहावरोहक्रमः। आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यतानावहो विन्यासः।

अर्थ—(श्लेष का उदाहरण) **यथा—उन्मज्जदिति**—[प्रसङ्ग प्रलयकालीन समुद्र वर्णन है] जल से निकलते हुये जलीय श्रेष्ठ हाथियों के वेग से (उत्पन्न) आस्फालन (जल के अभिघात से उत्पन्न शब्द विशेष) के नैरन्तर्य से उद्धत अन्यत्र जल से निकलते हुये जलीय श्रेष्ठ हाथियो के हर्ष से निकलने की परम्परा से उद्धत, सम्पूर्ण पर्वत की कन्दराओं के मध्यभाग के स्थानों को प्रतिध्वनित करती हुई अन्यत्र जल के भर जाने से निःशब्द (प्रतिध्वनि न करती हुई), कर्णविवर को विदीर्ण करने वाली, अन्यत्र वेदों के मार्ग का अतिक्रमण करने वाली, तथा विशाल (उच्चैः) यह सिन्धु सम्बन्धी ध्वनि जिसप्रकार निकल रही है, उसप्रकार से प्रायः (बाहुल्य से) निकले हुये असंख्य शंखों से शुभ्र यह (समुद्र) वेला (तीर पर) निकल रही है। **अयमिति**—यह उदाहृत पद्य में विद्यमान वामानादि मत सिद्ध श्लेष नामक शब्द गुण) सन्दर्भ के निकट होने के कारण (अर्थात् अत्यधिक सन्धि के कारण संयुक्त वर्णादिकों से निर्मित, गुरु प्रयत्न से उच्चार्य होने से प्रगाढ़ रचना होने के कारण ओज (गुण) ही है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर "उन्मज्जत" "प्रेङ्खदसंख्य" इत्यादि अनेक पदों के सहसा सन्धि होने के कारण एक पद की तरह प्रतीत होने के कारण वामनादि के मत में श्लेष नामक गुण है।

(२) वामनाचार्य ने ओज का लक्षण "**बन्धगाढ़मात्रत्वमोजः**" किया है, अतः उक्त उदाहृत पद्य के अन्दर विद्यमान "**श्लेष**" नामक गुण इस ओज के अन्दर अन्तर्भूत हो जाता है।

अर्थ—(**वामनादि के मतानुसार समाधि** का लक्षण) **समाधिरिति**—आरोह (उत्कर्ष चढ़ाव) और अवरोह (अपकर्ष–उतार) के क्रम को समाधि (कहते) हैं। (व्याख्या करते हैं) **आरोहइति**—आरोह अर्थात् उत्कर्ष (प्रगाढ़ बन्धता) और अवरोह अर्थात् [अपकर्ष (बन्ध की शिथिलता) उन दोनों का (अर्थात् आरोह और अवरोह का) क्रम अर्थात्] सामाजिकों भी विरक्ति को उत्पन्न न करने वाला विन्यास अर्थात् उत्कर्ष के मध्य में अपकर्ष का आ जाना और अपकर्ष के मध्य में उत्कर्ष का आ जाना विरसता कहलाता है–यह विरसता जिसमें नहीं हैं ऐसा विन्यास **समाधि** कहलाता है।

यथा—'चञ्चद्भुज–' इत्यादि । अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता। चतुर्थपादे त्वपकर्षः । तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता।

उदारता विकटत्वलक्षणा । विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम् । यथा—

'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च।'

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणोजः ।

यथा—"**चञ्चद्भुज**" **इत्यादि** । यहाँ (प्रथम) तीन चरणों में क्रम से बन्ध की प्रगाढ़ता (**समाधि** का उदाहरण) है अर्थात् दीर्घ समास होने के कारण उत्कर्ष है, किन्तु चतुर्थ चरण में ("**उत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि ! भीमः**"—यहाँ) बन्ध की शिथिलता है (अर्थात् दीर्घ समास न होने से अपकर्ष है) । [यहाँ पर द्रौपदी को आश्वासन देने के कारण क्रोध के न होने योग्य स्थान पर दीर्घ समास के न रखने से विरसता को उतना नहीं करता है, अतएव यहाँ "पतत्प्रकर्षता नामक दोष भी गुण है ।] **प्रश्न**—चतुर्थ चरण के अन्दर बन्ध की शिथिलता होने पर भी ओज के अन्दर अन्तर्भाव कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं—**तस्यापीति**—और उसके (चतुर्थ चरण के) भी तीव्र प्रयत्न से उच्चार्य होने के कारण ओजस्विता = ओजगुणवत्ता है । [प्रथम तीन चरणों में तो प्रगाढ़बन्धता स्पष्ट ही है ।]

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है कि पद्य के प्रत्येक चरण में आरोहावरोह क्रम हो सकता है, अतः क्रम के दो भेद हुये (१) आरोह से पूर्व अवरोह और (२) अवरोह से पूर्व आरोह ।

(२) **समाधि** का सामान्य लक्षण हुआ—

क्रमनिबन्धयोरुत्कर्षापकर्षयोः समावेशः समाधिः इति ।

(३) **वामनकृत समाधि लक्षण**—

आरोहन्त्यवरोहन्ति क्रमेण यतयो हियत् ।
समाधिर्नाम स गुणस्तेन पूता सरस्वती ॥

(४) कुछ विद्वान् "समाधि" की व्याख्या इसप्रकार करते हैं—

जिस पद्य में प्रत्येक चरण में पहले उत्कर्ष और पश्चात् अपकर्ष होता है, वही आरोहावरोह क्रम रूप "**समाधि**" होती है ।

अर्थ—(३) (**वामनादि के मतानुसार औदार्य** का लक्षण) **उदारतेति**—विकटत्व स्वरूप वाली (रचना में) उदारता ("औदार्य" नामक गुण) है । और पदों की नाचती हुई-सी अवस्था को विकटता कहते हैं । (**औदार्य** का **उदाहरण**) **यथा**—**सुचरणेति**—[**प्रसङ्ग**—वामन रचित काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में यह पद्यार्ध है] वहाँ (अर्थात् नृत्यशाला में) नाचने वाली (स्त्रियों) के सुन्दर चरणों में स्थित नूपुरों से विचित्र मनोहर "झण्" इसप्रकार शब्द हुआ । [**प्रश्न**—इस पद्य के अन्दर लघु रेफ और शकारादि समास शृंगारीय माधुर्य की व्यञ्जना करने वाले हैं, अतः वीरादि रस के न होने से यहाँ ओज नहीं है, पुनः ओज की व्यञ्जक प्रगाढबन्ध न होने से इसके अन्दर औदार्य का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर देते हैं] **अत्रेति**—और यहाँ (प्रकृत पद्य में) उन (वामनादि प्राचीन आचार्यों) के मत के अनुसार (जो गुणों के शब्द और अर्थ का धर्म स्वीकार करते हैं, उनके मत से) रस के अनुसन्धान के बिना ही केवल शब्दों की प्रगाढ़ बन्धता से ही ओज (का व्यवहार किया जाता) है; [अतः प्रकृत उदाहरण में योग्यता को लेकर ही बन्ध की प्रगाढ़ता की **ओज की व्यञ्जकता है**] ।

प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा ।

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्' इति ।

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है कि वामनादि पूर्वाचार्यों के मत के अनुसार श्रृंगार के अनुकूल होने पर भी उस रस के अनुसन्धान करने से पूर्व ही शब्दों की नाचती हुई दशा की प्रतीति एक प्रौढ़बन्धता मात्र के ज्ञान से व्यक्त होने वाले ओज के अन्दर औदार्य का अन्तर्भाव हो जाता है । **वामनाचार्य** ने कहा है कि—

पदन्यासस्य गाढत्वं वदन्त्योजः कवीश्वराः ।
अनेनाधिष्ठताः प्रायः शब्दाः श्रोत्ररसायनम् ॥

(२) **वामनाचार्यकृत उदारता** का लक्षण—"**विकटत्वमुदारता**" ३/१/२३ अर्थात् बन्ध की विकटता **उदारता** कहलाती है, जिसके होने पर पद नृत्य करते हुये से प्रतीत होते हैं ।

अर्थ—(५) (**वामनादि मत के अनुसार प्रसाद** का लक्षण) **प्रसाद इति**—ओज से मिश्रित (उपसर्जनीभूत) शिथिलता (बन्ध प्रगाढ़ता का अभाव) है स्वरूप जिसका ऐसा (बन्ध) प्रसाद (कहलाता) है । [अर्थात् जिस रचना में कहीं प्रगाढ़ता हो, और कहीं शिथिलता वाली रचना होती हो, वह सभ्यों के मन को प्रसन्न करने के कारण प्रसाद नामक गुण कहलाती है ।] (**प्रसाद** का उदाहरण)—**यो य इति**—[षष्ठ परिच्छेद में इस "उदाहरण के अवसर पर इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।]

टिप्पणी—(१) इस पद्य में '**यो यः**' के अन्दर शिथिलता है, "**शस्त्रम्**" में ओज है, '**मदः**' इसके अन्त में बन्ध के प्रगाढ़ होने से ओज है, "**पाण्डवीनां चमूनाम्**" यहाँ पुनः शिथिलता है—"**यो यः**" में शिथिलता है, "**गोत्रे**" इसमें ओज की पुनः शिथिलता है—इसप्रकार वामनादि सम्मत इसके अन्दर "**प्रसाद**" है । यह प्रसाद भी जहाँ प्रगाढ़ बन्धता है, वहाँ ओज के अन्दर और जहाँ बन्ध की शिथिलता है, वहाँ प्रसाद में अन्तर्भूत हो ही जाता है । इसप्रकार उक्त कारिका के अन्दर "**ओज**" पद से प्रसाद का ग्रहण समझना चाहिये ।

(२) **वामनकृत प्रसाद का लक्षण**—

श्लथत्वमोजसा मिश्रं प्रसादं च प्रचक्षते ।
अनेन न विना सत्यं स्वदते काव्यपद्धतिः ॥

(३) **समाधि गुण** के अन्दर श्लोक में या उसके चरण में ओज और प्रसाद में से किसी एक का पुनः उन्मज्जन नहीं होता है, किन्तु यहाँ (प्रसाद में) दोनों (ओज और प्रसाद) का ही निमज्जन और उन्मज्जन के क्रम से मिश्रण होता है । **वामन** ने कहा है कि—"**सम्पृक्तः खल्वोजः प्रसादो नदीवेणिकावदुद्वहतः**" **इति** ।

अवतरणिका—सम्प्रति पृथक्पदत्व लक्षण वाले वामनादि सम्मत माधुर्य गुण का स्वकीय सम्मत असमस्त स्थल वाले माधुर्य गुण में अन्तर्भाव दिखाते हैं—

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ।
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ॥ १० ॥

यथा—

'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ॥ ११ ॥

स्पष्टमुदाहरणम् ।

अर्थ—(५) (माधुर्य का लक्षण)—माधुर्येति—असमस्त की "अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा"—(इस कथन के अनुसार समास के अभाव की) जो माधुर्य गुण की व्यञ्जकता (हमने) बतलाई है (दर्शितम्); उसीसे ही पृथक् पद वाले (अर्थात् दीर्घ समास के अभाव रूप वामनादि सम्मत) माधुर्य को भी (हमने भी) स्वीकार कर लिया है। [इसप्रकार इस वामन सम्मत माधुर्य का परम्परा से स्वोक्त माधुर्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है—ऐसा समझना चाहिये ।] (माधुर्य का उदाहरण) यथा—"श्वासान मुञ्चति" इत्यादि [इस पद्य की व्याख्या तृतीय परिच्छेद में "तपन" के उदाहरण में पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।]

टिप्पणी—(१) इस उदाहृत पद्य में "त्वन्मार्गम्", "भुजवल्लरीम्" और "प्राणसमाना" इत्यादिकों के अन्दर समास होने पर भी "पृथक्पदता" का तात्पर्य दीर्घ समास का न होना है, अतः "माधुर्य गुण" को मानने में कोई दोष नहीं है ।

(२) अथवा समास के राहित्य को लेकर ही उक्त माधुर्य के लक्षण की संगति समझनी चाहिये ।

(३) साहित्यदर्पणकार के मत में जो असमासस्थलीय माधुर्य गुण है, वही वामनादि सम्मत शब्दगत माधुर्य गुण समझना चाहिये । वामनकृत लक्षण—

बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितबुधैः ।

(४) काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि—

"पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यं भङ्ग्या साक्षादुपात्तम् ।" इति

अवतरणिका—वामनादि सम्मत अर्थव्यक्ति नामक शब्द गुण का स्वसम्मत प्रसाद गुण में अन्तर्भाव दिखाते हैं ।

अर्थ—(६) (वामनादि मत के अनुसार अर्थव्यक्ति का लक्षण) अर्थव्यक्तेरिति—प्रसाद नामक गुण से ही (प्रसाद गुण के व्यञ्जक से ही) अभिव्यक्ति का (प्राचीन आचार्यों से उक्त शब्दगुण विशेष का) ग्रहण (हो जाता) है । [अर्थात् वामनादि सम्मत अर्थव्यक्ति नामक गुण प्रसाद गुण के अन्दर ही आ जाता है ।] क्योंकि पदों का शीघ्र हो अर्थ ज्ञान हो जाना अर्थव्यक्ति (कहलाता) है । स्पष्टमिति—उदाहरण स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) वामनकृत अर्थव्यक्ति का लक्षण—

पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ।
यथार्थव्यक्तिहेतुत्वात् सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतोगुणः ॥

(२) अर्थव्यक्ति का उदाहरण—प्रसाद गुण का ही उदाहरण—"सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वम्"—समझना चाहिये ।

(३) काव्यप्रकाशकार ने भी कहा है कि—"प्रसादेनार्थव्यक्तिर्गृहीता" इति ।

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

अंगीकृतेति सम्बन्धः । कान्तिरौज्ज्वल्यम् । तच्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनलौकिकशोभाशालित्वम् । सुकुमारता अपारुष्यम् अनयोरुदाहरणे स्पष्टे ।

अवतरणिका—वामनादि सम्मत कान्ति और सुकुमारता गुणों की स्वसम्मत दोषभावना के अन्दर स्वीकृति दिखाते हैं ।

अर्थ—(७–८) ग्राम्यत्व और दुःश्रवत्व दोष के परित्याग से कान्ति (नाम का शब्दगुण) और सुकुमारता (नामक शब्दगुण) स्वीकार किये हैं । [अर्थात् ग्राम्य दोष के परित्याग से कान्ति गुण और दुःश्रवत्व दोष के परित्याग से सुकुमारता गुण समझना चाहिये] (कारिका के अन्दर) "**अङ्गीकृतः**"—स्वीकार किये हैं—इस अर्थ का सम्बन्ध है ।

अर्थ—कान्तिः अर्थात् उज्वलता (कान्ति को उज्वलता कहते हैं) और वह (उज्वलता) हालिक **हले-हलकर्मणि-कर्षणकर्मणि इति यावत् नियुक्त इति हालिकः** अर्थात् हल से भूमि को जोतने वाला, शस्य को बोने में निपुण, निकृष्ट जाति विशेष अर्थात् किसान) आदिकों से ("आदि" पद से प्राकृत मनुष्यमात्र का ग्रहण होता है) प्रयुक्त किये जाने वाले पदों के (मल्ल गल्लादि शब्दों के) प्रयोग की विपरीतता से (अर्थात् साधु पदों के प्रयोग से) अलौकिक शोभाशालिनी होती है । [अर्थात् ग्राम्यता दोष के अभाव होने पर रस, अलंकारादि की विचित्रता कान्ति कहलाती है ।]

(**सुकुमारता** की व्याख्या करते हैं) **सुकुमारतेति–सुकुमारता**—अर्थात् श्रुतिकटु शब्दों के अप्रयोग से श्रुतिमधुरता । [अर्थात् पारुष्य (कठोरता) न होने को सुकुमारता कहते हैं ।] **अनयोरिति**—इन दोनों के (कान्ति और सुकुमारता के) उदाहरण स्पष्ट हैं ।

टिप्पणी—(१) केवल ग्राम्यत्व के त्यागमात्र से ही उज्वलता नहीं आ जाती है—क्योंकि यदि ग्राम्यत्व के त्यागमात्र से कान्ति गुण का समावेश हो जावे तो—

"**चित्रभानुरयमुज्वलकान्तिः शेखरे लसति भूमिधरस्य**"

इत्यादि में भी कान्ति माननी पड़ेगी । और यदि ग्राम्यत्व के अभाव से ही कान्ति (शोभा विशेष) उत्पन्न हो जाती है—यह स्वीकार कर लें तब तो जैसा कुछ सुना है वह भी ठीक है ।

(२) **भोजदेव ने** "**औज्ज्वल्यं कान्तिः**" ३/१/२५ इस वामन के सूत्र के अनुसार ही—

"**यदुज्ज्वलत्वं बन्धस्यकाव्ये सा कान्तिरुच्यते**"

"कान्ति" का यह लक्षण किया है ।

(३) **काव्यप्रकाशकृत** लक्षणः—"**कष्टत्वग्राम्यत्वयोर्दुष्टत्वाभिधानात् तन्निराकरणेन अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्, औज्ज्वल्यरूपा कान्तिश्च स्वीकृता ।**"

क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गभेदस्वरूपिणी।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम् ॥१३॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः। स च कचिद् दोषः।

तथाहि—

'अव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठराभोगं च बिभ्रद्वपुः
पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके सम्मातु किं तावना।
उद्यद्दुर्धरगन्धसिन्धुरशतप्रोद्दामदानार्णव–
स्रोतःशोषणरोषणात्पुनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥'

अवतरणिका—वामनादि सम्मत "समता" का अन्तर्भाव दिखाते हैं—

अर्थ—(६) रीति का (मार्ग) अपरित्याग ही है स्वरूप जिसका ऐसी समता (समभाव से पदरचना) कहीं (अर्थात् सुकुमार बन्ध के मध्य में उद्धत अर्थ के आ जाने पर और प्रौढ़ बन्ध के मध्य में सुकुमार के आ जाने पर अर्थात् प्रतिकूलवर्णत्व नामक दोष ही) दोष (होती) है। दोष की सम्भावना न होने पर (अन्यथा) उक्त गुणों के अन्दर (अर्थात् प्राचीन सम्मत माधुर्य-सौकुमार्य और ओजगुणों में) इस (समता) का यथासम्भव (अर्थात् सुकुमार मार्ग भेद का माधुर्य और सुकुमारता में तथा प्रौढ़ मार्ग भेद का ओज में) अन्तर्भाव (हो जाता) है।

(**"मार्गभेदः" पद** की व्याख्या करते हैं) **मसृणेति**—सुकुमार (माधुर्याधायक) अथवा उद्भट (ओज के अनुकूल) प्रणाली से आरम्भ किये हुये प्रबन्ध का अथवा महाकाव्य का (यह तो केवल उपलक्षण है, अतः एक वाक्य का भी ग्रहण हो जाता है) उसी (पूर्व प्रणाली से ही) समाप्त करना मार्गाभेद (कहलाता) है। और वह (मार्गाभेद रूप वामनादि सम्मत समता नामक गुण) कहीं दोष (होता) है। तद्यथा—(एक ही पद्य से **मार्गाभेद के दोष के त्याग की गुणता** का उदाहरण देते हैं) **अव्यूढेति**—[**प्रसङ्ग**—शेर के शावक की परिपालना करते हुये किसी को देखकर उसके व्याज से उसके समान किसी परिपालना किये जाते हुये व्यक्ति की भावी दशा का वर्णन है] विशेष रूप से परिपुष्ट नहीं हुये हैं। शरीर के अवयव जिसके ऐसे, (तथा) परिपूर्ण नहीं हुआ है हाथ और उदर का विस्तार जिसका ऐसे शरीर को धारण करता हुआ यह सिंह का शावक (भले ही) दोनों हाथों में समा जावे, उससे क्या होता है? (इससे उसके बड़प्पन की कोई हानि नहीं होती) (किन्तु) वृद्धि को प्राप्त हुये दुर्धर्ष सैकड़ों गन्ध हाथियों के उत्कट मदधारा के प्रवाह के सुखाने में समर्थ है क्रोध जिसका ऐसे इस (सिंह शावक) से प्रलयकालीन अग्नि भी तुच्छ प्रतीत होगी। अर्थात् शरीर से यह क्षुद्र होता हुआ भी शक्ति में महान् है।

टिप्पणी—गन्ध हस्ति का लक्षण—

यस्योग्रमदगन्धेन हस्तिनोमय विह्वलाः। दूरादेव पलायन्ते गन्धहस्तीस उच्यते ॥

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव । अनेवंविधस्थाने माधुर्यादावेवान्तःपातः ।
यथा—

'लताकुञ्जं गुञ्जत्–' इत्यादि ।

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता ।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः ॥१४॥

अर्थ—यहाँ [प्रकृत उदाहरण मे सद्योणात सिंह शावक का वर्णन होने से सुकुमार ही अर्थ है किन्तु समता गुण की उत्पत्ति के लिये कवि ने सर्वत्र उत्कृष्ट रचना की है, अतः प्रतिकूलवर्णत्व दोष है । इसके विपरीत तृतीय चरण में] उद्धत अर्थ के वाच्य होने पर (प्रचण्ड कोप के वर्णनीय होने पर) सुकुमार रचना का परित्याग करना गुण ही है । और जहाँ इसप्रकार के स्थल नहीं हैं अर्थात् मार्ग–रीति का भेद करना आवश्यक नहीं है वहाँ (समता का) माधुर्यादि में ही ("आदि" पद से सुकुमारता और ओज का ग्रहण होता है, ओज का विपरीत सुकुमारता है और यह सुकुमारता दीर्घ समास के राहित्य से और कठोर वर्णों के त्याग से उत्पन्न होती है) अन्तर्भाव हो जाता है । [अर्थात् सुकुमार बन्ध होने पर माधुर्य में और विकट बन्ध होने पर ओज में अन्तर्भाव हो जाता है ।] यथा—"लताकुञ्जं गुञ्जन्" इत्यादि ["आदि" पद से "चञ्चद्भुज" इत्यादि का ग्रहण होता है ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ अर्थ के भी सुकुमार होने से शुरू से लेकर अन्त तक सुकुमार रचना वाली समता माधुर्य गुण के अन्दर ही अन्तर्भूत हो जाती है ।

(२) **वामनकृत समता का लक्षण**—

प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः ।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः ॥

अवतरणिका—इसप्रकार प्राचीन वामनादि आचार्यों द्वारा स्वीकृत दस प्रकार के शब्द गुणों का स्वसम्मत माधुर्य–ओज और प्रसाद के अन्दर अन्तर्भाव दिखलाकर सम्प्रति प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत ओज प्रभृति पाँच तथा वक्ष्यमाण अर्थ व्यक्ति आदि से लेकर समाधि पर्यन्त पाँच अर्थ गुणों की दोषाभाववादिकों से अङ्गीकार और अगुणता का यथा सम्भव प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता और उदारता (ये ५ अर्थगत प्राचीन सम्मत गुण है ।) इनके अभाव का दोषत्वेन स्वीकार करने से अर्थगत गुण (हमने) स्वीकार किये हैं ।

टिप्पणी—(१) कहने का **आशय** यह है कि दोष अनुपादेय होते हैं और गुण उपादेय । उनमें से ओजप्रभृति पाँच अर्थगत गुणों के न होने से दोषों में गिनती की गई है । अतः उनकी उपादेयता, ग्राह्यता और गुणता स्वयं सूचित हो जाती है । किन्तु यह, ध्यान देने की बात है कि इन अर्थगत गुणों के होने से दोष नहीं होता है ।] परन्तु इनकी गुणता स्वीकार नहीं की है ।

(२) ओज का प्राचीन सम्मत लक्षण है—"**अर्थ प्रौढिरोजः" इति** । यह "ओज" पाँच प्रकार का है ।

पदार्थे वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्यासससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इनमें से पहले चार प्रकार के वैचित्र्यमात्र होने से गुणत्व के अभाव रूप में आगे "क्वचित्" इत्यादि से प्रतिपादन करेंगे और अन्तिम पांच वाँ प्रकार दोषाभाव रूप इस समय स्वीकार कर लिया है ।

ओजः साभिप्रायत्वरूपम् । प्रसादोऽर्थवैमल्यम् । माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम् । सौकुमार्यमपारुष्यम् । उदारता अग्राम्यत्वम् । एषांप ञ्चानामप्यर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेनैवांगीकारः।स्पष्टान्युदाहरणानि ।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः ।
रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः ॥१५॥

अङ्गीकृत इति सम्बन्धः । अर्थव्यक्तिर्वस्तुस्वभावस्फुटत्वम् । कान्तिर्दीप्तरसत्वम् । स्पष्टे उदाहरणे ।

अर्थ—अभिप्राय की प्रकाशकता **ओज** (कहलाता) है, (अर्थात् किसी विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त करना ओज है ।); अर्थ की विमलता "**प्रसाद**" (कहलाती) है, उक्ति की विचित्रता **माधुर्य** (कहलाती) है, (अर्थात् विचित्र उक्ति के द्वारा उसी अर्थ का पुनः कथन करना); श्रुति कटुत्व न होना **सुकुमारता** (कहलाती) है; (अर्थात् कठोर अर्थ के कथन करने पर भी अकठोर रूप से कहना), पामरादि अशिक्षित मनुष्यों से प्रयुक्त न होना (अग्राम्यत्व) **उदारता** (कहलाती) है । इन (ओजःप्रभृति) पाँचों भी (एक, दो, तीन या चार का नहीं) अर्थगुणों को क्रमशः अपुष्टार्थत्व, अधिक पदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूपाश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोषों के परिहार से ही रस के उत्कर्ष की अपेक्षा से नहीं) स्वीकार किया है । (इनके) उदाहरण स्पष्ट हैं ।

टिप्पणी— (१) प्रकाशकार ने भी कहा है कि—अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोषों के निराकरण से (१) **साभिप्रायत्वरूपमोजः** (२) **अर्थ वैमल्यात्मा प्रसादः** (३) **उक्ति वैचित्र्यरूपं माधुर्यम्** (४) **अपारुष्यरूपं सौकुमार्यम्** और (५) **अग्राम्यत्वरूपा उदारता** स्वीकार की है ।

अवतरणिका—इसके बाद अर्थव्यक्ति और "कान्ति" का अन्तर्भाव दिखाते हैं—

अर्थ—स्वाभावोक्ति नामक अलंकार (को स्वीकार करने) से अर्थव्यक्ति (नामक प्राचीन सम्मत अर्थगुण) तथा पुनः रसध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य से कान्ति नामक (प्राचीन सम्मत अर्थ गुण) स्वीकार कर लिया है [**अङ्गीकृतः**—इसके अध्याहार बिना कारिका के वाक्य की संगति नहीं लगती है, अतः कहा है] **अङ्गीकृतइति**—"स्वीकार किया है" इस (पद का शेष) सम्बन्ध है । (अर्थव्यक्ति का लक्षण) **अर्थव्यक्तिरिति**—पदार्थ के स्वरूपों का पूर्ण रूप से स्पष्ट प्रतीत होना "**अर्थव्यक्ति**" (कहलाता) है । (कान्ति का लक्षण) **कान्तिरिति**—"रस का स्पष्ट प्रतीत होना" "**कान्ति**" (कहलाता) है । दोनों के उदाहरण स्पष्ट हैं ।

श्लेषो विचित्रतामात्रमदोषः समता परम् ।

श्लेषः क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वोपपत्तियोगरूपघटनात्मा । तत्र क्रमः क्रियासन्ततिः, विदग्धचेष्टितं कौटिल्यम्, अप्रसिद्धवर्णनाविरहोऽनुल्बणत्वम्, उपपादकयुक्तिविन्यास उपपत्तिः, एषां योगः सम्मेलनं स एव रूपं यस्या घटनायास्तद्रूपः श्लेषो वैचित्र्यमात्रम् । अनन्यसाधारणरसोपकारित्वातिशयविरहादिति भावः ।

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे–' इत्यादि ।

अवतरणिका—सम्प्रति प्राचीन अभिमत श्लेष और समता नामक गुणों की अगुणता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(श्लेष का लक्षण)—**श्लेष इति**—(प्राचीन अभिमत) **श्लेष नामक गुण** विचित्रता मात्र है । [अर्थात् कवि की विदग्धता का प्रतिपादन करने से विचित्रता मात्र ही है, वस्तुतः गुण नहीं हैं । "मात्र" पद से गुण का व्यवच्छेद ध्वनित किया है । आशय यह है कि असाधारण रस का किसी प्रकार का उपकार नहीं करता है अपितु आस्वाद की प्रतीति में विभाव का ही आधायक है, अतः गुण नहीं है ।] (**समता** का लक्षण)—**अदोष इति**—समता नामक (प्राचीन सम्मत) गुण के दोष का न होना ही है (गुण नहीं) ।

अर्थ—(श्लेष का निरूपण करते हैं) **श्लेष इति**—क्रम, कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति–इनका सम्बन्ध ही है रूप जिसका ऐसी घटना ही है स्वरूप जिसका वह "**श्लेष**" (कहलाता) है । उनमें से व्यापारों की परम्परा को **क्रम** (कहते) हैं, निपुण व्यवहार **कौटिल्य** है, अप्रसिद्ध वर्णनों का अभाव **अनुल्वणत्व** है, उक्त विषय का समर्थन करने वाली युक्तियों का रखना **उपपत्ति** है । इनका योग अर्थात् सम्मेलन, वह ही है रूप जिस घटना का तद्रूप श्लेष है (गुण शब्द से नहीं कहा जाता है) क्योंकि (उसमें) असाधारण रस की अतिशय उपकारिता का अभाव होता है—यह भाव है । अर्थात् जो असाधारणभाव से ही रस का उपकार करता है, वही गुण होता है ।

टिप्पणी—**वामनकृत श्लेष** का लक्षण—"**घटना श्लेषः**" ॥३/२/४॥

अर्थ—(श्लेष का उदाहरण) **यथा दृष्ट्वेति**—इत्यादि । [इस पद्य की व्याख्या तृतीय परिच्छेद में नायिका के प्रकार के कथन के अवसर पर पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।]

अत्र दर्शनादयः क्रियाः, उभयसमर्थनरूपं कौटिल्यम्, लोकसंव्यवहाररूपमनुल्बणत्वम्, 'एकासनसंस्थिते', 'पश्चादुपेत्य', 'नयने पिधाय', 'ईषद्वक्रितकन्धरः' इति चोपपादकानि, एषां योगः। अनेन च वाच्योपपत्तिग्रहणव्यग्रतया रसस्वादो व्यवहितप्राय इत्यस्यागुणता।

समता च प्रकान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः। स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव।

स्पष्टमुदाहरणम्।

न गुणत्वं समाधेश्च—

अर्थ—अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दर्शनादि ("आदि" पद से पास जाना आदि का ग्रहण होता है) क्रियायें हैं (क्रम); दोनों का (ज्येष्ठा और कनिष्ठा नायिकाओं में से क्रमशः एक को चुम्बन करके और दूसरी के नेत्रों को बन्द करके) अनुरञ्जन रूप (एक को प्रसन्न करना और दूसरी को ठगना) **कौटिल्य** है। लोकव्यवहार का कथन करना **अनुल्बणत्व** है, **"एकासनसंस्थिते" "पश्चादुपेत्य" "नयने-विधाय"** और **"ईषद्वक्रितकन्धरः"** ये अभीष्ट अर्थ (अनुरञ्जन और वञ्चन का सम्पादन करने वाली है, इनका (क्रमादिकों का) योग (अर्थात् उपकारी और उपकार्यत्व भाव से अवस्थिति) है। [इसप्रकार प्राचीन सम्मत श्लेष नामक गुण हो गया)। और इससे (उक्त श्लेष से) अभिधेय अर्थ (नयनविधानादि अभिधीयमान अर्थ) को सिद्ध करने वाली युक्तियों के अनुसन्धान में (श्रोता के) व्यग्र रहने के कारण रसास्वाद (सामाजिकों को) विलम्ब से उत्पन्न होता है; अतः इसकी (श्लेष की) अगुणता है।

टिप्पणी—यह श्लेष नामक गुण क्योंकि रस के उत्कर्ष में सहायक नहीं होता है, और वास्तविक व्यवधान को भी उत्पन्न नहीं करता है, अतः यह न गुण है और न ही दोष है।

अर्थ—प्रारम्भ किये हुये प्रकृति और प्रत्यय के विपरीत विन्यास के अभाव से वाच्य की (वर्णनीय वस्तु की) विभिन्नता का अभाव **"समता"** (कहलाता) है। [अर्थात् जिन प्रकृति-प्रत्ययों से प्रारम्भ किया जाये, उन्हीं से समाप्त करना **"समता"** कहलाता है।] और वह (प्राचीन सम्मत समता नामक गुण) प्रक्रमभङ्गत्वरूप दोष का अभाव ही है (कोई अतिरिक्त गुण नहीं क्योंकि उससे किसी प्रकार का रस का उपकार सम्भव नहीं है)। उदाहरणस्पष्ट है।

टिप्पणी—(१) वामनकृत समता का लक्षण—**"अवैषम्यं समता"** ३/२/५०।

(२) प्रक्रमभङ्ग नामक दोष के अन्दर केवल रत्न की ही हानि नहीं होती है अपितु कवि की भी हानि होती है।

अवतरणिका—प्राचीन वामनादि सम्मत समाधि नामक गुण की गुणता का निषेध करते हैं—

अर्थ—समाधि की (प्राचीन अभिमत समाधि नामक अर्थगुण की) गुणता नहीं है।

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः । तत्रायोनिरर्थो यथा—

'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम् ।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता कापि ।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी ॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम् ।

अर्थ—अयोनि और अन्यच्छायायोनि रूप दो प्रकार के अर्थ का देखना "समाधि" (नामक गुण कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) समाधि दो प्रकार की होती है—(१) अयोनि और (२) अन्यच्छायायोनि । इनमें से कविसम्प्रदाय में प्रचलित परम्परा की पद्धति से भिन्न अपनी प्रतिभा के आधार पर नवीन उपमाश्रोपमेय रूप कल्पनाओं का उद्भव "अयोनि समाधि" कहलाती है । अर्थात् "**न विद्यते योनिः—प्रसिद्धिरूपं हेतुर्यस्य स तथोक्तः**" **इति अयोनिः** ॥ तथा प्राचीन कवि परम्परा के अनुसार ही किसी नवीन भङ्गिमा के साथ किसी विषय का कथन करना "अन्यच्छायायोनि समाधि" कहलाती है । अर्थात् "**अन्येषु काव्येषु याच्छाया—प्रतिबिम्बं सैव योनिः—कारणं यस्य सः अन्यच्छायायोनिः**" **इति** ॥

(२) वामनकृत लक्षण अर्थदृष्टिः **समाधिः** ३/२/७। **अर्थो द्विविधः "अयोनिः अन्यच्छायायोनिर्वा इति** ३/२/८।

अर्थ—उनमें से (अयोनि और अन्यच्छायायोनि में से) **अयोनि अर्थ** (का उदाहरण) यथा—**सद्यइति**—सद्योमुण्डित (अभी-अभी दाढ़ी बनवाये हुये) प्रमत्त हूण (हूण देश में उत्पन्न अत्यन्त और यवन विशेष) की चिबुक (ठोड़ी) के समान नारङ्गी है ।

टिप्पणी—(१)यहाँ नारङ्गी की प्रमत्त हूण की चिबुक के साथ उपमानोपमेय भाव किसी भी प्राचीन कवि ने कल्पित नहीं किया है। केवल इसी कवि ने ही अपनी प्रतिभा से इसकी कल्पना की है, अतः "**अयोनि समाधि**" है ।

अर्थ—**अन्यच्छायायोनि समाधि** (का उदाहरण) **यथा—निजेति**—कोई मलिन जल में अपने नयनों के प्रतिबिम्बों से अनेक बार वञ्चिता होती हुई (अर्थात् पानी के अन्दर पड़े हुये अपने नयनों के प्रतिबिम्बों में नीलकमल की भ्रान्ति से उनको तोड़ने के लिये बार-बार गई किन्तु केवल प्रतिबिम्ब होने के कारण उनको तोड़ ही नहीं सकती थी, अतः पौनः पुन्येन ठगी गई ।] नीलकमल (को तोड़ने) में भी हाथ को डालती हुई सोचती है ।

अर्थ—यहाँ (उदाहृत पद्य में) नीलकमल और नयनों का अत्यन्त प्रसिद्ध (अर्थात् अन्य काव्यों के अन्दर अनेक बार वर्णित है) सादृश्य विशेष चमत्कार के आधायक होने से निबद्ध किया है । [अर्थात् अत्यन्त प्रसिद्ध नीलकमल और नयनों का उपमानोपमेय भाव-विन्यास की विलक्षण चातुरी से नूतन रस प्रतीत होता है ।]

अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम्, किन्तु काव्यशरीरमात्र-निवर्तकत्वम् ।

क्वचित् 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यरचनम् । क्वचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम् । क्वचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशादनेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः । क्वचिद् बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च । इत्येवमादीनामन्यै-रुक्तानां न गुणत्वमुचितम्, अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्वम् ।

अर्थ—और यह (समाधि रसादिकों की) असाधारण शोभा के आधायक न होने से गुण नहीं है, किन्तु (अर्थात्मक) केवल काव्य शरीर का निर्वाह करने वाली है।

अवतरणिका—इसप्रकार वामनादि प्राचीन आचार्यों द्वारा अभिमत दस प्रकार के अर्थगुणों का निराकरण करके सिंहावलोकन न्याय के अनुसार—

पदार्थो वाक्यरचना वाक्यार्थे च पदाभिधा ।
प्रौढिर्व्यास समासौ च साभिप्रायत्वमस्य च ॥

इत्यत्र वामन निर्दिष्ट पाँच प्रकार के ओज में से अन्तिम प्रकार को पहले ही दूषित किया जा चुका है । सम्प्रति शेष चार प्रकार के अर्थ प्रौढ़िरूप ओज के गुणों की अभावता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(१) [**पदार्थे वाक्यरचना** का उदाहरण] कहीं (रघुवंशादि में) "चन्द्रम्" इस एक पदार्थ के कहने में "**अत्रेर्नयनसमुत्थंज्योतिः**" (अत्रिमुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योति अर्थात् चन्द्रमा) यह वाक्य रचना (प्रयुक्त की जाती) है; (२) [**वाक्यार्थे च पदाभिधा** का उदाहरण] कहीं (उद्भटादि में) ग्रीष्म काल में शीतल और शीतकाल में उष्ण, तथा सुकुमार शरीर के अवयवों वाली स्त्री" इस वाक्य के अर्थ के (पद के अर्थ में नहीं) कहने में "**वरवर्णिनी**" इस पद का कथन (किया जाता) है; (३) [**व्यास** का उदाहरण] कहीं एक वाक्यार्थ का कुछ विशेषताओं के निवेश से अनेक वाक्यों से कथन करना" इसप्रकार का व्यास (किया जाता है); और (४) [**समास** का उदा-हरण] कहीं अनेक वाक्यों से प्रतिपाद्य (विषय) का एक वाक्य से कथन करना—इसप्रकार का समास (किया जाता है) । इसप्रकार [भोजराज प्रतिपादित अनेक गुणों का ग्रहण) अन्यों से (प्राचीनों से - वामन, भोज राजादिकों से) कहे हुओं की गुणता उचित नहीं है, अपितु केवल विचित्रता मात्र का आधायक है ।

टिप्पणी—(१) वाक्यार्थे पदाभिधा के उदाहरण का पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

सद्यो निदाघ परिताप विघातभूमिः शैत्यं निवर्त्तयितुमभ्युदिता च नित्यम् ।
श्यामशिरीष मृदुलावयवा मनोज्ञा किं मां कदापि सुभगं न विधास्यतीयम् ॥

इस सम्पूर्ण पद्य के स्थान पर "वरवर्णिनी" का प्रयोग किया जाता है ।

—**तेन नार्थगुणाः पृथक्** ॥१६॥

तेनोक्तप्रकारेण । अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः ॥

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः ।

तथा च—**वरवर्णिनि** का लक्षण—

शीतकाले भवेदुष्णा उष्णकाले च शीतला ।
सुकुमार शरीरा च सा ज्ञेया वरवर्णिनी ॥

यथा—"**समागता सा वरवर्णिनीयम्**"

अथवा—"**कान्तार्थिनी सङ्केतस्थाणं गच्छति**" इस वाक्य को कहने के लिये केवल "**अभिसारिका**" इस पद का कथन किया जाता है ।

अथवा—यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् ।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम् ॥

इस वाक्य के अर्थ के स्थान पर "**स्वर्गः**" इस पद का कथन किया जाता है ।

(२) **प्रश्न**—शब्द और अर्थ के अन्दर शोभा के आधायक होने से ही ओज प्रभृति की गुणता स्वीकार कर लेनी चाहिये ।

उत्तर—नहीं, ऐसा नहीं है! क्योंकि उनमें से जिनका अन्तर्भाव दोषाभाव में हुआ है—उनमें इस लक्षण की अव्याप्ति होती है । तथा इन दोषाभाव के अपकर्ष को करने वाले दोष की विघटता मात्र से ही उत्कर्ष के आधायक न होने से, अलङ्कार में अतिव्याप्ति होगी । और गुण और अलङ्कारों से उत्पन्न शोभा के अन्दर कुछ अन्तर नहीं है जिसमे गुणों से अलङ्कारों को पृथक् किया जा सके । अतः ओज प्रभृति के गुण स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है ।

अवतरणिका—गुण प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अर्थ—अतः (उक्त विधि के द्वारा) अर्थगुण (वामन—भोजराजादि सम्मत अर्थ-गुण) पृथक् नहीं है । [किन्तु हमारे सम्मत गुण-दोषाभाव-रस-ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्य और अलङ्कारों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं ।]

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं) "**तेन**" उक्त प्रकार से **अर्थगुणाः पूर्व** कहे हुये ओज प्रभृति (अर्थगुण) ॥

टिप्पणी—(१) **मर्मज्ञ** इसप्रकार कहते हैं—

राजभोज गुणानाह विंशति चतुरश्च यान् ।
वामनो दशतान् स्त्रीनेव भामहः ॥ इति

"इति साहित्यदर्पणे गुण विवेचनोनामाष्टमः परिच्छेदः ॥

मूलकारिका	= १६	कुल कारिकायें	= ६६४
उदाहरण श्लोक	= ८	कुल उदाहरण श्लोक	= ४६५

इति अष्टमः परिच्छेदः

अथोददेशक्रमप्राप्तमलङ्कारनिरूपणं बहुवक्तव्यत्वेनोल्लङ्घ्य रीतिमाह—

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनां

रसादीनामर्थाच्छब्दार्थशरीरस्य काव्यस्यात्मभूतानाम् ।

अवतरणिका प्रश्न—"उत्कर्षहेतव. प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः" इस कथन के अनुसार गुणनिरूपण के अनन्तर उद्देश क्रम से प्राप्त अलङ्कारों का निरूपण क्यों नहीं किया ? इस अशंका का निराकार करने के लिये उसके कारण की स्थापना करते हैं—

अर्थ—इसके बाद (गुणनिरूपण के अनन्तर) उद्देशक्रम से (**उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्कार रीतयः**) प्राप्त (भी) अलङ्कारों का निरूपण अत्यधिक प्रतिपादनीय होने से (तथा **रीति निरूपण** के अल्प विषयक होने से) उल्लंघन करके (**सूचीकटाह-न्याय से**) **रीति** को (मूलकार) निरूपित करते हैं।

टिप्पणी—**भाव** यह है कि जिसप्रकार पहले प्रतिज्ञा किये हुये भी कटाह का निर्माण अल्प समय में साध्य न होने से कुछ समय रुक कर पहले अप्रतिज्ञात भी क्योंकि सुई का निर्माण अल्प समय में हो सकता है, अत इसके निर्माण में प्रवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार अलङ्कारों के अत्यधिक प्रतिपादतीय होने से उनका निरूपण भी झटिति साध्य नहीं है, अतः उनको छोड़कर स्वल्प समय में प्रतिपादनीय रीति का पहले निरूपण करते हैं। **वस्तुतः** रीति के गुण से घटित होने के कारण ही गुण निरूपण के अनन्तर उसका निरूपण करना ठीक है, ऐसा समझना चाहिये।

अर्थ—(**रीति का लक्षण**) **पदसंघनेति** (माधुर्यादि गुणों के अभिव्यञ्जक वर्णादि) पदों की सम्यक् योजना **रीति रीयते-गुणानां विशेषो ज्ञायते अनया इति रीतिः**) (कहलाती) है, (और वह) शरीर में यथास्थान विलक्षण मुखादि अवयवों के सन्निवेश विशेष की तरह (होती) है (तथा) रसादिकों की (यहाँ "आदि" पद से भाव, ओर रसाभासादिकों का ग्रहण होता है) परिपोषिका है अर्थात् अपने आश्रय में रहने वाले व्यंग्य और रसादिवृत्ति के गुणव्यञ्जक होने से परम्परया रसादिकों की परिपुष्ट करने वाली है। [ऐसा कह कर जहाँ रसादिकों का अभाव है वहाँ रीतियों का भी अभाव होगा-इसप्रकार रीतियों की अनित्यता द्योतित होती है। [**कारिकास्थ "रसादीनाम्"** पद की व्याख्या करते हैं] **रसादीनामिति**—रसादिकों की **अर्थात्** शब्द और अर्थ शरीर वाले काव्य की आत्माभूत रसादिक की (परिपोषिका) है।

—सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥१॥

वैदर्भी चाथ गौडी च पाञ्चाली लाटिका तथा ।

सा रीतिः ।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि जिसप्रकार शरीर के अवयवों का संस्थान विशेष व्यक्ति के शरीर का उत्कर्ष करता हुआ उसके अन्दर विद्यमान व्यक्ति (शरीरी) का भी उत्कर्ष करता है, उसीप्रकार गुणाभिव्यञ्जक पद, वर्ण और समासादि से संघटित रीति शब्द और अर्थ शरीर वाले काव्य का उत्कर्ष करती हुई उसके आत्माभूत रसादि का भी उत्कर्ष करती है ।

(२) **रीति का सामान्य लक्षण**—

रसाद्युपकारकः गुणाभिव्यञ्जक पदादि विन्यासो रीतिः 'इति' (३) **वामनाचार्य** तो **"रीतिरात्मा काव्यस्य"** ऐसा करकर **"विशिष्टपदरचना रीतिः विशेषो गुणात्मा"** ऐसा कहते हैं ।

अथ रीतिनिरूपणम्—

अर्थ- वह (रीति) पुनः चार प्रकार की होती है—(१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाञ्चाली तथा (४) लाटी ॥ [कारिकास्थ "सा" पद की व्याख्या करते हैं] **सा** अर्थात् रीति ॥

टिप्पणी—(१) इनमें से विदर्भ देश में उत्पन्न महाकवियों द्वारा सम्मत **वैदर्भी** **गौड़**देशोत्पन्न महाकवियों द्वारा सम्मत **गौडी**, पाञ्चालदेशोत्पन्न महाकवियों द्वारा सम्मत **पाञ्चाली** और लाटदेशोत्पन्न महाकवियों द्वारा सम्मत **लाटी** कहलाती है ।

(२) **दण्डी** के मतानुसार :—

अस्त्यनेको गिरा मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम् ।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्यते प्रस्फुटान्तरौ ॥

इसप्रकार **वैदर्भी** और **गौडी** दो प्रकार की रीति है ।

(३) **वामन** के मतानुसार—**"वैदर्भीगौडीपाञ्चाली"** १॥२॥६॥

इसप्रकार तीन प्रकार की रीति है ।

(४) **केशव** के मतानुसार—

तत्तद्रसो पकारिव्यस्तत्तद्देशव समुद्भवाः ।
पद्येषु रीतयो गौडी वैदर्भी मागधी तथा ॥

तीन प्रकार की रीति है । इनमें से मागधी ही पाञ्चाली है ।

(५) **मम्मट** के अनुसार :—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥
केषाञ्चिदेता वैदर्भी प्रमुखा रीतयो मताः ॥

इसप्रकार तीन प्रकार की रीति है ।

तत्र—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ॥ २ ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रतिरिष्यते ।

यथा—

'अनङ्गमङ्गलभुवः–' इत्यादि ।

---

(६) रुद्रट के मतानुसार—पाञ्चाली–लाटी–गौडी और **वैदर्भी** इसप्रकार चार प्रकार की रीति है ।

(७) **भोजराज** के अनुसार—**वैदर्भी चाथ पाञ्चाली गौडी चावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥**

छः प्रकार की रीति है ।

(८) **आवन्तिका रीति का लक्षण—**

**अन्तरालेतु पाञ्चालीवैदर्भ्यौ याऽवतिष्ठते ।
साऽवन्तिका समस्तैः स्याद् द्वित्रैस्त्रिचतुरैः पदैः ॥**

किन्तु उपर्युक्त लक्षण वाली आवन्तिकारीति लाटीरीति से भिन्न नहीं है ।

(९) यद्यपि **मम्मट** के अनुसार स्वरूपतः चार प्रकार की रीति उपलब्ध नहीं होती है तथापि "शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः" इसके अनुसार लाट-देशीय मनुष्यों को प्रिय होने के कारण लाटानुप्रास की अनुबन्धिनी **लाटी रीति** भी स्वीकार कर ही ली गई है ।

(१०) मिथिला, उत्कल और बङ्गदेशीय कवियों द्वारा सम्मत **मैथिली-औत्कली और बङ्गीय** रीति इन उक्त रीतियों के अन्दर ही अन्तर्भूत हो जाती हैं, अतः उनका पृथक परिगणन नहीं किया है ।

अथ वैदर्भीरीति निरूपणम्—

अर्थ—(१) उन (चार प्रकार की रीतियों) में से (**वैदर्भी रीति का लक्षण**) **माधुर्येति**—(पूर्वोक्त) माधुर्य (नामक गुण) के व्यञ्जक वर्णों से मनोहारिणी अर्थात् सुकुमार अक्षरों वाली और सुकुमार अर्थों वाली समास रहित अथवा अल्प समास वाली रचना **वैदर्भी** (विदर्भ देश में प्रचलित) रीति कह-लाती है । [**वैदर्भी रीति** का उदाहरण] यथा—**"अनङ्गमंगलभुवः" इत्यादि** । (इसकी व्याख्या पृष्ठ ····· पर की जा चुकी है) ॥

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में माधुर्य गुण के व्यञ्जक वर्णों द्वारा **"अनङ्ग-मङ्गलभुवः"** इत्यादि तीन पदों से घटित समासवाली सुकुमार अर्थोंवाली पद की योजना होने पर **वैदर्भी रीति** है ।

रुद्रटस्त्वाह—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया॥

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लेषादयः।

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः॥३॥
समासबहुला गौडी—

यथा—

'चञ्चद्भुज—' इत्यादि।

---

(२) नव्य इस रीति का लक्षण इसप्रकार करते हैं—

एभिर्विशेष वचनैः सामान्यैरपि च दूषणैरहिता।
माधुर्यभारभङ्गुर सुन्दरपदवर्णविन्यासा॥
व्युत्पत्तिमुद्गिरन्ती निर्मातु या प्रसादयुता।
तां विबुधा वैदर्भीं वदन्ति वृत्तिं गृहीत॥इति॥

कविगण इस रीति की स्तुति इसप्रकार करते हैं—

सति वक्तरि सत्यर्थे सतिशब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥
अस्पष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

अर्थ—रुद्रट (काव्यालङ्कार के रचयिता) ने (वैदर्भीरीति का लक्षण) इसप्रकार किया है—

असमस्तेति—समास रहित, अल्पसमास से युक्त, (पूर्वोक्त) दस (श्लेषादि) गुणों से युक्त, द्वितीय वर्ग के अर्थात् चवर्ग के वर्णों से युक्त और स्वल्पप्राण अक्षरों वाली (अर्थात् अल्प प्रयास से उच्चारण किये जाने वाले अक्षरों से) वैदर्भी रचना करनी चाहिये। **अत्रेति**—यहाँ (उक्त स्थल पर) दस गुण रुद्रट के मतानुसार कहे हुये श्लेष आदि समझने चाहिये।

टिप्पणी—(१) रुद्रट के मतानुसार दस गुणों का परिगणन—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्व भोगः कान्ति समाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः॥

(२) रुद्रट से ग्रन्थ में यह वैदर्भी रीति का लक्षण उपलब्ध नहीं होता है।

अथ गौडोरीतिनिरूपणम्

अवतरणिका—वैदर्भी रीति का लक्षण करने के उपरान्त सम्प्रति **गौडीरीति** का लक्षण करते हैं—

अर्थ— गौडी रीति का लक्षण) ओज **इति**—ओज गुण को प्रकाशित करने वाले वर्णों से उद्भट (आडम्बरः) रचना विशेष (बन्धः) तथा (ओज वाले वर्णों के न होने पर भी) समास बहुल वाली (रचना विशेष) गौडी (नामक रीति कहलाती) है।

[गौडी रीति का उदाहरण] **यथा—"चञ्चद्भुज"** इत्यादि। [इसकी व्याख्या पृष्ठ······पर की जा चुकी है]।

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया।
रीतिरनुप्रासमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च।।'

टिप्पणी—(१) इसप्रकार गौडी रीति का स्वरूप दो प्रकार का समझना चाहिये—(१) ओजगुण के प्रकाशक वर्णों से विशिष्ट पद रचना, और (२) समास-बहुल विशिष्ट रचना।

(२) यदि उपर्युक्त रीति से गौडी रीति का दो प्रकार से लक्षण स्वीकार नहीं करेंगे तो अनेक समासों से रहित केवल ओजगुण के प्रकाशक वर्णों की रचना वाले स्थलों पर तथा ओजगुण के व्यञ्जक वर्णों से शून्य केवल अधिक समास वाले स्थलों पर रीति ही नहीं होगी। और यदि एक लक्षण को मानेंगे तो "बन्धः" इसके विशेषण होने से और "समासबहुला" इसके स्त्रीलिङ्ग होने से संगति ही नहीं बैठ सकती है, अतः दो प्रकार से ही गौडी का लक्षण समझना चाहिये।

(३) उक्त दो प्रकार के लक्षणों में से ओजगुण के व्यञ्जक वर्णों की रचना वाले स्थलों पर वीरादि रसों की ही स्थिति का नियम है क्योंकि उनमें ही ओजगुण की स्थिति सम्भव हो सकती है। तथा अनेक समास वाले स्थलों पर तो रस का नियम नहीं है क्योंकि सभी रसों में ही अनेक समासों की विधायकता हो सकती है।

(४) उक्त उदाहरण में ओज की व्यञ्जना करने वाले वर्णों की रचना द्वारा उद्भट रचना के क्लिष्ट न होने के कारण और अनेक समासों के विद्यमान होने से उक्त दोनों प्रकार के लक्षणों का एकत्र समन्वय है।

अवतरणिका—**गौडी रीति** के लक्षण के विषय में अन्य मत का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—पुरुषोत्तम (नामक आलङ्कारिक) तो (**गौडी रीति** का लक्षण इसप्रकार) कहते हैं कि—**बहुतरेति**—अनेक दीर्घ समासों से युक्त, बड़े-बड़े महाप्राण (प्रयत्न) वाले अक्षरों वाली (अर्थात् स्वल्पप्राण से पृथक् वर्ग के द्वितीय, चतुर्थ वर्णों से तथा शषसह—इनसे युक्त), अनुप्रास की अधिकता के आधीन अर्थात् अनुप्रास बहुल वाली और शिथिल बन्ध वाली रीति **गौडी** होती है।

टिप्पणी—(१) इस लक्षण के अनुसार **गौडी रीति** का उदाहरण—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित्क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्वस्वनाः।
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो या स्वयं।
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।।

अनुप्रास रहित स्थल पर और अनेक वाक्यों वाले स्थल पर इस लक्षण के अतिप्रसक्त होने से यह लक्षण भी ठीक नहीं है।

(२) इसीलिये **दण्ड्याचार्य** ने कहा है कि—

अल्पप्राणाक्षरोत्तरम्। शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिता यथा।
अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टम्। इति

—**वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।**

समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥४॥

द्वयोर्वैदर्भीगौडयोः ।

यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥'

भोजस्त्वाह—

'समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥'

अथ पाञ्चाली रीतिनिरूपणम्

अर्थ—(३) (**पाञ्चाली रीति** का लक्षण) **वर्णैरिति**—तथा (उक्त) (**वैदर्भी और गौडीरीति**) से अवशिष्ट (अर्थात् वैदर्भी और गौडीरीति के व्यञ्जक वर्णों से भिन्न) वर्णों से (अर्थात् प्रसादमात्र के व्यञ्जक वर्णों से) पाँच-छः पदों के समास वाली रचना **पाञ्चाली नामक** रीति मानी गई है । [कारिकास्थ "**द्वयोः**" पद की व्याख्या करते हैं] **द्वयोः**—अर्थात् वैदर्भी और गौडी रीति से ।

अर्थ—(**पाञ्चाली रीति** का उदाहरण) **यथा**—**मधुरयेति**—[**प्रसङ्ग**—शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग में वसन्त ऋतु का यह वर्णन है ।] मधुर शब्द से युक्त अथवा मनोहारिणी बसन्त ऋतु के द्वारा विकसित पुष्पवाली वासन्तीलता के मकरन्द के आस्वाद के आधिक्य से सम्यक्रूपेण प्रवृद्ध हो गया है स्वरमाधुर्य जिसका ऐसी (तथा) उत्कृष्ट हर्ष को उत्पन्न करने वाले शब्द को करने वाली भ्रमरी ने पौनः-पुन्येन अव्यक्त वर्ण वाले उत्कृष्ट गान को गाया ।

टिप्पणी—यहाँ कहीं समास का अभाव है, तथा प्रथम अर्धभाग में समास की दीर्घता है, कहीं माधुर्य के व्यञ्जक दो-तीन वर्ण हैं, कहीं वे भी नहीं हैं, और नहीं ओजगुण के व्यञ्जक वर्ण हैं, अतएव **पाञ्चाली रीति** है ।

अवतरणिका—**पाञ्चाली रीति** के लक्षण के विषय में अन्य मत का प्रतिपादन करते हैं:—

अर्थ—भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता) तो (**पाञ्चाली रीति** का लक्षण प्रसप्रकार) कहते हैं कि—**समस्तेति**—विद्वान् पाच-छः पदों के समासवाली, ओज और कान्ति नामक गुणों से युक्त, मनोहारिणी (माधुर्यव्यञ्जक वर्णों से रहित) और कोमल वर्णों से युक्त (रचना) को **पाञ्चाली नामक रीति** कहते हैं ।

टिप्पणी—(१) इस पूर्वोक्त लक्षण के अन्दर "**ओजः कान्तिसमन्विताम्**" अर्थात् ओज और कान्ति से युक्त ऐसा अर्थ करने पर "**मधुरया**" इस उदाहरण के अन्दर ओज गुण के न होने से अव्याप्ति दोष आता है, अतः यह निर्दुष्ट लक्षण नहीं है । ओज अथवा कान्ति से युक्त—ऐसा अर्थ करने पर जहाँ ओजगुण से समन्वितता होगी वहाँ सुकुमारता की आकाशकुसुम के समान लक्षणार्थ की संगति नहीं होगी, अतः यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं है ।

(२) **पाञ्चाली रीति** का उदाहरण —

**दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः करिण्या कारुण्यास्पदम-
समशीलाः खलु मृगाः ।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं नरवानां पाण्डित्यं
प्रकटयन्तु कस्मिन् मृगपतिः ॥**

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥'

कश्चिदाह—

'मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा ।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी ॥'

अथ लाटीरीतिनिरूपणम्—

अर्थ—(१) (लाटी रीति का लक्षण) **लाटीति**—वैदर्भी और पाञ्चाली रीति के मध्यवर्तिनी (अर्थात् वैदर्भी मिश्रित पाञ्चाली) रीति **लाटी** (कहलाती) है।

अर्थ—(लाटी रीति का उदाहरण) **यथा-अयमिति—**[प्रसङ्ग—सूर्योदय का यह वर्णन है ।] कमलिनियों को खिलाने वाला, उदयाचल की वनश्रेणियों पर विद्यमान सद्यः विकसित मन्दार पुष्प के समान (रक्त वर्ण वाला), (रात्रि में परस्पर अलग हो जाने से) विरह के कारण व्याकुल चक्रवाक के मिथुन को (मिलाने वाला होने से) मित्र [रात्रि में चकवा और चकवी आपस में वियुक्त हो जाते हैं और दिन में पुनः मिल जाते हैं—ऐसा प्रसिद्ध है ।] तथा क्रुद्ध वानर के कपोल के मध्यभाग के समान रक्तवर्ण वाला [वानरों का कपोल स्वभाव से ही लाल होता है किन्तु क्रोधित होने पर और भी अधिक लाल हो जाता है—इसको सूचित करने के लिये "**कुपित**" विशेषण दिया है] यह सूर्य (विशेषणों की योग्यता के बल से "**अयम्**" से सूर्य का परामर्श होता है ।) अन्धकार को नष्ट करता हुआ उदय होता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ कोमल "ञ्ज, न्द, न्द्व, न्ध्र, न्द" इन वर्णों के और अल्प समास से निर्मित पदों के होने से वैदर्भी मिश्रित पाञ्चाली है, अतः **लाटीरीति हैं** ।

अवतरणिका—**लाटीरीति** के लक्षण के विषय में अन्य मत का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—कोई (आलङ्कारिक **लाटीरीति** का लक्षण इसप्रकार) करते हैं—

(**लाटीरीति** का लक्षण) **मधुपदेति**—सुकुमार पदों के समास से सुन्दर, अत्यधिक संयुक्त वर्णों से युक्त न हो (तथा) साभिप्राय विशेषणों से परिपुष्ट **है** प्रतिपाद्य इतिवृत्त का निवेश जिसमें ऐसी (रचना) **लाटी** होती है ।

टिप्पणी—इस लक्षण के अनुसार सुकुमार पदों वाले समास के **अवश्यम्भावी** होने के कारण सभी आलङ्कारिकों से अभिमत "**अयमुदयति**" इस उदाहरण के **अन्दर** "**कोकद्वन्द**", "कपोलक्रोड"—इन दोनों पदों में सुकुमार पदों के न होने से उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है, अतः यह लक्षण निर्दुष्ट नहीं है ।

अन्येत्वाहुः--

'गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा।
पाञ्चाली मिश्रभावेन लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥'

क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ॥ ५ ॥

वक्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ। रचनादीत्यादिशब्दाद् वृत्तिवर्णौ। तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।

अर्थ—दूसरे (आलङ्कारिक चारों प्रकार की रीतियों का लक्षण इसप्रकार) कहते हैं—

उद्भट रचना वाली (रीति) गौडी होती है, मधुर रचना वाली (रीति) वैदर्भी (होती) है, गौडी और वैदर्भी के सम्पर्क से निष्पन्न (मिश्रभावेन) पाञ्चाली (रीति होती) है, (तथा, सुकुमार पदों से (युक्त रीति) लाटी (होती) है।

टिप्पणी—किन्तु यदि उक्त लक्षणों को स्वीकार कर लिया जावे तो उद्भट प्रयोग से रहित केवल समास बाहुल्य स्थलों पर गौडी रीति नहीं मानी जायेगी, वैदर्भी और पाञ्चाली समास में या समास से रहित स्थलों पर मानी जायेगी—इस विषय में संशय बना रहता है, और यदि सुकुमार पदों से युक्त ही लाटी को स्वीकार करेंगे तो सर्वसम्मत लाटीरीति के उदाहरण "**अयमुदयति**" में "**कोकद्वन्द्व-बन्धुः**", "**कपोलक्रोड**" इन दोनों ही स्थलों पर सुकुमार पदों के न होने से लाटी नहीं होगी, अतः यह लक्षण भी संशय रहित नहीं है।

अवतरणिका—सम्प्रति वक्ता आदि के औचित्य से प्रकृत रीति से विपरीत भी रचना करनी चाहिये, इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—कहीं तो (किसी स्थल पर तो) वक्ता प्रभृति के औचित्य से (प्रकृति के अनुसार) अन्यथा (अयोग्य रीति के विपरीत) रचना आदि (होती) है। (ऐसा होने पर प्रतिकूल वर्णता दोष नहीं होता है।) [कारिकास्थ "आदि" शब्दों से ग्राह्य अर्थों का ग्रहण बतलाते हैं।] **वक्त्रादि इति**—"**वक्त्रादि**" यहाँ "आदि" शब्द से वाच्य और प्रबन्ध का (नाटकादिकों का) ग्रहण होता है। "**रचनादि**" यहाँ "आदि" शब्द से समास (वृत्ति) और अक्षरों का (ग्रहण होता) है।

(१) उनमें से वक्ता के औचित्य के कारण (अन्यथा रचना का उदाहरण) **यथा—मन्थायस्तार्णवेति**—[**प्रसङ्ग**—**वेणीसंहार नाटक** के प्रथम अङ्क में युद्धभूमि में दुन्दुभि की आवाज को सुनकर भीमसेन की यह प्रश्नोक्ति है।] मन्थन करने के समय अथवा मन्थनदण्ड = मन्दराचल के द्वारा दूर उछलते हुये समुद्र के जल से

कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः ।
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥

अत्र वाच्यक्रोधाद्य (न) भिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धतारचनादयः । वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धव्याधूयमान–' इत्यादौ ।

व्याप्त हो गये हैं छिद्र जिसके ऐसे, चलते हुये मन्दराचल के शब्द के समान गम्भीर, नक्कारे के आघात होने पर गरजती हुई प्रलयकालीन बादलों की घटाओं के परस्पर संघटन से उत्पन्न शब्द की तरह प्रचण्ड, द्रौपदी के क्रोध की सर्वप्रथम सूचना देने वाला अथवा प्रधानदूत, कौरवकुल की मृत्यु के उत्पात रूप निर्घात वायु के शब्द के समान तथा हमारे सिंहनाद की प्रतिध्वनि के समान (सखः) यह दुन्दुभि किसने बजाई है ।

टिप्पणी—(१) कोणाघात का लक्षण—

भेरीशत सहस्राणि ढक्काशतशतानि च ।
एकदा यत्र हन्यन्ते कोणाघातः स उच्यते ॥

(२) निर्घात का लक्षण—

यदान्तरिक्षे बलवान् मारुतो मरुता हतः ।
पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसम्भवः ॥

अर्थ—(वक्ता के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) वाच्य के (रणदुन्दुभि के ताड़न का) क्रोधादि के ("आदि" पद से उत्साह और जुगुप्सा का ग्रहण होता है) अभिव्यञ्जक होने पर भी (क्योंकि भीमसेन तो स्वयं ही युद्ध के लिये तैयार थे) भीमसेन के वक्ता होने से उद्धत रचनादि (की गई) है ("आदि" पद से दीर्घ समास और महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों के संग्रह का ग्रहण होता है) ।

टिप्पणी—रचना के अनुद्धत होने पर वीर रस में भी सुकुमार रचना का उदाहरण—

"भो ! लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते ॥ "इत्यादि"

अर्थ—वाच्य के औचित्य से (रचना का भेद) **यथा**—उदाहृत **"मूर्धव्याधूयमान"** इत्यादि (पद्य) में । [इसकी व्याख्या दुःश्रवत्वदोष की गुणता के प्रतिपादन के अवसर पर सप्तम परिच्छेद में पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।]

टिप्पणी—उक्त उदाहृत पद्य में शम्भु का ताण्डव नृत्य वाच्य है, यद्यपि शम्भु के स्वयं ही संसार के संहारकर्ता होने से उद्धतता है, तथापि कोमल स्वभाव वाले सूत्रधार के वक्ता होने के कारण उसप्रकार के ताण्डवनृत्य के उद्धत होने से उद्धतवाच्य होने के कारण उद्धत रचना की गई है ।

प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः। एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

अर्थ—प्रबन्ध के औचित्य से (रचना के भेद का उदाहरण) **यथा**—नाटकादि में ("आदि" पद से प्रकरणादिकों का ग्रहण होता है) रौद्ररस में भी (शृङ्गारादि कोमल रसों का तो कहना ही क्या ?) अभिनय के प्रतिकूल होने से दीर्घसमासादि (कवियों के द्वारा) नहीं (किये जाते) हैं। इसीप्रकार आख्यायिकाओं में शृङ्गार रस के अन्दर भी कोमल वर्णों आदि का (प्रयोग) नहीं (होता) है ("आदि" पद से यथासम्भव संयुक्तवर्ण, माधुर्य के प्रतिपादक वर्ण, और दीर्घ समास के अभाव का ग्रहण होता है।) **कथायामिति**—कथा में रौद्ररस होने पर भी अत्यन्त उद्धत (रचना) नहीं (होती) है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि आख्यायिका में शृङ्गार के भी व्यङ्ग्य होने पर, अनुद्धत भी वक्ता के होने पर अतिकोमल वर्णों का प्रयोग नहीं होता है, अपितु विकट रचना ही शोभाशालिनी होती है। क्योंकि आख्यायिका के अन्दर गद्य का प्राधान्य होता है और गद्य में विकट वर्णवाली रचना ही ठीक होती है। विप्रलम्भशृङ्गार और करुण रस के अन्दर गद्य में भी दीर्घसमासादि नहीं होते हैं क्योंकि ये दोनों रस अत्यन्त सुकुमार होते हैं। ध्वनिकार ने कहा भी है कि—

रस बद्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संस्थिता।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत्॥

उदाहरण—यथा—दशकुमारचरित में—

"**किञ्चिद्विकसदिन्दीवरकह्लारकैरवराजीव शजि**" इत्यादि।

(२) कथा प्रबन्ध में गद्यमय होने पर भी शृङ्गार रस प्रधान होने से रौद्रादि रसों का प्रवेश होने पर भी अत्यन्त उद्धत रचनादि नहीं करनी चाहिये क्योंकि वर्णनीय विषय की सुखपूर्वक प्रतिपत्ति हो सके—यह उद्देश्य होता है।

(३) जहाँ केवल शृङ्गारी नायक है वहाँ उसके कृत्रिम क्रोध करने पर भी अत्यन्त उद्धत वर्णों की रचना नहीं करनी चाहिये।

इसीप्रकार मुक्तकादि के औचित्य का अनुसरण करना चाहिये।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

मूल कारिका	= ५	कुल कारिकायें	= ३६६
उदाहरण श्लोक	= ३	कुल उदाहरण श्लोक	= ४६८

दशमः परिच्छेदः

अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥१॥

अर्थ—इसके बाद (रीति निरूपण के अनन्तर) अवसर प्राप्त (अर्थात् **उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकार रीतयः** इस उद्देश्य क्रम से गुण निरूपण के अनन्तर प्राप्त भी अलंकार निरूपण को सूची कटाहन्याय से छोड़ कर रीति निरूपण के उपरान्त) अलंकारों का (सामान्य विशेषरूप से ग्रन्थकार) प्रतिपादन करते हैं ।

अवतरणिकाः—सामान्य लक्षण का ज्ञान न होने पर विशेष लक्षण के ज्ञान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है, अतः अलंकारों का सामान्य लक्षण बतलाते हैं

अर्थ—(अलंकारों का सामान्य लक्षण) **शब्दार्थयोरिति**— अस्थिर अर्थात् काव्य में अनियत वृत्ति वाले [**अस्थिराः**—ऐसा कहकर अलंकार से शून्य भी काव्य होता है, यह सूचित किया है । तथा परम्परा से शब्द और अर्थ के धर्म गुणों का निराकरण कर दिया है] (काव्य की) शोभा को अतिशयित करने वाले रसादिकों को ["**आदि**" पद से रसाभास-भाव भावाभास और सन्धि-शबलतादिकों का ग्रहण होता है ।] उपकृत करने वाले जो धर्म [अनुप्रास-उपमा आदि, गुण नहीं क्योंकि वे अस्थिर नहीं होते हैं ।] हैं, वे अङ्गद आदि की तरह ("आदि" पद से हरादिकों का ग्रहण होता है ।) अलंकार (**अलङ्क्रियते-भूष्यते काव्यमेंमिरित्मङ्कराः**) कहते हैं ।'

टिप्पणी—(१) अलंकार का सामान्य लक्षण इसप्रकार हुआ— "**साक्षात् परम्परया वा रसस्युत्कर्ष जनकत्वे सति अनियतशोभातिशयधर्मत्वमालंकार"त्वम्**" रसवत् आदि अलंकार साक्षात् ही रसादि के उत्कर्ष को करने वाले हैं, और अनुप्रास उपमा आदि अपने आश्रय में व्यंग्यत्वरूप परम्परा के सम्बन्ध से रसादि के उत्कर्ष को पैदा करने वाले हैं ।

(२) **काव्य शब्द** से यहाँ काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ तथा काव्य की आत्मा स्वरूप रसादिकों के समूह का प्रतिपादन होता है ।

(३) रीतिकाव्य की शोभा घातक है, उसमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जावे, अतः "**अतिशायी**" पद दिया है । रीति शोभा को पैदा करती है, उसे बढ़ाती नहीं और अलंकार उत्पन्न शोभा को अतिशयित करते हैं । अतः अलंकार रीति से भिन्न हैं । नीरस वाक्यों में पड़े हुये उपमादिक अलंकार नहीं कहला सकते, क्योंकि यहाँ "अलंकार" शब्द करण प्रधान है । **अलङ्क्रियतेऽनेनेत्यलङ्कारः** अर्थात् जो किसी को सुशोभित करने का साधन हो, वह अलंकार कहाता है । अलंकार रसादिकों को सुशोभित करता हैं । जहाँ रसादि नहीं है वहाँ वह किसी की शोभा का साधन नहीं, अतः वहाँ उसे अलंकार भी नहीं माना जाता-केवल विचित्रता मात्र मानते हैं । सरस वाक्यों में ही उपमादिक अलंकार कहलाते हैं, अतः "**रसादी-नुपकुर्वन्तः**" यह विशेषण दिया है । नीरस वाक्यों में उपमा आदि शब्दों का प्रयोग गौण वृत्ति से समझना चाहिये । गुण भी रसादि के उपकारक होते हैं और शोभा को अतिशयित भी करते हैं, एवं परम्परा सम्बन्ध से वे शब्द और अर्थ में भी रहते हैं । उनमें अतिव्याप्ति न हो, इसलिये "**अस्थिराः**" यह विशेषण दिया है । गुण स्थिर होते हैं, अलंकार अस्थिर होने के कारण उनसे भिन्न है ।

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासोपमादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः। अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।

---

(४) **जयरामभट्टाचार्यादि** अलंकार के तीन लक्षण करते हैं— (१) **रसोपकारकत्वेसति रसावृत्तित्वम्।** (२) **तथात्वे सति रसव्यभिचारित्वम्** और (३) **अनियतेन रसोपकारकत्वम्।** किन्तु ये तीनों ही लक्षण क्रमशः **कामिनी कमल** और **कलश** में अतिव्याप्त हैं। **तथाहि**—कामिनी शृंगार रस की आलम्बन विभाव होती हुई भी "रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः **शौर्यादयो यथा। गुणाः**" इस काव्यप्रकाश के अनुरूप अष्टम परिच्छेद की कारिका के द्वारा गुण के समान उस धर्म के अभाव वाली होने से रस की वृत्ति वाली नहीं है। इसीप्रकार कमल उद्दीपन विभाव होता हुआ भी जिस प्रकार वह्नि धूम के अभाव वाली अभोगोलक में हैं—इसप्रकार धूम की उपकर्ता भी धूम की व्यभिचारी कहलाती है, उसीप्रकार कमल भी रस के अभाव वाले जड़ जलादि में विद्यमान रहता है, अतः रस का व्यभिचारी है। इसी प्रकार कलश भी कुच का स्मारक होने से कभी रस का उपकार करने वाला होता है, इस प्रकार उसमें रस का उपकर्तृत्व विद्यमान है।

अवतरणिका—कारिका के अन्दर विद्यमान अन्य शब्दों के सुकर होने से केवल "**अङ्गदादिवत्**" के सादृश्यमात्र की व्याख्या करते हैं—

अर्थ—जिसप्रकार शरीर की शोभा को अतिशयित करने वाले अङ्गद आदि (अलंकार) शरीरी को (उस शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मा को) उपकृत करते हैं, उसीप्रकार अनुप्रास और उपमादि [अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्द की शोभा को और उपमादि अर्थालंकार अर्थ की शोभा को बढ़ाते हैं, अतः दोनों प्रकार के अलंकारों का ग्रहण किया है।] शब्द और अर्थ की शोभा को बढ़ाने वाले रसादि के उपकारक जो (धर्म) हैं, वे अलंकार (होते) हैं। **अस्थिरा इति**—(ये अलंकार काव्य में) अस्थिर (होते) हैं, अतः इन (अलंकारों) की गुण के समान (काव्य में) आवश्यक स्थिति नहीं (होती) है। [आशय यह है कि रसादिमान् शब्द या अर्थ में कोई न कोई गुण अवश्य विद्यमान होगा परन्तु अलंकार भी अवश्य होगा– ऐसा निश्चित नहीं है। अलंकार हो भी सकता है, और नहीं भी हो सकता है।]

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—जिसप्रकार आत्मत्व का आलम्बन आत्मा है, और शरीर भिन्न है उसीप्रकार काव्यत्व का आलम्बन रस है और वाक्य भिन्न है। उनमें से जहाँ रस सम्भव है, वहाँ अलंकार उसका उपकार करते हैं और जहाँ रस सम्भव नहीं है, वहाँ अलंकार केवल उक्ति वैचित्र्यमात्र होते हैं। जिसप्रकार अङ्गद और हारादि कामिनियों के सुन्दर होने पर ही उनके अङ्गों के अन्दर सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं, कुरूप अङ्गों के अन्दर तो केवल दृष्टिवैचित्र्यमात्र होते हैं। कुछ अलंकार तो विद्यमान भी रस का उपकार नहीं करते हैं जिसप्रकार अतिसुकुमार नायिका के शरीर पर ग्रामीण अलंकार किसी प्रकार की शोभा में वृद्धि नहीं करते हैं।

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथमं तमेवाह--

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः ॥२॥

अवतरणिका—शब्दालंकार निरूपण की प्राथमिकता के विषय में युक्ति का प्रतिपादन करते हुये, इसमें भी शब्दार्थोभयालंकार रूप **पुनरुक्तवदाभास** का सर्वप्रथम लक्षण निरूपण के विषय में युक्ति का प्रतिपादन करते हैं:—

अर्थ—शब्द और अर्थ में से पहले (अर्थ बोधन से पूर्व अर्थात् शब्द ज्ञान के अनन्तर ही उसके संकेतग्रह द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है ।) शब्द के बुद्धि विषयक होने से शब्दालङ्कारों के निरूपणयोग्य होने पर शब्दार्थालङ्कार (शब्दार्थोभयशक्ति मूलध्वनि के समान पश्चात् निरूपणीय) **पुनरुक्तवदाभासालंकार** के भी प्राचीन आचार्यों के द्वारा शब्दालंकारों (अनुप्रासादिकों) के मध्य लक्षित होने के कारण [**अलंकार सर्वस्वादिकों** में "**आमुखावभासन पुनरुक्तवदाभासः**" इसप्रकार लक्षण करने के कारण प्राचीन आचार्यों की रीति का अनुसरण करके ही] पहले उसका (**पुनरुक्तवदाभास** का सूची कटान्यात्र से) ही पहले (लक्षण) कहते हैं—[**अन्यथा** इसके उभयालंकार होने से **काव्यप्रकाशकार** के समान उभयालंकारों के मध्य में ही लक्षण करना ठीक होता ।]

(**पुनरुक्तवदाभासालंकार** का लक्षण) **आपातत इति**—श्रवणमात्र से ही (झटिति निर्धारण हो जाने से, तात्पर्य की आलोचना करने के पश्चात् नहीं) अभिधेय अर्थ की जो पुनरुक्ति के समान प्रतीति है, वह भिन्न स्वरूप वाले समानार्थक शब्दों वाला **पुनरुक्तवदाभास [पुनरुक्तस्येव पुनरुक्तत्तद् आभासो–ज्ञानमिति पुनरुक्तवदाभासः]** नामक अलंकार (होता) है ।

टिप्पणी—(१) **पुनरुक्तवदाभास** के इस लक्षण के अनुसार अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि में "**कदली--कदली**"...**यस्यमित्राणि मित्राणि**" इत्यादि में इसकेलिये अवकाश नहीं हैं ।

(२) कुछ आचार्यों के अंग "**भिन्नाकार शब्दगः**" इससे "**स सुरभि-सुरभि**··· **नद्यतेतस्यैवनयने च**" इन यमक और लाटानुप्रास के अभिन्नाकार वाले शब्दों के अन्दर अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

(३) इसप्रकार "विभिन्नरूपवाली वस्तु के भिन्न अर्थ वाले भी शब्दों के श्रवण मात्र से एक अर्थ के रूप में प्रतीति **पुनरुक्तवदाभास**" कहलाता है ।

अवतरणिका—यह **पुनरुक्तवदाभास** दो प्रकार का है—(१) शब्दनिष्ठ और (२) शब्दार्थ निष्ठ । इनमें से भी शब्दनिष्ठ दो प्रकार का है—(१) अभङ्ग शब्दनिष्ठ और (२) सभङ्ग शब्दनिष्ठ । इनमें भी पहले **अभङ्ग शब्दनिष्ठ पुनरुक्तवदाभास** का उदाहरण देते हैं—

उदाहरणम्—

'भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥'

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्यप्रतिभासनम् । पर्यवसाने तु भुजङ्गरूप कुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम् । 'पायादव्यात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः, 'पायात्' इत्यस्य 'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात् ।

'भुजङ्गकुण्डली' इति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम् ।

अर्थ—[**अभङ्ग शब्दनिष्ठपुनरुक्तवदाभास** का] उदाहरण—**भुजङ्गेति**—सर्प ही है कुण्डल जिसके ऐसे, प्रकाशित कर्पूर के समान शुभ्र किरणों वाला चन्द्रमा है जहाँ पर ऐसे, मनोहर, शिवजी सदा विघ्न से (केवल मेरी ही नहीं अपितु) संसार की भी रक्षा करें ।

टिप्पणी—यहाँ "**भुजङ्गकुण्डली**" ये दोनों शब्द सर्प के अर्थ वाले "**शशिशुभ्रांशुशीतगुः**" इनमें तीनों शब्द चन्द्रमा के अर्थ वाले, "**हरः शिवः**"—ये दोनों शिवजी अर्थ वाले, "**प्रायात् अव्यात्**" ये दोनों रक्षणार्थक क्रिया अर्थ वाले है । अतः श्रवणमात्र से ही उस उस अर्थ की पुनरुक्ति के रूप में प्रतीति होती है, परन्तु अन्त में पूर्वोक्तव्याख्या के अनुसार भिन्नार्थक होने से **पुनरुक्तपदाभास** है ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण में) भुजङ्गकुण्डली आदि शब्दों के (यहाँ "आदि" शब्द से **शशिशुभ्रांशुशीतगु—हर-शिव** शब्दों का ग्रहण होता है ।) श्रवण मात्र से सर्पादि ("आदि" शब्द से चन्द्र-महेश्वर का ग्रहण होता है) अर्थ की प्रतीति होने से पुनरुक्ति की प्रतीति होती है, परन्तु पर्यवसान में (अर्थ के अनुसन्धान के विषय में) "भुजङ्गरूप कुण्डल हैं विद्यमान जिसके ऐसे अन्य अर्थों का निश्चय होता है । "पायात् अव्यम्" यहाँ पर यह क्रियागत अलंकार है, "**पायात्**" इसका (**सदापायात्** इसका सन्धिच्छेद **सदा + अपायात्**) "**अपायात्**" इसमें पर्यवसान हो जाने से (अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती है ।) [**पुनरुक्तवदाभास** की उभयालंकारता प्रतिपादित करते हैं ।] **भुजङ्गकुण्डलीति**—"भुजङ्ग कुण्डली" इन दोनों शब्दों में से पहले शब्द की ही अर्थात् भुजङ्ग शब्द की ही परिवृति सहता है अर्थात् सर्प के अर्थ का कोई पर्यायवाची शब्द रखने पर भी यह अलंकार बना रहेगा । [**भाव यह है कि** "भुजङ्ग कुण्डली" यहाँ पर भुजङ्ग के स्थान पर सर्प शब्द के रख देने पर भी **पुनरुक्तवदाभासालंकार** की स्थिति रहेगी ही, किन्तु सर्प के अतिरिक्त अर्थ वाले सुवर्णादि शब्दों के रख देने पर **पुनरुक्तवदाभासालंकार** की प्राप्ति नहीं होगी । अतः सर्प रूप अर्थ के उपलब्ध होने पर **पुनरुक्तवदाभास** की विद्यमानता है, और सर्परूप अर्थ के न होने पर तो **पुनरुक्तवदाभास** ही नहीं रहेगा—इसप्रकार अन्वयव्यतिरेकी के द्वारा भुजङ्ग यहाँ पर **पुनरुक्तवदाभास** की आर्थता है । कुण्डली शब्द के स्थान पर सर्प से भिन्न अर्थ के द्योतक भूषणादि शब्द के रख देने पर अथवा सर्पार्थक पन्नग शब्द के रख देने पर आपतितः भी पुनरुक्ति की प्रतीति न होने से तथा पर्यवसान में भी अर्थ भेद के न होने से **पुनरुक्तवदाभास** सम्भव ही नहीं हो सकता है, अतः "कुण्डली" शब्द परिवृत्ति सह नहीं है । यहाँ "कुण्डली" शब्द के होने पर **पुनरुक्तवदाभास** की विद्यमानता है, उसके न होने पर **पुनरुक्तवदाभास** की भी विद्यमानता नहीं है, अतः "कुण्डली" इस अंश में **पुनरुक्तवदाभास** की शाब्दता है । अतः इसके शब्द और अर्थ दोनों में विद्यमान होने से उभयालंकारता है ।]

'हरः शिवः' इति द्वितीयस्यैव। 'शशिशुभ्रांशु' इति द्वयोरपि। 'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि। इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्।

हरः शिवः इसमें दूसरे (शिव शब्द) की ही (परिवृत्ति सहता है, **प्रथम** शब्द "हरः" की नहीं, अतएव **हरः** यहाँ पर आर्थता है और **शिवः** यहाँ पर शाब्दता **है**।) **"शशिशुभ्रांशुः"** यहाँ पर दोनों की भी ("अपि" शब्द से **शीतगुः** इस तीसरे शब्द **की भी** परिवृत्ति सहता है। अतः दूसरे चरण में केवल आर्थता है।) **भातीति**—**"भाति सदान त्यागः"** यहाँ पर दोनों की ही (**दान** और **त्याग** दोनों शब्दों की परिवृत्ति सहता) नहीं है (अतः यहाँ पर केवल शाब्दत्व है।) इसप्रकार शब्दों के परिवृत्तिसह होने और न होने से इसकी (**पुनरुक्तवदाभासालंकार** की) उभयालंकारता है।

टिप्पणी—(१) "**भाति सदानत्यागः**" इसका सम्पूर्ण पद्य **काव्यप्रकाश** में इसप्रकार है—

अरिवधदेहशरीरः सहसा रथिसूततुरगपादातः।
भाति सदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः॥

अर्थ—**सहसा**—शीघ्र ही **रथिभिः**—रथारोहियों के द्वारा **सुष्ठु**—सम्यक् प्रकारेण **उताः**—जोड़ दिये गये हैं **तुरगाः**—घोड़े और **पादातः**—पदाति जिसके ऐसा, **अथवा**—सहायक सारथी, घोड़े और पदातियों के साथ विद्यमान, **अरीणाम्**—शत्रुओं की **वधदा**—विनीशिनी है, **ईहा**—चेष्टा जिनकी ऐसे **शरिणः**—वाणों से युक्त योद्धाओं को **ईरयति**—प्रेरित करने वाला है जो ऐसा **अथवा**—शत्रुओं को विनष्ट करने वाली चेष्टा वाला है शरीर जिसका ऐसा **स्थिरतायाम्**—स्थिरता के अन्दर **अगः**—पर्वत के समान **अवनितलतिलक**—:पृथिवी का भूषण भूत राजा **सदा**—हमेशा **नत्या**—नम्रभाव से **अथवा सतां**—सज्जनों के विषय में आनत्या—अति नम्रभाव से **अथवा सदा**—हमेशा **अनत्या**—शत्रुओं के प्रति अनम्रभाव से **भाति**—सुशोभित होता है।

नोट—यहाँ **देह** और **शरीर** शब्द के, **सारथि** और **सूत** शब्द के, **दान** और **त्याग** शब्द के अन्दर आपाततः अर्थ की पुनरुक्ति के प्रतीत होने से तथा **पर्यवसान** में तात्पर्य की आलोचना करने पर पूर्व व्याख्या के अनुसार **पुनरुक्तवदाभास है**। **भावार्थ** यह है कि **देहशरीरः**—इनमें से दोनों ही शब्द **सार्थक और सभङ्ग हैं**। **सारथिसूतः**—इन दोनों शब्दों में से पहला निरर्थक है और दूसरा सार्थक है तथा दोनों ही सभङ्ग हैं। **दानत्यागः** इनमें से दोनों ही निरर्थक हैं और सभङ्ग हैं।

(३) इसप्रकार जहाँ शब्द के परिवर्तन कर देने पर भी वह अलंकार बना रहे वहाँ **अर्थालंकार** होता है, जहाँ उन-उन शब्दों के होने से ही अलंकार हो, वहाँ शब्दालङ्कार होता है, और जहाँ किञ्चित् अंश में शब्दपरिवृत्ति हो और कुछ अंश में न हो, वहाँ **उभयालंकार** होता है। इसप्रकार अन्वयव्यतिरेक के द्वारा अलङ्कारों की व्यवस्थिति है।

अवतरणिका—इसप्रकार अल्पभेद वाले **पुनरुक्तवदाभास** का निरूपण करके शब्दालङ्कारों में अतिप्रसिद्ध **अनुप्रास** को ही सर्वप्रथम सामान्य रूपेण प्रतिपादन करते हैं।

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत् ।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम् । रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः ।

अर्थ—(**अनुप्रास** का लक्षण) **अनुप्रास इति**—स्वर के (अच् प्रत्याहार के, निषादादि स्वर के नहीं) विषमता होने पर भी ("अपि" से—साम्य होने पर भी इस अर्थ की प्राप्ति होती है), जो शब्द की समानता है (यहाँ पर "शब्द" पद व्यञ्जक परक है, अतः व्यञ्जनवर्णमात्र की समानता है ।) (वह) **अनुप्रास नामक अलङ्कार** है । [**प्रश्न**—कारिका में "**वैषम्येऽपि स्वरस्य**" ऐसा कहने से शब्द पद से केवल व्यञ्जन का ही ग्रहण किया है, स्वर मात्र के साम्य को क्यों स्वीकार नहीं किया ? इसका **उत्तर** देते हैं—] **स्वरमात्रेति**—स्वरमात्र के सादृश्य को ("हरिविष्णु" इत्यादि में जिसप्रकार इकार से केवल स्वर के साम्य को) विचित्रता के अभाव होने से (अनुप्रासरूप से) नहीं गिना है । [स्वर के कारण सादृश्य की नितान्त अपेक्षा नहीं है क्योंकि उसके बिना भी शब्द सादृश्य मात्र में वैचित्र्य से **अनुप्रास** के होने से । व्यञ्जन साम्य के अभाव में केवल स्वर की समानता **अनुप्रास** नहीं है, क्योंकि किसी प्रकार की विचित्रता वहाँ पर नहीं है, और सर्वत्र विचित्रता के कारण ही अलङ्कारों को स्वीकार किया गया है । अतः स्वर की समानता में **अनुप्रास** नहीं है ।] (**अनुप्रास** पद का योगार्थ बताते हैं) **रसाद्यनुगतत्वेनेति**—(अनुप्रास में "अनु" शब्द का अर्थ **अनुगमन**, "**प्र**" शब्द का अर्थ **प्रकर्ष**, और "**आस**" शब्द का अर्थ **न्यास** है—अर्थात्) रसादि ("आदि" पद से रसाभासादिकों का ग्रहण होता है ।) के अनुगत (अर्थात् प्रकृत रस की व्यञ्जना करने वाले वर्णों के सम्बन्ध से) प्रकृष्ट रूप से न्यास **अनुप्रास** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) **अनुप्रास** का सामान्य लक्षण :—इसप्रकार स्वर के विषय होने पर भी अत्यधिक व्यवहित न होने से चमत्कृति का आधान करने वाली प्रकृत रस के व्यञ्जक समान वर्णों की आवृत्ति **अनुप्रास** कहलाती है । इनमें से एक तालव्यादि व्यञ्जनों की आवृत्ति होने पर **श्रुत्यनुप्रास**, एक प्रकार के आकृति वाले व्यञ्जनों की आवृत्ति होने पर दूसरे प्रकार के अनुप्रास होते हैं, इस प्रकार यह लक्षण सर्वत्र घट जाता है । परन्तु जिसप्रकार **अन्त्यानुप्रास** और **लाटानुप्रास** के अन्दर स्वर की समानता ही आवश्यक है, वैसा अन्य अनुप्रासों में नहीं है ।

(२) "**स्वरस्य वैषम्ये**" इससे "**कावेरीवारि**" इत्यादि से इसको पृथक् कर दिया है । "**साम्ये**" यह कहने से '**दर्दुरदुरध्यवसायम्**" इत्यादि में "**दुर**" शब्द के साम्य होने पर स्वर के साम्य होने पर भी अनुप्रासत्व है । इसप्रकार स्वर और व्यञ्जन दोनों की ही समानता में इस लक्षण की "**नवपलाशपलाशवनं**" इत्यादि **यमकालङ्कार** में भी प्रसक्ति होने पर अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि यमक को अपवाद रूप से मानकर उससे पृथक् स्थलों पर ही "**प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिशन्ते**" इस न्याय के अनुसार अनुप्रास माना जावेगा । इनमें से **अनुप्रास** उत्सर्ग है और **यमक** अपवाद है ।

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ।। ३ ।।

छेकश्छेकानुप्रासः । अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च । रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः ।

उदाहरणं मम तातपादानाम्—

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान् ।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः ।।'

अवतरणिका—अनुप्रास दो प्रकार का होता है—(१) **निरर्थक और** (२) **सार्थक** । इनमें से पहला अर्थात् **निरर्थक**—(१) **छेकानुप्रास** (२) वृत्यनुप्रास (३) श्रुत्यनुप्रास और (४) अन्त्यानुप्रास भेद से चार प्रकार का होता है । इनमें से पहले **छेकानुप्रास** का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(**छेकानुप्रास** का लक्षण) **छेक इति**—व्यञ्जनों के (अर्थात् हल् वर्णों के) समुदाय की स्वरूप से और क्रम से (**अनेकधा**) एक बार सादृश्य को **छेक** अर्थात् **छेकानुप्रास** (कहते) हैं । [कारिकागत कठिन अंशों की व्याख्या करते हैं] **छेक इति**—**छेकः** अर्थात् **छेकानुप्रास** । **अनेकधा**—अर्थात् स्वरूप से एक प्रकार के स्वरूप से) और क्रम से (एक प्रकार के पौर्वापर्य क्रम से) । "**रसः सरः**" इत्यादि (शब्द) की क्रम में भेद होने से (अर्थात् न तो क्रम से और न स्वरूप भेद से) समानता इस (**छेकानुप्रास**) अनुप्रास का विषय नहीं है ।

टिप्पणी—(१) **छेकानुप्रास** का सामान्य लक्षण—एक क्रम से विद्यमान अनेक व्यञ्जन वर्णों के एक प्रकार की आवृत्ति वाले रूप एक बार मात्र की समानता **छेकानुप्रास** कहलाती है । "**धूतचूतप्रसून**" यहाँ पर केवल दो तकारों की समानता होने पर **वृत्यनुप्रास** के विषय में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "अनेक व्यञ्जन वर्णों का" ऐसा कहा है ।

(२) एक-एक समुदाय के बीच में अन्य वर्णों के व्यवधान रूपेण अवस्थित होने पर तो समानता होने पर भी यह अलङ्कार नहीं होता है । अतएव—

"**मुनिर्जयति योगीन्द्रो जलं सिन्धोः पपौ च यः ।**"

यहाँ पर "**जयो**" "**जेय**" इसमें श्रुत्यनुप्रास ही है । "**प्रसर सरति पद्म चारु लब्धुं तवेष्टम्**" यहाँ पर स्वरूप और क्रम से समानता है, अतः छेकानुप्रास का उदाहरण है ।

(३) **अथवा**—**छेकाः** अर्थात् गृह के अन्दर विद्यमान पक्षी, उनका प्रायः दो बार बोलना प्रसिद्ध है, अतः छेकयाधितोपलक्षित अनुप्रास **छेकानुप्रास** होता है । यह व्यवधान रहित सजातीयों के दो-तीन वर्णों के भी आवर्तन से सम्पन्न हो जाता है । कहा भी है कि—

"**सजातीयाव्यवहित वर्णा द्वित्रादयो यदि ।**
आवर्तन्ते तदाकेचिच्छेकानुप्रासभूचिरे ।।"

अर्थ—(**छेकानुप्रास** का) उदाहरण—मेरे पूज्य पिता (**श्री चन्द्रशेखर जी**) का **आदायेति** –कावेरी (नामक नदी) के पानी (के संस्पर्श) से पवित्र करने वाला यह (जिसका स्पर्श होने के कारण प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता) वायु नकुलों (मौली-सरी के सुरभित पुष्प विशेषों) की सुगन्ध को लेकर स्थान-स्थान पर भ्रमरों को मधु के लोभ से अन्वे के समान भ्रान्त करती हुई अथवा वकुल की गन्ध से उन्मत्त बनाती हुई धीरे-धीरे वह रही है ।

अत्र गन्धानन्धीति संयुक्तयोः, कावेरीवारीत्य संयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः । छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष छेकानुप्रासः ।

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ॥ ४ ॥

अर्थ—(उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**गन्धानन्धी**" यहाँ संयुक्त (न् और ध् का अर्थात् नकार से संयुक्त धकार का) की "**कावेरीवारि**" यहाँ असंयुक्त (**वेरि** और **वारि** पद) की, "**पावनः पवनः**" यहाँ अनेक (असंयुक्त) व्यञ्जनों (हलों) की एक बार आवृत्ति है, (अतः **छेकानुप्रास** है)। [**छेकानुप्रास** पद की व्युत्पत्ति दिखाते हैं **छेक इति**—**छेकः**—अर्थात् चतुर, उनके प्रयोग के योग्य होने से यह **छेकानुप्रास** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर संयुक्त और असंयुक्त का प्रतिपादन करते हुये केवल व्यञ्जन सामान्य की ही समानता प्रदर्शित होने पर यह अलङ्कार होता है। इसको सूचित किया है ।

(२) **प्रश्न**—"**पदे-पदे**", "**मन्द मन्दम्**" यहाँ पर दो बार पदों की कही हुई समानता के होने पर भी यह अलङ्कार क्यों नहीं है ? **उत्तर**—इस समानता के अन्दर किसी प्रकार की विचित्रता द्योतित नहीं होती है ।

(३) **वृत्यनुप्रास** के विदग्ध जनों से प्रयोज्य होने पर भी वहाँ पर रूढ़ि के न होने से छेक पद का प्रयोग नहीं होता है ।

अर्थ—(२) (**वृत्यनुप्रास** का लक्षण) **अनेकस्येति**—(१) एक से भिन्न अनेक व्यञ्जन वर्णों की स्वरूप से ही (**एकधा**)—क्रम से नहीं, एक बार समानता **वृत्यनुप्रास** कहलाता है । ["**अनेकस्य**" ऐसा कह कर स्वर की आवश्य की समानता का निराकरण हो गया । **छेकानुप्रास** में अतिप्रसक्ति के निवारण के लिये "**एकधा**" कहा है ।] (२) अनेक व्यञ्जन वर्णों की एकबार स्वरूप से ही अथवा अनेक बार समानता वृत्यनुप्रास कहलाता है । [यहाँ पर **छेकानुप्रास** में अतिप्रसक्ति के निवारण के लिये "**एकधा**" और "**असकृत्**" इन दोनों का ग्रहण किया है । "**सकृत्**" और **असकृत्** इन दोनों में से किसी के भी प्रथम चरण में कथन न करने से सामान्यरूप से दोनों का ही ग्रहण होता है ।] (३) **अथवा**—अनेक व्यञ्जन वर्णों की अनेक बार स्वरूप से और क्रम से अनेक बार समानता **वृत्यनुप्रास** कहलाता है । [यहाँ "**अपि**" से पूर्व के "**अनेकस्य**" का अध्याहार हो जाता है । **छेकानुप्रास** की अतिप्रसक्ति के निवारण के लिये ही **असकृत्** का उपादान किया है ।] (४) एक व्यञ्जन की एकबार समानता वृत्यनुप्रास कहलाता है । [यहाँ पर **अपि** से **असकृत्** का अध्याहार हो जाता है, अतः] (५) एक व्यञ्जन की अनेक बार समानता **वृत्यनुप्रास** कहलाता है । [**छेकानुप्रास** के अन्दर अतिप्रसक्ति के निवारण के लिये **एकस्य** का कथन दोनों स्थलों पर (४ और ५ लक्षणों में) किया है ।]

एकधा स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा स्वरूपतः क्रमतश्च। सकृदपीत्यपिशब्दादसकृदपि।

उदाहरणम्—

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथंकथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण।

अर्थ—(कारिकास्थ कठोर पदों के अर्थ की व्याख्या करते हैं) **एकधेति-एकधा** अर्थात् स्वरूप से ही, क्रम से भी नहीं। **अनेकधा**—अर्थात् स्वरूप से और क्रम से (दोनों प्रकार से)। "**सकृदपि**" यहाँ पर "**अपि**" शब्द से असकृत् का भी (ग्रहण होता है)।

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त रीति से **वृत्यनुप्रास** का लक्षण पाँच प्रकार से होता है।

(२) **वृत्यनुप्रास** की व्युत्पत्ति—**वृत्तौ-रीतावनुप्रासौ वृत्यनुप्रासः**। और वृत्ति को कुछ "**मधुरादिरसानुगुणनियत कोमल शब्दविशेषगतो रसविषयो व्यापारो व्यञ्जनाख्यः**" ऐसा कहते हैं, और कुछ "**माधुर्यादिव्यञ्जक सुकुमारादिवर्णगतत्वेन मधुरादि-रसोपकारकः शब्दस्य संघटनाख्यो रीत्यात्मा व्यापारविशेषः**" ऐसा कहते हैं।

अवतरणिका—एक पद्य के अन्दर ही उक्त पाँच प्रकार के **वृत्यनुप्रास** का उदाहरण दिखाते हैं—

अर्थ—(**वृत्यनुप्रास** का) उदाहरण—**उन्मलिदिति**—[**प्रसङ्ग—गीतगोविन्द** के अन्दर यह वसन्त का वर्णन है।] प्रचुरता से निकलती हुई पुष्प रस की सुगन्धि से लुब्ध भ्रमरों से कम्पित आम्र के नूतन अङ्कुरों पर विहार करती हुई कोयलो की सूक्ष्म ध्वनियों के कोलाहल से उत्पन्न हो जाती है कानों में पीड़ा जिनमें ऐसे ये (वसन्त ऋतु के) दिवस (प्रियतमा के) ध्यान में चित्त की एकाग्रता के समय अनुभूत प्रियतमा पत्नी के सम्भोग रस से प्रचुर आनन्द जिन्होंने ऐसे पथिकों के द्वारा (प्रवासी कामीजनों के द्वारा) बड़ी कठिनाई से बिताये जाते हैं।

(प्रकृत उदाहण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**रसौल्लासैरमीः**" यहाँ रेक और सकार की स्वरूप से ही (एकबार) समानता है, उसी क्रम से भी समानता नहीं है [क्योंकि विपरीत रूप से विद्यमान है, अर्थात् "**रसः**" यहाँ पर रेफ पहले विद्यमान है और "**सरः**" यहाँ पर रेफ के बाद में विद्यमान है। इसप्रकार यहाँ **प्रथम लक्षण** घटित होता है।] ["**वासराः**" इसके "**सराः**" इस भाग को लेकर "**रसः**" इसके साथ उसीप्रकार ही स्वरूप से और क्रम से साम्य होने से **द्वितीय लक्षण** घटित होता है।] दूसरे चरण में तो ककार और लकार की उसी क्रम से और स्वरूप से ("च" से स्वरूप का ग्रहण होता है।) अनेक बार समानता है। [इसप्रकार तीसरा लक्षण घटित होता है।]

प्रथमे एकस्य मकारस्य सकृत्, घकारस्य चासकृत्। रसविषयव्यापारवती वर्णरचनावृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद्वृत्त्यनुप्रासः।

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

प्रथम (चरण) में एक मकार की एकबार समानता है इसप्रकार चतुर्थ लक्षण घटित होता है। और धकार की अनेक बार [समानता है, इसप्रकार **पाँचवां लक्षण** घटित है।] [इनसे भिन्न स्थलों पर छेकानुप्रास समझना चाहिये—**यथा**—"**समासमा**" यहाँ पर स्वरूप से और क्रम से एकबार समानता होने से छेक है। इसीप्रकार "**उद्गीर्णकर्ण**" "**उन्मीलन्मधु**" यहाँ 'न्म' "न्म" की एकबार समानता होने से **छेकानुप्रास** ही है। कुछ "**समा समा**" यहाँ पर यमक को स्वीकार करते हैं।] [**वृत्यनुप्रास** शब्द की योगव्युत्पत्ति दिखाते हैं।] **रसविषयेति**—रसविषयक व्यापार वाली (व्यञ्जन, ध्वननादि को उत्पन्न करने वाली) वर्णों की रचना वृत्ति (कहलाती) है, उस वृत्ति से अनुगत प्रकृष्ट विन्यास के कारण **वृत्यनुप्रास** (कहते) हैं।

टिप्पणी—(१) **वृत्ति** तीन प्रकार की होती है—(१) उपनागरिका (२) परुषा और (३) कोमला।

(२) **काव्यप्रकाश** में इनका लक्षण इसप्रकार है—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते।
ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा कोमला परैः ॥

कुछ —**शेषैर्वर्णैर्यथयोगं प्रथितां कोमलाख्यया।**

ग्राम्यां वृत्ति प्रशंसन्ति काव्ये निष्णातबुद्धयः ॥ इस लक्षण वाली "कोमला **वृत्ति**" को "**ग्राम्या नामक वृत्ति**" कहते हैं। ये तीनों वृत्तियाँ वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली वृत्ति से पहले कही जा चुकी है।

अर्थ—(३) (**श्रुत्यनुप्रास** का लक्षण) **उच्चार्यत्वादिति**—तालु (जिह्वेन्द्रिय का अधिष्ठान) दन्तादि ("आदि" पद से ओष्ठ, मूर्धा और कण्ठ का ग्रहण होता है) के एक (वर्णों के उच्चारण) स्थान में उच्चरित होने के कारण जो व्यञ्जन वर्णों की ही (स्वरों की नहीं) समानता है, (वह) **श्रुत्यनुप्रास** कहलाता है। [**नोट**—यहाँ एक स्थान से उच्चरित होने रूप सादृश्य के ग्रहण करने से एक प्रकार की आकृतिरूप स्वरूप की आवश्यकता नहीं है—यह ध्वनित होता है।]

टिप्पणी—**आशय** यह है कि स्वरूप से सादृश्य न होने पर भी तालु आदि के एक स्थान होने से जिस व्यञ्जन की जिस व्यञ्जन के साथ समानता हो सकती है, उसकी स्वरूप से समानता न होने पर भी तालु आदि एक स्थान की एकता होने के कारण समानता में श्रुत्यनुप्रास होता है। और तालु आदि की समानता पाणिनि के इस "**तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम्**" सूत्र से स्पष्ट ही है।

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य 'जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति, 'जयिनीः' इति। अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्साहश्यम्। एवं दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम्। एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः।

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत् ॥ ६ ॥

अर्थ—(श्रुत्यनुप्रास का) उदाहरण—**दृशेति**—[**प्रसङ्ग—राजशेखर** कृत **विद्धशालभञ्जिका** के अन्दर यह पद्य है।] जो (सुलोचनायें महादेव के तृतीय) नेत्र से भस्म किये हुये कामदेव को (अपनी) दृष्टि से ही (किसी अन्य साधन से नहीं) जीवित कर देती हैं, (अतएव) शिवजी को परास्त करने वाली उन (कामिनियों) की (हम) स्तुति करते हैं।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**जीवयन्ति, याः और जयिनी.**" के अन्दर जकार और यकार के एक स्थान तालु से (**इचुयशानां तालुः**) उच्चरित होने के कारण समानता है। (अतएव यहाँ पर श्रुत्यनुप्रास है।) **एवमिति**—इसीप्रकार दन्तस्थानीय और कण्ठस्थानीयों की भी (समानता का) उदाहरण समझ लेना चाहिये। [**दन्तकण्ठ्यनाम्** में बहुवचन के ग्रहण से ओष्ठ और मूर्धा का भी ग्रहण कर लेना चाहिये] (**श्रुत्नुप्रास** की योग व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ का प्रतिपादत करते हैं—) **एषचेति**—और यह (अनुप्रास) सहृदयों के (काव्यार्थ की भावना से परिपक्व अन्तःकरण वालों के) कानों को अत्यन्त ही आनन्द देने वाला होता है, अतः श्रुत्यनुप्रास (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) दन्तस्थानीय व्यञ्जनों की समानता का उदाहरण—यथा—**नैषध में—**

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तवस्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नरेन्द्रेण यथायनीयते ॥

यहाँ पर "**लृतुलसानां दन्ताः**" इसके अनुसार त-थ-द-ध-न और सकार के एक दन्त स्थान से उच्चरित होने के कारण समानता से **श्रुत्यनुप्रास** है।

अर्थ—(४) (व्युत्पत्तिपूर्वक अन्त्यानुप्रास का लक्षण) **व्यञ्जनमिति—**यदि अवस्था के अनुसार (**अवस्थाम्-आधोच्चरित व्यञ्जनावस्थां अनतिक्रम्य स्थितमिति यथावस्थम्**) स्थित व्यञ्जन आदि स्वर के साथ पुनः पढ़ा जाता है, तो अन्त में (चरण के अथवा पद के) प्रयोज्य होने के कारण ही। (**अन्ते-अवसानेभवोऽन्त्यस्तत्र योजयितुं-योक्तुमर्हमिति तादृशान्निमित्तादेव अन्त्योऽसावनुप्रासः अन्त्यानुप्रासः इति।) अन्त्यानुप्रास** (होता) है।

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्ठम् ।
एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः ।

पादान्तगो तथा मम—

'केशः काशस्तबकविकासः कायः प्रकटितकरभविलासः ।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं त्यजति न चेतः काममनल्पम् ॥'

अर्थ—(कारिकास्थ **यथावस्थम्** पद की व्याख्या करते हैं) **यथावस्थमिति**— "**यथावस्थम्**"—इससे यह तात्पर्य है कि—यथासम्भव अनुस्वार-विसर्ग और स्वर से युक्त अक्षरविशिष्ट । (**अन्त्यप्रयोज्यत्व** की व्याख्या करते हैं) **एषचेति**—और यह (**अन्त्यानुप्रास**) प्रायः चरण के (पद्य के चतुर्थांश के) और पद्य के अन्त में प्रयोज्य होता है ।

टिप्पणी—"**प्रायेण**" इससे **पज्झटिकादि** छन्दों में ही इसका प्रयोग हो सकता है, **अनुष्टुप्** आदि छन्दों में नहीं—यह सूचित होता है ।

अर्थ—(१) पादान्तगत (अन्त्यानुप्रास का उदाहरण)—**यथा**—मेरा (ग्रन्थकार कृत) **केशइति**—[**प्रसङ्ग**—वृद्धावस्था के दुःख से अत्यन्त दुःखी विषयवासनाओं को छोड़ने वाले किसी वृद्ध की उक्ति है ।] केश काशपुष्प के गुच्छे के समान विकास वाले हो गये हैं अर्थात् श्वेत हो गये हैं, शरीर प्रकट किया है हस्तिशावक के समान विभ्रम जिसने ऐसा हो गया है, अर्थात् झुक गया है, (और) नेत्र जली हुई कौड़ी के समान हो गये हैं अर्थात् ज्योतिशून्य हो गये हैं, (तथापि) चित्त प्रबल विषयाभिलाष को नही छोड़ रहा है । (यह बड़े आश्चर्य की बात है ।) ॥

टिप्पणी—(१) **अन्त्यानुप्रास** के लक्षण में **यथावस्थम्** इसके कहने का तात्पर्य है—संयुक्त अक्षर से रहित । इस प्रकृत उदाहरण में प्रथम चरण के अन्त में स्थित "**विकासः**" के "**आसः**" इस पद्यांश की द्वितीय चरण के अन्त में पुनः आवृत्ति हुई है, तथा तृतीय चरण के अन्त में स्थित "**अल्पम्**" यह पदांश चतुर्थ चरण के अन्त में पुनः पठित है । इसप्रकार ककार स्थित अकार के लकार स्थित अकार के ककार स्थित अकार के और नकारस्थित अकार के आदि स्वर के साथ यथावस्थित व्यञ्जन के पुनः पठन करने से **अन्त्यानुप्रास** है । **तथा**—निर्विण्णरूप कारण के कहने पर भी काम के परित्यागरूप कार्य की उत्पत्ति के अभाव के न कहने से **विशेषोक्ति है,** इसीप्रकार तारुण्यरूप निमित्त के अभाव के कहने पर भी काम के अपरित्यागरूप कार्य के कहने से **विभावना** है । तथा प्रकृत में उन विरुद्ध धर्मों में से कौन सा धर्म है—इस सन्देह से सन्देह मूलक **सन्देहसंकरावलंकार** है ।

(२) **अन्त्यनुप्रास** के लक्षण में "**प्रायेण**" इसके कहने से कहीं अन्त में प्रयोग होने पर भी यह अनुप्रास होता है—**यथा**—

श्रुताधीता गीता श्रुतिभिरवगीताखिलगुणा,
गुणातीता भीताऽभयकृदविनीताऽपि च यदा ।
नति प्रीता पीताम्बर सुपरिणीताऽमरवधू,
दृशा पीता स्फीता मलरुचिपरीता विजयताम् ॥

पदान्तगो यथा—

'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि ।

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः ।
लाटानुप्रास इत्युक्तो

अर्थ—(२) पदान्तगत (अन्त्यनुप्रास का उदाहरण) **यथा—मन्दमिति**—"मन्द मन्द मुसकराते हुये, (और) रोमाञ्च को धारण करते हुये इत्यादि ॥

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में "**हसन्तः**" इस पद का अन्तिम अंश, "**वहन्तः**" इस पद के अन्त में पुनः पठित है, अतः **अन्त्यानुप्रास** है ।

(२) पूर्व स्वर के बिना भी अन्तिम व्यञ्जन की आवृत्ति कहीं-कहीं हो जाती है—**यथा**—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम् ।
इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे ॥

अवतरणिका—पञ्चम भेद लाटानुप्रास का निरूपण करते है—

अर्थ—(**लाटानुप्रास** का लक्षण) **शब्दार्थयोरिति**—तात्पर्य के विषयीभूत अन्वयमात्र से ही (अर्थ से नहीं) भेद होने पर (अर्थात् वक्ता के केवल अभिप्रेत सम्बन्ध के भेद से ही शब्द और अर्थ के भेद होने पर) शब्द और अर्थ (दोनों) की पुनरुक्ति को (विद्वानों ने) **लाटानुप्रास** ऐसा कहा है ।

टिप्पणी—(१) **लाटानुप्रास** के लक्षण में "**स्मेरराजीवनयने ! लोचने किं निमीलिते**" इत्यादि में अर्थमात्र की पुनरुक्ति होने पर और शब्द की पुनरुक्ति न होने से अति प्रसक्ति के निवारण के लिये **शब्द** का उपादान किया है, "**नवपलाशपलाश-वनम्**" इत्यादि में शब्दमात्र की पुनरुक्ति होने पर और अर्थ की पुनरुक्ति न होने से **यमकालङ्कार** में अतिप्रसक्ति के निवारण के लिये **अर्थ** का उपादान किया है। और अर्थ की पुनरुक्तिपूर्व पद के विशेषण और विशेष्य के साथ उत्तर पदार्थ के विशेषण और विशेष्य की एकता होने पर ही सम्भव हो सकती है । अतएव—

"**घनेन संवृते समुखि ! व्योम्नि विभाति चन्द्रमाः**" इत्यादि में विशेषणों के भिन्न होने से यह अनुप्रास नही है । और—

"**वपुः कान्तं वयः कान्तं मनस्तु परुषं तव**" इत्यादि में विशेष्य के भिन्न होने यह अनुप्रास नहीं है । और

"**यातु यातु किमनेन तिष्ठतु मुञ्च मुञ्च सखि ! सादरं वचः**"
"**चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमा**" ।

इत्यादि में क्रोधादि के व्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों के ही पुनरुक्त होने पर केवल तात्पर्यमात्र से भिन्न न होने वाले स्थलों पर **लाटानुप्रास** के निवारण के लिये **भेदेतात्पर्यमात्रतः** यह कहा है । तथा "**यातु यातु**" इत्यादि में अन्वय भेद नहीं है, किन्तु क्रोध की व्यञ्जकता की ही पुनरुक्ति है ।

उदाहरणम्—

'स्मेर राजीवनयने नयने किं निमीलिते।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम्॥'

---

(२) प्रकाशकार ने भी कहा है कि—

"शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः" इति।

इनमें से शब्द की पुनरुक्ति द्विरुक्ति है। और प्रतिपदिक की पुनरुक्ति तो (१) समास में (२) विभिन्न समास में और (३) समासासमास में हो सकती है—इस प्रकार तीन प्रकार की है। यथा—

**सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार! धरणी! धरकीर्तिः।
पौरुषकमला कमला साऽपि तवैवास्ति नान्यस्य॥**

यहाँ पर "**कर**" इस प्रातिपदिक की आवृत्ति एक समास में है, "**विभा**" इसकी आवृत्ति विभिन्न समासों में है, और "**कमल**" की आवृत्ति समासासमास में है।

अवतरणिका—यह **लाटानुप्रास** (१) पदगत और (२) पदांशगत—दो प्रकार का होता है। उनमें से भी पहला अर्थात् **पदगत**—(१) अनेक पदगत और (२) एक पदगत—इसप्रकार से दो प्रकार का होता है। और दूसरा अर्थात् **पदांशगत**—(१) समासासमासगत (२) एक समासगत और (३) विभिन्न समासगत—इसप्रकार तीन प्रकार का होता है। इसप्रकार यह लाटानुप्रास पाँच प्रकार का होता है। इनमें से **समासासमासगत लाटानुप्रास** का उदाहरण देते है—

अर्थ—(**समासासमासगत लाटानुप्रास** का) उदाहरण—**स्मेरेति**—[**प्रसङ्ग**—नायक को देखकर क्रोध से आँखों को बन्द कर लेने वाली मानिनी नायिका के प्रति सखी की यह उक्ति है।] विकसित कमल के समान हैं नयन जिसके ऐसी! (तुमने अपने) दोनों नेत्र क्यों बन्द कर लिये? (तुम) जीत लिया है कामदेव को जिसने ऐसे अर्थात् अतिसुन्दर पति को काम के वशीभूत देखो। (अतः मान को छोड़कर इस अपने प्रिय पति को सफल काम करो।)"

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में "**नयने नयने**" इन शब्द और अर्थ के अन्दर और "**कन्दर्पं कन्दर्पं**" इन शब्द और अर्थ के अन्दर पुनरुक्ति होने से पहले में सम्बोधन विषयत्व और कर्मत्वरूप सम्बन्ध के भिन्न होने से और दूसरे में कर्मत्व और सम्बन्धित्व रूप सम्बन्ध के भिन्न होने से **लाटानुप्रास** है।

अवतरणिका—**प्रश्न**—उक्त उदाहरण में **नयन** और **कन्दर्प** प्रातिपदिक के अन्दर पुनरुक्ति होने पर भी उन दोनों में विभक्ति के अर्थ की भिन्नता होने से अर्थ की पुनरुक्ति नहीं है, अतः इस **लाटानुप्रास** का लक्षण कैसे घटित होता है? इसका उत्तर देते हैं—

अत्र विभक्त्यर्थस्य पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूपस्य भिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासत्वमेव ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थः ।

अर्थ—यहाँ (अर्थात् "स्मेरराजीवनयने नयने" और "कन्दर्पं कन्दर्प" इन अंशों में) विभक्ति के अर्थ की (एक जगह सम्बोधनरूप और दूसरी जगह कर्मरूप अर्थ की) पुनरुक्ति न होने पर भी (विभक्ति की अपेक्षा) प्रधान (प्रकृति और प्रत्यय से प्रकृति ही प्रधान होती है) प्रातिपदिक ("**अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** १/२/५४" **कृत्तद्धितसमासाश्च**" १/२/४६ इसके अनुसार प्रकृत "**स्मेरराजीवनयने**" इसके और "**निर्जितकन्दर्पम्**" इसके) के अंश (**नयन** और **कन्दर्प**)से द्योत्य (प्रतिपाद्य) धर्मीरूप (अर्थात् उस उस विभक्ति के अर्थरूप धर्मवाले नेत्ररूप अर्थ) के अभिन्न अर्थ होने के कारण **लाटानुप्रास** ही है ।

टिप्पणी—यहाँ "**लाटानुप्रासत्वमेव**" में "एव" के उपादान से यमकालङ्कार का व्यवच्छेद किया है । तथाच—उक्त स्थल पर "**नयने**" इत्यादि स्वर और व्यञ्जन की संहति की उसी क्रम से पुनरुक्ति होने पर भी व्याख्या के ढंग से मुख्य-प्रादिपदिक अर्थ के अभिन्न होने से **यमकालङ्कार** भी नहीं है ।

अवतरणिका—**प्रश्न**—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि से उदाहरण "**कदली कदली**" इत्यादि में आपाततः शब्द और अर्थ की पुनरुक्ति की प्रतिति होने पर भी पर्यवसान में वक्ता के तात्पर्य विषयक अन्य विशेषण की प्रतीति होने से भिन्नार्थ के न होने से वहाँ पर भी यही **लाटानुप्रास** ही होना चाहिये ? इसका **समाधान** करते हैं:—

अर्थ—उसप्रकार के सौभाग्यशाली के ही (**तस्यैव**), नेत्र (पुनः) भाग्यवत्तादि गुणों से विशिष्ट नेत्र हैं (**नयने**) । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दूसरी बार (पढ़ा हुआ) नयन शब्द (अपने अर्थ में घटित न होता हुआ) भाग्यवत्वादि गुणों से विशिष्टरूप तात्पर्य मात्र से भिन्न अर्थ वाला है ।

टिप्पणी – **आशय** यह है कि "**स्मेरराजीवनयने नयने**" इत्यादि में दोनों ही नयनादि पद के अर्थ प्रातिपदिक के अंश के द्योत्य धर्मी रूप के अभिन्न होने के कारण पुनरुक्ति के होने पर भी तात्पर्यमात्र में भिन्न होने से **लाटानुप्रास** है । किन्तु प्रकृत "**नयने तस्यैव नयने च**" इस उदाहरण में तो प्रथम नयन शब्द का नेत्ररूप ही अर्थ है, तथा द्वितीय नयन शब्द, अपने अर्थ में घटित न होता हुआ लक्षण से भाग्यवत्त्वादि गुणों से विशिष्ट ही नेत्ररूप अर्थ है—इस प्रकार प्रातिपदिक के अर्थ में ही भेद होने से पुनरुक्ति न होने के कारण **लाटानुप्रास** नहीं है, किन्तु अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि ही है । इसीलिये ही कथितपदत्व दोष के परिहार के समय **लाटानुप्रास** और **अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यध्वनि** का—

"**दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ।**
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ॥

ऐसा कहकर पृथक् कथन किया है ।

'यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य ॥'

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम् । एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः ।

अर्थ—(२) अथवा (अनेक पदों की पुनरुक्ति होने पर **लाटानुप्रास** का उदाहरण) **यस्येति**—जिस (कामीपुरुष) के पास में प्रियतमा नहीं (है) उस (व्यक्ति) के लिये चन्द्रमा दावाग्नि (के समान) है अर्थात् विरहोद्दीपक होने के कारण दावाग्नि की तरह सन्ताप देने वाला है । और जिस (कामी पुरुष) के पास में प्रियतमा (है), उस (व्यक्ति) के लिये दावाग्नि (भी) चन्द्रमा (के समान) है । अर्थात् प्रियतमा के सान्निध्य से सभी पदार्थों में उसको शीतलता का अनुभव होता है । [लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में "**सविधे······तस्य**" इत्यादि) अनेक पदों में (तात्पर्य के भिन्न होने पर अर्थ की एकता से) पुनरुक्ति है । (अतः यहाँ पर **लाटानुप्रास** है) [सम्प्रति **लाटानुप्रास** शब्द की योगव्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को दिखाते हैं] **एष चेति**—और यह प्राय लाट (नामक देश विशेष) के मनुष्यों को प्रिय होने के कारण **लाटानुप्रास** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में "**सविधेदयिता**·· ···" इत्यादि अनेक पदों को तात्पर्यमात्र में भेद होने से पुनरुक्ति है, अतः **अनेक पदगतलाटानुप्रास** है । यहाँ पूर्वार्द्ध में चन्द्रमा में दावाग्निता विधेय (है) और उत्तरार्ध में दावाग्नि में चन्द्रमात्व-विधेय है—इसप्रकार उद्देश्य-विधेय भाव के विपरीत होने से तात्पर्य के अन्दर भेद है, अर्थों के अन्दर तो अभेद ही है ।

(२) इस उक्त उदाहरण में लक्षणा से यथाक्रम तापकरत्व की और शीतलत्व की विधेयता विवक्षित नहीं है अन्यथा भिन्न अर्थ की प्रतीति होने से **लाटानुप्रास** न होता, अतः पूर्वार्ध में दावाग्नि का ही और उत्तरार्द्ध में चन्द्रमा का ही विधेयरूप से आरोपण है । **लाटानुप्रासादि** में उद्देश्य और विधेय की विपरीतता दोष नहीं होती है ।

(३) **प्रश्न**—स्वर व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से आवृत्ति होने से **यमकालङ्कार** मान लेने में क्या आपत्ति है ? **उत्तर**—नहीं, यह ठीक नहीं है क्योंकि यमक के अन्दर प्रातिपदिक के अर्थ की ही पृथक्ता होती है, किन्तु प्रकृत उदाहरण में प्रातिपदिक के अर्थों की पृथक्ता नहीं है ।

ऽनुप्रासः पञ्चधा ततः ॥७॥

स्पष्टम् ।

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥८॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति के अनुसार [(ततः) अर्थात् (१) छेक ,(२) वृत्ति, (३) श्रुति, (४) अन्त्य और (५) लाट] अनुप्रास पाँच प्रकार का है । **स्पष्टम्**—स्पष्ट है । अर्थात् कारिका के अन्दर कुछ व्याख्यातव्य नहीं है ।

टिप्पणी—(१) इन पाँच प्रकार के अनुप्रासों में अन्तिम दो अनुप्रास **पदानुप्रास** हैं—ऐसा कुछ कहते हैं ।

(२) इस अलङ्कार को अन्य आचार्यों के द्वारा उभयालङ्कार के रूप में स्वीकार करने पर भी ग्रन्थकार ने शब्द विशेष से अन्व्यतिरेकानुयायी होने से शब्दालङ्कार के मध्य गिना है ।

अवतरणिका—अनुप्रासालङ्कार के अनन्तर लोक में **यमकालङ्कार** के प्रसिद्ध होने से सम्प्रति उसीका प्रतिपादन करते हैं:—

अर्थ—(**यमकालङ्कार** का लक्षण) **सत्यर्थ इति**—(वाच्य) अर्थ के (विद्यमान) होने पर भिन्न अर्थ वाले स्वर सहित व्यञ्जन समुदाय की उसी क्रम से (अर्थात् जिस क्रम से पहले स्वर-व्यञ्जन समूह कहा है, उसी क्रम से, इससे विपरीत क्रम से नहीं) आवृत्ति **यमक नामक अलङ्कार** कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) **यमक** की व्युत्पत्ति—**यमौ द्वौ समानजातिकौ तत्प्रतिकृति यमकम्**—यहाँ पर "इवे प्रतिकृतौ" इस माणिनि सूत्र से **कन् प्रत्यय** हुआ है । **अथवा**—**यमयति—श्रुतिमधुरतया सचेतसां हृदयमानन्दे स्वरव्यञ्जनसंहतिक्रमनिवेशयत्नेन नियमयतीति यमकम्**" । यहाँ पर "**ण्वुल्तृचौ**" इस सूत्र से ण्वुल् प्रत्यय हुआ है ।

(२) यहाँ पर "**सत्यर्थे**" ओर "**क्रमेणतेनैव**" इसका अभिप्राय वृत्ति में ही स्पष्ट करेंगे ।

(३) **लाटानुप्रास** के अन्दर अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "**पृथगर्थायाः**" का कथन किया है । तथा च—"अभिन्न अर्थ वाली स्वर-व्यञ्जन समुदाय की पुनरुक्ति में **लाटानुप्रास** है, और पृथक् अर्थ की पुनरुक्ति होने पर **यमक** होता है—यही परस्पर भेद है ।

(४) **यमक** का सामान्य लक्षणः—**समानार्थत्वाभाववत्समानानुपूर्वीकस्वरसंवलितव्यञ्जनसंहत्यावृत्तिर्यमकम्** ।

(५) इस लक्षण के अनुसार संहति अनेक प्रकार की होती है । और वह संहति एकमात्र-व्यञ्जन के साथ एकमात्र स्वर के संयोग से भी हो सकती है । अतएव—

नानाकारेण कान्ता भ्रूराराधितमनोभुवा ।
विभिक्तेन विलासेन ततक्षहृदयं मम ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम् । क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति । तेनैव क्रमेण दमो मोद इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च पादपादार्धश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम ।

इसप्रकार के वामन से अभिमत वर्णों वाले यमक के स्थलों पर और—**एकंकूपे नयनमपरं मन्मुखे खेलयन्ती मामुद्दिश्य प्रतिकृतिमपि स्वां किमप्यालयन्ती ।**

उद्यत्पीनरसिजयुगलं कुम्भमप्युद्धरन्तीं शिक्षाकूतस्थितशुचिमुखी प्राविशन्मानसं मे ।

इत्यादि में अव्याप्ति नहीं समझनी चाहिये ? और नहीं **अन्त्यानुप्रास** के उदाहरण—

"**केशः काशस्तवकविकाशः कायः प्रकटितकरभविलासः ।।**"

इत्यादि में "**आसः**" इस अंश का आश्रय लेकर अतिव्याप्ति समझनी चाहिये। क्योंकि सामान्य और विशेष के न्याय के अनुसार दोष नहीं होता है। **तथाहि**—**अन्त्याणुप्रास** के केवल पद और प्रदान्त के अन्दर ही निश्चित होने के कारण विशेष है, और **यमक** के अन्दर इसप्रकार की कोई निश्चिति न होने से **सामान्य** है। अतः **यमक** अलङ्कार के लक्षण का विषय **अन्त्यानुप्रास** से भिन्न स्थलों पर होता है। **छेकानुप्रास** और **यमक** इन दोनों अलङ्कारों का विषय अवश्य एक है। अतः इन दोनों की संकरता स्वीकार करनी ही पड़ती है क्योंकि **छेकानुप्रास** के उदाहरण "**पावनः पवनः**" यहाँ पर "**वनः**" इस अंश के अन्दर **यमकालङ्कार** के होने का परिहार नहीं किया जा सकता है क्योंकि कोई अन्य उपाय ही नही है।

(६) यह **यमकालङ्कार** एक चरण में, अथवा दो चरणों में अथवा चारों चरणों में हो सकता है, परन्तु तीन चरणों में नहीं हो सकता है—क्योंकि—

"**यमकं तु विधातव्यं न कदाचिदपित्रिपात्**" इससे निषेध कर दिया गया है। इसीलिये दोष-परिच्छेद में **यमक** के तीन चरणों में प्रयुक्त होने पर **अप्रयुक्तत्वदोष** ग्रन्थकार ने वर्णित किया है।

अर्थ—(कारिका के आशय को स्पष्ट कहते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (इस **यमक** में) कहीं ("**सुषमया समया दिवमञ्चति**" "**नगजानगजांदयिता दयिता**" इत्यादि में) दोनों ही (जिसकी आवृत्ति की जाती है और जो आवर्तित होता है—उन दोनों आदि और अन्त की) पदों की (स्वर सहित व्यञ्जन समुदाय विशेष की) सार्थकता (होती) है, (और) कहीं (दोनों ही पदों की—"**शमरतेऽभरतेजसि पार्थिवे**" "**विजयते जयते पितशात्रवम्**" "**विजिता मरतामरसेक्षणम्**" इत्यादि में) निरर्थकता (होती) है। कहीं (**भवता भवतापभ्वीतोऽहम्**" "**समुदितं त्रदितं भुवि तत् पुरम्**" इत्यादि में) एक (पद) की (अर्थात् उन दोनों में से किसी एक पद की अथवा आदि पद की अथवा अन्तिम पद की) सार्थकता (होती) है। (और) दूसरे (पद) की निरर्थकता (होती) है; इसीलिये (लक्षण में) कहा है कि "**सत्यर्थे**"

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम्।
मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

अर्थ के होने पर—इति। तेनैवेति—उसी (पूर्वोक्त) क्रम से ही (पृथक् अर्थ वाले स्वर-व्यञ्जन समुदाय की आवृति **यमक** कहलाती है। इसके कहने के अनुसार) "**दमो मोदः**" इत्यादि (स्थलों) की ("आदि" पद से "**सरोरसः**" इत्यादि का ग्रहण होता है) विभिन्न विषयता (अर्थात् **यमकालंकार** से भिन्न अलङ्कार की विषयता) सूचित की है। [इसप्रकार "**दमो मोद**" इत्यादि में स्वरूपमात्र के साम्य होने से **वृत्यनुप्रास** ही है, **यमक** नहीं।] [**यमकालंकार** के अत्यधिक भेद होने के कारण पूर्णरूप से उसका वर्णन करना सम्भव नहीं है, अतः प्राचीन काव्यप्रकाशकार और भोजराज आदि आचार्यों का अनुसरण करके संक्षेप से ही वर्णन करते हैं।] **एतच्चेति**—और इस (यमक) के पादावृत्तिरूपत्वेन, पादार्धावृत्तिरूप और श्लोकावृत्तिरूप होने से, और पादादि की आवृत्ति के ["आदि" पद से पाद के मध्य और अन्तिम अवयवादि का ग्रहण होता है। इसप्रकार केवल पाद के पुनः उच्चारण करने से, केवल पादार्थ के पुनः उच्चारण से, केवल श्लोक के और श्लोकार्ध के पुनः उच्चारण से और इसीप्रकार पाद के आदि मध्य और अन्तिम अवयवों के पुनः उच्चारण से) अनेक प्रकार के होने के कारण अत्यधिक भेद हैं।

टिप्पणी—सम्प्रति **काव्यप्रकाशकार** के अनुसार **यमकालंकार** के भेदों का वर्णन करते हैं—

यमकालंकार दो प्रकार के होते हैं—(१) **पादवृत्ति** और (२) **पादभागवृत्ति**। **पाद** पद्य का चतुर्थांश कहलाता है। इनमें से **पादवृत्ति यमक** के ११ भेद होते हैं—

(२) **पादभागवृत्ति यमक** के अनेक भेद होते हैं। उनके उदाहरण महाकवियों के प्रबन्ध काव्यों में देखने चाहिए।

अवतरणिका—यमकालंकार के बहुत भेद होने से यथाशक्ति यत्किञ्चित् भेदों का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(**यमकालंकार**) के यत् किञ्चित् उदाहरण दिये जाते हैं—**नवपलाशेति** [**प्रसङ्ग—शिशुपालवध** के षष्ठ सर्ग में राजसूय यज्ञ में निमन्त्रित कृष्ण के इन्द्रप्रस्थ को जाते हुये मार्ग में किया हुआ यह वसन्त वर्णन है।] श्रीकृष्ण जी ने सामने नवीन पत्तों वाला (पलाश) है ढाकों का वन (पलाशवनम्) जिसमें ऐसे, विकसित पुष्परजों से (पराग) व्याप्त (परागतानि) हैं कमल जिसमें ऐसे, (तथा) कोमल अतएव पुष्पों के अतिशय से अथवा धूप से मुर्झा गये हैं (तान्त) पत्ते (लतान्ताः) जिसमें ऐसे पुष्पों के समूह से सुगन्धित वसन्त को देखा।

दूसरा अर्थ—श्रीकृष्ण जी ने सामने नवीन पत्तों का पलाश है निवास स्थान (वनम्) जिसका ऐसे, स्पष्ट है प्रसिद्धि (परागः) जिसकी ऐसे, दूर हो गये हैं (परागतम्) पापादि से होने वाले (पङ्कजम्) दुःखादि जिसके ऐसे, सुकुमार और तपश्चरण से कलान्त (तान्ताः) हैं स्त्रियाँ (लता) जिसकी ऐसे, पण्डित समूहों से (सुमनो भरैः) विख्यात (सुरभि) उस सज्जन को (सुरभिं) देखा।

अत्र पदावृत्तिः 'पलाशपलाश' इति, 'सुरभि सुरभि' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम्। 'लतान्तलतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्। 'परागपराग' इत्यत्र द्वितीयस्य। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोर्लरोस्तथा।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः।

अर्थ—यहाँ (उक्त उदाहरण में) **"पलाशपलाश"** इस रूप से (पाद के अंश की आवृत्ति वाला) **पदावृत्ति यमक** है। [तथा च— **"पलाशपलाश", परागपराग, लतान्तलतान्त, सुरभि सुरभि** अथवा **रमिसु रमिसु**"—इन सभी स्थलों पर एक-एक पदों के ही दो बार उच्चारण करने से **पदावृत्ति यमक** है।] **"सुरभि सुरभिम्"** यहाँ पर दो (पदों) की (आदि और अन्तिम पादांशों की) सार्थकता है (क्योंकि एक का अर्थ वसन्त और दूसरे का अर्थ (सुगन्धि है)। **"लतान्त लतान्त"** यहाँ पर प्रथम (लतान्त) पद की निरर्थकता है (क्योंकि **मृदुल** शब्द के लकार को लेकर निर्मित "लतान्त" इस रूप सिद्धि से किसी भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु दूसरे "लतान्त" शब्द की तो सार्थकता है।) **"पराग पराग"** यहाँ पर द्वितीय (पद) की (निरर्थकता) है [क्योंकि "परागत" शब्द के "तकार" को छोड़कर निर्मित "पराग" शब्द से किसी भी अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु प्रथम "पराग" शब्द की तो सार्थकता है। **"रमिसु रमिसु"** यहाँ पर दोनों ही पदों की निरर्थकता है।] **एवमिति**–इसीप्रकार अन्य भी (पादावृत्याविरूप **यमक** के भी) उदाहरण समझाने चाहिये।

अवतरणिका—प्रश्न—अनुभवन्नवदोलमृदुत्सवं पटुरपि प्रियकण्ठजिघृक्षया।

अनवदासनरज्जुपरिग्रहे भुजलतांजडतामबलाजनः॥

इत्यादि में **यमकालंकार** घटित नहीं हो सकता है, क्योंकि उसीप्रकार से आवृत्ति नहीं हुई है? इसका **उत्तर**—वर्णों के भिन्न होने पर भी पारिभाषिक रूपेण अभिन्नता स्वीकार करके **यमक** मान लेना चाहिये—इस रूप में प्रतिपादित करते हैं—

अर्थ—यमकालंकारादि में ("आदि" पद से श्लेष और अनुप्रास का ग्रहण होता है।) डकार-लकार की, वकार-वकार की तथा लकार—रेफ की अभिन्नता होती है। [अर्थात् स्वरूपादि में भिन्नता होने पर भी समान होने से अभिन्नता मानी जाती है।] इस नियम के अनुसार **"भुजलतां जडतामबलाजनः"** यहाँ **यमकत्व** की हानि नहीं है। [अर्थात् **"जलतां जडताम्"** यहाँ कपिलकादि होने से लकार के होने पर लकार-डकार के, तथा सविन्दुक और अविन्दुक के अन्दर भिन्नता होने पर भी श्रुतिसाम्य होने से **यमकत्व** की हानि नहीं है।]

टिप्पणी—कुछ आचार्य अभेद का पठन इसप्रकार करते हैं—

यमकादौ भवेदैक्यं ऽलयोरलयोर्बवोः।

शषयोर्नणयोश्चान्ते सविसर्गाविसर्गयोः॥

सविन्दुमाविन्दुकयोः स्यादभेदप्रकल्पनम्॥

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥९॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च ।

अर्थ—(वक्रोक्ति का लक्षण) **अन्यस्येति**—(अपने से भिन्न) अन्य (व्यक्ति अर्थात् वक्ता) के (अपने से भिन्न) अन्य तात्पर्य वाले वाक्य को दूसरा अर्थात् श्रोता श्लेष से अथवा काकु से (ध्वनि विकार से) दूसरे अर्थ के रूप में (वक्ता के तात्पर्यार्थ) से भिन्न अर्थ में) यदि लगा दे, (तो) वह (**वक्रोक्ति नामक अलङ्कार**) श्लेष वक्रोक्ति से और काकु वक्रोक्ति से (ततः) दो प्रकार की (**श्लेष निबन्धना वक्रोक्ति और काकु निबन्धना वक्रोक्ति**) होती है। [कारिका में विद्यमान **द्विधा** को स्पष्ट करते हैं।] **द्विधेति**—**द्विधा**—अर्थात् श्लेष-वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति।

टिप्पणी—(१) कहने का आशय यह है कि किसी के द्वारा किसी अन्य अभिप्राय से कहे हुये वाक्य का किसी अन्य के द्वारा किसी अन्य अर्थ में कल्पना करना ही वक्र वचन के सम्बन्ध से **वक्रोक्ति नामक** अलङ्कार होता है।

(२) **वक्रोक्ति** के लक्षण में "**अन्येन**" के कहने से वक्ष्यमाण **अपह्नुति अलङ्कार** में अति व्याप्ति नहीं होती है क्योंकि **अपह्नुति** में अपने कहे हुये वाक्य का अर्थ स्वयं ही अन्यथा किया जाता है, और **वक्रोक्ति** मे अन्य व्यक्ति वक्ता के अर्थ को अन्य अर्थ के रूप में लगाता है।

(३) कारिका के अन्दर विद्यमान "**श्लेषेण**" इसका शब्द से बोधित होने वाले भिन्न अर्थ से, ऐसा अर्थ करने से—

"मञ्च क्रोशति किमहो प्रयासि नम मां परावृत्य ।
किं कातरत येवं मुह्यति मञ्चः किमालपति ॥"

इत्यादि में मुग्धा नवीन अभिसारिका के द्वारा पुरुष के अर्थ में लक्षणा से प्रयुक्त मञ्च पद को दूती ने मुख्य अर्थ के अभिप्राय से लगा दिया, अतः इसके अन्दर किसी प्रकार का भेद नहीं समझना चाहिये।

(४) इस अलङ्कार को श्लेष से ही उत्थापित होने के कारण श्लेष का अपवाद समझना चाहिये।

(५) **वक्रोक्ति अलङ्कार** के विषय में **भामह** ने इस प्रकार कहा है कि—

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरस्फुटार्था विभाष्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

इसीलिये "**वक्रोक्ति काव्य जीवितम्**" ऐसा कहा है।

क्रमेणोदाहरणम्—

'के यूयं स्थल एव सम्प्रति वयं प्रश्नो विशेषाश्रयः
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ।
वामा यूयमहो विडम्बरसिकः कीदृक्स्मरो वर्तते
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः, पुंस्वेव योषिद्भ्रमः ॥'

अवतरणिका—**श्लेषालङ्कार** के (१) पदभङ्ग और (२) पदाभङ्ग—इसप्रकार दो प्रकार के होने से **श्लेषवक्रोक्ति** को भी दो प्रकार का समझना चाहिये और इसमें उस-उस शब्दों के परिवृत्ति सह होने से शब्द के ही चमत्काराधायक होने से इसको **शब्दालङ्कार** कहा जाता है । इन दो प्रकार की सभङ्ग और अभङ्गात्मक **श्लेषवक्रोक्ति** का पहले उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(**श्लेषवक्रोक्ति** और **काकुवक्रोक्ति** के) क्रमशः उदाहरण—[सर्वप्रथम **सभङ्ग** और **अभङ्गात्मक श्लेषवक्रोक्ति** का एक स्थल पर ही उदाहरण देते हैं—] **के यूयमिति**—[**प्रसङ्ग**— किन्हीं अभ्यागतों के साथ किसी की उक्ति-प्रत्युक्ति रूप यह श्लोक है ।] (अभ्यागतों के प्रति) **के इति**—आप कौन हैं ? (यह प्रश्न है) [जलार्थक "**क**" शब्द के सप्तमी के एक वचन में "**के**" का "जल में" ऐसे अर्थ की कल्पना करके सुनने वाला उत्तर देता है ।] **स्थल इति**—इस समय हम पृथ्वी पर ही हैं (जल में नहीं) । [प्रश्नकर्ता पुनः अपने अभिप्राय को स्पष्ट करता हुआ प्रश्न करता है] **प्रश्न इति**—(मेरा) प्रश्न विशेष (व्यक्ति) आश्रय वाला (विषयक) है अर्थात् मेरा प्रश्न आपको जानने की जिज्ञासा विषयक है । [उत्तर देने वाला "**विशेषाश्रयः**" इस पद की भी "विः" पक्षी और शेषः—शेषनाग इन दोनों विषयक है, ऐसे सभङ्ग श्लेष से प्रश्न कर्ता के तात्पर्य की भिन्नार्थक कल्पना करके उत्तर देता है ।] **किमिति**—पक्षी (**विहायसा—आकाशमार्गेण गच्छतीति विहगः**) अथवा जहाँ विष्णु जी सोते हैं उस शेषनाग विषयक (प्रश्न है, ऐसा आप) क्या पूछ रहे हैं ? [इसप्रकार वाक्छल से परेशान प्रश्न कर्ता उत्तर देने वाले की भर्त्सना करता है ।] **वामा इति**—तुम प्रतिकूलवादी हो अर्थात् एक अर्थ में प्रयुक्त मेरे वाक्य को विपरीत अर्थ के द्वारा वाक्छल से ग्रहण करने वाले हो ? [यहाँ पर भी "**वामाः**" शब्द की स्त्रीरूप अर्थ में कल्पना करके प्रश्नकर्ता को उत्तर देता है ।] **अहो ! इति**—आश्चर्य है ? कि (आप) प्रतारण करने में चतुर (दिखाई देते) हैं, (और आपका) कैसा काम का उद्रेक है कि जिससे (कामदेव की विडम्बना से) विवेक शून्य (वक्तव्य और अवक्तव्य के ज्ञान से रहित चित्त वाले) आपका हम पुरुषों में ही स्त्रियों का भ्रम हो गया है ?

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में श्लेष के आधार पर एक व्यक्ति के अन्य अर्थ को बताने वाले वाक्य की भिन्न अर्थ में योजना कर देने के कारण **वक्रोक्ति** है ।

(२) अथवा—"**अहो ! केनेदृशीवुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ?**
त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्नतु दारुमयी क्वचित् ।"

यहाँ पर **दारूणा** का अर्थ क्रूर और लकड़ी से इसप्रकार दोनों ही अर्थों के पक्ष में इस पद का भङ्ग नहीं है, अतः **अभङ्गपदश्लेषवक्रोक्ति** है ।

अत्र विशेषपदस्य 'विः पक्षी', 'शेषो नागः' इत्यर्थद्वययोगात्सभङ्गश्लेषः। अन्यत्र त्वभङ्गाः।

'काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे।
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते॥'

अत्र कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नञ् अन्यथा काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में सभङ्ग और अभङ्ग मूलक **श्लेषवक्रोक्ति** की द्विविधता का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**विशेष**" पद के विः—पक्षी और शेषः शेषनाग–इसप्रकार (पदभंङ्ग द्वारा) दो अर्थों के सम्बन्ध से "सभङ्ग श्लेष" (भङ्गो विभागः तेन सह वर्तते इति सभङ्गः सोऽसौ श्लेषः) है। अन्य स्थलों पर अभङ्ग श्लेष है।

अवतरणिका—इसप्रकार **श्लेषमूलावक्रोक्ति** का उदाहरण देकर **काकुमूलावक्रोक्ति** का उदाहरण दिखाते हैं।

अर्थ—(काकुमूलावक्रोक्ति का उदाहरण) **काले इति—[प्रसङ्ग**—क्रोध से नायिका के द्वारा परित्यक्त अपराधी नायक की आश्वासन देने वाली सखी के प्रति उक्ति है।] निरन्तर ध्वनि कर रही है कोयलें जिसमें ऐसे, अत्यन्त सुरभित आम्रवृक्षों से सुन्दर समय में अर्थात् वसन्त ऋतु में अपराधी (नायक) को छोड़ देने से उस (नायिका) का चित्त खिन्न नहीं होता है, [अपितु खिन्न होता ही है—इति काकुः॥] [उक्त उदाहरण में दूसरे अर्थ की अन्यथा योजना के द्वारा **काकुवक्रोक्ति** का प्रतिपादन करते हैं।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) किसी सखी के द्वारा निषेध के अर्थ में प्रयुक्त "**नञ्**" अन्यथा काकु ध्वनि के द्वारा ("**तस्याश्चेतो न दूयते**" इस ध्वनि विकार द्वारा) "खिन्न होता ही है" इसप्रकार विधि के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। [**अर्थात्** "खिन्न नहीं होता है" इसप्रकार निषेध के अर्थ में प्रयुक्त "नञ्" "अपितु खिन्न होता ही है" इसप्रकार विधि के अर्थ में काकु के द्वारा प्रयुक्त किया गया है।] !!

टिप्पणी—प्रश्न—द्वितीय परिच्छेद में अर्थोव्यञ्जना के निरूपण के अवसर पर "**वक्तृबोद्धव्य काकूनाम्**" इत्यादि कहकर काकु वैशिष्ट्य में आर्थीव्यञ्जना स्वीकार की गई है, और उसी आर्थीव्यञ्जना के द्वारा यहाँ पर भी दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जायेगी, अतः **काकुवक्रोक्ति** को अर्थालङ्कार मानना ही ठीक है? शब्दालङ्कार नहीं?

उत्तर—नहीं, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वक्रोक्ति से युक्त काकु शब्द का धर्म होता हैं, और वक्रोक्ति अलंकार भी शब्द का ही धर्म है, अतः शब्दालंकार ही उचित है।

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥१०॥

यथा मम—

'मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।
विरसासि केलिकीरे किमालि धीरे च गन्धसारसमीरे ॥'

एष श्लोकः संस्कृतप्राकृतसौरसेनीप्राच्यावन्तीनागरापभ्रंशेष्वेकविध एव ।

अर्थ—(**भाषसमालंकार** का लक्षण) **शब्दैरिति**—अनेक प्रकार की (संस्कृत-प्राकृतादि) भाषाओं में एक प्रकार के ही शब्दों से जो (यत्र) वाक्य होता है, वह यह (**भाषासु समः-तुल्यरूप एक शब्दो यत्र तथा विधोभाषासमः**) **भाषासम नामक अलंकार** (आलंकारिकों के द्वारा) चाहा जाता है ।

टिप्पणी—(१) सभी भाषाओं में समानरूप होने के कारण ही यह **शब्दालंकार है ।**

(२) **भाषासम** और **भाषाश्लेष** में भेदः—एक प्रकार के शब्दों से ही अनेक प्रकार की भाषाओं में एक ही वाक्य के होने पर **भाषासम** होता है, और दो भाषाओं वालो वाक्य के होने पर **भाषाश्लेष** होता है ।

(३) **भाषासम अलंकार** के लक्षण में भाषाओं वाले **भाषाश्लेष** में अतिव्यप्ति न हो जाये, इसीलिये "**विविधासु भाषासु**" इसका कथन किया है ।

(४) इस **भाषासम** को **चण्डीदास** जी ने जो श्लेषालंकार विशेष कहा है यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसके अन्दर दो अर्थ नहीं हुआ करते हैं ।

अर्थ—(**भाषासमालंकार** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् ग्रन्थकार द्वारा निर्मित—**मञ्जुलेति**—[**प्रसङ्ग**—मान के कारण सम्पूर्ण कार्य कलाप को छोड़कर बैठी हुई अपनी सखी के प्रति सखी का वचन है ।] (हे !) सखि ! मधुर और अस्फुट (कोकिलादिकों की) ध्वनि से मनोहर, मनोरम मणिमय नूपुरों के विषय में, क्रीड़ा वापी के तीर के विषय में, क्रीड़ा के उपकरणीभूत शुक के विषय में, मन्द-मन्द सञ्चरण करने वाली चन्दन से सुरभित वायु के विषय में क्यों विरक्त हो रही हो ? [अथ त् जिसपर रूठी है, उससे रूठी रहे । इन बेचारे मञ्जीरादिकों ने क्या बिगाड़ा है ? मञ्जीर पहन ले, क्रीडा सरसी पर चल, क्रीड़ाशुक से बातचीत कर, और मलयानिल का सेवन कर । जिससे रूठी है उससे मत बोलना–यह भाव है ।] [**भाषासम** का लक्षण घटाते हैं ।] **एषइति**—यह श्लोक संस्कृत-प्रकृत शोरसेनी-प्राची-अवन्ती-नागर और अपभ्रंश भाषाओं में एक प्रकार का ही है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर एक प्रकार के ही शब्दों से सस्कृत-प्राकृतादि विविध भाषाओं में वाक्य के होने से **भाषासम** है ।

अवतरणिका—**प्रश्न**—कारिका के अन्दर "**वाक्यं यत्र भवेत्**" कहने को अपेक्षा "**पदं यत्र भवेत्**" यह क्यों नहीं कह दिया ? इस प्रश्न का **समाधान** करते हैं ।

'सरसं कइण कव्वम्'

इत्यादौ तु 'सरसम्' इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलङ्कारः ।

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥११॥
श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

अर्थ—[**सरसं कवेः वाक्यम् "इति संस्कृतम् ।**] "कवि का सरस वाक्य" इत्यादि में ("आदि" पद से शौरसेनी आदिकों का ग्रहण होता है ।) "**सरसम्**" यहाँ संस्कृत–प्राकृत भाषा के (एक प्रकार के पद के) समान होने पर भी वाक्यगतता (समानता) का अभाव होने पर ("**सरसं कइण कव्वम्**" इसमें वाक्यगत समानता नहीं है) वैचित्र्य के न होने से (और वैचित्र्य में ही अलंकार की अलंकारता है) यह अलंकार नहीं है । [अतः वैचित्र्य के ज्ञान के लिये ही "**वाक्यम्**" का ग्रहण किया है ।]

अर्थ—(**श्लेषालंकार** का लक्षण) **श्लिष्टैरिति**—श्लिष्ट पदों से (अर्थात् एक बार उच्चारण करने से ही युगपत् अनेक अर्थों के बोधक पदों से) अनेक अर्थों का अभिधान (अभिधा के द्वारा उपस्थापित) करने पर **श्लेष नामक अलंकार** (कवियों के द्वारा) चाहा जाता है । (श्लिष्ट वर्णादिकों से भेद से **श्लेषालंकार** आठ प्रकार का होता है, इसको बताते हैं ।) **वर्णेति**—और वह (**श्लेषालंकार**) (१) वर्ण (प्रत्ययादि से भिन्न यत्किञ्चित् अक्षरविशेष) (२) प्रत्यय (**विभक्ति भिन्नां प्रत्यायपति अर्थं बोधयतीति प्रत्यय**) (३) लिङ्ग (पुँस्त्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्वरूप), (४) प्रकृति (५) पद (सुबन्त और तिङन्त), (६) विभक्ति (७) वचन (एकवचन, द्विवचन और बहुवचन) और (८) भाषा के (६ प्रकार की भाषाओं के) श्लेष से आठ प्रकार का होता है । **अर्थात्** (१) **वर्ण श्लेष** (२) प्रत्यय **श्लेष** (३) लिङ्ग श्लेष (४) प्रकृति **श्लेष** (५) पद-श्लेष (६) विभक्ति श्लेष (७) वचन श्लेष और (८) भाषा श्लेष ।

टिप्पणी—(१) "**सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदर्थं गमयति**" इस नियम के अनुसार काव्य में स्वर भेद को नहीं माना जाता है, अतः "**यावन्तोऽर्थाः तावन्त एव शब्दाः एकप्रयत्नेनोच्चार्यन्ते**" इस नीति के अनुसार युगपत् अनेक शब्दों के उच्चारण करने पर भी उनके अन्दर भेद की प्रतीति नहीं होती है । इस प्रकार के स्थलों पर भी प्रकरणादि के नियम के न होने से अनेक अर्थों की अभिधा के द्वारा ही प्रतीति होती है, प्रकरणादिकों के नियम के होने पर एक अर्थ का अभिधा के द्वारा और दूसरे का व्यञ्जना के द्वारा बोध होता है—इस मत के आधार पर ही उक्त लक्षण किया है । इसप्रकार एक प्रयत्न से उच्चार्य होने से लुप्त भेद वाले वर्णादिको को मिलाने वाला श्लेष कहलाता है ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥'

अत्र 'विधौ' इति विधु-विधि-शब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छ्लेषः ।

---

(२) अनेक अर्थों का अभिधान करना ही **श्लेष** कहलाता है ।

(३) **प्रकृति श्लेष** पुनः (१) **धातु** और (२) **प्रातिपादिक** के भेद से दो प्रकार का होता है ।

(४) **पद श्लेष** भी (१) **सुबन्त** और (२) **तिङन्त** भेद से दो प्रकार का होता है ।

(५) श्लेषालंकारों के भेदों में **प्रत्यय** पद गोवलीवर्दन्याय से विभक्ति से भिन्न परक है, अन्यथा "**विभक्ति**" का पृथक् उपादान करना निरर्थक हो जाता है ।

(६) **भाषा** का लक्षण—

**"संस्कृत-प्राकृत-मागध-पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥"**

ये छः प्रकार की भाषाये हैं ।

अर्थ—(वर्णश्लेषादिको के) क्रमशः उदारणः—

(१) (**वर्णश्लेष** का उदाहरण) **प्रतिकूलतामिति**—[**प्रसङ्ग**—**शिशुपालवध** के नवम सर्ग में यह सूर्यास्त का वर्णन है।] भाग्य के विमुख हो जाने पर अनेक साधनों की सम्पन्नता निश्चितरूपेण व्यर्थ हो जाती है **पक्षे** चन्द्रमा के विरुद्ध फलभागी होने पर अनेक स्थिति के उपायों की बहुलता विफल ही जाती है, **तथाहि**—पतनोन्मुख (उन्नत पद से भ्रष्ट होते हुये, उदय से अस्त होते हुये) और सौभाग्य से दुर्भाग्य को प्राप्त होते हुये सूर्य की (किसी भी व्यक्ति की) हजारों भी किरणें (हाथ) आश्रय के लिये (गिरने से बचाने के लिये) समर्थ नहीं होती है ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि गिरते हुये मनुष्य के दो हाथ भी उसको गिरने से रोकने में समर्थ होते हैं, किन्तु सूर्य के हजारों हाथ भी समर्थ नहीं हुये यह श्लेष है । विधु के (चन्द्रमा के) विपरीत स्थान पर स्थित होने पर सभी कुछ विपरीत हो जाता है और सम्पन्नता नष्ट हो जाती है ऐसा ज्योतिष का सिद्धान्त है ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में "**वर्णश्लेष**" को घटाते हैं) **अत्रेति**—**यहाँ** (प्रकृत उदाहरण में) "**विधौ**" इस (वर्ण) में **विधु** और **विधि** शब्द के उकार और इकार वर्णो के (विजातीय वर्णो के भी) औकाररूप होने से श्लेष है ।

'किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः ।
कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्वं एव सुधाकिरः ॥'

अत्र 'सुधाकिरः' इति क्विप्-क-प्रत्यययोः । किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि ।

टिप्पणी—विधु और विधि—इन विजातीय शब्दों के भी इकार और उकार भी "**अच्च घेः**" इस पाणिनि सूत्र से ङिपरे होने पर समानरूपता है । अतः "**विधौ**" इस शब्द का औकार के माहात्म्य से एक ही प्रयत्न से उच्चारण होता है—इसप्रकार **विधि** और **विधु** शब्द के प्रतिपाद्य दोनों ही अर्थों के अन्दर अतिशय वैचित्र्य होने से दोनों वर्णों में **श्लेष** है ।

अर्थ—(२-३) (**प्रत्ययश्लेष** और **वचनश्लेष** का उदाहरण) **किरणाइति**-चन्द्रमा की किरणें और दक्षिण दिशा से आने वाला वायु (इसप्रकार) सभी प्रियतम की गोद में स्थित प्रियतमाओं के लिये और प्रियतमाओं की गोद में स्थित प्रियतमों के लिये (**कान्तानां-प्रेयसां प्रेयसीनां वा उत्सङ्गान्-क्रोडान् जुषन्तीति तेषां प्रेयसां तासां प्रेयसीनां वा**) निश्चित ही अमृत की वर्षा करने वाले हैं (**सुधाममृतं किरतीति वा अमृतवर्षकः अमृतवर्षिका च**) ।

टिप्पणी—यहाँ **सुधां किरन्तीति**—क्विप् प्रत्यय होने पर "सुधाकिर्" शब्द की प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में तथा **सुधा किरतीति** "क" प्रत्यय होने पर "सुधाकिर" शब्द की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में "**सुधाकिर**" पद की, तथा किरण के विशेषण होने पर और वायु के विशेषण होने पर "**सर्वे**" और "**सर्वः**" पद की प्रत्यय और वचन-दोनों प्रकार से सिद्ध होने से अनेकार्थाभिधायिता समझनी चाहिये ।

अर्थ—(**प्रत्ययश्लेष** और **वचनश्लेष** की युगपत् **श्लेषता** का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**सुधाकिरः**" यहाँ पर क्विप् और क प्रत्यय का (श्लेष) है । ["**किरणः**" इसके साथ सम्बन्ध के लिये "**सुधांकिरन्तीति सुधाकरः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "**कृ विक्षेपे**" इस धातु से "**अन्येभ्योऽपिदृश्यये**" से क्विप् " "**ऋत इद्धातोः**" इससे इत्व होने पर प्रथमा के बहुवचन का रूप है । और "**समीरणः**" इसके साथ सम्बन्ध के लिये "सुधां किरतीति सुधाकरः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसी कृञ् धातु से "**इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः**" इस सूत्र से क प्रत्यान्त होने से प्रथमा के एकवचन का रूप है ।] **किञ्चेति**—तथा यहाँ (उक्त उदाहरण में ही) बहुवचन और एकवचन के अन्दर एक ही रूप होने से **वचनश्लेष** भी है । [अर्थात् "**सर्व एव**" और "**सुधाकिरः**" इन दोनों स्थलों पर ।]

टिप्पणी—(१) यद्यपि "**कान्तोत्सङ्गजुषाम्**" यहाँ पर स्त्रीलिंग और पुंल्लिंग में समान रूप होने से **लिङ्गश्लेष** भी है, तथापि क्विप् और क प्रत्ययों में श्लेष के ही अतिशय चमत्कार के आधायक होने से **प्रत्यय श्लेषत्वेन** ही व्यवहार होता है ।

'विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी ।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी ॥'

अत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि ।

'अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्रणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

अर्थ—(४) (**लिङ्गश्लेष** का उदाहरण) **विकसदिति**—(उस) कृशाङ्गी के (यहाँ "**लसत्तरलहारिणी**" यह पद जब "**विकसन्नेत्रनीलाब्जे**" इसका विशेषण होगा, तब नपुंसकलिङ्ग की प्रथमा विभक्ति का द्विवचन होगा और जब "**स्तनद्वयी**" इसका विशेषण होगा तब स्त्रीलिङ्ग का एकवचन होगा) प्रकाशमान, चञ्चल और मनोज्ञ विकसित नेत्र ही हैं नीलकमल जिसके ऐसी, तथा दोनों स्तनों वाली तुमको सदा आनन्द अथवा सौरभ (नील कमल का सौरभदान सम्भव हो सकता है), देवे । [यहाँ पर "**दत्ताम्**" यह क्रिया पद जब "**विकसन्नेत्रनीलाब्जे**" के साथ अन्वित होता है, तब तो "**दा-धातु**" के लोट् लकार के परस्मैपद में प्रथम पुरुष के द्विवचन का रूप होता है, और जब "**स्तनद्वयी**" के साथ अन्वित होता है, तब लोट्लकार आत्मनेपद के प्रथमपुरुष का एक एकवचन होगा ।] **अन्यत्र**—(अर्थात् जब "**लसत्तरलहारिणी**" पद **स्तनद्वयी** का विशेषण होगा और "**दत्ताम्**" यह क्रिया पद आत्यनेपद के लोट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन होगा ।) सुशोभित है तरल नामक हार के मध्य में विद्यमान मणि जिसमें ऐसे, मुक्ता माला वाले दोनों कुच सदा तुमको आनन्द देवें ।

यहाँ (उक्त उदाहरण के "**लसत्तरलहारिणी**" में) नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग का श्लेष है, (और) **वचनश्लेष** भी है । [अर्थात् केवल **लिङ्गश्लेष** ही नहीं है, अपितु **द्विवचन** और **एकवचन** का भी श्लेष है । **श्लेषोऽपि** यहाँ पर "**अपि**" से णिन् प्रत्यय और इन् प्रत्यय का श्लेष समझना चाहिये ।]

टिप्पणी—आशय यह है कि—"दा" धातु के परस्मैपद के लोट् लकार में द्विवचनान्तता है, और आत्मनेपद के अन्दर एक वचनान्तता है, तथा **लसत्तरलहारिणी** इसके **विकसद्** इत्यादि के विशेपण और **स्तनद्वयी** के विशेषण होने पर क्रमशः द्विवचन और एकवचनान्तता है । इसप्रकार उक्त उदाहरण में **वचनश्लेष** भी है ।

अर्थ—(५) (**प्रकृतिश्लेष** का उदाहरण) **अयमिति**—[**प्रसंग**—राजपुत्र के उत्पन्न होने पर जन्म के ग्रहों को जानने वाले किसी ज्योतिषी की यह उक्ति है ।] यह राजपुत्र (अपने) हृदय में सम्पूर्ण (व्याकरणादि) शास्त्रों को धारण करेगा (**वक्ष्यति = वह धातु**) और विद्वानों के समाज में कहेगा । (**वक्ष्यति = वच् धातु**), (तथा) शत्रुओं की शक्ति को नष्ट करने वाला (**सामर्थ्यकृत = कृत् = कृती-छेदने**) और मित्रों की शक्ति को करने वाला (**सामर्थ्यकृत् = कृत् = डुकृञ्-करणे**) होगा ।

अत्र 'वक्ष्यति' इति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तति-क-रोत्योः प्रकृत्योः ।

'पृथुकार्तस्वरपात्रम्–' इत्यादि । अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः ।

अर्थ—यहाँ (उक्त उदाहरण में) "**वक्ष्यति**" में वह और वच् (प्रकृति) का, (तथा) "**सामर्थ्यकृत्**" में कृन्तति (**कृती-छेदेने**) और करोति (**डुकृञ्-करणे**) की प्रकृति का (श्लेष) है ।

टिप्पणी—प्रकृत उदाहरण में "**वक्ष्यति**" इस क्रिया पद का "**हृदि**" के साथ अन्वय होने पर "**वह-प्रपाणे**" इस प्रापणार्थक वह धातु के लृट्लकार में प्रयोग होगा और "**ज्ञेषु**" के साथ अन्वय होने पर "**वच् परिभाषणे**" धातु के लृट् लकार में प्रयोग होगा । इसीप्रकार "**अमित्राणाम्**" के साथ सम्बन्ध होने पर "**सामर्थ्यकृत्**" की निष्पत्ति "**सामर्थ्य कृन्तति**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार कृती धातु से क्विप् प्रत्यय होने से होती है, तथा "**मित्राणाम्**" के साथ सम्बन्ध होने पर "**सामर्थ्य करोति**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार कृञ् धातु से क्विप् प्रत्यय होने से होती है । इसप्रकार इस उदाहरण के अन्दर **प्रकृति श्लेष** है ।

अर्थ—(६) (**पदश्लेष** का उदाहरण) **पृथुकार्तेति**—[नोट—इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ···पर दोष परिच्छेद के अन्दर सन्दिग्धत्वदोष की कहीं अदोषता भी होती है—इसप्रकरण में की जा चुकी है ।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अर्थ ज्ञान के लिये समस्त पदों के भङ्ग होने पर [तथा च—"**पृथुकार्तस्वर**" इत्यादि में **पृथु-कार्तस्वर** इत्यादि रूप से और **पृथुक-अर्तस्वर** इत्यादि रूप से पदों का विश्लेषण होने पर] विभक्ति और समास की भी [**राजपक्षमें पृथूनि कार्तस्वरपात्राणि यत्र** इस क्रम से, और **याचक पक्ष** में "**पृथुकानां आर्तस्वरस्य पात्रम्**" इस क्रम से केवल पदों की ही विलक्षणता नहीं है, अपितु बहुव्रीहि आदि समास के घटक प्रथमादि विभक्ति की और बहुव्रीहि आदि समास की भी] विलक्षणता होने से ("अपि" से प्रकृति का भी ग्रहण होता है) **पदश्लेष** है, **प्रकृतिश्लेष** नहीं ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में "**पृथुकार्तस्वरपात्रम्**" इत्यादि पदों के ही श्लिष्ट होने से अतिशय वैचित्र्य की उत्पत्ति होती है, अतः **पदश्लेष** रूप से ही व्यवहार होता है । **आशय** कहने का यह है कि कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि "**पृथुकार्तस्वरः**" इत्यादि में "**पृथुकार्तस्वरः**" और "**पृथुक-आर्त-स्वर**" इत्यादि शब्दों के अन्दर प्रातिपदिक रूप **प्रकृतिश्लेष** भी हो सकता है ? परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ पर समस्त पदों के भङ्ग होने पर विभक्ति और समास के अन्दर भी विलक्षणता आ जाती है, अतः "प्रकृतिश्लेष" न होकर "पदश्लेष" ही है ।

(२) **पदश्लेष** और **प्रकृतिश्लेष** में अन्तर—**पदश्लेष** तो यथा सम्भव पदों के भङ्ग होने पर विभक्ति और समास की विलक्षणता होने पर होता है, और **प्रकृतिश्लेष** के अन्दर इसप्रकार विभक्ति और समास की विलक्षणता नहीं होती है ।

एवं च—

'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेषः । अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः ।

अर्थ—और इसप्रकार अर्थात् प्रकृति और विभक्ति की विलक्षणता से **पदश्लेष** के स्वीकार कर लेने पर **नीतानामिति—**[**प्रसङ्ग**—किसी नायिका के नेत्रों का यह वर्णन है ।] अनेक बाणों को धारण करने वाले व्याधों से भय की व्याकुलता को प्राप्त, वन में वृद्धि को प्राप्त हुये मृगों के नेत्रों के (कमलानाम्) समान (सुन्दर) उस (नायिका) के नेत्र (सुशोभित हो रहे) हैं । **पक्षान्तरे**—सुगन्धि के लोभी अनेक भ्रमरों से व्याकुलता को प्राप्त, जल के अन्दर (बने) वृद्धि को प्राप्त हुये कमलों के समान (सुन्दर) उस (नायिका) के नेत्र) (सुशोभित हो रहे) हैं । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) लुब्ध-शिलीमुखादि ("आदि" पद से वन और कमल का ग्रहण होता है) शब्दों के श्लिष्ट होने पर भी विभिक्त (और समास) के अभिन्न होने से (विलक्षणता का अभाव होने से) **प्रकृतिश्लेष** है, अन्यथा (विभक्ति आदिकों के अभेद स्थलों पर भी **पदश्लेष** को मान लेने पर) सर्वत्र (वर्णश्लेष स्थल मात्र में) **पदश्लेष** का प्रसंग होगा । [इसप्रकार **पदश्लेष** से असंकीर्ण **प्रकृतिश्लेष** का उदाहरण ही नहीं होगा, और प्रकारान्तर से प्राचीन आचार्यों द्वारा स्वीकृत **प्रकृतिश्लेष** की समाप्ति हो जायेगी ।]

टिप्पणी—आशय यह है कि "पदश्लेष" वहीं माना जाता है, जहाँ विभक्ति, समास आदि का भेद होता है । जैसे—"**पृथुकार्तस्वर**" इत्यादि पद्य में । यदि विभक्त्यादि के अभेद में भीं पदश्लेष मानें तो सर्वत्र पदश्लेष ही हो जावेगा और प्रकृति श्लेष कहीं भी नहीं होगा । क्योंकि केवल प्रकृति का बिना प्रत्यय के—तो कहीं प्रयोग होता ही नहीं । "**नापि केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः**"यह महाभाष्य का नियम है, अतः प्रत्यय के अभेद में प्रकृतिश्लेष और प्रत्ययादि के भेद में पदश्लेष माना जाता है ।

सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः ।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥'

अत्र 'हर' इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप् । पक्षे हृधातोस्तिङिति विभक्तेः । एवं 'भव' इत्यादौ ।

अर्थः—(७) **विभक्तिश्लेष** का उदाहरण) **सर्वस्वमिति**—[**प्रसङ्ग—**शिवजी के प्रति उसके भक्त की और पुत्र के प्रति चोर की उक्ति है ।] **शिवपक्षे**–(हे) शिवजी ! आप सम्पूर्ण (संसार) के सर्वस्व हो [अर्थात् **ईशावास्यमिदंसर्वं यत् किञ्चज्जगत्यां जगत्**" इस श्रुति के अनुसार आप ही प्राप्तव्य होने के कारण सर्वदा ही उपास्य हो ।] (तथा) संसार (के सम्पूर्ण दुःखों) को खण्डन करने में (ध्वंस करने में) तत्पर हो **अन्यत्र**–(आप अपने भक्तों के) संसार के जन्म-मरण रूप अविद्या कृत प्रवाह को नष्ट करने में (मुक्ति देकर उससे उद्धार करने में) तत्पर हो, नीतिप्रदर्शन के द्वारा उपकार के अनुकूल शरीर धारण करते हो अर्थात् संसार के कल्याण के लिये पौनः पुन्येन जन्म ग्रहण करते हो । **पक्षान्तरे**—(हे पुत्र !) तू सभी (मनुष्यों) के सम्पूर्ण धन का (सर्वास्वं) अपहरण कर ले–चुराले (हर); (इस कार्य में यदि कोई प्रति वन्धक हो तो उसको) नष्ट करने में (मारने में) तत्पर हो जा, (दूसरो को) दुःख देने वाली जीविका का (वर्तनम्) विस्तार कर (तनु) (और दूसरे का) उपकार करने की सन्मुखता को दूर करदे अर्थात् उपकार करने से विमुख हो जा ।

टिप्पणीः—(१) **उद्योतकार** शिवजी के पक्ष में अर्थ इसप्रकार करते हैं:—**छेद तत्परोभव**—संसार के बन्धनों को नष्ट करने में तत्पर होइये, **उपकार सान्मुख्यं नय**—हमको दूसरो के प्रति उपकार करने वाला बनाइये, **आयासि**—परिश्रम से प्राप्त होने वाले **वर्तनम्**— तपश्चर्यादि योगियों के जीवन का **तनु**—विस्तार कीजिये, हमारे सर्वस्व का अपहरण करके तपस्या में लगाइये जिससे हमें मुक्ति मिल जावे ।

अर्थः—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**हर**" यह (रूप एक) पक्ष में शिवजी के प्रति सम्बोधन है, अतः (उसके अन्दर विद्यमान) "सुप्" (विभक्ति) है । और (दूसरे चोर) पक्ष में (हरणार्थक) "हृञ्" धातु के (बाद में होने वाली) "तिङ्" इस (के अन्तर्गत लोट् लकार की "सिप्") विभक्ति का (श्लेप) है । इसीप्रकार (जिसप्रकार यहाँ पर "सुप् और "तिङ्" का श्लेष है, उसीप्रकार) "**भव**" इत्यादि में ("आदि" पद से **नय-आयासि** और **तनु** का ग्रहण होता है)" [तथा "भव" की शिवजी के पक्ष में सम्बोधन रूप से और चोर पक्ष में क्रिया पदरूप से "सुप्-तिङ्" विभक्ति है । इसीप्रकार अन्यों के विषय में भी समझना चाहिये ।

अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यसुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्पृथगुक्तिः ।

'महदे सुरसन्धं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे सहसा ॥'

अत्र संस्कृतमहाराष्ट्र्योः ।

प्रश्न—सुप् और तिङ् विभक्ति के भी प्रत्यय रूप होने से "प्रत्यय श्लेष" से ही "विभक्ति श्लेष" की भी गतार्थता सिद्ध हो जावेगी ? अतः पुनः "विभक्तिश्लेष" को मानने की आवश्यकता नहीं है ? इसका **उत्तर** देते हैं:—

अस्येति—और इस भेद के (अर्थात् विभक्तिश्लेष रूप प्रकार के) प्रत्यय श्लेष से भी चरितार्थ हो जाने पर अर्थात् भिन्न क्रम होने पर प्रत्यय श्लेष के अन्दर ही अन्तर्भूत हो जाने पर अन्य प्रत्ययों से "(क्विप्" आदि से सिद्ध न होने वाले सुबन्त और तिङन्त गत होने से अतिशय वैचित्र्य का प्रतिपादन करने के कारण [क्योंकि कृदन्त और तद्धितान्त प्रत्ययों की सु आदि से पृथक् प्रयोग न होने से दूसरे प्रत्पयों से साध्यया है, किन्तु सुबन्त और तिङन्त वैसे नहीं है अतः] पृथक् कथन किया है ।

टिप्पणीः—"आयासि" यहाँ प्रकृति और विभक्ति की विलक्षणता से "पद-श्लेष" भी समझना चाहिये ।

अर्थ—(८) (**भाषाश्लेष** का उदाहरण) **महदे इति**—[**प्रसङ्ग**—**आनन्दवर्धनाचार्य** द्वारा प्रणीत देवीशतक में दो भक्तों की यह प्रत्युक्ति है] **संस्कृतार्थ**—(हे) **महदे**—उत्सव को देने वाली ? **उमे**—पार्वती ! **मे**—मेरी **तम्**—उस, **सुरसन्धम्**—देवताओं के द्वारा भी प्रार्थनीय अथवा देवताओं को भी जिससे सम्यक् ज्ञान होता है ऐसे, **आगमाहरणे**—वेद विद्या के उपार्जन में **समासङ्गम्**—आसक्ति की, **अव**—रक्षा कीजिये ! (तथा) **अवसरे**—उचित समय के आने पर **बहुसरणं**—अनेक प्रकार से व्याप्त होने वाले **चित्तमोहं**—अज्ञान को **सहसा**—झटिति **हर**—विनष्ट कीजिये । **महाराष्ट्री भाषा का अर्थः**—

यह देसु रसं धम्मे तमवसम् आसम् गमागमा हरणे ।
हरबहु सरणं तम् चित्तमोहम् अवसरउ मे सहसा ॥ यह पदच्छेद हैं ।
["मम देहि रसं धर्मे तमोवशाम् आशाम् गमागमात् हर नः ।
हरबधु ! शरणं त्वं चित्तमोहम् अपसरतु मे सहसा ।'इति संस्कृतम् ।]

(हे) **हरबधुः**—शिवजी की वधू पार्वती ! **धर्मे**—पुण्यकर्म में **मम रसं**—मुझे प्रीति **देहि**—दीजिये अर्थात् मुझे धर्म विषयक प्रेम प्रदान कीजिये ? **नः**—हमारी **गमागमात्**—जाने अर्थात् मरने और आने अर्थात् पुनर्जन्म वाले संसार से **तमोवशाम्**—तमोगुण से युक्त **आशाम्**—सांसारिक सुख की इच्छा को **हर**—दूर कीजिए ? **त्वं**—आप **मे**—मेरी (एक मात्र) **शरणं**—शरण हैं–रक्षा करने वाली है (आप) **सहसा**—शीघ्र ही (मेरे) **चित्तमोहम्**—अज्ञान जन्म चित्तके व्यामोह को **अपसरतु**—दूर कीजिये ? **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) संस्कृत और महाराष्ट्री भाषा का (श्लेष) है ।

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः ॥१२॥

एतद्भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथासम्भवं ज्ञेयम् ।

टिप्पणी—(१) उत्कृष्ट प्राकृत भाषा ही **महाराष्ट्री** कही जाती है । **दण्डी** ने कहा भी है कि—

"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतु बन्धादियन्मयम् ॥ न तु—
"भक्ति विना वशनोहे वीण्याने वा मृदङ्गवादानें ।
करुन्यादानफलातें केवीं पावे मृदङ्गनादानें ॥"

इत्यादि महाराष्ट्र जनों में सुप्रसिद्ध गाथा है—ऐसा समझना चाहिये ।

(२) **भाषासमालंकार** के लक्षण में "**भाषासुविविधास्वपि**" इसके अनुसार एक प्रकार के ही शब्दों से अनेक भाषाओं में वाक्य की उपपत्ति वाले स्थलों पर **भाषासम**—होता है, और केवल दो भाषाओं के होने पर तो "**भाषाश्लेष**" ही होता है । यह पहले कहा जा चुका है ।

(३) **भाषासम अलंकार** के अन्दर भाषाओं की एकरूपता होनी चाहिये—अर्थ के अन्दर भेद नहीं होना चाहिये । यहाँ **भाषा श्लेष** में तो "**महदे सुरसन्धं** में पदों की भी अनेक अर्थता होती है—यही इन दोनों में भेद है ।

अवतरणिका— इसप्रकार वर्णादिगतत्वेन आठ प्रकार के **श्लेषालंकार** का प्रतिपादन करने के उपरान्त पुनः प्रकारान्तर से तीन प्रकार का प्रतिपादन करते हैंः—

अर्थ—(१) सभङ्ग (पदों के विश्लेषण से निष्पन्न होने वाला) श्लेष, (२) अभङ्ग (पदों के समान होने पर भी अनेकार्थों का प्रतिपादन करने से निष्पन्न होने वाला) श्लेष, (और) (३) सभङ्गाभङ्ग श्लेष (वाक्य के किसी अंश में सभङ्ग और किसी अंश में अभङ्ग) (इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकार का यह **श्लेषालंकार**) **पुनः** तीन प्रकार का (होता) है । **एतदिति**—और ये तीनों भेद पूर्वोक्त आठ भेदों में यथा-सम्भव [अर्थात् "**पृथुकार्त्तस्वरपात्रम्**" और "**महदे सुरसन्धम्मे**" इत्यादि में **सभङ्ग श्लेष, प्रतिकूलतां किरणाः "सर्व एव सुधाकिरः" और "नीतानामाकुलीभावम्"** इत्यादि में **अभङ्गश्लेष**, "**सर्वस्वं हर सर्वस्व**" इत्यादि में **सभङ्गाभङ्गश्लेष**] समझने चाहिये ।

टिप्पणी—आशय कहने का यह है कि **पदश्लेष–विभक्तिश्लेष–भाषाश्लेष**—ये तीन तीन प्रकार के ही होते हैं, इनसे पृथक् पाँच वर्णश्लेषादि के अभङ्ग स्वरूप ही होते हैं । अतएव वर्णश्लेषादि पाँच—पदश्लेष–विभक्तिश्लेष–और भाषाश्लेष में से प्रत्येक के तीन तीन भेद—इस प्रकार कुल मिलाकर **चौदह प्रकार के श्लेष होते हैं ।**

अवतरणिका—सभङ्गश्लेष-अभङ्गश्लेष और सभङ्गाभङ्गश्लेष—इन तीनों के उदाहरण एक स्थान पर दिखाते हैं—

यथा वा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयोगङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥'

अर्थ—अथवा (अन्य उदाहरण)–**यथा**–**येनेति**–[**सुभाषितावली में चन्द्रक** कवि का विष्णु और शिवजी—इन दोनों के ही द्वारा आशीर्वादात्मक यह पद्य है ।] **विष्णुपक्षे**–अजन्मा (**अभवेन = न विद्यते भवो—जन्मा यस्य तेन तथोक्तेन** अथवा **न भवः-संसारो यस्मात् तेन वा**) जिस (श्रीकृष्ण जी) ने शकटासुर को (**अनः–शकट तत्र विलीनः शकटासुर**) नष्ट कर दिया [प्राचीन काल में श्रीकृष्ण जी ने शकट रूप धारण करने वाले शकटासुर को अपने पादप्रहार से ध्वंस कर दिया था—ऐसी पौराणिकी कथा है ।] (और) बलि नामक दैत्य को जीतने वाले (जिन विष्णु जी ने अपने) शरीर को प्राचीन काल में (अमृत मन्थन के अवसर पर) स्त्रीरूप बना दिया [प्राचीन समय में अमृत के लिये झगड़ते हुये देवताओं और असुरों को अमृत बाँटने के लिये माया से भगवान् विष्णु ने मोहिनी रूप धारण किया था—ऐसी पौराणिकी कथा है ।], और जिन्होंने हृद्ल कालियनाग का दमन किया **अथवा** उद्धत स्वभाव वाले भुजङ्ग रूप धारण करने वाले अधासुर का हनन किया **अरेरिदं–आरभ्**–शत्रु सम्बन्धित लं-सैन्य के प्रति **याति**—आक्रमण के लिये जाने वाला है, **अथवा** शब्दों का जिसमें य होता है, ऐसे [नामरूपात्मक ससार का ब्रह्म में लय हो जाता है, ऐसा वेदान्तियों ा मत है ।] और जिन्होंने गोवर्धन पर्वत को (**अगम्**) और पृथिवी को (श्रीकृष्ण और वराह रूप से) धारण करता है, और देवतागण राहु के शिर का छेदन करने वाला अर्थात् "शशिमच्छिरोहर" [**शशिनं-चन्द्रं मथ्नाति-पीड़यति इति शशिमत्-राहुस्तस्य शिरोहरति-छिनत्ति इति "शशिमच्छिरोहर"** ।] इस प्रकार का स्तुत्य नाम जिसका कहते हैं, अपने आप ही (अपने कूटव्यवहार से ही) यादवों के (द्वारिकारूप) निवास को (**क्षयम्**) करने वाला है, ऐसे वह सभी अभीष्ट को देने वाले (**सर्वदा**) लक्ष्मी पति (**मायाः–लक्ष्म्याधवः–पतिः = हरिः**) श्रीकृष्ण जी तुम्हारी रक्षा करें ।

हरपक्षे—कामदेव को दग्ध करने वाले जिन्होंने प्राचीन काल में (त्रिपुरदाह के अवसर पर) विष्णु के शरीर को (वामनरूप धारण करके बलि नामक दैत्य को जीतने वाले विष्णु के शरीर को **वलिजित्कायः**) अस्त्ररूप से धनुषपर आरोपित किया [**अस्त्रीकृतः**—विष्णु के शरीर को बाण बनाकर शिव जी ने त्रिपुरासुर का वध किया था—ऐसी पौराणिकी कथा है] **अथवा** नारी कर दिया (मोहिनी रूप को देखने की इच्छा से शिव जी द्वारा भेजे हुए विष्णु जी ने अमृतमन्थन के समय मोहिनी रूप धारण किया था—ऐसी पौराणिकी वार्ता है ।] और जिसके भयानक स्वरूप वाले भुजङ्ग हारस्थानीय और कङ्कणस्थानीय है, और जिसने (अपने शिर पर) भागीरथी को धारण किया है, देवतागण जिसके मस्तक को चन्द्रमा से युक्त तथा "हर" इस प्रकार का स्तुत्य नाम वाला कहते हैं, (तथा) जो स्वयं अन्धकासुर का मारने वाला है, वह पार्वती जी के पति (**उमायाः–पार्वत्या धवः–पतिः**) शिव जी हमेशा (**सर्वदा**) तुम्हारी रक्षा करें ।

अत्र 'येन–' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः। 'अन्धक–' इत्यादावभङ्गः। अनयोश्चैकत्र सम्भवात्सभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्नोदाहृतः।

अत्र केचिदाहुः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः। यत्रोदात्तादिस्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेन श्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव। यत्र स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः। यो हि यदाश्रितः स तदलङ्कार एव। अलङ्कार्यालङ्करणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में तीनों प्रकार के श्लेषों को दिखाते हैं) **अत्रेति**—इस (उदाहरण) में "**येन ध्वस्त मनो भवेन**" इत्यादि में ("आदि" पद से "**उद्वृत्त**" इत्यादिकों का ग्रहण होता है) **सभङ्गश्लेष** है। "अन्धक" इत्यादि में ("आदि" पद से **शशिमच्छिरोहरः** का ग्रहण होता है) **अभङ्गश्लेष** है। और इन दोनों के (**सभङ्ग और अभङ्ग** के) एक ही उदाहरण में मिल जाने से **सभङ्गाभङ्गात्मकश्लेष** का ग्रन्थ गौरव के भय से पृथक् उदाहरण नहीं दिया है।

टिप्पणी—यद्यपि इस उदाहरण में विष्णु के पक्ष में "**शशिमत्**" पद की राहु के अर्थ में **अप्रयुक्तता** है और "**क्षय**" पद की निवास अर्थ में **निहितार्थता है,** तथापि अतिशय वैचित्र्य को उत्पन्न करने वाले होने से श्लेष के निर्वाह के कारण दोष नहीं है।

अवतरणिका—सम्प्रति "**सभङ्गश्लेष** शब्दश्लेष विषयक **है और अभङ्गश्लेष** अर्थश्लेष विषयक है" इस मत को मानने वाले अलंकार सर्वस्वकारादिकों के मत का प्रतिपादन करके उसका खण्डन करने के लिये **पूर्वपक्ष** उठाते हैं—

अर्थ—(पूर्वपक्ष) इस विषय में (**सभङ्ग और अभङ्गश्लेष** को **शब्दार्थालंकार** मानने के विषय में) कुछ का (अलंकार सर्वस्वकारादिकों का) कहना है कि—**सभङ्गश्लेष** ही शब्दश्लेष है [अभङ्ग नहीं, अतः सभङ्गश्लेष ही शब्दालंकारों में परिगणनीय है क्योंकि] जिस (सभङ्गश्लेष) में उदात्तादि स्वरों के भेद से [**उच्चैरुदात्तः। नीचैरनुदात्तः। मध्यमः स्वरितः।** यहाँ "आदि" पद से अनुदात्त-स्वरित और अनुनासिकादि काकु भेदों का ग्रहण होता है। भिन्न प्रयत्नों से उच्चारणीय होने से (स्वरों के भेद से उत्पन्न बाह्य और आभ्यान्तर प्रयत्नों के भेद से) भिन्न (समास भेद से स्वर के अन्दर भेद हो जाने से भिन्नता को प्राप्त) भी शब्दों का **जतुकाष्ठन्याय** के समान श्लेष (होता) है। [अर्थात् लाख के संयोग से पूर्व काष्ठ विद्यमान है, पश्चात् लाख के संयोग से जिसप्रकार जतु और काष्ठ का श्लेष है, उसीप्रकार भिन्न प्रयत्नों से उच्चारणीय होने से भिन्न शब्दों का श्लेष **सभङ्गश्लेष** है, और क्योंकि यह शब्द का विषय है, अतः **शब्दश्लेष** है।] **अभङ्गश्लेष** तो अर्थ श्लेष ही है। जिस (अभङ्ग श्लेष) में स्वर के अभेद से (समास की अभिन्नता होने से उदात्तादि स्वरों में भी भिन्नता नहीं होती है) अभिन्न (एक) प्रयत्न से उच्चारणीय होने से शब्द की एकता से (दो) अर्थों का [अर्थात् स्वरूप से भिन्न होते हुये की तरह एक स्थान से

तदन्ये न क्षमन्ते । तथाहि—अत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यदोषगुणालङ्कारा-णां शब्दार्थगततत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति ।

उत्पत्ति होने के कारण सहोदर के समान कवि की प्रतिभा की महिमा से अभिन्नरूप से प्रतीत होने वाले अर्थों का] एक डाल पर विद्यमान दो फलों के न्याय के समान श्लेष (होता) है । [जिस प्रकार एक वृन्त पर दो फल लगे रहते हैं, उसीप्रकार एक ही प्रयत्न से उच्चरित एक शब्द में दो अर्थों के रहने से **अर्थश्लेष** है ।] क्योंकि जो जिसका आश्रय लेकर रहता है, वह उसी (आश्रय) का ही अलंकार है, (और इस प्रकार) अलंङ्कार्य और अलङ्करण की लोक के समान (लौकिक अलङ्कार्य और अलंकार के समान) आधाराधेय भाव से (शब्दश्लेष और अर्थश्लेष की) निष्पत्ति होती है ।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि—लोक में कटक-कुण्डलादि अलंकार जिस हस्त आदि अवयव में रहते हैं, वह अवयव अलंकार्य होता है और उस अवयव का वह अलंकार होता है । इसीप्रकार जो अलंकार जिस आश्रय में रहता है, वह उसीका अलंकार होता है, जिसप्रकार कङ्कण हाथ का, और कुण्डल कर्ण का इत्यादि । उसीप्रकार केवल शब्द के आश्रित **सभङ्गश्लेष** शब्दश्लेष कहलाता है, और केवल अर्थ के आश्रित अभङ्गश्लेष अर्थश्लेष कहलाता है । अतः सभङ्ग और अभङ्ग उभया-त्मक उदाहरण "**येन ध्वस्त**" इत्यादि में "**ध्वस्तमनोभवेन**" इत्यादि में शब्द श्लेष और "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि में अर्थ श्लेष है ।

अर्थ—(**पूर्वपक्ष** का खण्डन करते हैं—**उत्तर पक्ष**) उसको (पूर्वोक्त प्रकार वाले पूर्वपक्ष वालों के मत को) दूसरे (काव्यप्रकाशकारादि) स्वीकार नहीं करते हैं; क्यों-कि—इस (अलंकार शास्त्र) में ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्य-दोष-गुण और अलंकारों का **शब्दगततत्वेन**, अर्थगततत्वेन और शब्दार्थोभयगततत्वेन व्यवस्था का अन्वय और व्यति-रेक की अनुकूलता से निर्णय होता है । [**तथा च तत्सत्वे तत्सत्ता अन्वयः** यथा-दण्ड-चक्र—आदि के होने पर घड़े की उत्पत्ति हो जाती है—यह अन्वय है । **तदभावे तद-भावश्च व्यतिरेकः**—यथा—दण्ड-चक्र—आदि के न होने पर घड़े की उत्पत्ति भी नहीं होती है—यह व्यतिरेक है । इसीप्रकार जहाँ उन-उन शब्दों के होने पर ध्वनि आदि की विद्यमानता है, और उन-उन शब्दों के न होने पर ध्वनि आदि नहीं रहती है, तो वहाँ ध्वन्यादिकों की शब्दगतता है, अन्यथा अर्थगतता है । अतः, **अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि में एक शब्द के न होने पर भी अर्थश्लेष नहीं है क्योंकि शब्द परिवृत्तिसह होने से यहाँ पर शब्दों की ही प्रधानता है ।] ["शब्द के अभेद से अर्थश्लेष होत है"—

न च 'अन्धकक्षय–' इत्यादौ शब्दाभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात्। किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोट्टङ्कनाच्छब्दालङ्कारत्वमेव। विसदृशशब्दद्वयस्य बन्धे चैवंविधस्य वैचित्र्याभावाद् वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वात्।

इसका **निराकरण** करते हैं।] **न चेति**—और "अन्धकक्षयकरः" इत्यादि में शब्दों का अभेद है, ऐसा नहीं (कहना चाहिये), (क्योंकि) "**अर्थभेदेनशब्दभेदः**" अर्थात् अर्थ के भिन्न होने से शब्द भी भिन्न होते हैं—ऐसा नियम होने के कारण। [**आशय** यह है कि—"**यावन्तः एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्तएवहि**" यह मीमांसकों की उक्ति है, अथवा "**सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति**" इति न्यायात्, अथवा "**प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः**" ऐसा सिद्धान्त है। अर्थात् जितने अर्थ होंगे, उतने ही शब्द भी होने चाहिये। एक वार उच्चारण किया हुआ शब्द, एक वार ही अर्थ का ज्ञान कराता है, और प्रत्येक अर्थ के लिये पृथक्-पृथक् शब्द होन चाहिये—इनके आधार पर प्रकृत उदाहरण में विष्णु के पक्ष में "अन्धक" शब्द का **यादव** अर्थ होने के कारण और शिवजी के पक्ष में **दैत्यविशेष** अर्थ होने के कारण–इस इसप्रकार अर्थ के भिन्न होने से "**अन्धक**" शब्द के अन्दर भी भेद अवश्य होना चाहिये। अतः "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि में अर्थश्लेष न होकर "शब्दश्लेष" ही है।] **किञ्चेति**—तथा यहाँ (अभङ्गश्लेष वाले "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि स्थल पर) शब्द के ही ("**अन्धक**" इत्यादि शब्द मात्र के ही, अर्थ के नहीं) मुख्य रूप से चमत्कार ज्ञान के कारण होने से (क्योंकि यदि "अन्धक" शब्द नहीं होगा तो चमत्कार की उत्पत्ति भी नहीं हो सकती) (तथा) कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उत्थापित होने से (इस "अभङ्ग-श्लेष" की) **शब्दालङ्कारता** है। [**अर्थात्** "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि में "**अन्धक**" इत्यादि शब्द समूह की ही विचित्रता है क्योंकि यदि यह शब्दसमूह नहीं होगा तो चमत्कार भी नहीं होगा, अतः इस चमत्कार के शब्द के अधीन होने के कारण प्रकृत उदाहरण में शब्दालङ्कारत्व ही है, अर्थालङ्कारत्व नहीं, क्योंकि "**गौणमुख्ययोर्मुख्येकार्यसम्प्रत्ययः**" इति न्यायात्।] **विरुद्धशेति**—तथा (च) दो भिन्न प्रकार के (असमान श्रुति वाले) शब्दों की रचना में (अर्थात् "**यादवध्वंसकरः**" "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि रूप भिन्न दो शब्दों की रचना में) इसप्रकार की ("अन्धकक्षय" इत्यादि दो समान शब्दों की रचना के समान) विचित्रता के न होने से और विचित्रता के ही अलङ्कार के नियामक होने के कारण [उक्त उदाहरण में दो अर्थों की मुख्यता स्वीकार कर लेने पर भी किसी प्रकार की विचित्रता न होने से अभङ्गश्लेष अर्थालङ्कार नहीं है—यह भाव है।]! [**प्रश्न**—"सभङ्गश्लेष" के अन्दर अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा न होने से केवल शब्दों के मेल से ही "**शब्दालङ्कारता**" हो जाती है, किन्तु "अभङ्गश्लेष" के अन्दर तो अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा होने से **अर्थालङ्कार** होना चाहिये? इसका **समाधान** करते हैं।]

अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयार्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः। शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्वं तवापि प्रसज्ज्यतीत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव। यत्र तु शब्दपरिवर्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

अर्थ—अर्थमुखेति—अपि च (च), किञ्चिन्मात्र अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा होने के कारण अर्थात् जो अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा करता है, वह अर्थालङ्कार होता है, इसप्रकार (अर्थमुखप्रेक्षितया) (सभङ्ग श्लेष में) **अर्थालङ्कार** स्वीकार कर लेने पर **अनुप्रासादिकों** (शब्दालङ्कारों) को भी ("आदि" पद से **वक्रोक्ति–भाषासम और यमकादिकों** का ग्रहण होता है) रसादिपरक होने के कारण (अर्थात् रसादिकों के उत्कर्ष को करने के अभिप्राय से प्रयुक्त होने कारण। "आदि" पद से **रसाभासादिकों** का ग्रहण होता है।) (उसीप्रकार) किञ्चिन्मात्र अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा होने से (अर्थमुखप्रेक्षितया) अर्थालङ्कार मान लेने का प्रसङ्ग आता है (क्योंकि अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा न करने से रसादिकों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।) [इसके बाद पुनः सिंहावलोकन करते हुये "**स्वरभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दार्थयोरेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः**" इस मत का खण्डन करते हैं।।] **शब्दस्येति**—शब्द के एक (अभिन्न) प्रयत्न से उच्चारणीय होने से **अर्थालङ्कार** स्वीकार कर लेने पर "**प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ**" इत्यादि में ("**विधौ**" यहाँ पर समास के न होने से स्वर की अभिन्नता से एक प्रयत्न से ही दोनों शब्दों के उच्चारण होने से दो अर्थों की प्रतीति होती है।) शब्द की भिन्नता होने पर भी (एक प्रयत्न से उच्चारणीय होने से) **अर्थालङ्कारता** तुम्हारे भी (मत में) घटित होती है, अतः दोनों ही स्थलों पर [अर्थात् "**येन ध्वस्तमनोभवेन**" इत्यादि सभङ्गश्लेष में और "**अन्धकक्षयकरः**" इत्यादि अभङ्गश्लेष में] शब्दालङ्कारता ही है। (अतः "**स्वराभेदात्**" इत्यादि जो कहा है, यह ठीक नहीं है।)! [**प्रश्न**—इसप्रकार "अभङ्गश्लेष" को शब्दालङ्कार अर्थात् शब्द श्लेष मान लेने पर अर्थालङ्कार का अर्थात् अर्थश्लेष का कहीं अवसर ही नहीं आवेगा क्योंकि सर्वत्र शब्दश्लेष की ही उपपत्ति हो जायेगी ? इसका **समाधान** करते हैं।] **यत्रत्विति**—जहाँ तो शब्द के बदल देने पर भी (अर्थात् पर्यायवाची शब्द के रख देने पर भी) श्लेष का व्याघात नहीं होता है, वहाँ (**अर्थश्लेष** होगा—**यथा**)—

'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥'

इत्यादावर्थश्लेषः ।

अर्थ—स्तोकेनेति—आश्चर्य है कि तराजू की डण्डी का (तुलाकोटेः) और दुर्जन का व्यवहार समान है—तथाहि—(दोनों ही) थोड़े से (भार को डालने से और द्रव्य को देने से) ऊपर को और अहंकार को प्राप्त हो जाते हैं, (तथा पुनः) थोड़े (भार को निकाल लेने से और द्रव्य के नाश हो जाने से) नीचे को—और अधः पतन को प्राप्त हो जाते हैं ।"—इत्यादि में "**अर्थश्लेष**" है । [यहाँ पर "उन्नति" और "अधोगति" शब्दों के परिवर्तन कर देने पर भी अथवा स्तोकादिकों के स्थान पर "अल्प" आदि पदों का निवेश कर देने पर भी श्लेष का भङ्ग नहीं होता है, अतः "अर्थश्लेष" है । "**अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति**" इत्यादि में "**वक्ष्यति**" इत्यादि पदों के स्थान पर "धारयिष्यति' इत्यादि पदों के रख देने पर दो अर्थों की प्रतीति नहीं होती है, अतः वहाँ पर "शब्दालङ्कार" अर्थात् शब्दश्लेष है ।]

टिप्पणी—सारांश यह है कि ग्रन्थकार ने "**शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्**" इसके आगे "अर्थश्लेष" का लक्षण करके "**स्वभावादेकार्थैः**" ऐसा कहकर "शब्दश्लेष" से व्यवच्छेद किया है । अतः "स्वभाव से अनेकार्थक शब्दों से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने पर "शब्दश्लेष" और स्वभाव से एकार्थक शब्दों से अनेकार्थ का प्रतिपादन करने पर "अर्थश्लेष" होता है । "**अनेकार्थैः शब्दैरनेकार्थ प्रतिपादने शब्दश्लेषः, एकार्थैः शब्दैरनेकार्थाभिधाने तु अर्थश्लेषः**" यह दूसरों के मतानुसार है—इतना ही ग्रन्थकार का आशय प्रतीत होता है । इसलिये "केचित्" इससे और "**तदन्येनमन्यन्ते**" इससे दोनों का ही मत अभीष्ट नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । और इसीलिये "सभङ्गश्लेष के अन्दर शब्दश्लेष हैं" यह पूर्वमत का आधार है । "अभङ्गश्लेष" के अन्दर "अनेकार्थक शब्दों से एक अर्थ का प्रतिपादन करने पर "शब्दश्लेष" और एकार्थक शब्दों से अनेक अर्थों का प्रतिपादन करने पर "अर्थश्लेष" होता है—यह पर मत का आधार है । इससे "तदन्येन मन्यते" काव्यप्रकाशकारादि और उनके अनुयायियों का खण्डन कर दिया है ।

अवतरणिका—सम्प्रति "अन्य अलङ्कारों से पृथक् श्लेष का विषय नहीं होता है" अर्थात् जहाँ श्लेष होगा वहाँ कोई न कोई अन्य अलङ्कार अवश्य होगा, तथा दूसरे अलङ्कारों का श्लेष से पृथक् विषय होता है, अर्थात् अन्य अलङ्कार जहाँ होंगे वहाँ श्लेष होगा ही—ऐसा आवश्यक नहीं है । अतः दूसरे सामान्य अलङ्कारों को अपवादरूप से बाधित करके यह श्लेषालङ्कार ही कहलाता है, तथा दूसरे अलङ्कार श्लेष से मिले हुये श्लेष का ही ग्रहण कराते है" इस मत को मानने वालों के पक्ष का निराकरण करके "अन्य अलङ्कारों से भिन्न स्थलों पर ही श्लेष का व्यवहार होता है" इसका प्रतिपादन करते हैं—

अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयताया असम्भवाद्विद्यमानेष्वलंकारान्तरेष्वपवादत्वेन तद्बाधकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित् ।

इत्थमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेयतया नास्य गन्धोऽपि ।

अर्थ—(पूर्वपक्ष) और इस (श्लेष) के (श्लेष से भिन्न) अन्य अलङ्कारों से भिन्न विषय के न होने से (**"अलङ्कारान्तरेभ्यः विविक्तः–अपराभृष्टो विभिन्नो विषयो यस्य तस्य भावस्तत्तो तस्या स्तथोक्तायाः"**) अर्थात् जहाँ जहाँ श्लेषालङ्कार होगा, वहाँ-वहाँ किसी अन्य भी अलङ्कार के होने से (श्लेष सहित) विद्यमान अन्य अलङ्कारों के होने पर अपवाद रूप से (अर्थात् दूसरे अलङ्कारों से भिन्न विषय के न होने से) उन (सामान्यरूप अन्य) अलङ्कारों के बाधक होने के कारण (अर्थात् उनसे प्रबल होने से) उन (अलङ्कारों) की प्रतीति की उत्पत्ति का कारण होता है—ऐसा कुछ (आचार्यों) का मत है।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—**"बहु व्यापकं सामान्यमल्पव्यापको विशेषः"** इस न्याय के अनुसार जहाँ-जहाँ दूसरे अलङ्कारों की सम्भवनीयता होगी, वहाँ-वहाँ ही श्लेष की भी सम्भावना होगी क्योंकि अन्य अलङ्कारों से पृथक् विषय में श्लेष की स्थिति ही नहीं होती है। अतः अन्य अलङ्कारों से पृथक् सर्वथा ही श्लेष का विषय असम्भव होने से श्लेष की कहीं भी प्रसक्ति नहीं होगी इस अवस्था में स्पष्ट ही श्लेष विशेषरूप होने से अपवाद स्वरूप है—और अन्य अलङ्कार सामान्य रूप होने से उत्सर्ग रूप हैं। अतः **"सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्"** इस न्याय से श्लेषालङ्कार अन्य अलङ्कारों का बाधक हो जाता है क्योंकि **"येन ना प्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति"** इस न्याय से भी श्लेष की अन्य अलङ्कारों के विषय में बाधकता सिद्ध होती है। इसलिये एक स्थल पर विद्यमान भी अन्य अलङ्कारों को बाध कर श्लेष ही का प्रथम व्यवहार किया जाता है, किन्तु अन्य अलङ्कारों की प्रतीति श्लेष की प्रतीति से ही हुआ करती है।

अवतरणिका—सम्प्रति समासोक्ति आदि अलङ्कारों के अन्दर श्लेष से बाध्यता के भ्रम का सर्वप्रथम निराकरण करते हैं—

अर्थ—इस विषय में (श्लेष के विषय में) इसप्रकार (वे लोग) विचार करते हैं कि—**समासोक्तीति—समासोक्ति** और **अप्रस्तुतप्रशंसा** आदि में ("आदि" पद से **पर्यायोक्ति**—और **विरोधाभासादिकों** का ग्रहण होता है।) दूसरे अर्थ के (प्रकृत अर्थ के अथवा अप्रकृत अर्थ के) वाच्य न होने के कारण (केवल व्यञ्जना से गम्य होने के कारण) इस (श्लेष) की गन्ध (अंश) भी नहीं (होती) है। [क्योंकि व्यञ्जना से ही दूसरे अर्थ की प्रतीति हो जाती है। और दो अर्थों के अभिधेय होने पर ही **श्लेषालङ्कार**

'विद्वन्मानसहंस—' इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानसशब्दस्य चित्त-सरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते। सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्ति-धामतया प्राधान्यात्, श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम्।

होता है। इस प्रकार **समासोक्ति** आदि व्यञ्जना से बोध्य अलङ्कारों के विषय में **श्लेषालङ्कार** हो ही नहीं सकता है।] पूर्वपक्षियों के मत में **समासोक्ति यथा**—

"**उपादेशगेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।**
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥

अप्रस्तुतप्रशंसा—यथा—

एणालं सम्भ्रमेण त्यज गवय। मयं सैरिभ! स्वैरमास्व
क्षोमं मा यास्तरक्षो! विहर गिरिदरीं स्वेच्छयैवाच्छमल्ल!
पारीन्द्रः पारदृश्वा निखिल वनभुवः केवलं मोदतेऽसौ
माद्यत् कुम्भीन्द्र कुम्भस्थल गलित घन स्थूल मुक्ताफलौघैः॥

[**प्रश्न—श्लिष्ट परम्परित रूपक** में दोनों ही अर्थों के अभिधेय होने के कारण **श्लेष** की बाध्यता मान लेनी चाहिये? अतः कहते हैं कि—।] **विद्वदिति**—"**विद्वन्मानस हंस**—[अर्थात् (हे) विद्वानों के मानसरूपी मानसरोवर विशेष के हंस (राजन्)!] इत्यादि में **श्लेषगर्भ रूपक** में भी "मानस" शब्द के चित्त और सरोवर रूप (रूप्य रूपक) दोनों अर्थों के होने पर भी **रूपक** के द्वारा **श्लेष** बाधित होता है, (क्योंकि "मानस" शब्द के) सरोवर रूप अर्थ की ही (चित्तरूप अर्थ की भी नहीं) रूपक की प्रतीति के पर्यवसान के स्थान होने के कारण (**विश्रामधामतया**) प्रधानता है; क्योंकि **श्लेष** में दोनों ही अर्थों की समान बलता अर्थात् परस्पर निरपेक्ष होने के कारण प्रधानता होती है (**समकक्षत्वम्**)। [तथा **च**—विद्वानों के चित्त में हंस का संचरण असम्भव होने के कारण हंस के साथ मानस शब्द के सम्बन्ध की उपपत्ति के लिये चित्त में सरोवर का आरोप आवश्यक हो जाता है और यह आरोप ही **रूपक** है, और प्रतीति के पर्यवसान का स्थल होने के कारण प्रधान है, तथा **श्लेष** पहले प्रतीति का विषय होने के कारण उद्देश्य होने से अप्रधान है—इसप्रकार- **रूपक** के द्वारा **श्लेष** का बाध होता है। **तथा**—उक्त रीति के अनुसार चित्तरूप अर्थ के गौण होने के कारण दोनों ही अर्थों के परस्पर निरपेक्ष रूप से प्रधान न होने के कारण स्वतः भी **श्लेष** घटित नहीं होता है, अतः इस स्थल पर भी **श्लेष** की प्रसक्ति नहीं है। (२) **काव्यप्रकाश** में सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है—

यथा—

"विद्वन्मानसहंस! वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते!
दुर्गामार्गणनीललोहित! समित्स्वीकारवैश्वानर!
सत्यप्रीतिविधानदक्ष! विजयप्राग्भावभीम! प्रभो!
साम्राज्यं वरवीर! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥]

'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेषः । एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि ।

तेन 'येन ध्वस्त–' इत्यादौ प्राकरणिकयोः, 'नीतानाम्–' इत्यादावप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसंबन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

---

[**प्रश्न**—अच्छा ! यदि दोनों ही अर्थों के समकक्ष होने पर ही श्लेष की प्रतीति होती है, तो **श्लिष्ट विरोधाभासालङ्कार** में दोनों ही अर्थों के समकक्ष होने से **श्लेष** मान लेना चाहिये ? **उत्तर**—नहीं, ऐसा मानना ठीक नहीं है, क्योंकि—] **सन्निहितेति**—"समीपवर्ती है अप्रौढ अन्धकार जिसके ऐसी सूर्य की मूर्ति" यह विरोध है । "सन्निहित हैं केश रूपी अन्धकार जिसके ऐसी सौन्दर्य से देदीप्यमान शरीर वाली"—यह विरोध का परिहार है ।

(**प्रसङ्ग**—किसी नायिका का वर्णन है ।)—इत्यादि **विरोधाभास** में भी (शब्दशक्ति की महिमा से बुद्धि में) उपस्थित मात्र विरुद्ध अर्थ के (अर्थात् "सूर्य के पास अन्धकार की स्थिति" रूप अर्थ के) अयोग्य होने से शब्द का अनुभव न होने के कारण (**प्ररोहाभावात्**) **श्लेष** नही है । [क्योंकि यहाँ पर अर्थ की समकक्षता ही नहीं है । अतः "**विरोधाभास**" ही है । [**प्रश्न**—अच्छा तो फिर **पुनरुक्तवदाभास** के अन्दर **श्लेष** की प्रसक्ति हो जायेगी ? इसका **समाधान** करते हैं ।] **एवमिति**—इसी-प्रकार [अर्थात् जिसप्रकार **विरोधाभास** के अन्दर प्रतिभातमात्र दूसरे अर्थ के प्ररोह न होने से **श्लेष** नहीं होता है, उसी प्रकार] **पुनरुक्तवदाभास** में भी (**श्लेष** की प्रसक्ति नहीं होती) है । [**तथा च**—"**भुजङ्गकुण्डली**" इत्यादि में प्रतिभात मात्र सर्परूप अर्थ की पुनरुक्तता के ज्ञान से ही प्ररोह न होने के कारण पूर्ववत् ही **श्लेषालङ्कार** नहीं है । **निष्कर्ष**—कहने का अभिप्राय यह है कि—**समासोक्ति–अप्रस्तुतप्रशंसा रूपक और विरोधाभास** में **श्लेषत्वेन** व्यवहार नहीं होता है ।]

अवतरणिका—सम्प्रति वे कौन से अलङ्कार हैं जिनका श्लेष से बाध होता है ? इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिये कहते हैं कि—

अर्थ—अतः (अर्थात् **समासोक्ति** और **अप्रस्तुतप्रशंसादिकों** में **श्लेष** के प्रसङ्ग के न होने से ही बाध्यता के असम्भव होने से) "**येन ध्वस्त**—" इत्यादि में प्रकरण से प्राप्त विष्णु और शिवजी रूप दोनों ही अर्थों का (**प्राकरणिकयोः**) एक धर्म (गुणक्रियारूप) के साथ सम्बन्ध होने से अर्थात् "**पायात्**" इस एक रक्षण क्रिया में कर्तृत्वरूप से सम्बन्धित होने से (**एकधर्माभिसम्बन्धात्**); "**नीतानाम्**—" इत्यादि में प्रकरण से अप्राप्त कमल और मृग विशेषरूप उपमानत्वेन अप्रस्तुत अर्थों का (**अप्राकरणिकयोः**) एक धर्म (गुण क्रियादि किसी एक रूप) के साथ सम्बन्ध होने से अर्थात् पूर्वपक्ष में पालन रूप क्रिया के साथ सम्बन्धित होने से और उत्तरपक्ष में आकुलीभावादि रूप गुण के साथ सम्बन्धित होने से (**एकधर्माभिसम्बन्धात्**) "**तुल्ययोगिता**"

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम् ।
मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्टं प्रसूनविशिखः प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

इत्यादौ च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसम्बन्धाद् दीपके,

के विद्यमान होने पर भी [**विद्यमानायामपि** इसका आगे से अन्वय है ।
तुल्ययोगिता का लक्षण—

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदातुल्ययोगिता ॥] और **स्वच्छेति**—

[**प्रसङ्ग**—अपराधी के पुत्र से दण्डित किसी दुर्मति राजसेवक की यह उक्ति है ।] अपनी इच्छा से अथवा यथेष्ट (**स्वेच्छया**) प्राप्त की है सम्पत्ति (उपभोग के साधन द्रव्य) जिसने ऐसा भी राजा (**प्रभुः**) "दो" इसप्रकार के वचन को प्राप्त नहीं करता है । अर्थात् ऐसी वाणी नहीं कहता है, **अथवा** (उन विषयों का) अनुभव नहीं करता है । (**न याति**) (अपने सेवकों के द्वारा दूसरे के धन को) अन्वेषण करने में तत्पर सैकड़ों (सेवकों) से ("दो" ऐसा विना कहे ही सर्वस्व हरण करके) दुःख देता है (**मार्गणशतैः दुःखं ददाति**), **अथवा**—याचक समूहों से "दीजिये" ऐसा कहने का दुःख देता है [**अर्थात्** उन याचकों को "दीजिये" इसप्रकार की अनेक प्रार्थनाओं से होने वाले दुःख को देता है ।) "**मार्गणशतैः दुःखं ददाति**" । बुद्धिमान् राजा तो "दीजिये" ऐसा बिना कहे ही याचकों को धन दे देते हैं ।] (तथा) अज्ञानवश (अपराध के भ्रम से) असमय में (प्रजाजनों के) जीवन को नष्ट कर देता है, (अत एव) कामदेव (**प्रसूनविशिखः**) और मूर्ख (अल्पबुद्धि) राजा (मनुष्यों के लिये) कष्ट देने वाले होते हैं । **कामपक्ष में**—अपनी इच्छा से अथवा यथेष्ट उत्पन्न किये हैं लक्ष्य जिसने ऐसा अर्थात् स्वेच्छया कामिजनरूप लक्ष्यों को बींधता हुआ भी "शरीरी" है, ऐसा नहीं कहा जाता है (शरीर रहित होने के कारण) । सैकड़ों बाणों से (कामी-मनुष्यों को) दुःख देता है, (तथा) मोह से (कामविकार से जनित मोह को उत्पन्न करके) प्राणों को भी सहसा हरण कर लेता है । (अतएव) पुष्प ही हैं बाण जिसके ऐसा अर्थात् कामदेव (मनुष्यों को) अत्यधिक कष्ट देने वाला है (कष्टम्) !! इत्यादि में प्राकरणिक और अप्राकरणिक (उपमेय और उपमान रूप से प्रस्तुत और अप्रस्तुत राजा और काम) के एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने से ("**स्वेच्छोपजातविषयः**" इत्यादि रूप एक गुण के साथ सम्बन्ध होने से) **दीपकालङ्कार** के विद्यमान होने पर भी ["**विद्यमानायामपि**" इसका आगे से अन्वय है । **दीपक** का लक्षण—

"**अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते**" ॥] और **सकलकलमिति**—यह नगर

'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' ।

इत्यादौ चोपमायां विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद् एषां च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वप्रतीतेश्च श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः । अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथाभावप्रसङ्गाच्चेति ।

सम्प्रति चन्द्र मण्डल के समान (**कलकलेन सह वर्तत इति सकल कलम्**) कोलाहल से युक्त अन्यत्र (**सकलाः-समग्राः कलाः-षोडशोभागाः यत्र तादृशम्**) सम्पूर्ण कलाओं से युक्त हो गया । [सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधांशु बिम्बमिव ।
नक्षत्राधिकृतत्वं दधति करा यस्य सर्वत्र ।।

यहाँ पर "सकलकलत्व" रूप धर्म की समानता से नगर की चन्द्र बिम्ब से उपमा दी है ।]—इत्यादि में **उपमा** के [**उपमा** का लक्षण—

"**साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमाद्वयोः**"] विद्यमान होने पर भी **श्लेष** की इन (**तुल्ययोगिता–दीपक** और **उपमा** अलङ्कारों) के विषयों के (उदाहरणों के) परित्याग से स्थिति सम्भव न होने से (**अर्थात्**—इन अलङ्कारों के विषयों को छोड़कर **श्लेषालङ्कार** अन्यत्र कहीं हो ही नहीं सकता है, अतः इससे श्लेष की विशेष रूप से अपवादता सूचित की है ।) और इन (**तुल्ययोगितादि** अलङ्कारों) की **श्लेष** के विषयों के परित्याग कर देने से भी अर्थात् विना **श्लेष** के भी स्थिति के सम्भव होने से [इससे **तुल्ययोगितादि** अलङ्कारों की सामान्य रूप से उत्सर्गता सूचित की है ।], इन (**तुल्ययोगितादि** अलङ्कारों) के विषय में (उदाहरणों में) **श्लेष** के प्रधान होने से और वैचित्र्य की प्रतीति होने से **श्लेष** (नाम) से ही व्यवहार करना ("यह **श्लेषालङ्कार** है"—ऐसा कहना) ठीक है । अन्यथा (इस प्रकार के स्थलों पर **श्लेष** का व्यवहार न करने पर) उस (श्लेषालङ्कार) के व्यवहार का सर्वथा (सभी प्रकार से) अभाव का प्रसङ्ग होने से (**श्लेष** को स्वीकार करना ही व्यर्थ हो जावेगा) ।

टिप्पणी—(१) **प्रश्न**—**श्लेषालङ्कार** का सर्वथा ही अभाव का प्रसङ्ग नहीं होगा, क्योंकि "**प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ**" इत्यादि में तो **श्लेष** की विद्यमानता रहेगी ही ?

उत्तर—नहीं, यहाँ पर श्लेष नहीं है क्यों कि "भाग्य के अथवा चन्द्रमा के प्रतिकूल हो जाने पर अनेक साधनों का होना भी विफल हो जाता है" यहाँ पर अनेक साधनों की विफलता के कथन करने से **हेतु अलङ्कार** है । अतः "**श्लेष**" का सर्वथा ही अभाव हो जावेगा ।

(२) **पूर्वपक्ष** के मत का **सारांश** यह है कि—समासोक्ति आदि में द्वितीय अर्थ के केवल व्यञ्जनागम्य होने से "श्लेष" ही नहीं है, और रूपकादि में श्लेष होता हुआ भी रूपकादि की ही प्रधानता से श्लेष का बाध हो जाता है, अतः तुल्ययोगिता आदि में तो अपवादरूप से श्लेष ही मानना चाहिये ।

अत्रोच्यते–न तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालङ्कारान्तराविविक्तविषयता 'येन ध्वस्त–'इत्यादिना विविक्तविषयत्वात् । न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात् । अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात् । किञ्च—तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मि-

---

अवतरणिका—पूर्वपक्ष के मत में दोष दिखाते हुये अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—इस (**"अस्य च"** इत्यादि से प्रदर्शित **पूर्वपक्ष** के) विषय में (अर्थात् उनके मत में दोष और अपने सिद्धान्त के विषय में) कहा जाता है कि–**न तावदिति**–वस्तुतः **श्लेष** की दूसरे अलङ्कारों से भिन्न विषयता नहीं है, ऐसी बात नहीं है, [अर्थात् दूसरे अलङ्कारों के जो उदाहरण हैं, वही **श्लेष** के भी उदाहरण हैं, ऐसी बात नहीं है ।] (क्योंकि) **"येन ध्वस्त"**— इत्यादि (उदाहरण) से दूसरे अलङ्कारों से पृथक् विषय होने के कारण । [**तथा च—"येन ध्वस्त"**— इत्यादि में श्लेष से भिन्न अलङ्कार नहीं है, श्लेष तो है ही । इसप्रकार श्लेष की अन्य अलङ्कारों से पृथक् विषयता सम्भव हो सकती है । **"अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयताया असम्भवात्"** यह जो पहले प्रतिपादन किया था, वह ठीक नहीं है ।] [**प्रश्न—"येन ध्वस्त"**— इत्यादि में प्राकरणिक और अप्राकरणिक श्रीकृष्णजी और शिवजी की **"पायात्"** इस एक रक्षण की क्रिया में कर्तृत्व के सम्बन्ध से सम्बन्ध होने के कारण **तुल्ययोगिता** भी है – अतः यहाँ पर **श्लेष** की विविक्त-विषयता कैसे हो सकती है ? इसका **समाधान** करते हैं—] **न चेति**—और यहाँ (**"येन ध्वस्त"**—इत्यादि श्लेष के विषय में) **तुल्ययोगिता** नहीं है, और उस (**तुल्ययोगिता**) के (यह **तुल्ययोगिता**—उपलक्षण है, अतः **दीपक** का भी ग्रहण हो जाता है ।) विषय में दोनों (प्राकरणिक और अप्राकरणिक) अर्थों की अभिधेयता का नियम नहीं है । [अर्थात् **तुल्ययोगिता** के अन्दर एक अर्थ की वाच्यता का नियम होता है, दूसरे अर्थ की वाच्यता का नहीं और यहाँ "येन ध्वस्त"—इत्यादि में तो दोनों ही अर्थों की वाच्यता है, अतः "तुल्ययोगिता" नहीं है ।] और यहाँ (**"येन ध्वस्त······"** इत्यादि में तुल्ययोगिता के अनुरोध से) श्रीकृष्णजी और शिवजी में से (किसी) एक (अर्थ) की वाच्यता मान लेने पर दूसरे (अर्थ) की व्यंग्यता हो जायेगी । [और ऐसा होने पर **श्लेष** ही नहीं रहेगा क्योंकि **श्लेषालङ्कार** में दोनों अर्थों की ही वाच्यता का नियम होता है ।] **किञ्चेति—**तथा **तुल्ययोगिता** के अन्दर एक ही (अनेक नहीं) धर्म की (गुण और क्रिया में से किसी

संबन्धितया प्रतीतिः । इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथग्धर्मसंबन्धतया । 'सकलकलम्—' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः । 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमायाविषय इति चेत् न ।

एक रूप की) अनेक धर्मियों (व्यक्तियों) के साथ सम्बन्ध रूप से प्रतीति होती है, (और) यहाँ (श्लेष में) तो अनेक धर्मियों की (यहाँ बहुवचन उपलक्षण है, अतः दो धर्मियों की भी) पृथक्-पृथक् धर्म के साथ सम्बन्ध रूप से (प्रतीति होती) है । [इस प्रकार "**येन ध्वस्त**—" इत्यादि में और "**नीतानाम्**" इत्यादि में जो पहले **तुल्ययोगिता** दिखाई है, वह दूसरे के मत का प्रतिपादन है, वस्तुतः उन दोनों स्थलों पर **तुल्ययोगिता** से रहित **श्लेष** ही समझना चाहिये । इसीप्रकार "**स्वेच्छोपजात विषयोऽपि**" इत्यादि में भी स्वेच्छोपजातविषयत्वादि अनेक धर्मियों की भिन्न-भिन्न धर्म के साथ संयुक्त होने रूप से प्रतीति होती है, अतः दीपक नहीं है किन्तु **श्लेष** मात्र की ही प्रतीति होती है–ऐसा ध्वनित समझना चाहिये ।।] [तथा "**सकलकलम्**" इत्यादि में उपमा के विद्यमान होने पर भी अपवाद रूप से श्लेष का ही मुख्यरूप से व्यवहार करना ठीक है "यह जो कहा है—यहाँ पर **उपमालङ्कार** ही है **श्लेष** नहीं–ऐसा प्रतिपादन करते हैं ।] **सकलकलमिति**—तथा (च) "**सकलकलम्**" त्यादि में श्लेष उपमा के ज्ञान की उत्पत्ति का कारण नहीं है [अर्थात् उपमानुप्राणित ्लेष नहीं है । भाव यह है कि यहाँ **श्लेषालङ्कार** ही नहीं है । इससे तो श्लिष्ट धर्मों के साधर्म्य से उपमालङ्कार ही प्रतिपादित होता है ।] (क्योंकि यदि इसप्रकार श्लेष को उपमा का बाधक को मान लिया जावेगा तो) पूर्णोपमा की निर्विषयता का प्रसङ्ग आता है । [**उपमान–उपमेय–साधारण धर्म** और **इव**—इन चार उपादानों के होने पर **पूर्णोपमा** होती है । प्रकृत उदाहरण में उपमेय **पुरम्** है, उपमान **चन्द्रमण्डल** है, साधारण धर्म **सकलकलम्** है, **इव** शब्द भी है—इसप्रकार पूर्णोपमा है । और यदि यहाँ पर पूर्णोपमा का बाध करके श्लेष को ही अलङ्कार मान लिया जायेगा तो श्लेष के बिना पूर्णोपमा के असम्भव होने से पूर्णोपमा को स्वीकार करना ही व्यर्थ हो जायेगा–यह सारांश है ।] (और) यदि यह कहो कि—"**कमलमिव मुखं मनोज्ञमतत्**"–अर्थात् कमल के समान यह मुख सुन्दर है—इत्यादि पूर्णोपमा का विषय है ["आदि" पद से **काव्यप्रकाशकार** के निम्न उदाहरण का ग्रहण होता है—

देव ! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम् ।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः ।।]

आशय यह है कि—उपमादि से असंकीर्ण श्लेष सम्भव नहीं है, और उपमादि श्लेष के बिना भी सम्भव हो सकते हैं, अतः

यदि 'सकल–' इत्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमातत्किमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण ।

'स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किंतु ।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः ॥'

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात् ।

सामान्य–विशेष न्याय से श्लेष ही उपमा का बाधक होता है। प्रकृत उदाहरण में अर्थ-श्लेष अलङ्कार है क्योंकि मनोज्ञत्व की उपमान और उपमेय भूत कमल और मुख के भेद से भिन्न रूप से श्लिष्टता है। किन्तु जहाँ पर साधारण धर्म का उपादान नहीं होगा, वहाँ श्लेषालङ्कार के न होने से उपमालङ्कार ही मान लिया जावेगा।] तो, यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि "**सकलकलम्**" इत्यादि में शब्दश्लेष होने के कारण उपमा नहीं है, तो "**मनोज्ञम्**" इत्यादि में अर्थश्लेष ने क्या अपराध किया है? [जो उसे उपमा का बाधक नहीं मानते? अर्थात् "मनोज्ञम्" इत्यादि में उपमा का बाध करके अर्थश्लेष मानना चाहिये। श्लेष दो प्रकार का होता है—(१) शब्द-श्लेष और (२) अर्थ-श्लेष। यदि "सकलकलम्" इत्यादि में उपमा का बध करके श्लेषालङ्कार की प्राप्ति होती है तो "**कमलमिव**" इत्यादि में भी उपमा को बाधित करके अर्थश्लेषालङ्कार की प्राप्ति होनी चाहिये। यह क्या बात है कि शब्द श्लेष से तो उपमा बाधित हो और अर्थश्लेष से न हो जबकि मनोज्ञत्वादि धर्म दोनों ही स्थलों पर अन्वय रूप से श्लिष्ट होते हैं। इसलिये यदि श्लेष को उपमा का बाधक स्वीकार करोगे तो पूर्णोपमा निर्विषय हो जायेगी।] [केवल शब्द की समानता में उपमा न होती हो, ऐसी बात नहीं है–क्योंकि] **स्फुटमिति**—ये **उपमा** और **समुच्चय** स्पष्ट **अर्थालङ्कार** हैं, किन्तु सामान्य (दोनों के अन्दर विद्यमान साधारण धर्म का ज्ञान कराने वाले) केवल शब्द का आश्रय लेकर यहाँ (**शब्दालङ्कार** के अन्दर) भी हो जाते हैं। **इतीति—**इसप्रकार (**काव्यालङ्कार** के रचयिता) **रुद्रटाचार्य** के कथनानुसार गुण और क्रिया के साम्य की तरह शब्द साम्य की भी (केवल शब्द रूप साधारण धर्म की समानता के भी) उपमा के साधकत्वेन स्वीकार करने के कारण। [अर्थात् जिसप्रकार गुण और क्रिया की समानता उपमा प्रयोजक हैं, उसीप्रकार केवल शब्द की समानता भी उपमा की प्रयोजक है। "**कमलमिव**" इत्यादि की तरह "**सकलकलम्**" इत्यादि में भी पूर्णोपमा ही है, उपमानुप्राणित श्लेष नहीं।]

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात्। शब्दसाम्यस्य तु न तथा, अत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात्। ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयतायुक्ता, न तु 'सकल–' इत्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत्,। न-'साधर्म्यमुपमा' इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावात्।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करता है—**नन्विति**—गुण और क्रिया के साम्य की ही (शब्द साम्य की नहीं) उपमा की साधकता ठीक है (क्योंकि) उसमें (गुण और क्रिया से प्रयुक्त उपमा में) साधर्म्य के (समान धर्मवत्ता के) वास्तविक होने के कारण; (उपमान और उपमेय रूपवस्तु के समवेत होने के कारण) [**कहने का आशय यह है कि—"तद्भिन्नत्वेसत्ति तद्गतभूयो धर्मवत्वम्"** साधर्म्य का लक्षण है, अतः "**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**" इत्यादि में कमल के अन्दर विद्यमान सौन्दर्यात्मक धर्मवत्ता मुख के अन्दर वस्तुतः विद्यमान है, इसलिये यहाँ पर उपमा मानना ठीक है।]; किन्तु शब्द साम्य की उसप्रकार की (उपमा की साधकता) नहीं है (क्योंकि) उसमें (शब्दसाम्य से प्रयुक्त उपमा में) साधर्म्य के (शब्द रूप सामान्य धर्म के) अवास्तविक होने के कारण (उपमान और उपमेय रूप वस्तु के समवेत न होने के कारण) [**तथाहि–"सकलकलम्"** इत्यादि में तात्पर्य के विषयीभूत उक्त प्रकार के कैसे भी चन्द्र बिम्ब का साधर्म्य नगर के अन्दर नहीं है–यह आशय है।]; अतः (अर्थात् गुण और क्रिया के साम्य के उपमा के प्रयोजक होने से और शब्द साम्य के उपमा के प्रयोजक न होने से) पूर्णोपपा की अन्य प्रकार से (अर्थात् शब्दसाम्य की उपमा की प्रयोजकता स्वीकार कर लेने से) उपपत्ति असम्भव होने से [अर्थात् शब्द साभ्य के होने पर सादृश्य की अवास्तविकता से पूर्णोपमा नहीं हो सकती है। इसलिये ऐसा कहकर अर्थ श्लेष की पूर्णोपमा अपवाद है– ऐसा कथन किया है।] गुण और क्रिया कृत साम्य के ही (शब्द साम्य के नहीं) अर्थश्लेष विषयक विषयता का परित्याग करने पर पूर्वोपमा की विषयता ठीक है [**आशय** यह है कि जहाँ गुणकृत और क्रियाकृत समानता हो वहाँ उसको अर्थश्लेष का उदाहरण न मानकर पूर्णोपमा का ही उदाहरण मानना ठीक है।], किन्तु "**सकलकलम्**"—इत्यादि में शब्द साम्य की भी (अपि) (पूर्णोपमा की विषयता) ठीक नहीं है **उत्तर** देते हैं—**इति चेन्नेति**—यदि ऐसा कहते हो, तो ठीक नहीं है; (क्योंकि) "**साधर्म्यमुपमा**" इस सामान्य रूप से कहे हुये (**अविशिष्टस्य**) उपमा के लक्षण की [**आशय** यह है कि जिस किसी भी सम्बन्ध से उपमान और उपमेय का साधारणधर्म उपमा कहलाता है, समवाय सम्बन्ध से नहीं] शब्द साम्य से व्यावृत्ति नहीं होती है। (उपमान और उपमेय की अभेद प्रतीति रूपक होती है; अतः कहते हैं)

यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकम्, तदा कथं 'विद्वन्मानस-'इत्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराद्यारोपो राजादेहंसाद्यारोपप्रयोजकः ।

किञ्च-यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, कथं त्वयापि 'सकलकल—' इत्यादौ बाध्यभूतोपमाङ्गीक्रियते । किञ्च अत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता । श्लेषबन्धातः प्रथमं साम्यस्या संभवात् । इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात् ।

यदि चेति—और यदि शब्द साम्य के अन्दर साधर्म्य अवास्तविक होने से उपमा का प्रयोजक नहीं है, तो "**विद्वन्मानसहंस** !—" इत्यादि के अन्दर (अर्थात् उपमान और उपमेय का अभेद ज्ञान कराने वाले साधर्म्य के अवास्तविक होने पर भी) आधारभूत (उपमेयत्वेन विषयभूत) चित्त आदि में सरोवरादि का आरोप राजादि के अन्दर हंसादि के आरोप का प्रयोजक कैसे हो सकता है ? [**अर्थात्** यहाँ पर **श्लिष्ट परम्परितरूपक** किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? क्योंकि शब्द साम्य में साधर्म्य के अवास्तविक होने से जिसप्रकार "**सकलकलम्**" इत्यादि में साधर्म्य उपमा का प्रयोजक नहीं है, उसीप्रकार श्लिष्ट परम्परित रूपक भी "**विद्वन्मानस हंस** !" इत्यादि में नहीं हो सकता है, क्योंकि साधर्म्य होने से ही उपमान और उपमेय की अभेद प्रतीति रूपकालङ्कार की प्रयोजिका होती है और यह साधर्म्य "**विद्वन्मानसहंस**" इत्यादि में भी अवास्तविक है । अतः दोनों ही स्थलों पर साधर्म्य के अवास्तविक होने से यदि "सकलकलम्" में उपमा नहीं हो सकती है, तो "विद्वन्मानस हंस !" इत्यादि में श्लिष्टपरम्परित रूपक भी नहीं हो सकता है—यह कहने का **अभिप्राय** है ।] **पूर्वपक्षी**—श्लिष्ट पद निबन्धन परम्परित रूपक के अन्यथा सम्भव न होने से उसमें अवास्तविक साम्य की प्रयोजकता को स्वीकार कर लेगें किन्तु उपमा के अन्दर नहीं–इसका **समाधान** करते हैं—**किञ्चेति**—तथा यदि वास्तविक साम्य के होने पर ही (गुण और क्रिया के साम्यरूप वास्तविक सादृश्य में ही, शब्द साम्यरूप अवास्तविक सादृश्य में नहीं) उपमा को स्वीकार करते हो, तो "**सकलकलम्**" इत्यादि में तुम भी बाध्यभूत (शब्दश्लेष से बाध्यरूप) उपमा को स्वीकार करते हो ?

[**आशय** यह है कि शब्दसाम्य के अवास्तविक होने पर उपमा ही नहीं होती है, पुनः शब्दश्लेष से बाध्यरूप उपमा को क्यों मानते हो ?—यह तो स्वतः वदतोधाघात है, अर्थात् "**सकलकलम्**" इत्यादि में साधर्म्य के अवास्तविक होने से उपमा की प्रयोजकता के अभाव होने के कारण उपमा की प्राप्ति ही नहीं है, पुनः क्यों कर शब्दश्लेष से उपमा को बाध्यरूप से स्वीकार करते हो ? तुम को तो "शब्दश्लेष" से ही व्यवहार करना चाहिये ।] (**श्लेष**—दूसरे अलङ्कार ज्ञान की उत्पत्ति का कारण है—अतः उसी से व्यवहार करना ठीक है—इस कथन का **खण्डन** करते हैं—) **किञ्चेति**—तथा यहाँ पर ("**सकलकलम्**"–इत्यादि में) श्लेष की ही (श्लिष्ट पद की ही उपमा के अन्दर) साम्य के प्रति निर्वाहकता है, साम्य की श्लेष के प्रति निर्वाहकता नहीं है, (क्योंकि) श्लिष्ट रचना से पूर्व (अर्थात् "**सकलकलम्**" इस अनेकार्थक शब्दों की योजना से पूर्व) साम्य के असम्भव होने से (अर्थात् साम्य के प्रति श्लेष कारण है); अतः (पूर्ण) उपमा का ही (साध्यरूप से) प्रधानतया व्यवहार करना (**व्यपदेशः**) श्रेष्ठ है (**भाव यह है** कि श्लेष के पहले उपस्थित होने पर भी साधनत्वेन अप्रधान होने के कारण उससे व्यवहार करना ठीक नहीं है] क्योंकि "**प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति**" अर्थात् प्रधान से ही व्यवहार हुआ करते हैं—ऐसा नियम है ।

ननु शब्दालङ्कारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत्, न । अर्थानुसंधानविरहिण्यनुप्रासादावेव तथानङ्गीकारात् । एवं दीपकादावपि ज्ञेयम् ।

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ॥'

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करता है—नन्विति—शब्दालङ्कार के विषय में अङ्गाङ्गिभाव (निर्वाहक निर्वाह्य भाव) रूप संकर स्वीकार नहीं किया जाता है, (अर्थालङ्कारों के विषय में संकर हुआ करता है) तो यहाँ ("**सकलकलम्**"—इत्यादि में) श्लेष और उपमा के अन्दर (दोनों ही शब्दालङ्कार हैं) अङ्गाङ्गिभाव संकर कैसे ? **उत्तर देते हैं—इति चेन्नेति**—यदि ऐसा कहते हो, तो ठीक नहीं है; (क्योंकि) अर्थ के अनुसन्धान से शून्य, अर्थात् अर्थालङ्कारों से शून्य (केवल शब्द के अनुसन्धान मात्र के साध्य होने पर) अनुप्रासादि में ही (श्लेषादि में नहीं । "आदि" पद से यमक और भाषासम का ग्रहण होता है) अङ्गाङ्गिभाव रूप संकर (तथा) नहीं माना जाता है । [अर्थात् श्लेष के शब्दालङ्कार होने पर भी अर्थ के अनुसन्धान के सापेक्ष होने से उपमाङ्गता रहती है ।] **एवमिति**—इसीप्रकार [अर्थात् जिसप्रकार "सकःलकलम्"—इत्यादि में उपमालङ्कार की प्रधानता है, उसीप्रकार "स्वेच्छोपजातविषय" इत्यादि में श्लेष होने पर भी दीपक का प्राधान्य है ।] दीपकादिकों में भी ("आदि" पद से तुल्ययोगितादि का ग्रहण होता है ।) समझना चाहिये ।

टिप्पणी—जिसप्रकार "**सकलकलम्**" इत्यादि में शब्दश्लेष के विद्यमान होने पर भी मुख्य होने से पूर्णोपमा की ही प्रधानता है और शब्द श्लेष का गौणरूप से व्यवहार होता है क्योंकि "**प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति**" यह न्याय है । उसीप्रकार "**स्वेच्छोपजातविषयोऽपि**" इत्यादि में शब्द श्लेष के होने पर भी मुख्य होने से दीकप की प्रधानता है, और इसका गौण रूप से प्रयोग होता है । इसीप्रकार "**स्तोकेनोन्नतिमायाति**' इत्यादि में शब्दश्लेष के होने पर भी मुख्य होने से तुल्ययोगिता का प्रधान-रूप से और इसका गौण रूप से व्यवहार होता है ।

अवतरणिका—इसप्रकार "**सकलकलम्**" यहाँ पर उपमालङ्कार ही है—श्लेष नहीं, यह सिद्ध हो जाने के उपरान्त "**सत्पक्षाः**" इत्यादि में कुछ उपमाध्वनि और कुछ श्लेषालङ्कार मानते हैं । इन दोनों मतों का **खण्डन** करते हैं—

प्रसङ्ग—यह नारायणकृत **वेणीसंहार** नामक नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार की यह उक्ति है—

अर्थ—सुन्दर पंखों वाले (**सत्पक्षाः**) मधुर शब्दों वाले (**मधुरगिरः**) अलंकृत किया है दिशाओं को जिन्होंने ऐसे (**प्रसाधिताशाः**) मद से (चित्त विकार विशेष से) उत्कट हैं शब्द जिनके ऐसे (**मदोद्धतारम्भाः**) हंस विशेष (धार्तराष्ट्राः) शरद्काल के कारण (**कालवशात्**) (मानसरोवर से) पृथिवी पर उतर रहे हैं । ["**जलधर समये मानसं यान्ति हंसाः**" इस कवि प्रसिद्धि के अनुसार हंस वर्षाकाल में मानसरोवर की ओर चले जाते हैं, और शरदागमन पर माननरोवर से नीचे उतर आते हैं ।] **अन्यार्थः**—श्रेष्ठ (भीष्म-द्रोणादि) सहायकों वाले (**सत्पक्षाः**) मधुर वाणी वाले, वश में कर ली हैं । सम्पूर्ण दिशायें जिन्होंने ऐसे, **अथवा** प्रकृष्टरूप से सिद्ध कर लिये हैं स्वेच्छा विषय जिन्होंने ऐसे, **अथवा** विषय की इच्छा को धारण करने वाले, **अथवा** याचकों की आशाओं को पूर्ण करने वाले, (**प्रसाधिताशाः**) अहंकार से उद्धत युद्धादि चेष्टाओं वाले (**मदोद्धतारम्भाः**) धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव (दुर्योधनादि) मृत्यु के वश में होकर (कालवशात्) रणक्षेत्र में (पृथिव्याम्) गिर रहे हैं ।

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाद्दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः । इह च प्रकृतप्रबन्धाभिधेयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम् ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर कुछ "**हिममुक्त चन्द्ररुचिरः**" यहाँ पर उपमाध्वनि की तरह "धृतराष्ट्र पुत्रा इव धार्तराष्ट्राः—**हंसा निपतन्ति**" इसप्रकार उपमाध्वनि मानते हैं । और कुछ "**नीतानां आकुली भावम्**" यहाँ पर प्रकृति श्लेष की तरह दूसरे अर्थ के भी प्रकृत प्रबन्ध में अभिधेय रूप से प्रतिपादन करने से प्रकृति श्लेष ही है—ऐसा मानते हैं ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शरद् वर्णन के द्वारा प्रकरण से ("**संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गम्**—" इस लक्षण से) धार्तराष्ट्रादि शब्दों के ("आदि" पद से "सत्पक्षाः" आदिओं का ग्रहण होता है) हंसादि अर्थों को (अभिधा के द्वारा) द्योतन करने में नियन्त्रित होने से दुर्योधनादि रूप अर्थ शब्दशक्तिमूलकवस्तुध्वनि है [अर्थात् "सत्पक्षा": आदि पदों को अनेकार्थों को उपस्थापन करने वाली सामर्थ्यरूप अभिधा का आश्रय लेकर व्यञ्जना की प्रवृत्ति होने से वस्तुध्वनि है ।] **इह चेति**—और यहाँ (**सत्पक्षा मधुरगिरः** इस उदाहरण में) प्रकृत (अर्थात् यहाँ पर "**शान्तं पापम्**" '**प्रतिहतममङ्गलम्**" इत्यादि पारिपार्श्विक के कहने के द्वारा दुर्योधनादि के पतन की सूचना देना प्रकृत है ।] प्रबन्ध ("सत्पक्षाः" इत्यादि) के द्वारा अभिधेय द्वितीय अर्थ के (दुर्योधनादि के पतनरूप अर्थ के) सूच्य रूप से ही विवक्षित होने के कारण उपमानोपमेयभाव विवक्षित नहीं है, अतः न तो उपमाध्वनि है (अर्थात् व्यंग्यभूत उपमा है और न (ही) श्लेष है (क्योंकि प्रकरण के अनुसार दूसरा अर्थ अभिधेय नहीं है) इसप्रकार सम्पूर्ण (विषय) स्पष्ट है ।

टिप्पणी—(१) **कहने का अभिप्राय यह है** कि सर्वत्र ही आवश्यकरूपेण उपमेय का प्रतिपादन करने के लिये कवि केवल उपमेय की दृढ़ता के लिये अनावश्यक रूप से उपमान का वर्णन करते हैं । किन्तु इस उदाहरण के अन्दर अतिशय चमत्कार को दिखाने के लिये ही दुर्योधनादि के पतनरूप द्वितीय अर्थ की अवश्यम्भावी रूप से सूचना इष्ट है, अतः उपमानत्व विवक्षित नहीं हैं, और उसकी विवक्षा न होने से दोनों का उपमानोपमेयभाव भी विवक्षित नहीं है । तथा प्रकरण की दृष्टि से दोनों अर्थों की वाच्यता न होने से श्लेष भी नहीं है । अतः प्रकृत उदाहरण में न तो उपमानोपमेय भाव है और न श्लेष है, अपितु शब्द शक्ति मूलकवस्तुध्वनि है ।

(२) **सारांश** यह है कि (१) प्रकरण आदि के नियम का अभाव होने से दोनों अर्थों के वाच्य होने पर श्लेष होता है; **यथा**—"**येनध्वस्त**—" **इत्यादि** । (२) दोनों अर्थों के अन्दर उपमानोपमेयभाव होने पर उपमाध्वनि होती है; **यथा—"दुर्गालङ्घित", "सकलकलम्" इत्यादि** ।

(३) दोनों अर्थों के अन्दर उपमानोपमेय भाव न होने पर **शब्दशक्तिमूलकवस्तुध्वनि** होती है; यथा—"सत्पक्षाः" "**पथिअण एत्थ**" **इत्यादि** ।

पद्माद्याकरहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते ।

आदिशब्दात्खङ्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः। अस्य च तथाविधलिपि-सन्निवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसम-वायविशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम् ।

अथ चित्रालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—वर्णों के (शब्द के स्वरूप अकारादि अक्षरों के) पद्म आदि आकार के कारण होने पर **चित्र** (नामक अलङ्कार) कहलाता है। [अर्थात् **"भूम्यादौ पद्मादि-स्वरूपसम्पादको वर्णविन्यासश्चित्रालङ्कार" इति** ।]

टिप्पणी—(१) शब्द आकाश का गुण है, अतः यद्यपि आकाश के गुण शब्दों के अन्दर पद्मादि के आकार की कारणता नहीं है, तथापि उसके व्यञ्जक पृथिवी आदि पर चित्रित वर्णों की पद्मादि के आकार की कारणता है, अतः उनमें गौण प्रयोग कर दिया जाता है।

(२) चित्र का निर्माण होने के कारण इसका नाम **चित्र** है।

अर्थ—(**"पद्माद्याकार"** यहाँ) "आदि" पद से खङ्ग-मुरज (मृदङ्ग), चक्र और गोमूत्रधारादि ("आदि" पद से बन्ध और काव्यपद्यादिकों का ग्रहण होता है)। [**प्रश्न**—चित्र को शब्दालङ्कार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि जो शब्द में रहे वह शब्दालङ्कार है, किन्तु यह केवल लेख में देखने से वैचित्र्य पैदा करता है, और जो लिखे जाते हैं, वे केवल संकेत हैं; वर्ण या शब्द नहीं क्योंकि शब्द तो आकाश का गुण है। आकाश में ही रहता है और कान से सुनाई देता है, किन्तु चित्रालङ्कार का आकार तो आँख से ही देखते हैं। कान से नहीं सुनाई देते और पत्रादि में रहते हैं (आकाश में नहीं), अतः वे शब्द नहीं हो सकते। अतएव उक्त चित्रालङ्कार भी शब्दालङ्कार नहीं हो सकता है? इसका **समाधान** करते हैं।] **अस्य चेति**—इस (चित्रालङ्कार) के पद्मादि के सदृश (तथाविध) लिपि की रचना विशेष की सामर्थ्य से (वक्ता के) चमत्कार को उत्पन्न करने वाले भी (चित्ररूप) वर्णों का पद्मादि के सदृश (तथाविध) श्रोत्र और आकाश के समवाय सम्बन्ध विशेष के कारण (श्रोताओं को) चमत्कार उत्पन्न करने वाले वर्णों के साथ तादात्म्य के कारण उपचार प्रयोग से शब्दालङ्कारता है। [तात्पर्य यह है कि पद्मादि के आकार वाली लिपि में सन्निविष्ट विशिष्टता को देखकर वक्ता जिन शब्दों का उच्चारण करता है, उन्हीं से श्रोताओं के श्रोत्र में पद्मादि के सदृश वर्ण समुदाय की उत्पत्ति होती है, इसप्रकार कार्य और कारण की अभिन्नता के उपचार से उत्पन्न वर्णों की भी शब्दालङ्कारता सम्भव है।]

तत्र पदम् बन्धो यथा मम—

'मारमासुषमा चारुरुचा मारवधूत्तमा ।
मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा ।।'

टिप्पणी—(१) अग्निपुराण के अनुसार "बन्ध" का लक्षण—

"अनेकधावृत्तिवर्णविन्यासैः शिल्पकल्पना ।
तत्तत्प्रसिद्धवस्तूनां बन्ध इत्यभिधीयते ।।

इसकी अनेक विधता का वर्णन इसप्रकार है—

"बाणबाणासनव्योमखड्गमुद्गरशक्तयः ।
मृदङ्गपद्मश्रृङ्गारदम्भोलिमुशलाङ्कुशाः ।।
पदं रथस्य नागस्य पुष्करिण्यसिपात्रका ।
एते बन्धास्तथा चान्येऽप्येवं ज्ञेयाः स्वयं बुधैः ।।"

अर्थ- उनमें से (चित्रालङ्कार के अनेकविध भेदों में से) **पद्मबन्ध** (का उदाहरण)—**यथा**—मेरा (अर्थात् ग्रन्थकारकृत्)—(१) **मारमेति–मारस्य–कामस्य मा–लक्ष्मीः सैव सुषमा–परमाशोभा यस्याः सा,** = कामदेव की शोभा ही है परम-शोभा जिसकी ऐसी **अथवा मा–नैव रमा सुषमा** = लक्ष्मी की शोभा से भी उत्कृष्ट, **अथवा मारमा + असुषमा—इति पदच्छेदः मां–लक्ष्मीं रमयति–विनोदयति–विडम्बना-स्पदमादधाति इति यावत तथा, न सुषमा पदपेक्षया सा स्वयमेव परममुत्कृष्टा** = लक्ष्मी का तिरस्कार करने वाली की अपेक्षा भी परम सुन्दरी, अतएव **चारुरुचा** = मनोरम कान्ति वाली, कामदेव की पत्नी रति से भी उत्कृष्ट (भारवधू + उत्तमा) **अथवा अभारवधूत्तमा–इति पदच्छेदः** = जिसकी अपेक्षा कामदेव की पत्नी भी उत्कृष्ट नहीं है, **धूर्तश्चासौ तयो राहुस्तस्यावासः–सङ्गः इति धूर्ततमावासः सा नैव आत्तो–गृहीतो धूर्त-तमावासो यया सा तथा सौन्दर्यं सत्यपि व्यञ्जकस्य राहोः कवलानावसरो यया न दत्तस्तादृशीतिभावः** = सौन्दर्यशालिनी होती हुई भी जिसने राहु को ग्रसने का अवसर नहीं दिया है, ऐसी, वह (प्रसिद्ध) प्रियतमा (वामा) मेरी हो जावे (चाहे) लक्ष्मी (**रमा**) मुझे न प्राप्त हो अर्थात् यदि वह मनोमोहिनी स्त्री मेरी हो जावे तो मैं सभी मनुष्यों से (२) काम्य लक्ष्मी को भी छोड़ सकता हूँ । **लक्ष्मी पक्ष में — मारं-मृत्युं मिमीते-कथ्यति इति मारमा (लक्ष्म्यायोगवियोगयोः प्राणात्यय इति वेदान्तिनः), अत-एव न सुषमा-परमाशोभा यस्याः सा तादृशी** = अपने संयोग और वियोग से मृत्यु का सन्देश देने वाली होने के कारण जो सौन्दर्यशालिनी नहीं है ऐसी, कामदेव की पत्नी रति से भी उत्तम अतएव निन्दित शोभा वाली (**अचारु रुचा**); **मा–नात्ता–गृहीते-तिमात्ताऽत्तन्त्रेत्यर्थः सा चासौ धूर्ततमाया इव—धूर्ततमवत् आवासो-निवासस्थानं यस्या सा** = जो धूर्त व्यक्ति के समान निवास स्थान को स्वीकार करने में सक्षम है–ऐसी । लक्ष्मी मुझे प्राप्त न होवे ।

एषोऽष्टदलपद्मबन्धो दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशयाभ्यां श्लिष्टवर्णः, किन्तु विदिग्दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव । एवं खड्गबन्धादिकमप्यूह्यम् ।

काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते ।

---

(३) **तृतीय अर्थ**—यदि किसी व्यक्ति की अपने इष्ट देवता के सन्मुख अपने प्रति लक्ष्मी को अनुकूल बनाने की प्रार्थना है, तो अर्थ इसप्रकार होगा—**मायाः–लक्ष्म्याः रमणात् मारमो·विष्णुस्तस्य–असुसमा·प्राणसमा**=विष्णु जी के प्राणों के समान अथवा **मारस्य–कामस्य मा–माता सुषुमा–परमसुन्दरी**=कामदेव की जननी अतएव परमसुन्दरी, सुन्दर कान्ति वाली, कामदेव की पत्नी रति से भी श्रेष्ठ, तथा **मा आत्तो–गृहीतो धूर्ततमस्य-अत्यन्तदुष्टजनस्य आवासो–निकेतनं यया सा सादृशी**= जिसने अत्यन्त दुष्ट व्यक्ति के घर का स्वीकार नहीं किया है, ऐसी लक्ष्मी (**रमा**) (कभी भी) मेरे प्रतिकूल (**वामा**) न होवे ।

पद्मबन्धचित्रम्—

अर्थ—यह अष्ट दल कमल बन्ध (अर्थात् आठ पत्तों से कमल के स्वरूप का निर्माण करने वाला वर्ण विन्यास) दिशाओं (पूर्व-दक्षिण पश्चिम–और उत्तर) के पदों में निर्गम और प्रवेश से (अर्थात् निर्गम से एक अर्थ और प्रवेश से द्वितीय अर्थ) श्लिष्ट वर्ण है (अर्थात् अनुलोम और प्रतिलोम के पाठ से एक रूप वाला अक्षर है अन्यथा कहीं प्रवेश और कहीं निर्गम भी श्लिष्ट वर्ण हो जाये); किन्तु विदिशाओं (अग्न्यादि कोणवर्ती) के दलों में अन्यथा है अर्थात् श्लिष्ट वर्ण नहीं है, कर्णिका (पद्म के मध्य में स्थित) अक्षर (**मा**) तो श्लिष्ट ही है । **एवमिति**—इसीप्रकार (पद्म बन्ध की तरह) **खड्गबन्धादिकों** ("आदि" पद से मुरजादिकों का ग्रहण होता है) को भी समझ लेना चाहिये (अर्थात् **काव्यप्रकाश** तथा **सरस्वतीकण्ठाभरण** आदि लक्षण ग्रन्थों में इनके उदाहरण खोजने चाहिये), यहाँ (साहित्यदर्पण में) तो काव्य के अन्दर गडुग्रन्थि के समान होने के कारण [जिसप्रकार गन्ने की चर्वण करने की अवस्था में ग्रन्थि रस की व्यवधायक होती हैं, उसीप्रकार काव्य में ग्रन्थि रूप होने से चित्रालङ्कार नीरस है, अतः] विस्तार से वर्णन नहीं किया जाता है ।

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥
उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका ।

टिप्पणी—(१) आठ पत्तों वाला कमल इसप्रकार बनाना चाहिये—**पद्मबन्ध** की कर्णिका में श्लोक का प्रथम अक्षर (**मा**) लिखना चाहिये। तदनन्तर पूर्व-दक्षिण-पश्चिम और उत्तर दलों में प्रदक्षिणा करने के समान दो-दो अक्षर लिखने चाहिये। इसप्रकार १७ (सत्रह) अक्षरों से **पद्मबन्ध** बनता है। इसप्रकार कर्णिका के अन्दर विद्यमान वर्ण से प्रारम्भ करके प्राच्य दल में निर्गमन से, आग्नेय दल में प्रवेश से, दक्षिण दल में निर्गम और प्रवेश से, नैर्ऋत्यदल में निर्गम से, पश्चिम दल में निर्गम और प्रवेश से, वायव्य दल में प्रवेश से, उत्तर दल में निर्गम और प्रवेश से, ईशान दल में निर्गम से तथा पश्चात् प्राच्य दल में प्रवेश के द्वारा श्लोक का पाठ करना चाहिये। कहा भी है कि—

"वर्णद्वयेन चैकेकं दलभूतदलाष्टकम् ।
सर्वोत्तराधवर्णेन पद्मं स्यात् कृतकर्णिकम् ॥" इति

(२) इस "**पद्मबन्ध**" का "**सरस्वतीकण्ठाभरण**" में विशेष लक्षण है—

"कर्णिकायां न्यसेदेकं द्वे द्वे दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु कुर्यादिष्टदलाम्बुजे ॥

अथ प्रहेलिकानिरूपणम्—

अवतरणिका—**प्रश्न**—जब "सरस्वतीकण्ठाभरणकार ने प्रहेलिका का भेदोपभेद सहित लक्षण किया है तथा प्राचीन आचार्यों ने इसका लक्षण—

"**प्रहेलिका तु साज्ञेया वचः संवृतकारियत्**"। यह किया है। इसप्रकार **प्रहेलिका** को भी एक अलङ्कार के रूप में स्वीकार करना चाहिये था, परन्तु **क्या** कारण है कि यहाँ पर उसकी अलङ्कार रूपेण उपेक्षा की गई है? इस आशंका का **उत्तर देते हैं**—

अर्थ—(काव्य की आत्माभूत) रसज्ञान के प्रतिकूल होने से "**प्रहेलिका**" (**प्रहेलयति-सूचयति भावं न तु स्वरूपमिति या सा तयोक्ता**) अलङ्कार नहीं है [प्रत्युत दोषाधायक होने से त्याज्य है। **प्रश्न**—पुनः प्राचीन आचार्यों ने अलङ्कार प्रकरण में इसका वर्णन क्यों किया है? इसलिये कहते हैं—] **उक्तीति**—वह ("प्रहेलिका") केवल वचन चातुर्य मात्र की प्रयोजिका है (अतः वैचित्र्यमात्र की प्रयोजक होने से अलङ्कार साम्य के कारण उसमें अलङ्कार पद का प्रयोग गौण ही है।) और वह (प्रहेलिका) **च्युताक्षरा-दत्ताक्षरा और च्युतदत्ताक्षरा** इत्यादि (भेद वाली होती) है। ("आदि" पद से **क्रिया गुप्ति** और **कारक** गुप्ति आदिकों का ग्रहण होता है।) ॥

टिप्पणी—(१) कहा भी है कि—

मात्राबिन्दुच्युतके प्रहेलिका कारकक्रियागूढे ।
प्रश्नोत्तरादि चान्यक्रीड़ामात्रोपयोगमिदम् ॥

च्युताक्षरा-दत्ताक्षरा-च्युतदत्ताक्षरा च ।

उदाहरणम्—

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥'

अत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र "यौवने' इति 'यौ' दत्तः । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युतः 'व' दत्तः । आदिशब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादयः ।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

'पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥'

अर्थ—("आदि" पद की ग्राह्यता दिखाते हैं) **च्युतेति-च्युताक्षरा** (एक अक्षर से कम) **दत्ताक्षण** (एक अक्षर से अधिक) और **च्युतदत्ताक्षरा** (एक अक्षर को कम करके उसके स्थान पर दूसरे अक्षर को रख देना नामवाली "प्रहेलिका" होती) है। [**च्युताक्षरादि** तीनों भेदों का एकत्र] उदाहरण—**कूजन्तीति**—[**प्रसंग**—अपनी प्रिय सखी के प्रति किसी सखी की उक्ति है—]—यहाँ पर सुनने के अनुसार ही अर्थ के होते हुये भी अनुपयुक्त कथन होने से **च्युतदत्ताक्षरत्त्व** में ही तात्पर्य है, अतः प्रहेलिका है। **सुनने के अनुसार** अर्थ—कोकिलायें शाल **वृक्ष** पर कूक रहीं हैं, (नारियों के) यौवन में कमल विकसित हैं, मुख से निपीडित यह मृगनयनी क्या करे ! अर्थात् कुछ भी न करें। [यह कथन अनुचित है। परन्तु अक्षरों के कम और नवीन रखने से अर्थ ठीक हो जाता है।] **यथा**—कोकिलायें **साले = रसाले** = आम्र वृक्ष पर कूक रहीं हैं, **यौवने = वने** = जल में कमल विकसित हो रहे हैं, **वदनेन = मदनेन** = कामदेव से पीड़ित (वह) मृगनयनी (अपने स्वामी के वियोग में सम्प्रति) क्या करे ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥

(प्रकृत उदाहरण में **च्युत-दत्त-अक्षरों** को दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**रसाले**" यह कहने के स्थान पर "**साले**" यह (कह दिया), अतः "**र**" च्युतवर्ण है। "**वने**" इसके स्थान पर "**यौवने**" कहने से "यौ" दत्ताक्षर है। "**वदनेन**" यहाँ पर "**मदनेन**" कहने से "म" च्युताक्षर है और "व" दत्ताक्षर है। [इसप्रकार "**रसाले**" में च्युताक्षर, "**यौवने**" में दत्ताक्षर और "**वदनेन**" में च्युतदत्ताक्षर प्रहेलिका है।] **आदिशब्दादिति**—"आदि" शब्द से "क्रिया गुप्ति" और "कारक गुप्ति" आदि (का ग्रहण होता) है।

उनमें से **क्रियागुप्ति** (का उदाहरण) **यथा**—[प्रसङ्ग—युधिष्ठिर कृत राजसूय यज्ञ के अन्त में दिये जाने वाले दान का वर्णन है—] युधिष्ठिरादि पाण्डवों की सभा के मध्य दुर्योधन आया, उस (दुर्योधन) को भूमि (गाम्), सुवर्ण और सम्पूर्ण अलंकारों को—इसप्रकार स्पष्ट प्रतीत होने वाले अर्थ के विषय में क्रियापद अध्याहार प्रतीत होता है। यहाँ "अदुः" यह क्रियापद है, और इसका अस्थान में समास करके छिपा दिया है—ऐसा समझना चाहिये। क्रियापद की प्रतीति के अनन्तर अर्थ इस प्रकार होगा—**पाण्डवानामिति**—पाण्डवों की सभा के मध्य जो (यः) धनहीन (अधनः) आया, उसको भूमि—सुवर्ण और सम्पूर्ण अलंकार दिये (अदुः) ॥

अत्र 'दुर्योधनः' इत्यत्र 'अदुर्योऽधनः' इति। 'अदुः' इति क्रियागुप्तिः। एवमन्यत्रापि।

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु प्राधान्यात्सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्रथममुपमामाह—

अर्थ—(प्रकृत उदाहरण में **क्रियागुप्ति** दिखाते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में श्रवणमात्र से) "**दुर्योधनः**" यहाँ पर "**अदुः + यः + अधनः**" यह (पदच्छेद) है (यहाँ पर) "अदुः" यह क्रिया गुप्त है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र भी [अर्थात् 'सम्बोधन गुप्ति" और "कारक गुप्ति" आदि में समझना चाहिये। **यथा**—उक्त उदाहरण में ही "**दुर्योधन उपागतः**" में **यः-अधनः-उपागतः** यह कर्तृकारक गुप्त है।]

टिप्पणी—(१) उपर्युक्त प्रहेलिकाओं से भिन्न **अन्तः प्रश्न-बहिः प्रश्न-बहिरन्तःप्रश्न जातिप्रश्न-प्रष्टप्रश्न-उत्तर प्रश्न** इत्यादि भी प्रहेलिकायें होती हैं।

(२) **सरस्वतीकण्ठाभरणकर्त्ता** ने तो छः प्रकार की प्रहेलिकाओं का वर्णन किया है।

(३) इससे अधिक उदाहरण **सरस्वतीकण्ठाभरण** और **काव्यालङ्कारादि** में देखने चाहिये।

अर्थालङ्कार निरूपणम्—

अवतरणिका—सम्प्रति **शब्दालङ्कारनिरूपण** के अनन्तर **अर्थालङ्कारों** को निरूपित करते समय **उपमालङ्कार** की प्राथमिकता का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—इसके बाद (**शब्दालङ्कार निरूपण** के अनन्तर **अथवा-अर्थालङ्कारों** के निरूपण के प्रारम्भ में) अवसर प्राप्त (निरूपण के योग्य) अर्थालङ्कारों में प्रधान होने के कारण सादृश्यमूलक (स्मरणादि) अलङ्कारों के (पहले) निरूपयितव्य होने पर, उनके भी (सादृश्यमूलक स्मरणादि अलङ्कारों के भी) उपजीव्य (प्राणभूत) होने के कारण **उपमालङ्कार** का निरूपण करते हैं—

टिप्पणी—(१) **अर्थालङ्कारों का परिगणन**—

उपमानन्वयश्चैवमुपमेयोपमा ततः। स्मरणं रूपकं चैव परिणामस्ततः परम्॥
सन्देहो भ्रान्तिमानेवमुल्लेखो वाप्यपह्नुतिः। निश्चयश्चैवमत्प्रेक्षाऽतिशयोक्तिरनन्तरम्॥
तुल्ययोगित्वमुद्दिष्टं दीपकं तदनन्तरम्। प्रतिवस्तूपमा प्रोक्ता दृष्टान्तश्च निदर्शना॥
व्यतिरेकः सहोक्तिश्च समासोक्तिरतःपरम्। स्यातां परिकरश्लेषाप्रस्तुतप्रशंसनम्॥
व्याजस्तुतिरथोद्दिष्टं पर्यायोक्तमतः परम्। भवेदर्थान्तरन्यासः काव्यालिङ्गानुमानके॥
हेतुर्वाऽप्यनुकूलं स्यादाक्षेपश्च विभावनाथ। विशेषोक्तिविरोधावसङ्गतिर्विषमं समम्॥
विचित्रमधिकाऽन्योऽन्ये विशेषो व्याहतिस्तथा। हेतुमाला भवेन्मालादीपकैकावली पुनः॥
सारश्चैव यथासंख्यं पर्यायपरिवर्तने। परिसंख्योत्तरं चैवमर्थापत्तिर्विकल्पनम्॥
समुच्चयसमाधी वा प्रत्यनीकं प्रतीपकम्। मीलितं वापि सामान्यं तद्गुणोऽतद्गुणस्तथा॥
सूक्ष्मं व्याजोक्तिरुद्दिष्टा स्वभावोक्तिश्च भाविकम्। उदात्तं रसवत् प्रेय अऊर्जास्वि च समाहितम्।
भावोदयो भावसन्धिर्भावशावल्यमीरितम्॥ संसृष्टिः सङ्करश्चेति नामतोऽथ प्रकीर्तिताः॥

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥१४॥

---

(२) **अनन्वयादि** अलंकार प्रायः सभी सादृश्यमूलक होते हैं। किन्तु इनमें कुछ साक्षात्, कुछ परम्परा से और कुछ प्रकारान्तर से सादृश्यमूलक होते हैं। इनमें से उपमेयोपमा और अनन्वय साक्षात् और स्मरणादि परम्परा से सादृश्यमूलक हैं।

(३) **राजशेखर** के कथनानुसार—

"अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ॥"

"उपमालंकार" ही अनेक प्रकार के वैचित्र्य से अनेक अलंकारों का कारण है, इसीलिये सर्वप्रथम निरूपण किया गया है।

(४) **अलङ्कार सर्वस्वकार** के अनुसार भी—

उपमैकाशैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदात्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥

"उपमा" ही सभी अर्थालकारों की प्राणभूत है, अतः प्रथम निरूपित की गई है।।

(४) **आचार्यरुद्रट** ने प्राधान्येन अर्थालंकारों को चार प्रकार का माना है, शेष सभी अलंकार इन चार अलंकारों के ही भेद मात्र हैं—

यथा—

"अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एकामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः ॥'

इनके भेदों को रुद्रट के ग्रन्थ के अन्दर ही देखना चाहिये।

अथोपमालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**उपमालङ्कार** का लक्षण) **साम्यमिति**—वाक्य के एक होने पर दोनों (उपमान और उपमेय) की वैधर्म्य से रहित (विरुद्ध धर्मों के कथन से शून्य) अभिधेय ("इव" आदि शब्दों से, "क्यङ्" आदि प्रत्ययों से अथवा उपमितादिसमासों से स्फुट अभिधेय) सादृश्य (गुण क्रियादि रूप) **उपमा** (कहलाती) है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर **साम्यम्—सारूप्यम् साधर्म्यम** और **सादृश्यम्** ये पर्यायवाची शब्द होने के कारण अभिन्नार्थक हैं।

(२) कहने का **आशय** यह है कि—उपमा के अन्दर (१) उपमान (२) उपमेय (३ साधारण धर्म और (४) उपमावाचक शब्द-इन चार पदार्थों की अपेक्षा होती है। उनमें से—

(१) उपमान का लक्षण—**सामान्यधर्मविशिष्टत्वेन प्रख्यातः पदार्थः उपमानम्।**

(२) उपमेय का लक्षण—**तद्धर्मवत्वेन कवि प्रतिपाद्य विषयः उपमेयम्।** कुछ आचार्यों की सम्मति में—(१) उपमान का लक्षण—

उत्कृष्ट गुणवत्तया सम्भाव्यमानं उपमानम्।

(२) उपमेय का लक्षण—

अपकृष्टगुणवत्तया सम्भाव्यमानं उपमेयम्

कुछ अन्यों की दृष्टि से—(१) उपमान का लक्षण—**सादृश्यप्रतियोगि उपमानम्**।

(२) उपमेय का लक्षण—**सादृश्यानुयोगि उपमेयम्**।

(३) साधारण धर्म का लक्षण–**उपमाने उपमेये च संगतोधर्मः साधारणोधर्मः**।

जिस धर्म के संसर्ग से जिसके साथ जिसकी तुलना की जाती है, वह "साधारणधर्म" होता है, जिसके साथ तुलना की जाती है, वह "उपमान" होता है, और जिसकी तुलना की जाती है, वह "उपमेय" होता है। **यथा**— "**कमलमिव मुखम् मनोज्ञम्**" अर्थात् "कमल की तरह मुख सुन्दर है" —इत्यादि में मनोज्ञत्व धर्म के सम्बन्ध से सुन्दर होने के कारण स्वतः प्रसिद्ध कमल के साथ मुख की तुलना की जा रही है, अतः मनोज्ञत्व **साधारणधर्म** है, कमल **उपमान** है, और मुख **उपमेय** है; अतः यह **उपमालङ्कार** है।

(३) इस उपमालंकार में सर्वत्र "इव" प्रभृति शब्द की तरह "यथा" आदि शब्दों से भी सादृश्य का ज्ञान होने के कारण पर्यायपरिवृत्तिसह होने से उपमादि अलंकारों की "**अर्थालङ्कारता**" है।

(४) यही उपमा अनेक प्रकार की उक्तिवैचित्र्य से अनेक प्रकार के अलंकारों की जननी है—**यथा**—(१) चन्द्र इव मुखं मुखमिव चन्द्रः" इत्यु**पमेयोपमा**। (२) "मुखं मुखमिव" इत्य**नन्वयः**। (३) मुखमिव चन्द्रः" इति **प्रदीपम्**। (४) चन्द्रं दृष्ट्वा मुखं स्मरामि" इति **स्मरणम्**। (५) मुखमेव चन्द्रः इति **रूपकम्**। (६) मुखचन्द्रेणतापः शाम्यति इति **परिणामः**। (७) किमिदं मुखमुताहोचन्द्रः इति **सन्देहः**। (८) चन्द्र इति चकोरास्त्वन्मुखमनुधावन्ति इति **भ्रान्तिमान्**। (९) चन्द्र इति चकोराः कमलमिति चञ्चरीकास्त्वन्मुखे रज्यन्ति इति **उल्लेखः**। (१०) चन्द्रोऽयं न मुखः इति **अपह्नवः**। (११) नूनं चन्द्रः इति **उत्प्रेक्षा**। (१२) चन्द्रोऽयम् इति **अतिशयोक्तिः**। (१३) मुखेन चन्द्रकमलेनिर्जिते इति **तुल्ययोगिता**। (१४) निशि चन्द्रस्त्वन्मुखं च हृष्यति इति **दीपकम्**। (१५) त्वन्मुख एवाहं रज्यामि चन्द्र एव चकोरो रज्यते इति **प्रतिवस्तूपमा**। (१६) दिविचन्द्रोभुवित्वन्मुखम् इति **दृष्टान्तः**। (१७) मुखं चन्द्रश्रियं बिभर्ति इति **निदर्शना**। (१८) निष्कलङ्कं मुखं चन्द्रादतिरिच्यते इति **व्यतिरेकः**। (१९) त्वन्मुखेन समं चन्द्रो निशासु हृष्यति इति **सहोक्तिः**। (२०) मुखस्य पुरतश्चन्द्रोनिष्प्रभः इति **अप्रस्तुतप्रशंसा**। (२१) मुखं नेत्राङ्क कमनीयम् स्मितज्योत्स्नाहारि इति **समासोक्तिः**।

इसप्रकार यह उपमा अनेक प्रकार के अर्थालंकारों में संक्रमण करती हुई सहृदयों के हृदयों को अनुरञ्जित करती हुई सभी की प्राणभूत है, अतः सर्वप्रथम इसका निरूपण किया है।

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः ।

अवतरणिका—उपमालङ्कार के लक्षण के घटक वाच्यादि चार पदों की क्रमशः व्यावृत्ति दिखाते हैं—

अर्थ—रूपकादिकों में ("आदि" पद से परिणाम और प्रतिवस्तूपमादिकों का ग्रहण होता है) सादृश्य की व्यंग्यता (होती) है (वाच्यता नहीं) ।

टिप्पणी—(१) "मुखं चन्द्रः" इस अभेद ज्ञान के अनन्तर "मुखं चन्द्र साधर्म्यवत्" इसप्रकार की सादृश्य की प्रतीति व्यञ्जना से होती है । इस व्यञ्जना के द्वारा अभेद-ज्ञान की प्रतीति की व्यावृत्ति के लिये ही उपमा के लक्षण में "वाच्य" इस विशेषण का ग्रहण किया है । इसप्रकार लक्षणा से वाच्य सादृश्य वाले स्लों पर उपमा ही होगी—ऐसा ग्रन्थकार का आशय है ।

अर्थ—("अवैधर्म्य" इसकी व्यवच्छेदता दिखाते हैं) व्यतिरेके चेतिव्यतिरेकालङ्कार में वैधर्म्य का भी (केवल सादृश्य का ही नहीं) कथन होता है ।

टिप्पणी—" अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की यथा विधुः" इत्यादि एक वाक्यगत व्यतिरेकालङ्कार के उदाहरण में वैधर्म्य का अर्थात् उपमान की अकलङ्किता और उपमेय की कलङ्किता का भी कथन किया है । इसके अन्दर व्याप्ति के निराकरण के लिये "अवैधर्म्यम्" यह विशेषण उपमा के लक्षण में दिया है । और यहाँ पर सादृश्य के वाच्य होने पर भी नञ् के द्वारा मुख के अन्दर सम्बन्ध के अभाव का ज्ञान होता है, अतः दोनों में ही सम्बन्धित्व का अभाव होने से उपमा की प्रसक्ति कैसे हो सकती है ? ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर मुख के अन्दर चन्द्रमा के साधर्म्य की बाधा न होने से नञ् के द्वारा केवल मुख के अन्दर अतिशय उत्कर्ष की प्रतीति करानामात्र प्रयोजन है ।

अर्थ—("वाक्यैक्ये" इसकी व्यावृत्ति दिखाते हैं) उपमेयोपमायामिति–उपमेयोपमालङ्कार में दो वाक्य होते हैं ।

टिप्पणी—(१) "कमलेवमतिर्मतिरिव कमला" इत्यादि में श्रीः और मति का परस्पर अनाकांक्ष सादृश्य "कमलेव मतिः", "मतिरिव कमला" इन दो वाक्यों से पृथक् प्रतीत होता है । यहाँ पर "उपमेयोपमा" यह पद रसनोपमा का भी उपलक्षण है । तथा च रसनोपमा के अन्दर "चन्द्रायते शुक्लरुचाऽपि हंसः" "हंसायते चारुगतेन कान्ता" यहाँ पर दोनों वाक्यों के परस्पर निराकांक्ष होने से अनेक वाक्यता है । इसप्रकार "वाक्यैक्ये" ऐसा कहने से उपमेयोपमा में और रसनोपमा में सादृश्य के परस्पर आकांक्षा से रहित होने के कारण अनेक वाच्य हैं अतः इन दोनों अलङ्कारों में उपमा के लक्षण की अतिप्रसक्ति नहीं होती है।

(२) 'वाक्यैक्ये" यह अन्य वाक्य का व्यवच्छेद है, एक पद का व्यवच्छेदक नहीं है, अतः "मुखाब्जम्" इत्यादि में एक पद के अन्दर भी उपमा है ।

अर्थ—("द्वयोः" इसकी सार्थकता दिखाते हैं) अनन्वये इति–अनन्वयालङ्कार में एक (पदार्थ) के ही सादृश्य का कथन होता है, यह इसका (अनन्वयालङ्कार का उपमा से) भेद है ।

टिप्पणी—(१) "राजीवमिव राजीवम्" इत्यादि केवल एक पदार्थ के सादृश्य वाले अनन्वय अलङ्कार के उदाहरण में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये उपमा के लक्षण में "द्वयोः" ऐसा कहा है ।

(२) इसप्रकार इस निरुक्त लक्षण वाली उपमा की रूपक व्यतिरेक–उपमेयोपमा–रसनोपमा और अनन्वयालङ्कारों से भिन्नता है ।

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतु गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

अवतरणिका—**उपमा** मुख्यतः दो प्रकार की होती है—(१) **पूर्णोपमा** और (२) **लुप्तोपमा** । इनमें से सर्वप्रथम **पूर्णोपमा** का लक्षण करते हैं—

अर्थ—(**पूर्णोपमा** का लक्षण) **सेति**—यदि सामान्यधर्म, औपम्यवाची (उपमा वाचक), उपमेय और उपमान वाच्य (अभिधा से प्रतिपाद्य) हों (तो) वह (उपमा' **पूर्णोपमा** (होती) है (सभी अंशों से युक्त होने के कारण) ।

(कारिकास्थ पदों की क्रमशः व्याख्या करते हैं) **सेति सा**=उपमा । (उपमान और उपमेय रूप से प्रसिद्ध) दोनों (पदार्थों, के सादृश्य के कारण (**सादृश्य** का लक्षण —**तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयो धर्मवत्वम्**] गुण और क्रिया (ये केवल उपलक्षण है, अतः एक प्रकार के शब्द का उपस्थापन भी) साधारण धर्म कहलाता है, (यथा) मनोज्ञत्वादि । ["आदि" पद से "भाति"-प्रभृति क्रिया का और तथाविधशाब्द धर्म का ग्रहण होता है । क्रमशः यथा—"**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**" इत्यादि में मनोज्ञत्वादि गुण साधारण धर्म है, "**मुखं चन्द्रमिवाभाति**" इत्यादि में "भाति" यह क्रिया साधारण धर्म है । "**सकलकलम्**" इत्यादि में "सकलकलम्" यह एकप्रकार के शब्द का उपस्थापनरूप स्वरूप विशेष साधारण धर्म है ।] औपम्यवाचक पद इवादि ("आदि" पद से "वत्" आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है । **अथवा** अव्ययों की भी अन्विताभिधान रूप से मानने के कारण वाचकता है] उपमेय (**उपमातुं-समानतया प्रत्याययितुं योग्यं यत् तदुपमेयं** अर्थात् सादृश्य का आश्रय पदार्थ) मुखादि । [यथा— "**चन्द्रवद्मुखम्**" इत्यादि में "मुख" उपमेय है ।] उपमान (**उपमीयते-समानतया प्रत्याय्यते येन तदुपमानं** अर्थात् सादृश्य का निश्चित सम्बन्धी पदार्थ) चन्द्रादि । [यथा—"**चन्द्रवत् मुखम्**" इत्यादि "चन्द्र" उपमान है ।] ॥

टिप्पणी—(१) यहाँ पर प्रसिद्ध उपमेय और उपमान का ग्रहण ही समझना चाहिये । अतएव कहा है कि—

यदाप्तमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति ।
तदोपमैव येनेव शब्द सादृश्यवाचकः ॥
यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कवि कल्पितः ।
तदोत्प्रेक्षैव येनेव शब्द-सम्भावना परः ॥ इति"

(२) **उपमेय** का लक्षण—**उपलभ्यमानसाम्यस्य अनुयोगि उपमेयम्** ।
उपमान का लक्षण—**उपलभ्यमानसाम्यस्य प्रतियोगि उपमानम्** ॥

—इयं पुनः ॥ १५॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।

आर्थी तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥१६॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा ।

अथ पूर्णोपमा भेद निरूपणम्—

अवतरणिका—पूर्णोपमा के श्रौती और आर्थी रूप से दो भेदों का वर्णन करते हैं—

अर्थ—तथा यह (निरुक्त लक्षणा "**पूर्णोपमा**") यदि यथा—इव और वा शब्द हों ["**वा स्यात् विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चयात् इति विश्वकोषः** के अनुसार "वा" शब्द उपमार्थक है । बहुवचन का प्रयोग "आदि" के अर्थ में है, अतः "**पङ्कजदलानि व लोचनानि**" इत्यादि में "व" शब्द भी उपमा के अर्थ में गृहीत होता है । अथवा इवार्थक वति प्रत्यय हो (तो) श्रौती—(**श्रूयते इति श्रुतिः—शब्दः, तयासाक्षादेवोपलभ्यमानोपमानोपमेयसवन्धा श्रौती**) उपमा कहलाती है । जहाँ तुल्य-समान आदि ("आदि" पद से सम-सदृश आदि का ग्रहण होता है) अथवा तुल्यार्थक वति प्रत्यय हो (तो) आर्थी (**पदार्थानुसन्धानापेक्षया प्रतीयमानोमेयसम्बन्धा आर्थी**) उपमा कहलाती है ।

टिप्पणी—**श्रौती उपमा** के अन्दर श्रवणमात्र से सादृश्य-की प्रतीति होती है, और **आर्थी उपमा** के अन्दर अर्थानुसन्धान से सादृश्य-की प्रतीति होती है ।

अर्थ—(**श्रौती** और **आर्थी उपमा** में भेद दिखाते हैं ।) **यथेवेति**—यथा-इव और वा आदि ("आदि" पद से "व" का ग्रहण होता है) शब्द उपमान वाचक पद के पश्चात् प्रयुक्त तुल्यादि पदों के समान (होते हुये) भी (अर्थात् उपमान और उपमेयाति सादृश्य का ज्ञान कराने वाले हैं) अपने श्रवण मात्र से (अर्थ के अनुसन्धान की अपेक्षा के द्वारा नहीं) उपमान और उपमेयगत सादृश्य रूप (लक्षण) सबन्ध का ज्ञान (शब्द शक्ति की महिमा से) कराते हैं, इस कारण उनका (यथादि शब्दों का) प्रयोग होने पर **श्रौती उपमा** (कहलाती) है [**तात्पर्य यह है कि**—अवयवों के **अन्विताभिधान** को स्वीकार करने से जिसप्रकार "**घटो न पदः**" इत्यादि में नञ् पद पदार्थ की उपस्थिति के विना ही पदार्थ की उपस्थिति के पूर्व ही समभिव्याहृत पदार्थों के अन्वित भेद का ज्ञान करा देता है, उसीप्रकार "**कमलमिव मुखम्**" इत्यादि में इवादि पद भी श्रवणमात्र से समाभिव्याहृत पदार्थों के अन्वित साधर्म्य का ज्ञान करा देता है । **अन्विताभिधान** वादी सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ का ज्ञान कराने के लिये एक अतिरिक्त शक्ति को स्वीकार करते हैं । अतः सर्वप्रथम उस शक्ति से ही वाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, और पश्चात् अभिधा शक्ति या लक्षण के द्वारा प्रत्येक पदार्थ की उपस्थिति होती है । अवयवों के **अभिहितान्वय** को स्वीकार कर लेने पर भी अन्वय से अतिरिक्त नाम और अर्थ का अभेद के अनिरिक्त सम्बन्ध होने से साक्षात् अन्वय को न मानने से अव्ययार्थ का नामार्थ के साथ साक्षात् ही अन्वय सम्भव हो सकता है, अतः अव्ययपद से उपमान और उपमेय भाव होने पर भी साधारणधर्म के सम्बन्ध का उपस्थापन करने से विभक्ति के अर्थ की अपेक्षा होती है ।

एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु—'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव। 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव।

अर्थ—**एवमिति**—इसीप्रकार "**तत्र तस्येव**" (/१/११६ पाणिनीयसूत्रम्) इस सूत्र से इव के अर्थ में विहित वति प्रत्यय के उपादान में (भी **श्रौती उपमा** होती) है। [तथा च—"**पद्मवत्त्वन्मुखे**" कान्ते ! भान्ति .... चन्द्रवत्त्वन्मुखस्यापि सुषमा सुभगा सदा" इत्यादि में क्रमशः सप्तम्यन्त पद्म शब्द से और षष्ठ्यन्त चन्द्र शब्द से विहित वति प्रत्यय "पद्म इव", "चन्द्रस्य इव" इस अर्थ का ज्ञान कराते हैं।]

आर्थी उपमा का प्रतिपादन करते हैं—**तुल्यादयस्त्विवत**—तुल्य आदि (शब्द) तो ("आदि" पद से समान-सदृश-हसति-प्रत्यर्थि प्रभृति पदों का ग्रहण होता है) "**कमलेन तुल्यं मुखम्**" ["**कमलेन**" यहाँ पर षष्ठ्यर्थ में तृतीया है, और यहाँ षष्ठी का अर्थ "**कुम्भस्य जलम्**" की तरह आधेय है; और उसका तुल्य पदार्थों के एक स्थल के सादृश्य में अन्वय है, अतः "कमलवृत्ति वाले सादृश्य का आश्रय मुख है"—यह अर्थ है।] इत्यादि में उपमेय के अन्दर ही (अपने अर्थ का ज्ञान कराते) हैं [यहाँ "**एव**" शब्द उपमान की व्यावृत्ति के लिये है। **भाव यह है** कि तुल्यादि पदों के अन्वय न होने के कारण **अन्विताभिधान** को स्वीकार कर लेने से अर्थज्ञान से पहले केवल पदार्थोपस्थिति को उत्पन्न करके उपमेय में से अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं; और पश्चात् उपमान पदार्थ के अनुसन्धान से और तात्पर्य के अनुसन्धान से उपमान के सादृश्य की प्रतीति होती है।] "**कमलं मुखस्य तुल्यम्**" इत्यादि में (तुल्य आदि शब्द) उपमान में ही [अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यहीं पर ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि कमल शब्द और तुल्य शब्द की समान विभक्ति होने के कारण मुख उपमान है और कमल उपमेय है, अतः कमल की उपमान में विश्रान्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि मुख और कमल के समभिहार स्थल में मुख के विषय में कमल का उपमान ही प्रसिद्ध है, अतः ऐसा कह दिया है। वस्तुतस्तु "कमलम्" यहाँ उपमेय ही है। इसी को दण्डी विपर्यासोपमा मानते हैं।]

'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्राम्यन्तीत्यर्थानुपन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—

द्वे श्रौती आर्थी च। उदाहरणम्—

'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती।

अर्थ—"**कमलं मुखं च तुल्यम्**" इत्यादि में (तुल्यादि शब्द) दोनों ही में (अर्थात् उपमेय और उपमान में) अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं (विश्राम्यन्ति), अतः (षष्ठी के) अर्थ के अनुसन्धान से ही सादृश्य का (दोनों के सम्बन्ध का सादृश्य का) ज्ञान कराते हैं, अतः उनका (तुल्यादि शब्दों का) प्रयोग होने पर आर्थी उपमा (होती) है। **एवमिति**—इसप्रकार "**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति**" (५/१/११५) इस (पाणिनि सूत्र) से तुल्य के अर्थ में विहित वति प्रत्यय के उपमान में (भी आर्थी उपमा होती) है।

टिप्पणी—(१) भामह ने भी कहा है कि—

वतिनाऽपि क्रियासाम्यं तद्वदेवाभिधीयते।
द्विजातिवदधीतेऽसौ गुरुवच्चानुशास्ति नः॥ इति॥

(२) **सारांश** यह है कि—**उपमानोपमेययोः साधारणधर्मसम्बन्धरूपायाः उपमायाः शाब्दबोधविषयत्वम्** श्रौतत्वम्, **उपमानोपमेययोः साधारण धर्म—सम्बन्धरूपायाश्च तस्या आर्थबोधविषयत्वम्** आर्थत्वम्। अतएव **श्रौत्यां तस्यां यथेवादीनामु पलब्ध्यनन्तरमेवोपमानोपमेययोः साधारण धर्म सम्बन्धाऽवगमः।** आर्थ्यां पुनः **षष्ठ्याद्यर्थानुसन्धानोत्तरम्** इति।

अवतरणिका—इसप्रकार पूर्वोक्त **पूर्णोपमा** के **श्रौती** और **आर्थी** दो प्रकार की उपमा के पुनः तद्धित, समास और वाक्यगतरूप से तीन प्रकार की होने से छः प्रकार की उपमा का निरूपण करते हैं—

अर्थ—दोनों (**श्रौती** और **आर्थी पूर्णोपमा**) तद्धित (वत्कल्पादियोगे), समास और वाक्य में (होती) है। (कारिकास्थ "**द्वे**" पद की व्याख्या करते हैं) **द्वे इति-द्वे**—अर्थात् **श्रौती** और **आर्थी पूर्णोपमा**।

अवतरणिका—तद्धित—समास और वाक्यगत रूप से तीन प्रकार की **श्रौती** पूर्णोपमा का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(हे) बाले! तुम्हारे मुख की सुगन्ध कमल की तरह है अर्थात् कमल-वृत्ति साधर्म्य से अभिन्न है, अथवा सौरभ से अभिन्न कमल का साधर्म्य मुख सम्बन्धी है, स्तन कुम्भ के समान स्थूल हैं अर्थात् स्थूलत्व से अभिन्न कुम्भवृत्ति के साधर्म्य के आश्रय वाले हैं; (और) मुख शरद् कालीन चन्द्रमा की तरह आनन्दित करने वाला है। **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) क्रमशः तीनों प्रकार की (तद्धित–समास और वाक्यगत) श्रौती पूर्णोपमा है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण के प्रथम चरण में "कमल" उपमान है, "मुख" यह उपमेय है, "सुगन्ध" साधारण धर्म है और वति प्रत्यय औपम्यवाची है—इसप्रकार पूर्णोपमा की सामान्य लक्षण सङ्गति हो जाती है। "**अम्भोरुहवत्**" यहाँ **तत्रतस्येव** इस षष्ठचन्त से इव के अर्थ में वति प्रत्यय के होने से **तद्धितगताश्रौती पूर्णोपमा** है। कमल पद के मुख सम्बन्धि सुगन्ध के परिचायक होने से कमल सम्बन्धि सुगन्ध के समान मुखसम्बन्धि सुगन्ध है—यह शाब्द बोध होता है। तदन्तर कमल और मुख सम्बन्धि सुगन्ध के साहृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय से अभिन्न धर्ममूलक कमल और मुख की उपमा की प्रतीति होती है।

(२) **द्वितीय चरण** में "कुम्भ" उपमान हैं, "स्तन" उपमेय है, स्थूलतादि—साधारण धर्म है और इव शब्द उपमावाची है। "**कुम्भौ**" यहाँ **इवेन समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वं च**" इस वार्तिक से समास हो जाने से **समासगता श्रौतीपूर्णोपमा** है। यहाँ कुम्भ के साहृश्य को बताने वाले पीनत्वादि धर्म वाले स्तन हैं—यह शाब्दबोध होता है।

(३) **उत्तरार्ध** में—शरद्कालीन चन्द्रमा—उपमान है, मुख—उपमेय है आह्लादित करना—साधारण धर्म है, यथा—यह उपमावाची शब्द है। यहाँ "**यथाऽसादृश्ये**" २/१/७ इस पाणिनिय सूत्र से असाहृश्य में ही समास की उपपत्ति होने पर और साहृश्य में समास न करने से **वाक्यगता श्रौतीपूर्णोपमा** ही है। यहाँ "यत्"-"तत्" शब्द की प्रकृति वाले थाल् प्रत्ययान्त यथा आदि शब्द के योग में जिस धर्म से युक्त शरद्काल. . चन्द्रमा है, उसी धर्म की तरह मुख है—ऐसा दोनों को विशिष्ट करने वाले वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। तदन्तर यत् और तत् शब्दों से एक धर्म का ज्ञान होने से साहृश्य की प्रतीति होती है और हृदय को आह्लादित करने वाले लक्षण का अनुगामी साधारण धर्म है।

(४) **अथवा**—(१) "**सुकुमारत्वमरुणता दृशोर्वशीकार करणत्वं च।**
भातीह मत्तकाशिनि! पाणियुगे तामरसवत्ते॥"

यहाँ "तामरसवत्" में सप्तमी के अर्थ में वति प्रत्यय है, अतः **तद्धितगता श्रौतीपूर्णोपमा** है।

(२) "**अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।**"
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो लक्ष्मी विलासभवनैर्भुवनं बभार॥

यहाँ "भुजैः" इसका इव के साथ समास होने से **समासगता श्रौतीपूर्णोपमा** है।

(३) "**इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा।**
ऋतोरिषि श्रीः शिशिरानुजन्मना पिकस्वरैर्द्रवविकस्वरैर्यथा॥

यहाँ "यथा" शब्द के असमस्त होने से **वाक्यगता श्रौतीपूर्णोपमा** है।

'मधुरः सुधावदधरः पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः ।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः ॥'

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी ।

--पूर्णा षडेव तत् ।

स्पष्टम् ।

अवतरणिका—तद्धित-समास और वाक्यगत रूप से तीन प्रकार की **आर्थी-पूर्णोपमा** का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—उस (तरुणी) के अधर अमृत की तरह मधुर हैं, हाथ नवीन किसलय के समान अत्यन्त कोमल हैं, और नेत्र भीत हरिणों के नेत्रों के समान चञ्चल हैं। [''**चकितमृगलोचनाभ्याम्** में ''**तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्**'' २/३/७२ सूत्र से तृतीया विभक्ति है।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) क्रमशः तीनों प्रकार की (तद्धित-समास और वाक्यगत) **आर्थीपूर्णोपमा** है।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में प्रथम चरण में अमृत-उपमान है, अधर-उपमेय हैं, मधुरता-साधारण धर्म है और अधर अमृत के समान ही मधुरतया आस्वादन किया जाता है—इस अर्थ की विवक्षा में ''**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः**'' इस सूत्र से तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में वति प्रत्यय करने से **तद्धितगता आर्थीपूर्णोपमा** है। ''**सुधावत्**'' इसका ''**सुधया तुल्यम्**'' यह विग्रह है। अतः अमृत की समानता के समान [illegible]र अधर है—इस अर्थ की प्रतीति होती है। तुल्यता का ज्ञान कराने वाली [illegible]रता का उसके अर्थ के अनुसन्धान के अनन्तर मन से अथवा व्यञ्जना से ज्ञान [illegible]ता है यही **आर्थीत्व** है।

(२) **द्वितीय चरण में**—किसलय—उपमान है, हाथ-उपमेय है, अत्यन्त कोमलता—साधारण धर्म है, और तुल्य पद—उपमावाची है। यहाँ उपमान भूत पल्लव पदार्थ उपमावाची तुल्य शब्द के साथ समस्त होने के कारण **समासगता आर्थीपूर्णोपमा** है।

(३) **उत्तरार्ध में**—भीत हरिणों के नेत्र-उपमान हैं, नेत्र—उपमेय है, चञ्चलता-साधारण धर्म है, सादृशी-उपमावाची है। इस उत्तरार्ध के वाक्य होने के कारण ''**चकितमृगलोचनाभ्याम्**'' यहाँ समास होने पर भी ''**सदृशी**'' के साथ समास न होने से **वाक्यगता आर्थीपूर्णोपमा** ही है।

अवतरणिका—**पूर्णोपमालङ्कार** का संकलन करते हुये उपसंहार करते हैं—

अर्थ—अतः (अर्थात् उक्त प्रकार से **पूर्णोपमा** के भेदों का वर्णन करने से) **पूर्णोपमा** छः प्रकार की होती है। **स्पष्टम्**—(कारिका) स्पष्ट है।

टिप्पणी—**पूर्णोपमा** के दो भेद—(१) **श्रौती** (२) **आर्थी**। इन दोनों के पुनः तीन-तीन भेद हुये अर्थात् **श्रौती उपमा** के (१) तद्धिगता श्रौतीपूर्णोपमा (२) समासगता श्रौतीपूर्णोपमा और (३) वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमा। तथा **आर्थी उपमा** के—(१) तद्धिगता आर्थी (२) समासगता आर्थी और (३) वाक्यगता आर्थीपूर्णोपमा॥ इसप्रकार **पूर्णोपमा** के कुल छः भेद हुये॥

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥१७॥
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

सा लुप्ता ।

तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥१८॥

सा लुप्तोपमा धर्मस्य साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्तरीत्या षट्प्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात्पञ्चप्रकारा ।

अथ लुप्तोपमाभेद निरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार **पूर्णोपमा** के छः भेदों का निरूपण करने के उपरान्त दूसरी प्रकार की **लुप्तोपमा** का निरूपण करते हुये सर्वप्रथम उसके दो भेदों का निरूपण करते हैं—

अर्थ—सामान्यधर्मादिकों में से ("आदि" पद से उपमान, उपमेय और औपम्यवाची इवादिकों का ग्रहण होता है ।) किसी एक का (अर्थात् सामान्यधर्म-उपमान-उपमेय और औपम्यवाचियों में से किसी एक का) अथवा दो का (अर्थात् सामान्य धर्म और उपमान का; सामान्यधर्म और उपमेय का; उपमान और औपम्यवाची का—उनमें से किसी एक का) अथवा तीनों का (सामान्यधर्म-उपमान-उपमेय और औपम्यवाचियों में से किन्हीं तीन का) साक्षात् कथन न करने पर **लुप्तोपमा** (होती) है । (और) वह (**लुप्तोपमा**) भी **पूर्णोपमा** की तरह (पूर्ववत्) **श्रौती** और **आर्थी** (दो प्रकार की होती) है । (कारिकास्था "**सा**" की व्याख्या करते हैं ।) **सेति—सा** = अर्थात् लुप्तोपमा ॥

अर्थ—उसके (**लुप्तोपमा** के) भेद को बताते हैं—**पूर्णावदिति—वह** (**लुप्तोपमा**) साधारण गुण क्रिया रूप धर्म के साक्षात् कथन न करने पर (**धर्म लोपे**) तद्धित में श्रौती को छोड़कर (अर्थात् श्रौतीरूप भेद को तद्धित में छोड़कर) **पूर्णोपमा** की तरह (होती) है । [**अर्थात्**—जिस प्रकार **पूर्णोपमा** श्रौती और आर्थी भेद से दो प्रकार की होती हुई पुनः तद्धित-समास और वाक्यगता होकर तीन-तीन प्रकार की होकर छः प्रकार की होती है, उसी प्रकार यहाँ तद्धित में श्रौती को छोड़कर **लुप्तोपमा** पाँच प्रकार की होती है ।]

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं) **सेति—सा** = लुप्तोपमा । **धर्मस्य** = साधारणगुण (मनोज्ञत्वादि) क्रिया ("भाति" इत्यादि) रूप धर्म के लुप्त होने पर (साक्षात् कथन न करने पर) **पूर्णावत्** = पूर्णोपमा की तरह पूर्वोक्त रीति के अनुसार छः प्रकार की होती हैं; किन्तु (पूर्वोक्त रीति से श्रौती और आर्थी भेद से छः प्रकार की होने से योग्य होती हुई भी) यहाँ (साधारण धर्म का लोप होने पर) तद्धित में श्रौती के असम्भव होने से पाँच प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—"**तत्र तस्येव**" इस सूत्र से सप्तम्यन्त से और षष्ठ्यन्त से वति प्रत्यय होता है, और उसमें जिस किसी साधारण धर्म का आश्रय लेकर ही षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है । अतः लुप्तोपमा के अन्दर

उदाहरणम्—

'मुखमिन्दुर्यथा, पाणिः पल्लवेन समः प्रिये ।
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो, मनोऽश्मवत् ।।'

साधारण धर्म का कथन न करने के कारण षष्ठी और सप्तमी विभक्ति नहीं हो सकती है, तथा उनके अन्त में होने वाला वति प्रत्यय भी नहीं हो सकता है, अतः साधारण धर्म का लोप होने पर तद्धित में श्रौती हो ही नहीं सकती है। इसप्रकार **"सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य"** यहां सौरभ रूप साधारण धर्म का कथन न करने पर न तो षष्ठी विभक्ति हो सकती है, और न ही उसके अन्त में वति प्रत्यय हो सकता है। इसीलिये कहा है कि **पञ्चप्रकार** इति । अर्थात् यह लुप्तोपमा साधारण धर्म के लुप्त होने पर **समासगता** और **वाक्यगता** दो प्रकार की श्रौती और **तद्धित-समास** और **वाक्यगता** रूप तीन प्रकार की आर्थी—इसप्रकार कुल मिलाकर पाँच प्रकार की होती हैं ।

अर्थ—(धर्मलुप्तोपमा का) उदाहरण—**मुखमिति**—(हे) प्रिये ! तुम्हारा मुख चन्द्रमा की तरह (आह्लादक) है, हाथ नवीन किसलय के समान (कोमल) हैं, वचन अमृत की तरह (मधुर) हैं, ओष्ठ बिम्बफल के समान (रक्तवर्ण) हैं, (और) मन पत्थर की तरह (कठिन) है ।।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में **"मुखमिन्दुर्यथा"** में यथा शब्द के प्रतिपादन करने पर भी उसके साथ समास न होने से **"आनन्दयति"** इस क्रिया रूप साधारण धर्म का कथन न करने से **वाक्यगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा** है । (२) **"पाणिः पल्लवेन समः"** यहाँ सम शब्द के प्रतिपादन करने पर भी उसके साथ समास न होने से **"कोमल"** इस गुणरूप साधारण धर्म के कथन न करने से **वाक्यगता आर्थीधर्मलुप्तोपमा** है ।

(३) **"वाचः सुधाइव"** यहाँ इव शब्द के प्रतिपादन करने से और उसके साथ पूर्वोक्त न्याय से समास होने से और **"मधुर"** इस साधारण धर्म का कथन न करने से **समासगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा** है ।

(४) **"ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः"** यहाँ तुल्य शब्द का प्रतिपादन करने से और **"रक्तवर्ण"** इस साधारण धर्म का ग्रहण न करने से और बिम्बपद के साथ तुल्यपद का समास होने से **समासगता श्रौती धर्मलुप्तोपमा** है ।

(५) **"मनोऽश्मवत्"** यहाँ तृतीयान्त अश्म शब्द से तुल्य के अर्थ में **"तेन तुल्यम्"** से वति प्रत्यय होने से और **"कठिन"** इस साधारण धर्म का उपादान न करने से **तद्धितगता आर्थीधर्मलुप्तोपमा** है ।

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि, क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च, स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥१६॥

'धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुषज्यते । क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते इन्-यिन्नागमः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु, सुतीयसि त्वं
पौरं जनं तव, सदा रमणीयते श्रीः ।

अवतरणिका—पुनः **धर्मलुप्तोपमा** के अन्य ५ भेदों का वर्णन करते हैं :—

अर्थ—अधिकरण से और कर्म से विहित क्यच् प्रत्यय होने पर (इसीका ,'पिन्" यह दूसरा नाम है) दो प्रकार की (**धर्मलुप्तोपमा** होती) है अर्थात् (१) अधिकरण कारक से विहित क्यच् प्रत्यय होने पर और (२) कर्मकारक से विहित क्यच् प्रत्यय होने पर) (कर्त्ता से विहित) क्यङ् प्रत्यय होने पर (एक प्रकार की **धर्मलुप्तोपमा** होती है); और कर्म और कर्त्ता के उपपद होने पर णमुल् प्रत्यय होने पर (अर्थात् कर्म से णमुल् होने पर कर्त्ता से णमुल् होने पर दो प्रकार की **धर्मलुप्तोपमा**)—इसप्रकार (साधारण धर्म का लोप होने पर) पाँच प्रकार की (**धर्मलुप्तोपमा**) होती है ।

(ऊपर की सारिका के अन्दर आकांक्षा की पूर्ति के लिये) **"धर्मलोपेलुप्ता"** "साधारण धर्म का लोप होने पर लुप्तोपमा होती है"—इसका अध्याहार कर लिया जाता है । (**पाणिनि** के मतानुसार **क्यच्-क्यङ्** और **णमुल् प्रत्यय** (ही) **कलाप व्याकरण** के मतानुसार **यिन्-आयि** और **णम् प्रत्यय** (कहलाते) हैं ।

टिप्पणी (१) **कलाप व्याकरण** का ही दूसरा नाम "**कातन्त्र**" है । कहा भी है कि :— अधुना स्वल्पतन्त्रत्वात् कातन्त्राख्यं भष्यति ।
तद्वाहनकलापस्य नाम्ना कालापकं तथा ॥

अर्थ—(एक ही श्लोक के अन्दर उक्त पाँचों प्रकार की **धर्मलुप्तोपमा** के) क्रमशः उदाहरण **अन्तःपुरीयसीति**—(हे) राजन् ! आप युद्धों में अन्तः पुर के समान आचरण करते हैं अर्थात् अन्तःपुर में विद्यमान स्त्रियों की तरह सुखपूर्वक विहार करते हैं; [यहाँ "**अन्तःपुरेष्विवाचरति**" ऐसा विग्रह करने पर "उपमानादाचारे" ३/१/१० इस सूत्र पर विद्यमान "**अधिकरणाच्च**" इस वार्तिक से उपमानवाचक अन्तःपुर इस अधिकरण पद से आचार अर्थ में "क्यच्" प्रत्यय हुआ है । **कलापव्याकरण** के मत में भी "**उपमानादाचारे**" इस सूत्र पर विद्यमान "**आचारादयिस्यात्**" से यिन् प्रत्यय होती है ।] पुरवासी मनुष्यों के साथ पुत्र के समान आचारण करते हैं अर्थात् प्रजा समूह को पुत्र के तुल्य मानते हैं, ["**सुतमिवाचरतिसइतिसुतीयसि**" यहाँ पर भी "**उपमानादाचारे**" ३/१/१० इस सूत्र के द्वारा "सुतम्" इस उपमान भूत कर्म उपपद से आचार अर्थ में "क्यच्" प्रत्यय हुआ है, **कलाप** मतानुसार भी इसी से ही यिन् प्रत्यय हुआ है ।] लक्ष्मी सदा आपकी रमणी की तरह आचारण करती है, अर्थात् स्त्री की तरह सुखोपभोग को देती है; ["**रमणीवाचरति "इति" रमणीयते**" यहाँ "**कर्तुः क्यङ् सलोपश्च**" ३/३/११ इस सूत्र के द्वारा रमणी-इस उपमान भूत कर्तृ पद से आचार अर्थ में "क्यङ् प्रत्यय हुआ है और ङित्व होने से आत्मनेपद है । **कलाप** के मत में "**कर्तुरायि सलोपश्च**" इससे आयि प्रत्यय हुआ है]

दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश ॥'

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः। एवमन्यत्र।

अर्थ—प्रियाओं से चन्द्रमा के समान देखे गये हैं, अर्थात् चन्द्रमा के समान नेत्रों को आनन्द देने वाले रूप से अनुभव किये गये हैं। [**अमृतद्युतिमिवदर्शनमिति** "**अमृतद्युतिदर्शम्**" यहाँ "**कृन्मे जन्तः**" १/१/३९ इससे अव्यय संज्ञा हुई, "**उपमाने कर्मणि च**" ३/४।३५ इस सूत्र से उपमान वाचक अमृतद्युति कर्म उपपद होने पर दृश् धातु से भाव में "णमुल् प्रत्यय हुआ है। "**यस्माण्णमुलुक्तः स एव धातुसुप्रयोक्तव्यः**" इस अर्थ वाले "**कषादिषु यथा—विध्यनुप्रयोगः**" ३/४/४९ इस सूत्र से "दृष्टः" में दृश् धातु का अनुप्रयोग हुआ है। कलापमत में "**कर्मणि चोपमाने**" इस सूत्र से "**णम्**" प्रत्यय हुआ है।] (तथा) इस पृथिवी पर इन्द्र के सञ्चरण के समान सञ्चरण करते हैं अर्थात् ऐश्वर्य के आधिक्य के कारण स्वर्ग के अधिष्ठाता इन्द्र के समान अप्रतिहत गमन करते हैं। ["**इन्द्र इव सञ्चरणम् इति**" यहाँ पर भी "**उपमाने कर्मणि च** सूत्र के द्वारा चकार से अनुवर्तित उपमान वाचक "इन्द्र" इस कर्ता के उपपद होने पर सम् पूर्वक चर् धातु से भाव में णमुल् हुआ है। और यह णमुल् "**तुमर्थेसेऽसेनसेकसेन०**" इत्यादि सूत्र के भाष्य में विद्यमान "**अव्ययकृतेभावे भवन्ति**" इस वाक्य से भाव में ही होता है। और कलापमत में भाव में णम् हुआ है।

अवतरणिका—प्रकृत उदाहरण के अन्दर किस अंश में कौनसा धर्म लुप्त हुआ है, जिससे उनमें विशेष प्रत्यय हुये हैं—इसका प्रतिपादन करते हैं :—

अर्थ—इस (उदाहरण) में "**अन्तःपुरीयसि**" यहाँ पर अनायास संचरण के आश्रय रूप (साधारण धर्म) का (लोप हुआ है); और "**सुतीयसि**" यहाँ पर प्रेमाधिक्य के आधार रूप साधारण धर्म का लोप (हुआ) है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र ["**रमणीयते श्रीः**" इत्यादि तीन प्रयोगों में भी समझ लेना चाहिये।]"

टिप्पणी—(१) "**रमणीयते श्रीः**" यहा सुखोपभोग की साधकतारूप अथवा अत्यन्त अधीनता रूप, "**अमृतद्युतिदर्शम्**" यहाँ नेत्रों को आह्लाद जनकतारूप, और "**इन्द्रसञ्चारम्**" यहाँ अप्रतिहत विचरण करने रूप और अतिशयवैभवरूप साधारण-धर्म का लोप हुआ है।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति। इदं च केचिदौपम्यप्रतिपादकस्येवादेर्लोपे उदाहरन्ति, तदयुक्तम् । क्यङादेरपि तदर्थ-विहितत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात् ।

अवतरणिका—प्रश्न—"धर्मलुप्तोपमा" के पहले ५ भेद कहे थे, पुनः इन्हीं ५ भेदों के **श्रौती** और **आर्थी** रूप से दो भेद कर कुल मिलाकर दस भेद होते हैं। पुनः ५ प्रकार की **धर्मलुप्तोपमा** है यह कैसे कहा जा सकता है ? इसका **उत्तर**—देते हैं :—

अर्थ—यहाँ (केवल क्यच् आदि प्रत्यय से निर्मित **"अन्तःपुरीयसि"** इस **धर्मलुप्तोपमा** में) यथा आदि और तुल्य आदि (पदों) के न होने से **श्रौती आदि** ("आदि" पद से **आर्थी** का ग्रहण होता है) की [अर्थात् यह **श्रौती** है और यह **आर्थी** है—इस प्रकार की] विशेष चिन्ता नहीं है। [वस्तुतः श्रवण मात्र से सादृश्य की व्यञ्जना करने वाले यथा आदि शब्दों के न होने से **श्रौती** रूप भेद की चिन्ता नहीं है। इसीप्रकार अर्थ के अनुसन्धान से सादृश्य की व्यञ्जना करने वाले तुल्य आदि शब्दों के न होने से आर्थी रूप भेद की चिन्ता भी नहीं है।] [**प्रश्न—वादेर्लोपे समासे सा कर्मधारमक्यचिक्याङि । कर्म कर्त्रोर्णमुलि"** इति **"काव्यप्रकाश** कार के अनुसार तो इसको **वाचक लुप्ता** कह सकते हैं, पुनः इसको **धर्मलुप्ता** कैसे कहा ? इस मत का निराकरण करने के लिए पूर्वपक्ष उठाते हैं :—] **इदञ्चेति**—कुछ **(काव्यप्रकाशकारादि)** इसको ["अन्तः **पुरीयसिरणेषु**" इत्यादि के समान काव्यप्रकाश में निम्न उदाहरण हैं—

"पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसावन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणेरालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना" को]

औपम्य के प्रतिपादक वति के लोप होने पर (**"वादेर्लोपे समासे सा कर्मधारय क्यचिक्यङि । कर्मकर्त्रोर्णमुक्ति**—"इसके अनुसार वाचकलुप्ता का उदाहरण मानते हैं, **तदिति**—यह (मत) युक्ति संगत नहीं है; क्योंकि क्यङ् आदिकों के भी ("आदि" पद से क्यच् और णमुल् का परिग्रह होता है ।) उसी अर्थ में (वति के अर्थ में) विहित होने से सादृश्य का ज्ञान कराते हैं। [जिस प्रकार **आर्थीपूर्णोपमा** में सम आदि पदों के होने पर **"वाचकलुप्ता"** नहीं होती है। उसी प्रकार यहाँ पर भी **वाचकलुप्ता** नहीं है क्योंकि इवादि के अर्थ में ही क्यच् आदि हुये हैं और **योयत्र प्रत्ययोजातः"** यह नियम है।

ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययेनास्वतन्त्रत्वाद् इवादिप्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम् । कल्पबादावपि तथाप्रसङ्गात् । न च कल्पबादीनामिवादितुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम् । इवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात् ।

अर्थ—प्रश्न—नन्विति—क्यङ् आदि प्रत्ययों के होने पर पूर्णतया सादृश्य की प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि प्रत्यय होने के कारण अपने अर्थ का भी ज्ञान कराने में स्वतन्त्र नहीं है [क्योंकि "**प्रकृति-प्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतः**" इस न्याय के अनुसार प्रकृति की सहायता से ही प्रत्यय अपने अर्थ का ज्ञान कराते हैं ।] और इवादि का प्रयोग (भी) नहीं है (अतः यहां **वाचकलुप्ता** ही है) **इतीति**—ऐसा नहीं कहना चाहिये [अर्थात्—जहां-जहां इवादि हैं, वहां वहां सादृश्य की सम्यक् तथा प्रतीति होती है, जहां इवादि नहीं है, वहां सादृश्य की प्रतीति भी नहीं होती है—यथा—क्यच् आदियों के होने पर—अतः यहां सादृश्य का ज्ञान कराने वाले पद का स्पष्टरूपेण अभाव होने के कारण **वाचकलुप्ता** ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिये ।] क्योंकि **कल्पबादाविति-कल्पप्** आदि प्रत्ययों में भी ("आदि" पद से **वति** और **देश्यादि** प्रत्ययों का ग्रहण होता है) उसप्रकार की प्रसक्ति आती है अर्थात् सम्यक्रूपेण सादृश्य की प्रतीति का अभाव होता है । [**भाव यह है कि "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः**" ५/३/६७ इस सूत्र से विहित पकार इत् संज्ञक **कल्पप्** प्रत्यय का **कलापमत** में अदन्त **कल्पप्रत्यय** का "**विषकल्पंमनः**—इत्यादि समानाधिकरण्य के निर्देश से **ईषद् असमाप्तिविशिष्ट धर्मों** अर्थ है, और **ईषद् असमाप्ति** कुछ न्यून सफल धर्म सम्बन्ध रूप उपमा ही है । इसप्रकार **कल्पप्** आदि प्रत्ययों के स्थल पर "**इवादेर्लोपे**" यह कहना ठीक नहीं है किन्तु "**धर्मलोपे**" ही कहना ठीक है । अतएव "**इन्द्रकल्पं नृपः सोऽयम्**" इत्यादि में उपमा अक्षत ही है ।] **न चेति-कल्पप्** आदिकों के इवादि के तुल्य होने के कारण ("**कल्पदेशीय देश्यादि प्रत्य प्रतिनिधि अपि**") सादृश्य की वाचकता है, परन्तु क्यङ् आदिकों की ("आदि" पद से क्यच् और णमुल् का ग्रहण होता है) द्योतकता है (वाचकता नहीं) यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि **इवादीनामपीति**—इवादिकों की भी वाचकता के विषय में निश्चित नहीं है [**अर्थात्**—व्याकरण के अन्दर सादृश्य का प्रतिपादन करने वाले होने के रूप में इष्ट इवादिकों की वाचकता स्वीकार नहीं की है । तथाहि—इवादिकों की द्योतकता ही है; वाचकता नहीं है, क्योंकि ये निपात है, उपसर्ग की तरह । अतएव—

"**शरैरुस्रैरिवोदीच्यानुद्धरिष्यन् रसानिव**"

वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति ।

इत्यादि में उस्रादि पद के उस्र सदृश परक होने से "उस्र सदृश शरों से" इसप्रकार शर के विशेषण होने से तृतीयादि की सङ्गति हो जाती है। वाचकता होने पर तो उस्र पद के अनन्तर तृतीया आ नहीं सकती क्योंकि एक तो उस्र की उद्धरण क्रिया के प्रति करणता नहीं है और दूसरे इव अर्थ के सादृश्य के अन्वयी होने के कारण करणीभूत शर की विशेषणता भी नहीं है। **वाक्यपदीय** में कहा है कि :—

चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः ।

प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते ॥

ये "च" आदि अपने आप में अकेले प्रयुक्त नहीं होते हैं, अतः ये वाचक नहीं है—ऐसा समझना चाहिये ।] **प्रश्न**—यदि इवादिकों की सादृश्य वाचकता स्वीकार नहीं की जायेगी, तब तो "**कमलमिव मुखम्**" इत्यादि में उपमा के लक्षण की अव्याप्ति आती है। और "**औपम्य वाचकमिवादि**" इस कथन का विरोध आता है ? इसका **उत्तर** देते हैं—**वाचकत्वे वेति**—अथवा (आलङ्कारिकों के द्वारा इवादि के समान कल्पप् आदि की) उपमा वाचकता स्वीकार कर लेने पर "प्रकृति-प्रत्यय से युक्त पद वाचक (होता) है" [अर्थात् प्रकृति के अर्थ से विशिष्ट प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादक होता है, केवल प्रकृतिमात्र का और केवल प्रत्ययमात्र का ज्ञान कराने वाला नहीं होता है । **वाक्यपदीय** में कहा है कि—

"पदे न वर्णा विद्यन्ते वाक्येष्ववयवा न च ।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥"]

और "प्रकृति और प्रत्यय (क्रमशः) अपने-अपने अर्थ का (पृथक्-पृथक्) ज्ञान कराते हैं।" [कहा है कि—**प्रकृति प्रत्ययौ ब्रूतः प्रत्यार्थसहेति यत् । भेदेनैवाभिधानेऽपि प्राधान्येन तदुच्यते" ॥ पाकं हि पचिरेवाह कर्तारं प्रत्ययोऽप्यकः पाकयुक्तः पुनः कर्ता वाच्यो नैकस्य कस्यचित्**) इन दोनों मतों में ही वति आदि ("आदि" पद से कल्पप् आदि का ग्रहण होता है।)

और क्यङ् आदि की (सादृश्य वाचकत्वेने समानता ही है। [**अभिप्राय यह है कि**—यदि वति आदिकों की वाचकता स्वीकार करते हो तो क्यङ् आदिकों की भी वाचकता है। और यदि उनकी वाचकता नहीं है तो इनकी भी नहीं है। जब सभी वति, कल्पप् आदि के होने पर सादृश्य वाचकता स्वीकार करते हैं तो प्रत्ययत्वेन उनके समान क्यङ् आदिकों ने क्या अपराध किया है, जो इनके होने पर सादृश्य की वाचकता स्वीकार नहीं की जाती ।]

यच्च केचिदाहुः—'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति, तदपि न। न खलु क्यङादय आचारमात्रार्थाः, अपि तु सादृश्याचारार्था इति। तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता।

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः।

अर्थ—यच्चेति—और जो कुछ आचार्य (**काव्यप्रकाश** के मत के अनुयायी **चण्डीदास** प्रभृति) कहते हैं कि—वति आदि इवादि के अर्थ में किये जाते हैं; किन्तु क्यङ् आदि आचार अर्थ में" (किये जाते) है [अर्थात्—तत्रतस्येव इस सूत्र से नियमित किये जाते हैं। और इसप्रकार **"यो यत्र प्रत्ययोजातः"** इस न्याय के अनुसार वति आदिकों के इव के अर्थ में होने से सादृश्य वाचकता है। और क्यङ् आदिकों के आचार अर्थ में होने से आचारार्थ वाचकता है। अतः क्यङ् आदि प्रत्ययों के उदाहरण में सादृश्य का ज्ञान कराने वालों का लोप कहना ही ठीक है।] **तदपीति**—यह (कहना) भी ठीक नहीं है क्योंकि क्यङ् आदि केवल आचार अर्थ में ही नहीं (किये जाते) हैं, अपितु सादृश्य विशिष्ट आचारार्थ में (किये जाते) हैं। [**सारांश यह है कि कर्त्तुः क्यङ्सलोपश्च**" यहाँ **"उपमानादाचारे"** इससे उपमान पद का अनुवर्तन होता है। अतः इव के अर्थ के सादृश्य से भी ज्ञान होने पर सादृश्य विशिष्ट आचार अर्थ वाला क्यङ् होता है। अतएव **"रमणीवाचरति, सुतमिवाचरति"** इत्यादि अर्थ वाले **"रमणीयते सुतीयते"** इत्यादि राजा में राज्य लक्ष्मी की रमणी के समान आचरण की और प्रजा में राजा की पुत्र के समान आचरण की प्रतीति होने से क्यङ् आदि की "सदृश्य विशिष्ट आचरण" इस अर्थ की प्रतीति होती है, केवल आचरण अर्थ की ही प्रतीति नहीं होती है।] **तदवेमिति**—(उपसंहार करते हैं—) अतः इसप्रकार धर्म के लोप होने पर दस प्रकार की **लुप्तोपमा** होती है।

टिप्पणी—(१) **धर्मलुप्तोपमा** के दो भेद (१) श्रौती (२) आर्थी

(२) **श्रौती धर्मलुप्तोपमा** के दो भेद—(१) समासगता (२) वाक्यगता।

(३) **आर्थी धर्मलुप्तोपमा** के तीन भेद—(१) तद्धित (२) समास और (३) वाक्यगता।

निष्कर्ष—इसप्रकार **धर्मलुप्तोपमा** के ५ भेद हुये।

पुनः (१) अधिकरण से क्यच् होने पर (२) कर्म से क्यच् होने पर (३) कर्ता से क्यङ् होने पर (४) कर्म से णमुल् होने पर (५) और कर्ता से णमुल् होने पर—५ प्रकार की हुई।

इसप्रकार **धर्मलुप्तोपमा** दस प्रकार की होती है।

अवतरणिका—सामान्य धर्म का लोप होने पर **धर्मलुप्तोपमा** का प्रतिपादन करने के उपरान्त उपमानलुप्तोपमा का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—उपमानवाचक पद के (**उपमीयते अनेनेति उपमानम्**) प्रयोग न होने पर (१) वाक्यगता और (२) समासगता दो प्रकार की (**लुप्तोपमा** होती) है॥

उदाहरणम्--

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्' ।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः ।

टिप्पणी—उपमान वाचक पद का प्रयोग न होने पर उसके पश्चात् प्रयोज्य श्रौती का ज्ञान कराने वाले इवादि पदों का प्रयोग ही नहीं हो सकता है, अतः सामान्य रूप से श्रौती का भेद ही नहीं हो सकता है, अर्थात् "**चन्द्रमिव मुखम्**" यहाँ चन्द्र पद के बिना "**इव मुखम्**" इसका प्रयोग नहीं हो सकता है । इसी प्रकार उपमान पद के प्रयुक्त न होने पर उसके पश्चात् प्रयोज्य वति प्रत्ययादिकों का भी प्रयोग नहीं हो सकता है, अतः आर्थी में भी तद्धितगत भेद सम्भव नहीं है । अतः अवशिष्ट रूप से उपमान के प्रयुक्त न होने पर आर्थी में वाक्यगतत्वेन और समासगतत्वेन दो प्रकार की ही **लुप्तोपमा** हो सकती है ।

अर्थ—(**उपमानलुप्तोपमा** का) उदाहरण—**तस्या इति**—उस (कान्ता) के मुख के समान मनोरम नहीं है, और न हीं (उसके) नेत्रों के समान (मनोरम) है ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मुख और नयन को प्रतिनिधि (सदृश) (उपमान रूप से समान) दूसरी वस्तुओं के (चन्द्र और पद्म रूप अन्य पदार्थों के) प्रतीत होने से **उपमान** का **लोप** है ।

[(१) यहाँ "**तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते**" इस वाक्य में उपमान का प्रयोग न होने से **वाक्यगता लुप्तोपमा** है । तथा "**न वा नयन तुल्यम्**" यहाँ तुल्य पद के साथ समास होने से और उपमान का प्रयोग न होने से **समासगता लुप्तोपमा** है ।

(२) **प्रश्न**—यहाँ पर मुख और नयन की विभक्ति भिन्न होने से उपमान मान लें तो ? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि चन्द्र और कमल की उपमान रूप से और मुख और नयन की उपमेयरूप से प्रसिद्धि है । यह भी नहीं करना चाहिये कि **प्रतीपालङ्कार** में विपरीत कल्पना कैसे कर ली जाती है ? क्योंकि वहाँ पर कवि प्रोढोक्ति के कारण ही वैसी कल्पना की जाती है, यहाँ पर तो वैसी कोई कविप्रोढोक्ति नहीं है । (३) **प्रश्न**—उपलभ्यमान पदार्थ का प्रतिपादन न करना **अनुपादान** कहलाता है । किन्तु इस प्रकृत उदाहरण में मुख के समान सुन्दर और नयन के समान सुन्दर उपमानभूत पदार्थ के न होने से आकाश कुसुम की तरह सर्वथा ही अनुपपत्ति है । अतः उन दोनों का ग्रहण असम्भव होने से **उपमानलुप्तोपमा** का उदाहरण ही संगत नहीं है ? **उत्तर**—वस्तुतः **उपमानलुप्तोपमा** के वे ही उदाहरण हो सकते हैं जहाँ उपमान के ज्ञान का निषेध हो । जहाँ उसकी सत्ता का निषेध होगा वहाँ उपमान लुप्तोपमा का उदाहरण नहीं होगा । इसीलिये लक्षण में "**उपमानुपादाने**" कहा है "**उपमानासत्तायाम्**" नहीं कहा है ।]

अत्रैव च 'मुखेन सदृशम्' इत्यत्र 'मुखं यथेदं' 'नयनतुल्यम्' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति। अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसंभवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम्।

औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ॥२०॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्।'

अर्थ—अत्रैवेति—इसी उदाहरण में ही "**मुखेन सदृशं**" इसके स्थान पर "**मुखं यथेदम्**" यह, (और) "**नयनतुल्यम्**" के स्थान पर "**दृगिव**" यह पाठ कर देने पर **श्रौती** भी सम्भव हो सकती है (आर्थी तो हो ही सकती है)।

अतः इन दोनों भेदों में से (वाक्यगत और समासगत भेदों में से) प्रत्येक के **श्रौती रूप** और **आर्थी रूप** भेद होने से चार प्रकार की (लुप्तोपमा) सम्भव है, तथापि प्राचीनों (आचार्यों) की (काव्यप्रकाशकारादिकों की) रीति के अनुसार दो प्रकार की कही है।

टिप्पणी—आशय यह है कि—"तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्" यहाँ पर जिस प्रकार "**वाक्यगता**" और **समासगता** दो प्रकार की **उपमा नलुप्ता आर्थी** है, उसी प्रकार **तस्या मुखं यथेदं रम्यं नास्ते न वा दृगिव"**

यह पाठ भेद कर देने पर **वाक्यगता** और **समासगता** भेदों में से प्रत्येक के श्रौती और आर्थी भेद हो जाने से **उपमानलुप्ता** चार प्रकार की हो सकती थी, परन्तु प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से दो प्रकार की कही है।

अवतरणिका—सादृश्यवाचक इवादि पदों के लोप होने पर **लुप्तोपमा** का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—औपम्यवाची (अर्थात् सादृश्य के प्रतिपादक इवादि शब्दों के और तुल्यादि पदों के) पदों के लोप होने पर **समास में** और **क्विप् प्रत्यय में** (जहाँ **कलापादि** आप् का लोप करते हैं वहाँ पाणिनि के अनुसार क्विप् शेष रह जाता है।) दो प्रकार की (**लुप्तोपमा**) होती है।

टिप्पणी—आशय यह है कि इवादि पदों के न होने पर साधारणतया **श्रौती उपमा** ही सम्भव नहीं है, और तुल्य आदि पदों के न होने पर तुल्यार्थक वति प्रत्यय के न होने से **तद्धितगत आर्थी** भी सम्भव नहीं है, और अपवादरूपेण समासगता आर्थी की प्राप्ति होने से वाक्यगता आर्थी की भी अप्राप्ति है, अतः पारिशेष्यात् **आर्थी** (१) समासगता और (२) क्विप् प्रत्ययगता दो प्रकार की औपम्यवाची पदों के लोप होने पर होती है।

अर्थ—(१) क्रम से (**समासगत** और **क्विप्प्रत्ययगत लुप्तोपमा** का) उदाहरण—(**समासगता** का उदाहरण) **वदनमिति**—हरिण के बालक के नेत्रों के समान हैं, नेत्र जिसके ऐसी, उसका (अर्थात् हरिण के शिशु के समान चञ्चल नयनों वाली उसका) मुख चन्द्रमा की तरह सुन्दर है।

टिप्पणी—(१) यहाँ **'सुधाकर इव मनोहरम्'** इस विग्रह में **उपमानानि सामान्यवचनैः** २/१/५६ से कर्मधारय समास होने से "इव" इस सादृश्यवाची पद के लोप होने पर **समासगतालुप्तोपमा** है।

(२) आशय यह है कि कर्मधारय समास के अन्दर "**पूर्वपदं तत्सदृशे लाक्षणिकम्**" इसका ज्ञान कराने के लिये लौकिक विग्रह में इव शब्द का प्रयोग होता है, और उसका लोप नहीं होता है क्योंकि समास के द्वारा ही उपमा का ज्ञान हो जाता है। "उक्तार्थानामप्रयोगः" इस न्याय से प्रयोग न होने से लोप का व्यवहार होता है।

'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन् महात्मनां पुरतः ।'

अत्र 'गर्दभति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्विपो लोपः । न चेहोपमेयस्यापि लोपः । 'निनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात् ।

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः ।

'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यम्' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयोरुदाहरणम् ।

अर्थ—(२) **क्विप् प्रत्ययगता लुप्तोपमा** का उदाहरण) **गर्दभतीति**—महात्माओं के सामने कर्णकटु शब्द करता हुआ स्पष्ट ही (यह व्यक्ति) गधे की तरह आचरण कर रहा है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**गर्दभति**" में सादृश्यवाची **क्विप्** का लोप है । यहाँ पर उपमेय का भी लोप नहीं है (क्योंकि) "**निनदन्**" इसीसे ही (स्पष्ट उपमेय का) निर्देश किया है ।

टिप्पणी—"**गर्दभ इव आचरति**" इति "**गर्दभति**" यहाँ "**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्वा वक्तव्यः**" इस वार्तिक से उपमान वाचक गर्दभ पद से आचार अर्थ में "क्विप्" प्रत्यय होता है । इसका सूत्रों से सर्वापहारिलोप हो जाता है । "**निनदन्**" इस पद का ग्रहण होने से यहाँ पर साधारण धर्म का लोप नहीं है । इसप्रकार यहाँ पर गर्दभ उपमान है, निनदन् कर्ता उपमेय है, कर्ण कटु शब्द करना साधारणधर्म है, केवल औपम्यवाचक क्विप् का लोप होने से क्विप् वाचक लुप्तोपमा है ।

अवतरणिका—इसप्रकार (१) **साधारणधर्म** का लोप होने पर **दस**, (२) **उपमान** का ग्रहण न करने पर **दो**, (३) **औपम्यवाचीपदों** के लुप्त होने पर **दो**—इसप्रकार सभी को मिलाकर **चौदह प्रकार** की एक लोप वाली **उपमा** का प्रतिपादन करके सम्प्रति दो लोपवाली **उपमा** का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—साधारणधर्म और उपमान इन दोनों के युगपत् लोप होने पर **समास** में और **वाक्य में** दो प्रकार की (लुप्तोपमा) होती है । (१) समासगतधर्मोपमान लुप्ता (२) वाक्यगतधर्मोपमानलुप्ता] ।

(उदाहरण) **तस्या इति**—"**तस्याः मुखेन सदृशं**" इत्यादि में "**रम्यम्**" के स्थान पर "**लोके**" यह पाठ कर देने पर इन दोनों का [(१) समासगत धर्मोपमान लुप्ता और (२) वाक्यगत धर्मोपमान लुप्ता] उदाहरण (हो जाता) है ।

टिप्पणी—(१) "**तस्या मुखेन सदृशं लोके नास्ते**" इस पाठ में "**रम्यम्**" इस साधारणधर्म का प्रतिपादन न करने से और उपमान का प्रतिपादन न करने से **वाक्यगताधर्मोपमानलुप्तोपमा** है ।

(२) "**न वा नयनतुल्यमम्**" यहाँ पाठ का परिवर्तन न करने में "**रम्यम्**" इस साधारणधर्म का ग्रहण न करने से और तुल्यपद के साथ समास होने से **समासगता धर्मोपमानलुप्तोपमा** है ।

क्विप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥२१॥

उदाहरणम्—

'विधवति मुखाब्जमस्याः'

अत्र 'विधवति' इति मनोहरत्व-क्विप्प्रत्यययोर्लोपः । केचित्त्वत्रापि-प्रत्ययलोपमाहुः। 'मुखाब्जम्' इति च समासगा।

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि ।

यथा—

'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥'

अवतरणिका—प्रकारान्तर से दो लोप वाली उपमा का निरूपण करते हैं—

अर्थ—साधारणधर्म और सादृश्य वाचक इवादि पदों के युगपत् लोप होने पर **क्विप्प्रत्ययगता** और **समासगता** दो प्रकार की (लुप्तोपमा) होती है।

[(१) **क्विप्प्रत्ययगता** और (२) **समासगता** लुप्तोपमा के] उदाहरण—**विधवतीति**—इस (नायिका) का मुखकमल चन्द्रमा की तरह आचरण कर रहा है। **अत्रेति**—यहाँ "**विधवति**" ("**विधुरिव आचरति विधवति**" अर्थात् चन्द्रमा के समान हैं) में मनोहरता रूप (साधारणधर्म) का और (उसके वाचक) क्विप् प्रत्यय का लोप (हुआ) है। [**तथाहि**—चन्द्रमा और मुख का साधारणधर्म मनोहरता है, और उसका कथन ही नहीं किया गया है, अतः लोप के समान होने से लोप है। "**सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप् वा वक्तव्यः**" इस वार्तिक से हुये सादृश्य के प्रतिपादक क्विप् प्रत्यय का सर्वा-'हारि लोप हो जाता है। **कलाप** के मत में तो "**कर्त्तुरायिः सलोपश्च**" इससे विहित ायि प्रत्यय का "**आयिलोपश्च विज्ञेयः**" से लोप हो जाता है।] **केचिदिति**—कुछ हाँ पर "**आपि**" प्रत्यय का लोप मानते हैं। **मुखाब्जमिति**—और "**मुखाब्जम्**" यहाँ र ["**मुखमब्जमिव**" इस विग्रह में "**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्या प्रयोगे** २/१/५६ से कर्मधारय समास हो जाता है। यह समास उपमान और उपमेय की समानलिङ्गता होने पर ही होता है, विभिन्नलिङ्गता होने पर "**मयूरव्यंसकादित्वात्**" होता है, और वह रूपक रूप होता है। इस प्रकार यहाँ पर मनोहरता रूप साधारण धर्म का लोप होने से और सादृश्यवाचक इवादि का लोप होने से] **समासगता धर्मोपमान लुप्तोपमा है।**

अवतरणिका—इसप्रकार दो लोप वाली **चार**, एक लोप वाली **चौदह**—इस प्रकार **अठारह लुप्तोपमा** का निरूपण करने के उपरान्त पुनः एक लोप वाली **उपमा** का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—उपमेय का लोप होने पर **क्यच्** प्रत्यय में (**कलाप** के मतानुसार यिनि प्रत्यय में) एक प्रकार की (लुप्तोपमा) होती है।

(**उपमेय लुप्तोपमा का उदाहरण**) **यथा**—**अरातीति**—शत्रुओं के पराक्रम को देखने से विकसित हो गये हैं नेत्र जिसके ऐसा, तलवार के कारण भीषण है भुजदण्ड जिसका ऐसा, वह (राजा) कार्तवीर्य अर्जुन के समान अपने आपको समझ रहा है। [**सहस्रआयुधानि यस्य स सहस्रायुधः—कार्तवीर्यार्जुनस्तमिवात्मानमाचरतिइति सहस्रा-युधीयति**—यहाँ '**उपमानादाचारे** ।३/१/५० से उपमान बोधक कर्मपद से आधार अर्थ में **क्यच्** प्रत्यय हुआ है।] अर्थात् जिस प्रकार आपको दुर्धर्ष समझता है उसी प्रकार अपने आपको भी दुर्धर्ष समझ रहा है।

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः। न चेहौपम्यवाचकलोप उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः—'सहस्रायुधेन सह वर्तत इति ससहस्रायुधः स इवाचरतीति वाक्यात्सहस्रायुधीयतीति पदसिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः' इति, तन्न विचारसहम्। कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

अर्थ—[**प्रश्न**—"अराति"—इत्यादि में "सः" इस तत् पद का ग्रहण करने से ही उपमेय का ग्रहण हो जाता है, अतः उपमेय के लोप के विषय में यह उदाहरण देना ठीक नहीं हैं ? इसका **समाधान** करते हैं :—] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति**" इस (विग्रह) वाक्य में उपमेय आत्मा का लोप है। [**भाव यह है कि "उपमानादाचारे"** ३/१/१० इससे उपमान वाचक "**सहस्रायुधम्**" इस कर्म पद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। और यहाँ आचार दुर्धर्षत्वादिरूप है। इसप्रकार सहस्रायुध के अंश **में** उपमेयभूत आत्मा के लोप का आश्रय लेकर ही यह उदाहरण है।] **न चेहेति**—और नहीं यहाँ ("**सहस्रायुधीयति**" में) औपम्यवाचक इवादि का लोप समझना चाहिये क्योंकि उक्तन्याय के कारण ही। [अर्थात् क्यच् आदिकों का उपमावाचकत्व पूर्व ही कहा जा चुका है। **अत्रेति**—यहाँ (**ससहस्रायुधीयति**) कुछ कहते हैं कि **प्रश्न**—"**सहस्रायुधेन सह वर्तते**" इति (इस विग्रह में "**तेन सहेति तुल्ययोगे**" इस सूत्र से समास "**सहस्य सः संज्ञायाम्**" ६/३/३८ इससे "**सह**" को "स" होकर) **ससहस्रायुधयः** (सिद्ध होता है। पुनः) "**स इवाचरति**" इस (विग्रह) वाक्य से (क्यच् प्रत्यय करने पर) "**ससहस्रायुधीयति**" इस पद की सिद्धि होने पर विशेष्य के (अर्थात् "ससहस्रायुधीयति" इस क्रिया के कर्ता के) शब्द का (साक्षाद् किसी शब्द से) ग्रहण न करने के कारण यहाँ उपमेय का लोप है" इति। [इस मत का आशय यह है कि यहाँ "सः" पद पृथक् नहीं है। वह "तत्" शब्द का रूप नहीं, अपितु सह के स्थान में "स" आदेश है, अतः यहाँ उपमेय का अनुपादान रूप लोप है।] **इस मत का खण्डन करते हैं :—तन्नेति**—यह मत ठीक नहीं है क्योंकि कर्ता में क्यच् का होना व्याकरण शास्त्र के विरुद्ध है। [अर्थात् "**उपमानादाचारे**" ३/१/१० से कर्म और आधार के उपपद होने पर ही क्यच् प्रत्यय होता है; कर्ता के उपपद होने पर नहीं होता।]

अर्थ—साधारणधर्म और उपमेय—इन दोनों के युगपद् लोप होने पर (उपमेयलुप्तोपमा से) भिन्न प्रकार की (अन्या) **लुप्तोपमा** (क्यच् प्रत्यय में) होती है।

यथा—

'यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे ।'

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

—त्रिलोपे च समासगा ॥२२॥

यथा—

'राजते मृगलोचना ।'

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपादकसाधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

अर्थ—(**धर्मोपमेयलुप्तोपमा** का उदाहरण) **यथा**—**यशसीति**—(हे राजन् !) आपके यश के विस्तृत होने पर सभी समुद्र क्षीरसागर के समान आचरण कर रहे हैं । [**क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्ति**] ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्ति**" इस विग्रह में उपमेय आत्मा और साधारणधर्म शुक्लता—(दोनों) लुप्त हैं ।

अवतरणिका—इसप्रकार एकलुप्ता और द्विलुप्ता का निरूपण करने के उपरान्त त्रिलुप्ता का प्रतिपादन करते हैं :—

अर्थ—और तीन का अर्थात् साधारणधर्म, उपमान और इवादि का लोप होने पर **समासगत लुप्तोपमा** (एक प्रकार की ही) होती है ।

(**त्रिलोपे लुप्तोपमा** का उदाहरण) **यथा**—मृग के समान चञ्चल नेत्रों वाली सुशोभित होती है ।

यहाँ [**मृगलोचना** "यहाँ **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुब्रीहिरुत्तरपदलोपश्च**" इस वार्तिक से] **मृगस्यलोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः**" अर्थात् मृग के नेत्रों के समान चञ्चल नेत्र हैं जिसके ऐसी" इस (विग्रह में बहुब्रीहि) समास में उपमा के प्रतिपादक (इव शब्द) का (चञ्चलत्वरूप) साधारण धर्म का और (लोचन रूप) उपमान का लोप है । [अतः उक्त तीनों का लोप होने से **त्रिलोपे समासगता-लुप्तोपमा** है ।]

टिप्पणी—**आशय** यह है कि—"**मृगलोचना**" यहाँ इस शब्द से यदि लक्षणा के द्वारा उसके नयनों का कथन किया जाता तो यह उदाहरण नहीं हो सकता था क्योंकि साधारण धर्म के वाचक उपमालुप्ता का मृग ही उपमान हो जाता और पुनः उसका लोप प्राप्त नहीं है । और जब "**मृगलोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः सा**" यह विग्रह करते हैं तब "**अनेकमन्यपदार्थे**" २/३/२४ इस पाणिनीय सूत्र पर विद्यमान "**सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुब्रीहिरुत्तरपदलोपश्च**" इस वार्तिक से "**मृगलोचने**" इस उपमान के प्रतिपादक "**लोचने**" इसका बहुब्रीहि में मृगपद के उत्तरपदभूत "**लोचने**" इस धर्म का लोप न होने पर उपमेयभूत द्वितीय "**लोचने**" के विशेष्य न होने से यह उदाहरण हो सकता है । इस प्रकार '**मृगलोचना**" में उत्तरपदभूत "**लोचने**" इस उपमान का इवादि रूप उपमा के प्रतिपादक का और चञ्चलत्वरूप साधारण धर्म का कथन न करने पर त्रिलोपे समासगता लुप्तोपमा है ।

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा ।

अवतरणिका—सम्प्रति उपमा के प्रकरण का उपसंहार करते हुये उपमा का सम्पूर्ण रूप से संकलन करते हैं ।

अर्थ—इसप्रकार से उपमा के २७ भेद होते हैं । (परिगणन करते हैं) **पूर्णेति-पूर्णोपमा** ६ प्रकार की, और **लुप्तोपमा** २१ प्रकार की—इसप्रकार (६+२१ =२७) मिलकर २७ प्रकार की **उपमा** होती है ।

टिप्पणी (१) **२७ प्रकार की उपमा** का नाम्ना परिगणन करते हैं—

		नाम	**उदाहरण**
पूर्णोपमा (६)	श्रौती (३)	(१) तद्धितगता	सौरभमम्भोरुहवत् ।
		(२) समासगता	कुम्भाविव स्तनौपीनौ ।
		(३) वाक्यगता	हृदयं मदयति वदनम् इत्यादि ।
	आर्थी (३)	(१) तद्धितगता	मधुरः सुधावदधरः ।
		(२) समासगता	पल्लवतुल्योऽतिपेलवं पाणिः ।
		(३) वाक्यगता	चकित मृगलोचनाभ्याम्—इत्यादि ॥
लुप्तोपमा (२१) साधारण धर्मलोपे (५)	श्रौती (२)	(१) समासगता	वाचः सुधा इव
		(२) वाक्यगता	मुखमिन्द्रर्यथा
		(१) तद्धितगता	मनोऽश्मवत्
		(२) समासगता	ओष्ठस्ते बिम्बतुल्यः
		(३) वाक्यगता	पाणिपल्लवेन समः
प्रत्यये (५)	क्यचि (२)	(१) आधारात्क्यचि	अन्तः पुरीमसि
		(२) कर्मणः क्यचि	पौरं जनं सुतीमसि
	क्यङि (१)	(१) कर्तुः क्यङि	श्रीस्तव रमणीयते
	णमुलि (२)	(१) कर्मणि णमुलि	अमृतधुति दर्शं दृष्टः
		(२) कर्तरि णमुलि	इन्द्र सञ्चारं सञ्चरसि
उपमान लोपे (२)		(१) वाक्यगता	तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते
		(२) समासगता	न वा नयनतुल्यं रम्यमास्ते
इवादि लोपे (२)		(१) समासगता	सुधाकर मनोहरं वदनम्
		(२) क्विप् प्रत्ययगता	गर्दमति श्रुतिपुरुषम् इत्यादि
साधारण धर्मोपमान लोपे (२)		(१) समासगता	लोके नवा नयनतुल्यमास्ते
		(२) वाक्यगता	तस्या मुखेन सदृशं रम्यं लाके नास्ते
साधारण धर्मोपम्य वाचकयोः लोपे (२)		(१) क्विप् प्रत्ययगता	विधवति मुखाबजमस्याः
		(२) समासगता	मुखाब्जमस्याः
उपमेन लोपे क्यचि (१)		(१) कर्मणः क्यचि	विकस्वरविलोचनः स सहस्रायुधीयति
साधारण धर्मोपमेय-योर्लोपे (१)		(१) कर्मणः क्यचि	क्षीरोदीयन्ति सागराः
त्रिलोपे (१)		(१) समासगता	राजते मृगलोचना

अथ उपमा के अन्य भेदों का निरूपण—

एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेषः प्रतिपाद्यते--

एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥२३॥

भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

अवतरणिका—इसप्रकार (१) जिनमें साधारणधर्म का लोप होता है और (२) जिनमें साधारणधर्म का लोप नहीं होता है, इसप्रकार सभी उपमायें दो प्रकार की हो सकती हैं—

अर्थ—और इन (२७ प्रकार के) उपमाओं के भेदों में से जिन (उपमाओं) में साधारण धर्म का लोप नहीं हुआ है उन भेदों में विशेष (भेद) का प्रतिपादन करते हैः—

(उपमाओं में उपमान और उपमेय का) साधारण धर्म कहीं एक स्वरूप अथवा एक जातीय होता है, (वस्तुतः एक नहीं होता) (और) कहीं भिन्न होता है। [**आशय** यह है कि वस्तुतः भिन्न भी उपमान और उपमेय का जो साधारणधर्म है वह गुण रूप और क्रिया रूप दो प्रकार का होता हुआ भी कहीं नाना व्यक्तियों में जाति की तरह एक स्वरूप वाला और कहीं अनेक प्रकार का होता है।] (साधारण-धर्म के) भिन्न होने पर बिम्बप्रतिबिम्ब भाव होता है। [अर्थात् वस्तुतः उपमान और उपमेय के साधारणधर्म के भिन्न होने पर भी परस्पर सादृश्य के कारण अभिन्न रूप से पृथक् उपादान बिम्बप्रतिबिम्ब भाव से होता है। क्योंकि लोक में दर्पणादि में बिम्ब से प्रतिबिम्ब के भिन्न होने पर भी यह मेरा ही मुख इसमें दिखाई पड रहा है—ऐसा अभेद रूप से ही माना जाता है। अन्यथा प्रतिबिम्ब के देखने में मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ— इसप्रकार की प्रतीति न हो और नायिकायें आभूषणों के न्यास में प्रयत्नशील न हों।] अथवा केवल शब्द से भेद होता है। [**आशय** यह है कि वस्तुतः भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण अभिन्न होता है और शब्द मात्र से भिन्न होने पर भी वस्तुतः अभिन्न होता है, अतः साधारणधर्म का ग्रहण हो जाता है।]

टिप्पणी - गुण के विषय में दो मत हैं। कोई तो कहते हैं कि गुण एक ही है। शुक्ल आदिरूप और मधुर आदि रस सम्पूर्ण शुक्ल वर्ण युक्त तथा मधुर रस युक्त द्रव्यों में एक ही होता है। जो शुक्ल गुण दूध में है, वही शंख और वर्फ में भी है, गुण तो एक ही है परन्तु इनकी सफेदी में जो भेद प्रतीत होता है वह औपाधि है, वास्तविक नहीं। जैसे तेल, तलवार और दर्पण में यदि मुख देखा जाय तो परस्पक भिन्नता प्रतीत होगी। चमकती हुई तलवार में जैसा मुख का प्रतिबिम्ब दीखता हैर दर्पण में उससे कुछ विलक्षण दिखाई देगा। मुख वही है परन्तु तेल, तलवार और, दर्पण रूप उपाधि के भिन्न होने से भिन्न सा प्रतीत होता है। इसीप्रकार शुक्ल आदि गुण भी अभिन्न होने पर भी आश्रय भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं।

दूसरा मत है कि प्रत्येक द्रव्य के गुण भिन्न हैं। मुनक्के की मधुरता गुड़ और शहद की मधुरता से भिन्न हैं। हम चाहे शब्द से उसे न कह सकें परन्तु अनुभव से यही सिद्ध है कि दूध का मिठास गन्ने के मिठास से भिन्न है। यही बात सर्वतन्त्र स्वतन्त्र **श्री वाचस्पति मिश्र जी** ने भी "**भामती**" में कही है कि—"**द्राक्षामाक्षिक-क्षीरेक्षुद्रमृतिषु स्फुटमनुभूयमाना अपि मधुरिमभेदाः न शक्याः सरस्वत्यापि शब्दै राख्यातुम्**"। इन्हीं दोनों मतों के अनुसार प्रकृत कारिका में "एकरूपः" पद के "एक स्वरूप" और "एक जातीय" ये दोनों अर्थ होते हैं।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्–'मधुरः सुधावदधरः–' इत्यादि। बिम्बप्रतिबिम्बत्वे यथा—

'भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव॥'

अत्र 'श्मश्रुलैः' इत्यस्य 'सरघाव्याप्तैः' इति दृष्टान्तवत्प्रतिबिम्बनम्।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

'स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम्॥'

अवतरणिका—क्रम से उदाहरण देते हैः—

अर्थ—(१) उनमें (अर्थात् **एकरूप** और **विम्बप्रतिविम्ब** में) से (साधारण धर्म के) **एकरूप** में (उदाहरण) **यथा**—उदाहरण दिया हुआ '**मधुरः**·········' इत्यादि।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—उपमान और उपमेय में सुधा और अधर की मधुरता है। उनमें से अमृत की मधुरता सुस्वाद होने से सभी को प्रिय है, किन्तु अधर की मधुरता केवल चुम्बन में सुख उत्पन्न करने के कारण कामीजनों को प्रिय है, इस प्रकार दोनों स्थलों पर प्रियतारूप प्रकार एक है, परन्तु स्वाद के अंश मेंभेद है।

अवतरणिका—साधारणधर्म की एकता का उदाहरण देकर साधारणधर्म की अनेकता का उदाहरण देते हैंः—

अर्थ—(२) **बिम्बप्रतिबिम्ब** भाव में (उदाहरण) **यथा—भल्लेति**—[**प्रसङ्ग**—**रघुवंश** के चतुर्थ सर्ग में रघु की दिग्विजय का वर्णन है।] उस (रघु) ने भाले से काटे हुये दाढी से युक्त उन (पारसीक भवनों) के शिरों से मधुमक्षिकाओं से व्याप्त छत्ते की तरह पृथिवी को ढंक दिया।

अर्थः—(बिम्बप्रतिबिम्बभाव दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहां (प्रकृत उदाहरण में) "**श्मश्रुलैः**" का "**सरघाव्याप्तैः**" इसके साथ दृष्टान्तालङ्कार की तरह सादृश्य है। [अर्थात् जिस प्रकार मधुमक्षिकाओं से छत्तों की कृष्णवर्णता हो जाती है, उसीप्रकार श्मश्रुओं से शिरों की कृष्णवर्णता है—इसप्रकार प्रणिधान से (ध्यान देने से) ही दोनों केसादृश्य की प्रतीति होती है।]

टिप्पणी—(१) **दृष्टान्तालङ्कार** में जिसप्रकार वाक्य और अर्थ का सादृश्य इवादि के अभाव में प्रणिधान गम्य होता है, उसीप्रकार यहां पर भी श्मश्रु और सरघा का सादृश्य इवादि के अभाव में प्रणिधानगम्य है। यहां सादृश्य का कारण कृष्ण वर्णता है। इसीप्रकार "**सादृश्य हेतू गुणक्रिये**" इसके उपलक्षण से द्रव्य की भी साधारणधर्मता समझनी चाहिये।

(२) "बिम्ब" अर्थात् सादृश्य के "अनुबिम्बत्व" अर्थात् प्रणिधानगम्यत्व को '**विम्बानुविम्बत्व**" कहते हैं।

अर्थ—(३) शब्द मात्र से (साधारणधर्म के) भिन्न होने पर (उदाहरण) **यथा—स्मेरमिति**—[**प्रसङ्ग**—अपने मित्र से किसी व्यक्ति के द्वारा किया हुआ अपनी प्रिय नायिका का वर्णन है।] उस कृश तनु (नायिका) ने विकसित नील कमल के समान मुझ पर दृष्टि को **प्रफुल्लित** करके (अपने) सम्पूर्ण मनोगत अभिप्राय को सूचित कर दिया।

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्देन निर्दिष्टे ।

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

भवेतां यत्र साम्यस्य--

यथा—

'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम् ।

अर्थ—(शब्द मात्र से साधारण धर्म की भिन्नता को दिखाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) एक ही स्मेरत्व और विकसितत्व का (दोनों के ही विस्फाररूप होने के कारण तात्पर्य से अभिन्न ही हैं) प्रतिवस्तूपमा की तरह (दो पृथक्) शब्दभेद से ("स्मेरम्" और "विकसितम्" इन भिन्न शब्दों से) निर्देश किया है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ मूलपाठ में "**एके**" इस संख्या को बताने वाले एक शब्द से द्विवचन का कथन नहीं हो सकता है, अतः उक्त पाठ ठीक नहीं है, किन्तु "**अत्रैकमेव**" **प्रफुल्लत्वं प्रतिवस्तूपमात् विभिन्नाभ्यां स्मरविकसित शब्दाभ्यां निर्दिष्टम्**" यह पाठ होना चाहिये ।

अवतरणिका—इस प्रकार शुद्ध उपमा का निरूपण करने के उपरान्त काव्यप्रकाशकारादि प्राचीन आचार्यों से अस्वीकृत भी प्रमाणसिद्ध **एकदेश विवर्त्तिनी उपमा** का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(**एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** का लक्षण) जिस (वाक्य) में सादृश्य की (साधारणधर्म की) वाच्यता (अभिधा से बोध्यता) और गम्यता (व्यञ्जना से बोध्यता) हो [अर्थात् किसी का सादृश्यवाच्य हो और किसी का गम्य हो] (वहाँ) **एकदेशविवर्त्तिनी नामक उपमा** होती है ।

टिप्पणी—(१) **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा नाम की सार्थकता**—एक स्थान पर स्थित होने के कारण इसका "एकदेशविवर्त्तिनी उपमा" नाम है और यह **एकदेशविवर्त्तिरूपक** की तरह साङ्ग के अङ्गी के सादृश्य में ही हो सकती है ।

(२) इस **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** का **एकदेशविवर्त्तिरूपक** के साथ भेद एकदेशविवर्त्ति रूपक के निरूपण के अवसर पर स्पष्ट करेंगे ।

अर्थ—(**एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** का उदाहरण) **यथा—नेत्रैरिवेति**–[**प्रसङ्ग**—शरद् ऋतु का वर्णन है ।] (कामिनियों के समान) जलाशयों की शोभा, नेत्रों के समान नील-कमलों से, मुखों के समान रक्त कमलों से, स्तनों के समान चक्रवाक पक्षियों से स्थान-स्थान पर शोभित हो रही थी ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय चरण के अन्दर "विभान्ति स्म" इससे वाक्य की समाप्ति हो जाने पर भी चतुर्थ चरण में पुनः वाक्य के विन्यास के कारण **समाप्तपुनरात्तत्व दोष** है ।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण में) उत्पलादिकों का नेत्रादिकों के साथ सादृश्य वाच्य है (सर्वत्र "इव" शब्द के उपलब्ध होने से), और जलाशयों की शोभा का रमणियों के साथ सादृश्यगम्य (व्यञ्जना से प्रतीयमान) है । [क्योंकि "सरःश्रियः यहाँ "इव" शब्द का अभाव है ।]

—कथिता रसनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

टिप्पणी—(१) यहाँ नेत्रादि उपमान हैं, और उत्पलादि उपमेय हैं। और उपमान उपमेय के अङ्ग हैं।

(२) यद्यपि यहाँ पर—"**प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्व प्रकल्पनम् ।**
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥"

इसके अनुसार नेत्रों के उपमान होने पर **प्रतीपालङ्कार** कहा जा सकता है, तथापि कामिनियों के सादृश्य से जलाशयों की शोभा का वर्णन करने में प्रवृत्त कवि ने नेत्रों की उपमानता और उत्पलों की उपमेयता वर्णित की है। और यह ठीक भी है अन्यथा प्रकृत वर्णन का उपघात हो जाता। और इस विषय में यह भी नहीं कहना चाहिये कि कामिनियों की उपमानता और जलाशयों की शोभा की उपमेयता भी कल्पित है क्योंकि इस प्रकार का कोई नियामक नियम नहीं है, अतः यहाँ पर उपमा अक्षत है। और इसीलिये—

"**आदिमध्यान्तरहितं दशाहीनं पुरातनम् ।**
अद्वितीयमहं वन्दे मद्वस्त्रसदृशं हरिम् ॥

इत्यादि में भगवान् की उपमेयता के प्रतिपादन में भी उपमा संगत हो जाती है।

(२) **नव्यों** का कहना है कि यह **एकदेशविवर्तिनी उपमा** भी रूपक की तरह (१) **केवल निरवयवा** (२) **मालारूप निरवयवा** (३) **समस्त वस्तु विषय सावयवा** (४) **केवल श्लिष्टपरम्परिता** (५) **केवल शुद्धपरम्परिता** (६) **मालारूप परम्परिता** (७) **मालारूप शुद्धपरम्परिता** और (८) **मालाश्लिष्टपरम्परिता**—आठ प्रकार की होती है।

अवतरणिका—प्रकारान्तर से इसी **एकदेशविवर्तिनी उपमा** के भेद रसनोपमा का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(**रसनोपमा** का लक्षण) **कथितेति**—उत्तरोत्तर ("**यथोर्ध्वम्**" ऊर्ध्वक्रम से "**शास्त्रे वृक्षवत् व्यवहारः**" इस न्याय के अनुसार उत्तरोत्तर) उपमेय की **यदि** उपमानता हो [अर्थात् पहले उपमा में जो उपमेय है, वह बाद की उपमा में यदि उपमान हो जावे) (तो) **रशनोपमा** कही जाती है।

टिप्पणी—जिसप्रकार काञ्ची का निर्माण करते हुये पूर्व आई हुई क्षुद्रघटिकाओं की अन्य घटिकाओं के पिरोने के अवसर पर परता हो जाती है, उसीप्रकार उपमा में पहले विद्यमान उपमेय की बाद में आये हुये उपमेय के साथ सादृश्य की उद्भावना के समय पर प्राप्ति हो जाती है, अतः काञ्ची (रशना) के समान विन्यास होने के कारण इसका नाम **रशनोपमा** है।

अवतरणिका—यह **रशनोपमा** (१) साधारण धर्म के अभिन्न होने पर और (२) भिन्न होने पर दो प्रकार की होती है। अतः इनमें से पहले द्वितीय प्रकार की **रशनोपमा** का उदाहरण देते हैं—

यथा—

'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतया विहाय ॥'

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

अर्थ—(साधारणधर्म के भिन्न होने पर **रशनोपमा** का उदाहरण) **यथा**—**चन्द्रायत इति**—[**प्रसङ्ग**—कभी शरद् समय में हंसो से युक्त स्वच्छ जल वाले जलाशय के पास विद्यमान किसी नायिका को देखकर किसी विदग्ध मनुष्य की यह उक्ति है ।] (इस स्वच्छ सरोवर में) हंस (केवल शान्त मूर्त्ति के कारण ही नहीं, अपितु) शुभ्र कान्ति से भी चन्द्र के समान प्रतीत हो रहा है (**"चन्द्र इवाचरति"** इति **चन्द्रायते**—**"कर्तुः क्यङ्सलोपश्च"** ३/१/११ इति **क्यङ्**); (कमनीय अङ्गों वाली) कामिनी सुन्दर गति के कारण हंस के समान प्रतीत हो रही है, जल सुख देने वाले स्पर्श से कामिनी के समान प्रतीत हो रहा है, (और) आकाश निर्मल होने के कारण जल के समान प्रतीत हो रहा है ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत पद्य में चन्द्रमा पहले उपमान है, उसकी अपेक्षा उपमेयभूत हंस की कामिनी की अपेक्षा उपमानता है, और कामिनी की जल की अपेक्षा उपमानता है, और जल की आकाश की अपेक्षा उपमानता है । इसप्रकार परस्पर आश्रित होने के कारण **रशनोपमा** का लक्षण घटित हो जाता है ।

(२) कहीं साधारणधर्म के ग्रहण न करने पर भी यह होती है । **यथा**—**रघुवंश में**—

आकारसदृशः प्रज्ञा प्रज्ञया सदृशागमः ।
आगमैः सदृशारम्भ आरम्भ सदृशोदयः ॥

(३) किन्हीं आचार्यों के मत में (१) तद्धित (२) समास और (३) वाक्यगत रूप से यह तीन प्रकार की होती है ।

अर्थ—(**मालोपमा** का लक्षण) **मालोपमेति**—एक (उपमेय) के जो अनेक उपमान दिखाई देते हैं (वह) **मालोपमा** (होती) है । [**अर्थात्** जिस प्रकार कोई माला समान जाति वाले अथवा असमान जाति वाले अथवा सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के पुष्पों से बनायी जाती है, उसीप्रकार यह भी सजातीय अथवा विजातीय अनेक उपमानों से निर्मित होने के कारण माला के समान होने से **मालोपमा** कहलाती है ।]

यथा—

'वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता नयेन श्रीर्मनोहरा ॥'

क्वचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

'हंसश्चन्द्र इवाभाति जलं व्योमतलं यथा ।
विमलाः कुमुदानीव तारकाः शरदागमे ॥'

अवतरणिका—यह **मालोपमा** भी (१) साधारणधर्म के भेद से और (२) साधारण धर्म के अभेद से—दो प्रकार की होती है । उनमें से दूसरे प्रकार की **मालोपमा** का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(साधारण धर्म के अभेद से **मालोपमा** का उदाहरण) **यथा**—वारिजेनेति—नीति के प्रयोग से राज्यलक्ष्मी कमल से जलाशय की तरह, चन्द्रमा से रात्रि की तरह (और) यौवन से कामिनी की तरह मनोहर (उत्कर्षशालिनी) होती है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "**मनोहरता**" एक ही साधारण धर्म सादृश्य का कारण है । अतः उपमेयभूत राज्यलक्ष्मी के सरसी-निशीथिनी और वनिता रूप अनेक उपमानों के होने के कारण **मालोपमा** का लक्षण घटित होता है ।

(२) साधारण धर्म के भेद से **मालोपमा** का उदाहरण—

ज्योत्स्नेव नयनानन्दः सुधेव मदकारणम् ।
प्रभुतेव समाकृष्टसर्वलोका नितम्बिनी ॥

यहाँ नेत्रों को आनन्द देने वाले अनेक साधारण धर्म ही सादृश्य के कारण हैं ।

(३) लक्षण में "बहु" इसका अर्थ "एक से अधिक" परक है, अतः केवल दो उपमानों के होने पर भी **मालोपमा** होती है । यथा—**कुमारसम्भव में**—

तां हंसमालाः शरदीव गङ्गां महौषधीं नक्तमिवात्मभासः ।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याः ॥

यहाँ दो उपमानों के होने के कारण क्रिया की साधारणधर्मता है ।

अवतरणिका—उपमेय की प्रकृतता और उपमान की अप्रकृतता प्रायिक होती है, अतः कहते हैं—

अर्थ—कहीं उपमान और उपमेय दोनों की ही प्रकृतता (वर्णनीय विषय के उत्कर्ष की आधायक रूप से आकांक्षितता) दिखाई देती है; [अर्थात् उपमेय की प्रकृतता होती है, उपमान की नहीं—यह प्राचीन आचार्यों का कहना प्रायिक है ।] **यथा—हंस इति**—शरद् काल के आगमन पर हंस चन्द्रमा की तरह, जल आकाशमण्डल की तरह (और) नक्षत्र कुमुदों की तरह सुशोभित होते हैं ।

टिप्पणी—यहाँ हंसादि भी चन्द्रमादि की तरह वर्णनीय शरद् काल के उत्कर्ष के आधायक रूप से आकांक्षित हैं । तथा "**सुधेव विमलश्चन्द्रः**" इत्यादि की तरह "**विमलाः कुमुदानीव तारकाः**" यहाँ लिङ्गभेद होने पर **भग्नप्रक्रमता दोष** है । वस्तुतः "विमलाः" के स्थान पर "स्फुरन्ति" यह पाठ अधिक ठीक है ।

अवतरणिका—प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत **आक्षेपोपमादि** उपमा के भेदों का अतिशय वैचित्र्य के आधायक रूप से निराकरण करने के लिये कहते हैं—

'अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः ।
पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥'

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः 'कल्पवृक्षभवा इव' इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा। अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्प्रतिनिर्देश्योपमा इत्यादयश्च न लक्षिताः एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात् ।

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

अर्थ—इस (प्रस्तुत अथवा वर्णनीय) राजा के घर में (अन्य) राजाओं की वे (स्वयं अर्पित) सम्पत्तियाँ इन्द्र के घर में कल्पवृक्ष से उत्पन्न होने वाली (सम्पत्तियों की) तरह शोभित होती हैं ।

टिप्पणी—जिसप्रकार इन्द्र के घर में इच्छानुसार सम्पत्तियों का निर्माण करने वाले कल्पवृक्षों से उत्पन्न होने वाली सम्पत्तियाँ सुशोभित होती हैं, उसीप्रकार इस राजा के घर में भी पर्याप्त स्वयं समर्पित की हुई वशीभूत राजाओं की सम्पत्तियाँ सुशोभित होती हैं ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में राजा के घर में विद्यमान) उपमेयभूत विभूतियों से "**कल्पवृक्षभवा इव**" इति उपमानभूत विभूतियों का (शब्द से न कही हुई भी व्यञ्जना से) आक्षेप किया जाता है [क्योंकि "**कल्पवृक्षभवाः**" इस विशेषण से उपस्थित विभूतियों का ही आक्षेप किया जाता है ।]; अतः **आक्षेपोपमा** (नामक उपमा का भेद) है । (और) यहीं "**गृहे**" इसका "**भवने**" इससे प्रतिनिर्देश होने के कारण (उपमानरूप से प्रत्यवस्थापित होने के कारण) **प्रतिनिर्दिश्योपमा** (नामक उपमा का भेद) है, इत्यादि (उपमा के भेद) लक्षणादि के द्वारा लक्षित नहीं किये हैं; (क्योंकि) इसप्रकार का वैचित्र्य हजारों प्रकार से दिखाई देता है ।

टिप्पणी—कहने का आशय यह है कि—यथा कथंचित् वैचित्र्य विशेषों की परिगणना नहीं हो सकती है, उसीप्रकार उन वैचित्र्य को पैदा करने वाले प्रकारों की भी गणना नहीं हो सकती है ।

अथानन्वयालङ्कारनिरूपणम्—

अवतरणिका—इसप्रकार **उपमालङ्कार** का सविस्तर वर्णन करने के उपरान्त **अनन्वय** नामक अलङ्कार का लक्षण करते हैं—

अर्थ—(**अनन्वयालङ्कार** का लक्षण) **उपमानेति**—एक ही (वर्णनीय वस्तु) का (युगपत्) उपमान और उपमेय भाव **अनन्वय** (**न वर्तते अन्वयः–उपमानान्तेरण सम्बन्धः यस्मिन् असौ**) **नामक अलङ्कार** होता है ।

टिप्पणी—उपमान से भिन्न होने पर उपमानगत सम्भाव्यमान अनेक धर्मवत्ता **उपमेय** कहलाती है । अतः दोनों ही स्थानों पर दोनों ही भेदों के अवश्यम्भावी होने के कारण एक ही वस्तु में युगपत् उपमान और उपमेयभाव की सत्ता का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसीलिये इस अलङ्कार को अनन्वय कहते हैं ।

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

'राजीवमिव राजीवं जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः शरत्समुदयोद्यमे ॥'

अत्र राजीवादीनामन्यसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः । 'राजीवमिव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः ।

अवतरणिका—प्रश्न—अनन्वयालङ्कार के इस लक्षण की "**चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसः**" इत्यादि में एक ही हंसादि की चन्द्रादि की अपेक्षा उपमेयता है और कान्तादि की अपेक्षा उपमानता है, अतः **रशनोपमा** में तथा "**कमलेव मतिर्मतिरिवकमला**" इत्यादि में भी एक ही मति आदि की उपमेयता और उपमानता है, अतः **उपमेयोपमा** में अतिव्याप्ति आती है ? इसका **उत्तर** देते है ।

अर्थ—अर्थात्—पारिशेष्यात् एक वाक्य में । [कहने का **भाव** यह है कि **रशनोपमा** में "**यथोर्ध्वम्**" इससे और **उपमेयोपमा** में "**पर्यायेण**" इससे अनेक वाक्यों की प्राप्ति से उन दोनों का अनेक वाक्यों में होना ही विषय है, और इसके (अनन्वयालङ्कार के) एक वाक्य और अनेक वाक्य दोनों ही विषय होने से पारिशेष्यात् एक वाक्य ही विषय होता है । और यह भी नहीं कहना चाहिये कि "**उपमेयोपमा**" में "**द्वयोः**" इसका कथन होने से अतिव्याप्ति है, क्योंकि इसमें क्रमशः प्रत्येक पदार्थ उपमान और उपमेय होता है ।]

(**अनन्वयालङ्कार** का उदाहरण) **यथा—राजीवमिति**—शरदृतु के सम्यक् रीत्या आविर्भाव होने पर कमल-कमल की तरह (वर्षा, कीचड़ादि से उत्पन्न मलिनता से रहित); जल-जल की तरह (कीचड़ादि की मलिनता से शून्य) (और) चन्द्रमा चन्द्रमा की तरह निर्मल (बादलों के आच्छादनरूप मल से रहित) हो गया ।

टिप्पणी—यहाँ प्रत्येक वस्तु राजीवादि का अपने आप में उपमानोपमेयभाव होने से **अनन्वयालङ्कार** है ।

अवतरणिका—प्रश्न—उपमानोपमेयभाव की आपस में भिन्नता आवश्यक होती है, पुनः कैसे एक ही स्थान पर उपमानोपमेयभाव सम्भव हो सकता है ? इसका **उत्तर** देते है :—

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) राजीवादिकों की अनन्यसदृशताअनुपमता बतलाने के लिये उपमानोपमेयभाव (कवि ने) आरोपित करके कहा है (वस्तुतः है नहीं) । [**प्रश्न—लाटानुप्रास** के विषय के अतिरिक्त इस (अनन्वयालङ्कार का विषय नहीं हो सकता है; अतः प्रकृत उदाहरण में लाटानुप्रास के भी होने से इन दोनों में सांकर्य हो जावेगा ? अतः कहते हैं कि—] **राजीवमिति**—और "**राजीवमिव पाथोजम्**" अर्थात् कमल-कमल की तरह हैं—इसप्रकार इस (अनन्वयालङ्कार) का लाटानुप्रास के विषय से अतिरिक्त विषय है [अर्थात् "**राजीवमिव पाथोजम्**" में लाटानुप्रास नहीं हो सकता है क्योंकि यहाँ पर शब्द की पुनरुक्ति नहीं है, परन्तु इसके अन्दर अनन्वयालङ्कार है—क्योंकि दोनों ही शब्दों के वाच्य एक पद्मरूप वस्तु की उपमानोपमेयता रहती है । अतः दोनों के विषय भेद की प्राप्ति से इन दोनों में सांकर्य नहीं हो सकता है ।]

किन्त्वत्रौचित्यादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् ।

तदुक्तम्—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥' इति ।

अर्थ—प्रश्न—अच्छा तो फिर "राजीवमिव पाथोजम्" की तरह किसी भी स्थल में भिन्न शब्दों के प्रयोग वाले अनन्वयालङ्कार की उपलब्धि क्यों नहीं होती है ? इसका **उत्तर** देते हैं कि—**किन्तु इति**—किन्तु यहाँ (अनन्वयालङ्कार में) औचित्य के कारण एक प्रकार के शब्द का प्रयोग ही प्रशस्त है [नियत नहीं। **भाव यह** है कि अभिन्न शब्दों वाले स्थलों पर केवल श्रवण से ही एक की उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाती है और भिन्न शब्दों वाले स्थलों पर अर्थ ज्ञान के अनन्तर ही उपमानोपमेय भाव की प्रतीति होती है—यही औचित्य का आशय है।] **तदुक्तमिति**—कहा भी है कि—**अनन्वये इति**—**अनन्वय नामक** अलङ्कार में औचित्य के कारण (उपमान और उपमेयभूत) शब्दों की एकता आनुषङ्गिक अर्थात् प्रासङ्गिक अथवा गौण होती है (अनियत होती है), (किन्तु) इस **लाटानुप्रास नामक शब्दालङ्कार** में तो (शब्दों की एकता) साक्षात् ही प्रयोजक (वैचित्र्य का आधायक) है। (अन्यथा लाटानुप्रास ही नहीं होगा)।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि **अनन्वयालङ्कार** में शब्दों की एकता झटिति उपमान और उपमेय की एकता के ज्ञान के लिये ही होती है नियत नहीं होती है; किन्तु **लाटानुप्रासालङ्कार** में शब्दों की एकता नियत होती है, अन्यथा यह अलङ्कार ही नहीं होगा।

(२) यह **अनन्वयालङ्कार** दो प्रकार का होता है:—(१) पूर्ण और (२) लुप्त।

(१) **पूर्ण अनन्वयालङ्कार** उपमा की तरह छः प्रकार का हो सकता है। **यथा**—

गंगा हृद्या यथा गंगा गंगा गंगेव पावनी ।
हरिणा सदृशो बन्धुर्हरितुल्यः परो हरिः ॥
गुरुवद् गुरुराराध्यो गुरुवद् गौरवं गुरोः ॥

(२) **लुप्त अनन्वयालङ्कार** में भी साधारण धर्म लुप्त पाँच प्रकार का हो सकता है। **प्रागुक्तसार्धश्लोके**—

"गङ्गा राजन् यथा गंगा गङ्गा गङ्गेव सर्वदा ।
हरिणा सदृशो विष्णुर्विष्णुतुल्यः सदा हरिः ॥
गुरुवद् गुरुरास्तेऽस्मिन् मण्डले गुरुवत् गुरोः ॥

इति पदान्तरदाने तथावाचकलुप्तः ।

रामायणस्तु श्रीरामः सीता सीता मनोहरा ।
मयान्तःकरणे नित्यं विहरेतां जगद्गुरू ॥

इत्यत्र क्यङ्समासयोः ।

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य ॥'

अथोपमेयोपमालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**उपमेयोपमा** का लक्षण) **पर्यायेणेति**—दो पदार्थों की (उपमान और उपमेय की) क्रम से (परिवर्तन से) उपमानोपमेयता (एतत्) **उपमेयोपमा नामक अलङ्कार** माना गया है ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि पूर्व वाक्य में जो उपमान है, वह यदि उत्तर वाक्य में उपमेय हो जावे, इसीप्रकार पूर्व वाक्य में जो उपमेय है वह यदि उत्तर वाक्य में उपमान हो जावे, तो पूर्व वाक्य में विद्यमान उपमान के उत्तर वाक्य में उपमेय हो जाने से उपमा निष्पन्न होती है— इस व्युत्पत्ति के द्वारा **उपमेयोपमा नामक अलङ्कार** होता है।

(२) "**मुखमिव कमलम्**" इत्यादि में युगपत् ही दोनों की उपमानोपमेयता है, अतः इसका निराकरण करने के लिये "**पर्यायेण**" यह कहा है । **रशनोपमा** में एक का ही क्रम से उपमानोपमेय भाव होता है, अतः इसका निराकरण करने के लिये "द्वयोः" यह कहा है । यहाँ (उपमेयोपमा में) सादृश्य के कारण में अभेद होने पर ऐसा भी समझना चाहिये । इससे **पल्लवमिवारुणं करतलं करतलमिव कोमलं पल्लवम्** इन दोनों उपमाओं का व्यवच्छेद हो जाता है ।

अर्थ—(कारिकास्थ कठिन शब्दों की व्याख्या करते हैं ।) **एतदिति—एतत्**—उपमानोपमेयता । **अर्थादिति—अर्थात्**—योग्य होने के कारण दो वाक्यों में । (क्योंकि एक वाक्य के अन्दर दोनों उपमान और उपमेय भाव की परिवृत्ति नहीं हो सकती है ।)

टिप्पणी—(१) यहाँ "**वाक्यद्वयम्**" का अर्थ शाब्द या आर्थ है । अतः "**रामरावणमिवस्तुल्यो**" में अव्याप्ति नहीं होती है । वहाँ पर भी राम रावण के समान है और रावण राम के समान है—इसप्रकार वाक्यार्थ की भेद प्रतीति हो जाती है । "**वाक्यद्वये**" कहने से अनन्वयालङ्कार का व्यवच्छेद होता है ।

(२) **प्रश्न**—दो वाक्यों की ही परिवृत्ति सम्भव होने पर "**मुखमिव चन्द्रः**" यहाँ पर **उपमेयोपमा** के न होने से कौन सा अलङ्कार होगा ।

उत्तर—यहाँ पर निन्दा की अभिव्यक्ति होने पर **प्रतीपालंकार** है ।

अर्थ—(**उपमेयोपमा** का उदाहरण) **यथा**—**कमलेवेति**—हर्ष का विषय है कि (बत) जिस (राजा) की निरन्तर राज्यलक्ष्मी की तरह बुद्धि, (और उस) बुद्धि की तरह (वह) राज्यलक्ष्मी [अर्थात् राज्यलक्ष्मी जिसप्रकार से असामान्य है, बुद्धि भी उसीप्रकार से असामान्य है]; शरीर की तरह कान्ति (और उस) कान्ति की तरह (वह) शरीर [अर्थात् शरीर जिस प्रकार से असामान्य है कान्ति भी उसी प्रकार से असामान्य है ।]; (अपने वश में की हुई) पृथिवी की तरह धैर्य (और उस) धैर्य की तरह (वह) पृथिवी [अर्थात् पृथिवी जिस प्रकार असामान्य है धैर्य भी उसी प्रकार से असामान्य है ।] सुशोभित होती है । [उस राजा के सद्गुणों के विषय में क्या कहना है ।]

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृश नान्यदस्तीत्यभिप्रायः ।

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥२७॥

यथा—

'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जलम् ।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ।"

टिप्पणी—(१) इस पद्य के अन्दर पूर्ववाक्य में कमला की उपमानता है और मति की उपमेयता है; उत्तर वाक्य में उस कमला की उपमेयता है और मति की उपमानता है । द्वितीय चरण में पूर्ववाक्य में शरीर की उपमानता है और विभा की उपमेयता है; उत्तर वाक्य में उसी शरीर की उपमेयता है और विभा की उपमानता है—इत्यादि उपमानोपमेय भाव के परिवर्तन से **उपमेयोपमालङ्कार** का लक्षण घटित होता है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) इस राजा की राज्यलक्ष्मी और बुद्धि आदि ("आदि" पद से तनु और विभादिकों का ग्रहण होता है) के समान अन्य कुछ नहीं है, यह (कवि का) आशय है ।

टिप्पणी—**निष्कर्ष** यह है कि **उपमेयोपमा** दो प्रकार की होती है—

(१) उक्त धर्मा और (२) व्यक्त धर्मा । इनमें से उक्त धर्मा उपमेयोपमा अनुगामि आदि धर्मों से अनेक प्रकार की होती है ।

(२) साधारण धर्म के अनुगामि होने पर "**कमलेव मतिः**" यह उदाहरण है । यहाँ स्पृहणीयता, निविड़ता और विपुलता साधारण धर्म है ।

व्यक्तधर्माप्रकृताप्रकृतविषया—यथा—

गिरिरिव गजराजोऽयं गजराज इवोच्चकैर्विभाति गिरिः ।

निर्झर इव मदधारा मदधारेवास्य निर्झरः स्रवति ।।

इससे अधिक विस्तृत विवेचन **रसगंगाधरादि** में देखना चाहिये ।

अथ स्मरणालंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(स्मरणालंकार का लक्षण) **सदृशेति**—तुल्यवस्तु के (गुण और आकारादि में समान; अनुभव से (दर्शनादि प्रत्यक्ष ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान से) अन्य वस्तु की स्मृति (अनुभव) **स्मरणालंकार** (आलंकारिकों के द्वारा) कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) समान गुण और आकारादि वाली वस्तु का प्रत्यक्ष अनुभव संस्कार का उद्बोधक होने के कारण स्मृति के प्रति कारण है । और संस्कार वस्तु के अनुभव से उत्पन्न होता है ।

(२) सम्बन्धित ज्ञानादि से उत्पन्न स्मृति का निराकरण करने के लिये "**सदृश**" इस पद का ग्रहण किया है ।

अर्थ—(स्मरणालङ्कार का उदाहरण) **यथा—अरविन्दमिति**—ऊपर विहार करते हुये खञ्जन पक्षी से मनोहर इस (पुरोवर्ति) कमल को देखकर उस (कान्ता) के चञ्चल नेत्रों वाले सुन्दर मुख को स्मरण करता हूँ । [**भाव** यह है कि यहाँ पर कमल के ऊपर खञ्जन को देखकर मुख रूपी कमल के ऊपर नेत्र रूपी खञ्जन का स्मरण किया गया है ।]

'मयि सकपटम्—' इत्यादौ च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थापितत्वान्नायमलङ्कारः । राघवानन्दमहापात्रास्तु–वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति । तत्रोदाहरणं तेषामेव ।
यथा—

शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदस्रु रामः ॥'

टिप्पणी—(१) यहाँ "कमल के ऊपर विहार करता हुआ खञ्जन पक्षी चञ्चल नयनों के समान है," और कमल तो स्वभावतः ही मुख के समान है । अतः सर्वतोभावेन मुख के समान कमल को देखकर उत्पन्न कान्ता के मुख की स्मृति के कारण **स्मरणालङ्कार** है ।

(२) यह **स्मरणालङ्कार** (१) इस जन्म में अथवा (२) पूर्व जन्म में अनुभव की हुई वस्तु के संस्कार से उत्पन्न होने के कारण दो प्रकार का होता है । उनमें से प्रथम का उदाहरण दिया जा चुका है । दूसरे का उदाहरण—

'दिव्यानामपि कृतविस्मयं पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारु हस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥'

यहाँ कमल को हाथ में लिये हुये किसी रमणी को जल के पास देखकर लक्ष्मी का स्मरण करने के कारण पूर्वकृत समुद्र मन्थन के संस्कार के उत्पन्न होने से **स्मरणालङ्कार** है ।

अवतरणिका—प्रश्न—सदृश ज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नमतादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥

उक्त स्वरूप वाली वस्तु की स्मृति ही सामान्यतः **स्मरणालङ्कार** हो जावे, स्मृतिः का "**सदृशानुभवति**" यह हेतु देने का क्या प्रयोजन है ? इसका **उत्तर** देते हैं—

अर्थ—"मयिसकपटम्"···[पृष्ठ···पर इसकी व्याख्या स्मृति नामक व्यभिचारिभाव के उदाहरण में की जा चुकी है ।] इत्यादि में स्मृति के सादृश्य के अनुभव के बिना ही (चिन्ता से उत्पन्न संस्कार से) उत्पन्न होने के कारण यह (स्मरणनामक) अलङ्कार नहीं है । [**आशय** यह है कि संस्कार को उत्पन्न करने के द्वारा समान वस्तु के ज्ञान से उत्पन्न स्मृति ही **स्मरणालङ्कार** होती है, चिन्ता आदि से उत्पन्न स्मृति **स्मरणालङ्कार** नहीं होती है । इसीलिये स्मृति का "**सदृशानुभवात्**" यह कारण कारिका में कहा है ।] **राघवेति—राघवानन्द महापात्र** तो विरुद्ध वस्तु के अनुभव से (उत्पन्न) स्मृति को भी **स्मरणालंकार** मानते हैं । इसका उदाहरण उन्हीं (**राघवानन्द महापात्र**) का (बनाया हुआ) ही है—यथा—**शिरीषेति**—शिरीष पुष्प के समान सुकुमार शरीर वाली सीता पर्वतों पर जिस-जिस समय अनेक दुःखों को प्राप्त करती थी, उस उस समय रामचन्द्र जी (राजधानी में विद्यमान) प्रासादों में (होने वाली) इस (सीता) की सुख परम्पराओं को आँसू बहाते हुये स्मरण करते थे ।

टिप्पणी—यहाँ विरुद्ध सैकड़ों दुःखों के अनुभव से सुख परम्परा का स्मरण करना विपरीत सम्बन्ध से सम्बन्धी के ज्ञान के संस्कार का उद्बोधक है । अतः **राघवानन्द महापात्र** की सम्मति में यहाँ **स्मरणालंकार** है ।

रूपकं रूपितारोपाद्वि (पो वि) षये निरपह्नवे ।

अथ रूपकालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(रूपकालङ्कार का लक्षण) **रूपकमिति**—निरपह्नव अर्थात् निषेध रहित [प्रकृत का गोपन करना अपह्नव कहलाता है, उस (अपह्नव) से रहित] वाच्य उपमेय के होने पर (**विषये**) अभिन्नरूप से कथन किये हुए उपमान के (**रूपितस्य**) आरोप से (तादात्म्य के अध्यास से) **रूपकालङ्कार** (**रूपयति उपमानोपमेययोरभेदमध्यवसापदति कल्पयितुमपि वास्तवमिवावगमयतीति—रूपकम्**) होता है ।

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है कि—यथावस्थित उपमेय में उपमान के अभेद का आरोप **रूपकालङ्कार** कहलाता है ।

(२) कारिका के अन्दर विद्यमान "**विषये**" का विशेषण "**वाच्ये**" समझना चाहिये ।ऐसा होने से—

> **"लतामूले लीनो हरिण परिहीनो हिमकरः**
> **स्वयं हाराकारा गलतिजलधारा कुवलयात् ।**
> **धुनीते बन्धूकं तिलकुसुम जन्मा हि पवनो**
> **बहिर्द्वारे पुष्पं परिणमति कस्यापि कृतिनः ॥"**

इत्यादि में निगीर्ण विषय (उपमेय) मुखादि में निष्कलङ्क चन्द्रादि उपमान को तादात्म्य की आरोपरूप अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

(३) रूपक के विषय में ऐसा समझना चाहिए कि—"**मुखचन्द्रः प्रकाशते**" इत्यादि में और "**कान्तः प्रियतमायाः मुखचन्द्रं चुम्बति**" इत्यादि में **उपमारूपक** है अथवा **रूपकोपमा** है—इसप्रकार की मीमांसा के अवसर पर "**मुखचन्द्रः**" इत्यादि समास वाले स्थल पर रूपक में "**मुखमेव चन्द्रः**" ऐसा विग्रह करने पर "**मयूरव्यंसकादयश्च**" इससे रूपक कर्मधारय समास होता है । और उपमा में "**मुख चन्द्र इव**" ऐसा विग्रह करने पर "**उपमितं व्याघ्रारिभिः सामान्याप्रयोगे**" इससे उपमित कर्मधारय समास होता है । इनमें से रूपक में आरोप्यमाण होने से विशेष्य होने के कारण उपमान पदार्थ ही उपमेय को अन्तर्भूत करके क्रिया में सम्बद्ध होता है । और उपमा में तो आरोपभाव से वर्णन की दृष्टि से मुख के उद्देश्य होने के कारण विशेषभाव से उपमेय पदार्थ ही उपमान को अन्तर्भूत करके क्रिया के साथ सम्बद्ध होता है । इसप्रकार "**मुखचन्द्रः**" इत्यादि में प्रकाश के दीप्तिरूप होने के कारण चन्द्रमा में सम्भव होने से और मुख में असम्भव होने से "**प्रकाशते**" यह पद उपमा का बाधक और रूपक का साधक है, अतः **रूपक** ही है । "**कान्तः प्रियतमायाः**" इत्यादि में चुम्बन के मुख के साथ संयुक्त होने से मुख में सम्भव होने से "**चुम्बति**" यह पद रूपक का बाधक और उपमा का साधक है, **उपमा** ही है । इसीप्रकार

'रूपित'—इति परिणामाद् व्यवच्छेदः। एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः। 'निहपह्नवे' इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदार्थम्।

"**विकसितं मुखपद्मम्**" इत्यादि में विकसितत्वरूप साधारणधर्म के प्रयोग से "**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे**" इसमें उपमित समास न होने से "**विकसितम्**" यह पद उपमा का बाधक है—अतः पारिशेष्यात् **रूपक** ही है। "**रमणीयं मुखपद्मम्**" इत्यादि में तो मुख की और पद्म की रमणीयता सम्भव होने से दोनों के ही साधक और बाधक न होने से उपमा और रूपक का **सन्देह संकर** ही है।

(४) निगीर्ण करके अध्यवसान रूप अतिशयोक्ति में उपमेय की उपमेयगत धर्मवत्ता रूप से उपस्थिति नहीं होती है, अतः उससे (अतिशयोक्ति से) इसका (रूपक का) भेद है।

(५) **परिणाम** और **अपह्नुति** का भेद वृत्ति में ही है।

(६) इसप्रकार गौणी सारोपा लक्षणा वाले स्थलों पर **रूपक** होता है और गौणी साध्यवसाना लक्षणा वाले स्थलों पर **अतिशयोक्ति** होती है। अतःएव द्वितीय परिच्छेद में "**विषयस्यानिगीर्णस्य**" इस कारिका की वृत्ति में "**यही रूपकालंकार का बीज**" **है**, ऐसा कहा है। "रूपक में लक्षणा नहीं होती है"—इस मत का निराकरण तो पहले ही वहीं किया जा चुका है।

(७) इसी प्रकार **निदर्शना** में उपमेय के होने पर भी आरोप के अरूपित होने से उससे (निदर्शना से) इसका (रूपक का) भेद होता है।

(८) भ्रान्तिमान् अलंकार में भ्रान्ति के उत्पन्न होने के अवसर पर ही विषय का अपह्नव होता है, अतः उससे (भ्रान्तिमान् से) इसका (रूपक का) भेद होता है।

(९) **उत्प्रेक्षा** में भी आरोप नहीं होता है, किन्तु अभेद से वैसी सम्भावना रहती है—अतः इससे (उत्प्रेक्षा से) भी इसका (रूपक का) भेद है।

(१०) "**लोष्टःपाषाणः**" यहाँ अभेद होने पर भी अलंकार की प्रसक्ति नहीं होती है क्योंकि विचित्रता का अभाव है।

अर्थ—(रूपित पद से व्यवच्छेद्य दिखाते हैं) **रूपित इति**—"**रूपित**" यह **परिणाम नामक अलंकार** से (रूपक की) व्यावृत्ति (के लिये कहा) है। और यह (रूपक और परिणाम की विलक्षणता) उसके (परिणाम के) प्रकरण में विवेचन करेंगे। "**निरपह्नवे**" यह (रूपक का विशेषण) **अपह्नुति नामक अलंकार** से भेद करने के लिये (कारिका में कहा) है।

टिप्पणी (१) **रूपक** और **परिणाम** में भेद :—उपमेय में आरोप्यमाण उपमान के अभेद के प्रकृत में उपयोगी होने पर **परिणामालङ्कार** होता है। और उपमेय में उपमान के अभेदमात्र का आरोप **रूपकालङ्कार** होता है। यह प्रकृत में उपयोगी नहीं होता है—यही इन दोनों में भेद है।

(२) **रूपक** और **अपह्नुति** में भेद—उपमेय का गोपन न करने से उपमेय में उपमान का अभेदरूप से आरोप **रूपकालङ्कार** होता है और उपमेय के गोपन से उपमेय में उपमान का अभेदरूप से आरोप **अपह्नुति अलंकार** होता है, यही इन दोनों में स्पष्ट अन्तर है।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥२८॥

तद्रूपकम् ।

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥२६॥
प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितम् ।

यथा—

आहवे जगदुद्दण्डराजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंहमहीपाल स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

अथ रूपक भेद निरूपणम् —

अवतरणिका—सर्वप्रथम **रूपकालंकार** के तीन भेदों का प्रतिपादन करते हैं :-

अर्थ—वह (**रूपक**) तीन प्रकार का होता है :—

(१) परम्परित (**कार्य कारणभावरूपा परम्परा सञ्जाता अस्येति परम्परितम्**) (२) साङ्ग (सावयव) और (३) निरङ्ग (निरवयव) [कारिकास्थ "तत्" पद की व्याख्या करते हैं ।] **तत्**—अर्थात् रूपक ।

अवतरणिका—**परम्परित** रूपक के भेदों का परिगणन करते हैं—

अर्थ—उन (तीन प्रकार के रूपकों) में से—(**परम्परित रूपक** का लक्षण) **यत्रेति**—जहाँ किसी (एक) का आरोप अन्य के आरोप के विषय में कारण होता है, वहाँ (तत्) **परम्परित नामक रूपकालङ्कार** (होता) है । वह **परम्परित रूपक** (१) श्लिष्ट शब्द निबन्धन और (२) अश्लिष्ट शब्द निबन्धन (दो प्रकार का होता) है । (उनमें से) पुनः प्रत्येक (१) केवल रूपक और (२) माला रूपक (होता) है । इसप्रकार (मिलकर **परम्परित रूपक**) चार प्रकार का होता है ।

टिप्पणी—(१) **परम्परित** रूपक का सामान्य लक्षण—**रूपकत्वे सति आरोपान्तर निमित्तभूत आरोपः परम्परितम्** ॥

अवतरणिका—क्रम से **परम्परित रूपक** के भेदों का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(१) उनमें से (परम्परित रूपक के चार भेदों में से) **श्लिष्ट शब्द मूलक केवल परम्परित रूपक** (का उदाहरण) **यथा**—**आहव इति**—[**प्रसङ्ग**—राजा की स्तुति है ।] (हे) श्रीनृसिंह महीपते ! युद्ध के अन्दर संसार में निरंकुश (अर्थात् कुल की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले) राजाओं के समूह रूप चन्द्रबिम्ब के लिये (विमर्दन करने से) राहु स्वरूप तुम्हारी भुजाओं के लिये कल्याण हो ।

टिप्पणी —(१) राहु के द्वारा चन्द्र मण्डल की तरह भुजाओं से राजसमूह को पीड़ा पहुँचाने के कारण भुजा में राहु का आरोप समझना चाहिये ।

(२) यहाँ "राजमण्डल' पद श्लिष्ट है ।

(३) यहाँ "**हवे हवे**" इस यमकालंकार के तीन चरणों में विद्यमान होने के कारण "**न यमकं क्वचित् त्रिपात्**" इस नियम का विरोध होने से "**सहसालिजनैः स्निग्धैः**" इत्यादि की तरह **अप्रयुक्तत्व दोष** भी समझना चाहिये ।

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रविम्बमित्यारोपो राजबाहो राहुत्वारोपो निमित्तम् ।

मालारूपं यथा—

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥'

अत्र पद्मायाः उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम् ।

अर्थ—(उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) राजमण्डल अर्थात् राजाओं के समूह में ही "चन्द्रबिम्ब" का (अभेद से) आरोप राजा की भुजायें राहुत्व के आरोप में कारण है ।

टिप्पणी—(१) राजाओं के समूह में चन्द्रबिम्बत्व के आरोप के बिना वर्णनीय राजा की भुजा में राहुत्व का आरोप साम्य न होने से नहीं हो सकता है, अतः पूर्व का आरोप उत्तर के आरोप के प्रति कारण है । और पूर्व का आरोप "राजमण्डल" इस श्लिष्ट शब्द से उपपाद्य है और कार्य कारण भावमात्र है, अतः **श्लिष्ट शब्द निबन्धन केवल परम्परित रूपक** है ।

अर्थ—(२) **श्लिष्ट शब्द मूलक मालारूप परम्परित रूपक** (का उदाहरण) **यथा—पद्मे ति** [**प्रसङ्ग**—किसी राजा की यह स्तुति है ।] (हे राजन् !) पृथिवी पर आप (एक) ही लक्ष्मी के उपार्जन में "**अन्यत्र**" कमलों को विकसित करने मे, सूर्य [अर्थात् एक सूर्य ही जिसप्रकार कमलों के विकास को करता है, अकेले आप उसी प्रकार से ही पृथिवी पर असाधारण सम्पत्ति की वृद्धि को करने वाले हैं ।]; सज्जनों के (सताम्) आगमन के विषय में (आगतौ **अन्यत्र** नित्य (सदा) प्रवाहित होने के विषय में (गतौ), वायु [वायु जिसप्रकार सर्वदा गति करता है, आप उसीप्रकार ही दान और सत्कार से सज्जनों का आह्वान करते हैं ।]; (तथा) राजाओं की (भूभृताम्) **अन्यत्र** पर्वतों की पंक्ति में (आविलपु), वज्र [जिस प्रकार इन्द्र के वज्र ने पर्वतों का उच्छेद कर दिया है उसीप्रकार आपने भी प्रतिपक्षी राजाओं को नष्ट कर दिया है] हैं ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पद्मादि पद श्लिष्ट हैं ।

(२) आप लक्ष्मी के सञ्चय में कमल का विकास करने वाले सूर्य की तरह, सज्जनों का दान और सत्कार से संग्रह करने में सदा गतिशील वायु की तरह, पर्वतों का उच्छेद करने में वज्र की तरह विपक्षियों का समूल नाश करने में आप ही सकल संसार में विख्यात हैं ।

अर्थ—(उपर्युक्त अर्थ को दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) लक्ष्मी का उदय ही कमलों का उदय है, सज्जनों का आगमन ही सदागति है, भूमृतः—राजागण ही पर्वत हैं, इत्यादि का आरोप राजा के अन्दर सूर्यत्वादि के आरोप में कारण है ।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः ।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः ॥'

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपो निमित्तम् ।
मालारूपं यथा—

'मनोजराजस्य सितातपत्र श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः ।
विराजते व्योमसरः सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम् ॥'

टिप्पणी—(१) यहाँ पर "आदि" शब्द के चारो अर्थों का ग्रहण होता है । कहा भी है कि—

सामीप्येऽथ व्यवस्थायां प्रकारेऽवयवे तथा ।
चतुर्ष्वर्थेषु मेधावी आदि शब्दं तु लक्षयेत् ॥

इसप्रकार यहाँ प्रथम "आदि" शब्द **प्रकार** के अर्थ में है । दूसरा "आदि" शब्द **समुदाय के अवयव** के अर्थ में है । इसी से समीरणत्व और वज्रत्व का ग्रहण हो जाता है ।

(२) प्रकृत उदाहरण में पूर्व पूर्व में आरोप उत्तरोत्तर के आरोप के प्रति कारण है अतः **परम्परित** है । पद्मोदय-सदागतिः और भूभृत् शब्द श्लिष्ट हैं, अतः **श्लिष्टशब्दनिबन्धन** है । और पद्मोदयादि तीनों का कार्यकारण भाव है, अतः **मालारूप** समझना चाहिये । अतः एव यह उदाहरण **श्लिष्टशब्दमूलक-मालारूपपरम्परित रूपक** का है ।

अर्थ—(३) **अश्लिष्टशब्दमूलककेवलपरम्परित रूपक** (का उदाहरण) **यथा**—**पान्त्विति**—नवीन जलधर के समान कृष्ण वर्ण, शार्ङ्ग नामक धनुष की प्रत्यञ्चा के आघात से कठिन, त्रैलोक्य रूपी मण्डल के स्तम्भ स्वरूप चारों श्री विष्णुजी की भुजायें आपकी रक्षा करें ।

टिप्पणी—इस उदाहरण में कोई भी पद श्लिष्ट नहीं है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) त्रैलोक्य में मण्डपत्व का आरोप विष्णु की भुजाओं में स्तम्भत्व के आरोप में कारण है । [अतः यहाँ रूपक की **परम्परितता** है । कोई भी शब्द श्लिष्ट नहीं है, अतः **अश्लिष्टशब्दनिबन्धनता** है तथा केवल एक के अन्दर ही कार्यकारण भाव है, अतः **केवलता** है । इसप्रकार यह **अश्लिष्टशब्दमूलक केवल परम्परित रूपक** है ।

अर्थ—(४) **अश्लिष्टशब्दमूलक मालारूपपरम्परित रूपक** (का उदाहरण) **यथा**—**मनोजेति**—कामदेव रूपी राजा का श्वेतच्छत्र स्वरूप दिशारूपी पत्नी का चन्दन तिलक स्वरूप, आकाश रूपी सरोवर का कमल स्वरूप कपूर पुञ्ज के समान चन्द्रमण्डल शोभित हो रहा है ।

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम्। 'तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपो निमित्तम्' इति केचित्।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ कामदेवादि में राजत्वादि का आरोप चन्द्र बिम्ब में श्वेतच्छत्रत्वादि के आरोप में कारण है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रथम "आदि" शब्द से हरिद् और व्योम का, द्वितीय "आदि" शब्द से अङ्गनात्व और सरोवरत्व का, और तीसरे "आदि" शब्द से श्रीखण्ड चित्रत्व और सरोजत्व का ग्रहण होता है।

(२) यहाँ रूपक की भी **परम्परितता** है। मनोजादिकों के श्लिष्ट न होने से **श्लिष्टशब्दनिबन्धनता** है और तीनों के अन्दर कार्यकारण भाव है। अतः **मालारूपता** समझनी चाहिये। इसीलिये यहाँ पर **अश्लिष्टशब्दमूलक मालारूप परम्परित रूपक** है।

अवतरणिका—आह्वे इत्यादि **परम्परितरूपक** के विवेचन में **रूपकादि** के मत का निरूपण करते हैं।

अर्थ—और वहाँ ["**आहवे जगदुद्दण्ड**" इत्यादि उदाहृत सम्पूर्ण पद्यों में] राजा की भुजाओं आदि में ["आदि" पद प्रकारता का बोधक है। यहाँ "राजभुजादीनाम्" में "आदि" शब्द से "**पद्मोदये दिनाधीशः**" इत्यादि में राजादिकों का ग्रहण होता है।] राहुत्व आदि का आरोप [यहाँ "आदि" शब्द से दिनाधीशत्वादिकों का ग्रहण होता है।] (प्रतिपक्षी) राज—मण्डलादिकों में [यहाँ "आदि" शब्द से लक्ष्मी के उदयादि का ग्रहण होता है।] चन्द्र-मण्डलत्वादि के आरोप में [यहाँ "आदि शब्द से कमलों के विकासादि का ग्रहण होता है।] कारण है—ऐसा कुछ (**रूय्यक**—आदि आलंकारिक) कहते हैं।

टिप्पणी—यहाँ "**केचित्**" शब्द से इस मत में साहित्यदर्पणकार ने अपनी अरुचि सूचित की है। उसका कारण यह है कि किसी प्रसिद्ध धर्म को लेकर ही आरोप होता है। जैसे प्रसिद्ध सादृश्य के कारण मुख में कमलत्व या चन्द्रत्व का आरोप होता है इसप्रकार बाहु और राहु का कोई साधारणधर्म प्रसिद्ध नहीं है, अतः जब तक राजाओं को आह्लादकत्वादि प्रसिद्ध साधर्म्य के बल से चन्द्रमा न मान लिया जाय तब तक बाहु में राहुत्व का आरोप हो ही नहीं सकता। अतः चन्द्रत्वारोप ही राहुत्वारोप का कारण है, राहुत्वारोप चन्द्रत्वारोप का कारण नहीं हो सकता।

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥३०॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

तत्र—

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥३१॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ।

अवतरणिका—साङ्गरूपक के लक्षण सहित दो भेदों का निरूपण करते हैं—

अर्थ—(साङ्गरूपक का लक्षण) अङ्गिन इति—आकांक्षित अङ्ग सहित अङ्गी का यदि रूपण (उपमान के तादात्म्य का आरोप) किया जाय, (तो) वही **साङ्ग नामक रूपक** (होता) है । [अर्थात् जब अङ्ग सहित उपमेय में अङ्ग सहित उपमान का अभेद रूप से आरोप किया जाता है, तब **साङ्गनामक रूपक** कहलाता है ।] यह दो प्रकार का होता है—(१) समस्त वस्तु विषयक और (२) एक देशविवर्त्ति ।

टिप्पणी—(१) साङ्गरूपक का ही दूसरा नाम **सावयव** है ।

(२) **समस्तवस्तु विषय** की व्युत्पत्ति—**समस्तान्येव—सकलान्येव (अङ्गाङ्गि) समुदाय एव वस्तूनि—आरोप्यमाणानि विषयाः शब्दोपात्तानि यत्रतत् समस्तवस्तु विषयम् ।**

(३) **एकदेशविवर्त्ति** की व्युत्पत्ति—**एकदेशे (रूपक समुदायस्यावयविनः) अवयवे कस्मिंश्चिद्रूपके विशेषेण—शब्द मुखेन स्फुटतया वर्तनात्—प्रकाशनात् अथवा एकस्मिन् देशे—एकस्मिन्नंशे विवर्तनात्—विशेषेण वर्तनात् अर्थात् आरोप्यमाणस्य सर्वत्र वाच्यत्वे एकांशे प्रतीयमानस्वरूपस्य विशेषस्य सत्वात् एकदेशविवर्त्ति ॥**

अर्थ—(१) उनमें से (**समस्तवस्तुविषय रूपक** का लक्षण) **आरोप्यमाणामिति**—सम्पूर्ण अभेद भाव से निरूपणीय उपमेय और उपमानों के (आरोप्याणाम्) शब्द से प्रतिपाद्य होने पर (किसी के भी अर्थ से प्रतिपाद्य न होने पर) पहला अर्थात् **समस्तवस्तुविषयक रूपक** माना गया है । (कारिकास्थ 'प्रथम' शब्द की व्याख्या करते हैं) **प्रथममिति—प्रथमम्**—अर्थात् **समस्तवस्तु विषयक** ।

टिप्पणी—(१) कहा भी है कि—"**समस्तवस्तुविषयं श्रौत आरोपितो यदा**" ।

(२) "**सूत्रे लिङ्गं संख्या कालश्चातन्त्राणि**" इस न्याय के अनुसार "**आरोप्याणाम्**" में बहुवचन अविवक्षित है । इसीलिये "**दत्तांशुकेशरालीभिस्तस्या भाति मुखाम्बुजम्**" इत्यादि का ग्रहण हो जाता है ।

यथा—

'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥'

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य ।

अर्थ—(**समस्तवस्तुविषयक रूपक** का उदाहरण) **यथा—रावणेति**—[**प्रसङ्ग—रघुवंश** के दशम सर्ग का यह पद्य है ।] वह विष्णु रूपी मेघ रावण रूपी दृष्टि के प्रतिबन्धक से पीड़ित अर्थात् सन्तप्त, देवतारूपी शस्य को पूर्वोक्त (इति) वाणी रूपी जल से सन्तुष्ट करके अन्यत्र अभिषिक्त करके अन्तर्हित हो गया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ अङ्गी विष्णु के अन्दर मेघत्वादि का आरोप करने के लिये उसके अङ्ग सभी अमृतादिकों का वाणी आदिकों में आरोप करने से **साङ्गरूपक** समझना चाहिये ।

अर्थ—(लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेत्रि**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में). विष्णु के अन्दर मेघत्व रूप आरोप के (विधेय) होने पर (ही) वाणी आदि (उसके अङ्गों) में अमृतत्वादि का आरोप किया है । [अतः **साङ्गसमस्त वस्तुविषयक रूपक** है ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि—वर्षण क्रिया के अन्दर अङ्गाङ्गि भाव से जितने भी पदार्थ अपेक्षित होते हैं, उतने सभी यहाँ विद्यमान है । यथा—कर्त्ता—कारण और कर्म । यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता होने के कारण उपमेयभूत कृष्ण और उपमानभूत मेघ अङ्गी हैं, कृष्ण से उपपाद्य होने के कारण और मेघ के द्वारा वर्षा के होने के कारण वाणी और जलादि अङ्ग हैं । और इन सभी का शब्द से ही ग्रहण किया है, अतः **समस्तवस्तुविषयकसाङ्गरूपक** है ।

अर्थ—(२) (**एकदेशविवर्त्तिसाङ्गरूपक** का लक्षण) **यत्रेति**—जहाँ (अर्थात् जिस रूपण में) किसी (आरोप्यमाण) की अर्थ के द्वारा प्राप्ति होती है, वह **एकदेश-विवर्त्तिसाङ्गरूपक** (होता) है । [कारिकास्थ "**कस्यचित्**" पद की व्याख्या करते हैं ।] **कस्यचिदिति—कस्यचित्**=आरोप्यमाण के ।

टिप्पणी—(१) कारिका के अन्दर विद्यमान "**कस्यचित्**" से अन्य आरोप्य-माणों का शब्द से गृहीत होना आवश्यक है, ऐसा द्योतित किया है ।

(२) **पण्डितराज** ने इसको इसप्रकार स्पष्ट किया है कि—

यत्र क्वचिदवयवे शब्दोपात्तमारोप्यमाणं क्वचिच्चार्थ सामर्थ्याक्षिप्तं तदेकदेशे शब्दानुपात्त विषयिकेऽवयव रूपके विवर्तनात् स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेन वर्तनादेकदेश विवर्त्ति इति ॥

यथा—

'लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः केन पीयते ?॥'

अत्र लावण्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः ।

न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा, विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्तमानात् मुखे चोपचरितत्वात् ।

अर्थ—(एक देशविवर्ति साङ्गरूपक का उदाहरण) **यथा— लावण्येति—** इस (कान्ता) का लावण्यरूपी मधु से पूर्ण (तथा हास्य और समय के प्रभाव से) प्रफुल्लित मुख किन मनुष्यों के नेत्ररूपी भ्रमर समूहों के द्वारा नहीं पिया जाता है ? अथवा तृष्णा से देखा जाता है अर्थात् सभी के द्वारा तृष्णा के साथ देखा जाता है ।

अर्थ—(शाब्द और आर्थ आरोप को प्रकृत उदाहरण में पृथक् रूप से दिखाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) लावण्यादि में ("आदि" शब्द से लोचन का ग्रहण होता है) मधुत्व आदि का आरोप ("आदि" शब्द से रोलम्बत्व का ग्रहण होता है) शब्द से ही उपात्त है, (किन्तु) मुख में पद्मत्व का आरोप अर्थबल से लभ्य है ।

न चेति—यह **एकदेशविवर्तिनी उपमा** नहीं है; (क्योंकि) विकस्वरत्व (प्रफुल्लता) धर्म उपमानत्वेन आरोप के विषयीभूत (**आरोप्यमाणे**) पद्म में अभिधा से वाच्य रूप से (मुख्यतया) विद्यमान है, और मुख में लक्षणा से आरोपित है । (उपचरितत्वात्)

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—विकस्वरता का अर्थ है प्रफुल्लता । और यह विकसित और संकुचित स्वभाव वाले पद्म में ही मुख्यरूप से हो सकती है, सदा एक रूप रहने वाले मुख में नहीं । इस अवस्था में मुख्यार्थ के सम्भव होने पर लक्षणा का कोई उपयोग नहीं है । अतः "**मुखचन्द्रः प्रकाशते**" इत्यादि की तरह ही यहीं "**विकस्वरम्**" यह पद उपमा का बाधक है और रूपक का साधक है, अतः **एकदेश-विवर्त्ति रूपक** ही है । और "**नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः**" इत्यादि में तो इवादि वाचक के विद्यमान होने से आरोप का अभाव होने से ही **एकदेशविवर्त्ति** रूपक नहीं है—ऐसा समझना चाहिये । और यदि "**लावण्यमधुभिः**" इस उदाहरण में "**विकस्वरम्**" इसके स्थान पर "**मनोहरम्**" यह पाठ परिवर्तन कर दें तो साधक बाधक प्रमाणों के न होने से "**मुखचन्द्रं पश्यति**" इत्यादि की तरह ही एकदेशविवर्त्तिनी उपमा और रूपक में सन्देह संकर ही समझना चाहिये ।

(२) **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** और **एकदेशविवर्त्तिरूपक** में भेद—सादृश्य के अंशतः अभिधेय होने पर और अंशतः प्रतीयमान होने पर **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** होती है, और सादृश्य के सर्वत्र ही प्रतीयमान होने पर वहाँ **एकदेशविवर्त्ति रूपक** होता है ।

अथवा – जहाँ साधर्म्य उपमान में मुख्यतया स्थित हो, वहाँ **रूपक**, और जहाँ उपमेय में स्थित हो, वहाँ **उपमा** होती है ।

निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥३२॥
मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

'निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥'

केवलं यथा—

'दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि नात्र दूये ।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद्खिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥'

अवतरणिका—इस प्रकार भेद सहित **साङ्गरूपक** का प्रतिपादन करने के उपरान्त भेद सहित **निरङ्गरूपक** का निरूपण करते हैं—

अर्थ (२) (**निरङ्गरूपक** का लक्षण) **निरङ्गमिति**—एकमात्रअङ्गी का ही (अङ्गसहित उपमान का नहीं) रूपणा (उपमान के तादात्म्यक का आरोप) **निरङ्ग** (निर्गतानि अङ्गानि यत्र तत्तथोक्तम्) रूपक(कहलाता) हैं। वह (**निरङ्गरूपक**) भी (१) मालारूप से और (२) केवलरूप से दो प्रकार का होता है।

अर्थ (१) उनमें से (अर्थात् (१) मालारूप और (२) केवलरूप निरङ्गरूपकों में से) **मालारूपक निरङ्गरूपक** (का उदाहरण) **यथा—निर्मणिति**—वह (पहले देखी हुई) यह (प्रत्यक्षा) नील कमल के समान नयनों वाली सृष्टि का निर्माण करने वाले ब्रह्मा की निर्माण शक्ति की निपुणता स्वरूपा, मनुष्यों के नेत्रों की कौमुदी स्वरूपा (आह्लादक होने के कारण) (तथा) कामदेव की क्रीडा गृहस्वरूपा (केवल देखने मात्र से कामदेव को उत्पन्न करने वाली) है।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में एक नीलकमल नयनी में ही, (उसके उपमेय अङ्ग में नहीं) निर्माण कौशलादि अङ्ग रहित तीनों उपमानों के आरोप से **माला-रूपकनिरङ्गरूपक** है। यहाँ नीलकमलनयनी के अतिशय सौन्दर्य का ज्ञान कराने के लिये ही आरोप है। निर्माण कौशल को उपमान रूप से स्वीकार न करने पर भी शेष दो आरोपों से भी **मालारूपता** रहती ही है।

अर्थ—(२) **केवलरूपक निरङ्गरूपक** (का उदाहरण) **यथा—दासे इति**—(हे) सुन्दरि ! सेवक के अपराध करने पर स्वामीजनों का पाद प्रहार उचित (ही) है (अतः) इस पाद प्रहार के विषय में (मैं) दुःखित नहीं हूँ (किन्तु) केवल आपके चरणों के प्रहार से उत्पन्न होते हुये (उद्यद्भिः) कठोर अङ्कुर की तरह रोमाञ्चरूपी कण्टकों के अग्रभाग से जो आपका कोमल चरण खिन्न हो रहा है, उसीका मुझे दुःख है।

तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

'चिरन्तनैरुक्ताः' इति शेषः ।

टिप्पणी :—(१) आपके पाद प्रहार करने पर भी मुझे रोमाञ्च हो रहा है, तब भी आपका मुझ पर क्रोध है, यह ठीक नहीं है ।

(२) यहाँ पुलकाङ्कुर रूप ही (उसके अङ्ग में नहीं) एक उपमेय में कण्टक रूप ही एक उपमान के केवल अभेदारोप के कारण **केवलरूपक निरङ्गरूपक है ।**

(३) **परम्परितादि** रूपकों में भिन्नता दिखातेहैं :—

(१) **एकस्यारोपस्य कार्य कारणभावेन अन्यारोप सापेक्षत्वे** परम्परितम् ।

(२) **अङ्गाङ्गिभावेन अन्यारोप सापक्षत्वे** साङ्गम् ।

(३) **सर्वथैवान्यारोप सापेक्षत्वे** निरङ्गम् ।

अवतरणिका :—सम्पत्ति शुद्धरूपक के भेदों का प्रतिपादन करने के उपरान्त उनका साकल्पेन परिगणन करते हैं :—

अर्थ :—(उपसंहार करते हैं) **तेनेति**—इसलिये प्राचीन आचार्यो ने **शुद्ध-रूपकालङ्कार** में आठ भेद कहे हैं—इति ।

टिप्पणी :—(१) **रूपकालङ्कार** सर्वप्रथम तीन प्रकार का होता है—(१) **परम्परित** (२) **साङ्ग** और (३) **निरङ्ग** । इनमें से **परम्परितरूपक** (१) श्लिष्ट शब्द निबन्धन और (२) अश्लिष्ट शब्द निबन्धन—इसप्रकार दो प्रकार का होता हुआ पुनः (१) केवल और (२) मालारूप से दो प्रकार का होकर चार प्रकार का होता है । **साङ्गरूपक** (१) समस्तवस्तुविषयक और एकदेशविवर्त्तिरूपक—दो प्रकार का होता है । और **निरङ्गरूपक** (१) केवल और (२) मालारूप से दो प्रकार का होता है । इस प्रकार सभी भेद मिलकर आठ रूपक के भेद होते हैं ।

(२) सुगमता के लिये उदाहरण सहित रूपक के आठ भेदों को दिखाते हैं :—

परम्परितम् (४)	श्लिष्ट शुद्ध निबन्धनम्	(१) केवलम्	"आहवे जगदुद्दण्ड" इत्यादि ।
		(२) मालारूपम्	"पद्मोदयदिनाधीश" इत्यादि ।
	अश्लिष्ट शुद्ध निबन्धनम्	(३) केवलम्	"पान्तुवो जलदश्यामः" इत्यादि ।
		(४) मालारूपम्	"मनोराजस्य" इत्यादि ।
साङ्गम (२)		(१) समस्तवस्तुविषयम्	"रावणावग्रहक्लान्तम्" इत्यादि ।
		(२) एकदेशविवर्त्ति	"लावण्यमधुभिः पूर्णम्" इत्यादि ।
निरङ्गम् (२)		(१) मालारूपम्	"निर्माणकौशलं धातु" इत्यादि ।
		(२) केवलरूपम्	"दासे कृतागसि" इत्यादि ।

क्वचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति यथा—

'खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ।'

अत्रार्थः क्ष्मायां महिषीत्वारोपः खड्गे सौविदल्लत्वारोपे निमित्तम् ।

अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेऽप्युदाहरणं मृग्यम् ।

अर्थ—[साङ्गमात्र ही रूपक **एकदेशविवर्ति** नहीं होता है, किन्तु] कहीं **परम्परित** भी एकदेशविवर्ति (होता) है। **यथा—खङ्गइति**—मालवेश्वर की (पट्टराज्ञीरूप) पृथिवी का कञ्चुकी स्वरूप तलवार युद्ध में विजय पाती है।

टिप्पणी—(१) राजाओं के क्ष्मापति होने से, पृथिवी के महिषीरूप होने से और तलवार से पृथिवी की रक्षा करने के कारण उसमें कञ्चुकी का आरोप समझना चाहिये।

(२) जिसप्रकार अन्तःपुर की रक्षा करने वाला वृद्ध ब्राह्मण कञ्चुकी पट्टराज्ञी की रक्षा करता है। उसीप्रकार तलवार पृथिवी की रक्षा करती है।

(३) सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है:—

"पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो,
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वण विजय करिस्त्यानदानाम्बु पट्टः ।
संग्रामत्रास ताम्यन्मुरल यतिमशो हंस नीलाम्बुवाहः ।
खङ्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवा खण्डलस्य ॥

अर्थ:—(उक्त उदाहरण में **एकदेशविवर्त्ति परम्परित** रूपक को दिखाते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अर्थबल से लभ्य पृथिवी में महिषीत्व का आरोप खड्ग में कञ्चुकीत्व के आरोप में कारण है। इस (**एकदेशविवर्त्ति परम्परितरूपक**) भेद का पूर्ववत् मालारूप में भी उदाहरण खोजना चाहिए।

टिप्पणी:—(१) कञ्चुकी अन्तःपुर में स्त्रियों की रक्षा के लिये नियुक्त होता हैं, और पृथिवी के स्त्रीरूप होने के बिना कञ्चुकी का होना असम्भव है, अतः पृथिवी के अन्दर स्त्रीत्व का आरोप करने के लिये अर्थ के बल से आरोप किया जाता है। और वह आरोप पृथिवी में महिषी की तरह राजभोग्यत्व के कारण सादृश्य का मूलक है, अन्यथा असम्भव है। यह रूपक **अश्लिष्टशब्दनिबन्धन** और **निरङ्ग** है।

(२) और यदि इसी उदाहरण के अन्दर—

"खङ्गः क्ष्मा सौविदल्लो जयति परचरन्मुत्करो मालवस्य" ।

ऐसा पाठ परिवर्तन कर दें तो **परम्परितश्लिष्टसाङ्ग** और **एकदेशविवर्त्ति** रूपक में एकाश्रयानुप्रवेशरूप **संकर** समझना चाहिये।

दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥३३॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्टं यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

समस्तवस्तुविषयं यथा—अत्रैव 'विचुम्बति' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरिदबला-मुखमिन्दुनायकेन' इति पाठे ।

अवतरणिका—अभी तक **परम्परितरूपक** में **एकदेशविवर्त्तिरूप असाङ्गरूपक** की छाया का प्रतिपादन करने के उपरान्त सम्प्रति **साङ्गरूपक** में भी **श्लिष्टशब्द निबन्धनरूप परम्परितरूपक** की छाया का प्रतिपादन करते हैं —

अर्थ —(केवलपरम्परितरूपक में ही नहीं, अपितु) साङ्गरूपक में भी कहीं आरोपणीय उपमान के प्रतिपादकशब्द (आरोप्याः) श्लेषमूलक (अनेक अर्थ वाले) दिखाई देते हैं ।

अर्थ :—(१) उनमें से (**साङ्गश्लिष्ट रूपकों** में से) **एकदेशविवर्त्ति श्लिष्ट साङ्गरूपक** (का उदाहरण) **यथा**—मेरा (साहित्यदर्पणकारकृत्)—**करमिति**—[**प्रसङ्ग**—चन्द्रोदय का यह वर्णन है ।] (यह) चन्द्रमा इन्द्र से अधिष्ठित प्राची दिशा के (अर्थात् प्राची दिशा रूपी नायिका के)(अपने उदय होने से ही स्थान से) गिर गया है अन्धकार समूह रूपी वस्त्र जिससे ऐसे, उदयाचल रूपी स्तन के अग्रभाग पर किरण रूपी हाथ को रखकर, विकसित (अपने उदय से और आनन्द से) कुमुद रूपी नयनों वाले मुख का अथवा आद्यभाग का चुम्बन कर रहा है ।

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में नायकरूपी सुधांशु अङ्गी है और अन्धकार समूह रूपी वस्त्रों का गिरनादि उसके अङ्गरूप से प्रतिपादित किये हैं, अतः **साङ्ग-रूपकता** है । तथा अन्धकार समूह में अंशुकत्वादि का आरोप करने वाले शब्दों के, पूर्व दिशा में नायिका के आरोप के और चन्द्रमा में नायक के आरोप के आर्थ होने के कारण **एकदेशविवर्त्तिता** है । कर और मुख के श्लिष्ट होने के कारण **श्लिष्टशब्द निबन्धनता** है । इस प्रकार यहाँ पर **श्लिष्टशब्दनिबन्धन एकदेशविवर्त्ति साङ्ग रूपक** है ।

अर्थ—(२) **समस्तवस्तुविषयक श्लिष्टसाङ्गरूपक** (का उदाहरण) **यथा**—यहीं (अर्थात् "**करमुदय** इत्यादि उदाहरण में ही)" "**विचुम्बति**" इत्यादि अंश के स्थान पर "**चुचुम्बे हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन**" ऐसा (क्रम से उत्तरार्ध) पाठ के कर देने पर [पूर्वोक्तनिमित्त से सम्पूर्ण आरोप के शब्द से कथित होने से **श्लिष्टशब्द निबन्धन** समस्तवस्तुविषयक साङ्गरूपकालंकार हो जाता है ।]

न चात्र श्लिष्टपरम्परितम्। अत्र हि 'भूभृदावलिदम्भोलिः—' इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोपं विना वर्णनीयस्य राजादेर्दम्भोलितादिरूपाणां सर्वथैव सादृश्याभावादसङ्गतम्। तर्हि कथं 'पद्मोदयदिनाधीशः-' इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतुकस्य संभवादिति न वाच्यम्। तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुव्यक्तं सादृश्यं न तु प्रकृते विवक्षितम्। पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विवक्षितत्वात्। इह तु महीधरादेः स्तानादिना सादृश्य पीनोत्तुङ्गत्वादिना सुव्यक्तमेवेति न श्लिष्टपरम्परितम्।

न नेति—यहाँ ("करमुदय" आदि उदाहृत पद्य में महीधरादि में स्तनत्वादि के आरोप के प्रति किरणादि में हस्तत्वादि के कथमपि कारण होने से) **श्लिष्ट परम्परितरूपक** नहीं है, क्योंकि (हि) वहाँ (**श्लिष्टपरम्परितरूपक** में) "**भूभृदावलि दम्भोलिः**" इत्यादि में (प्रतिपक्षी) राजादि के अन्दर पर्वतत्वादि के रूपण के बिना वर्णनीय राजा के अन्दर वज्रतादि का रूपण सादृश्य के असम्भव होने से सर्वथा ही असङ्गत है। [किन्तु यहाँ पर वैसी बात नहीं है क्योंकि महीधरादि का स्तनादि के साथ पीन होने के कारण और उच्च होने के कारण सादृश्य सुव्यक्त है।]

तर्हीति—[**प्रश्न**—यदि सादृश्य के न होने पर ही **परम्परितरूपक** होता है] तो **पद्मोदय दिनाधीशः** इत्यादि में **श्लिष्टपरम्परितरूपक** कैसे है? क्योंकि राजादि का सूर्यादि के साथ ("आदि" शब्द से सर्वाभिभावितादि का ग्रहण होता है) तेजस्वितादि कारण के होने से सादृश्य घटित हो जाता है।

उत्तर—इतिनेति—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि (यद्यपि) राजादि का (सूर्यादि के साथ) सादृश्य का कारण तेजस्वितादि सुस्पष्ट है (तथापि) प्रकृत ("पद्मोदयदिनाधीशः" इस उदाहरण) में वह (सादृश्य) विवक्षित नहीं है। (यहाँ पर तो) पद्मोदयादि शब्द की ही (तेजस्वितादि की नहीं) दोनों (रूप्यरूपक राजा और दिनाधीश) की साधारणधर्म रूप से विवक्षा है। [**भाव** यह है कि सूर्य जिस प्रकार प्रकाश के द्वारा कमलों का अभ्युदय करता है, वर्णनीय राजा भी उसीप्रकार से प्रतिपक्षी राजाओं को पराजित करके उसके धन को लेकर लक्ष्मी की वृद्धि करता है—यही कवि का विवक्षित अर्थ है। और इसीलिये पद्मोदय ही दोनों रुप्यरूपक राजा और सूर्य का साधारण धर्म है। इसीप्रकार इन्द्र का वज्र जिसप्रकार पर्वतों का विनाश करता है, वर्णनीय राजा भी उसीप्रकार से ही प्रतिपक्षियों का उच्छेद करता है—यही कवि का विवक्षित अर्थ है। और इसीलिये "भूमृच्छेदन" ही राजा और वज्र दोनों का साधारण धर्म है। अतः पूर्व आरोप के बिना उत्तर का आरोप नहीं हो सकता है, इसलिये आरोपों का ही परस्पर कार्य कारण भाव होने से "**भूभृदावलिदम्भोलिः**", "**पद्मोदयदिनाधीशः**" इन दोनों ही स्थानों पर "**श्लिष्ट परम्परित रूपक** होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।] **इहेति**—यहाँ ("**करमुदय महीधरस्तनाग्रे**" इत्यादि पद्य में) तो महीधरादि का स्तनादि के साथ सादृश्य पीन और उच्चत्वादि होने से सुस्पष्ट ही है, अतः श्लिष्ट परम्परित रूपक नहीं है।

क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते—

'मुखं तव कुरङ्गाक्षि सरोजमिति नान्यथा ।'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः ।'

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि यथा—

'सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।

टिप्पणी—(१) पीनत्व और उत्तुङ्गत्वादि सादृश्य ही महीधरादि में स्तनत्वादि के आरोप का ज्ञान कराता है, इसलिये किरणादि में हस्तत्वादि के आरोप के लिये उसके कारण की अपेक्षा ही नहीं है, अतः **श्लिष्टपरम्परितरूपक** है ।

(२) **परम्परित** और **साङ्गरूपक** में भेद—**यत्रारोपो विवक्षितसादृश्यासम्भवेनान्यमारोपमपेक्षते तत्र परम्परितम्, यत्र तु स्वोत्पत्तौ केवल सादृश्यमपेक्षते तत्र साङ्गरूपकम्** ।

अर्थ—(३) [वैसे तो प्रायः सर्वत्र ही समास के होने पर ही रूपक होता है, परन्तु] **क्वचिदिति**—कहीं समास के न होने पर भी **रूपक** दिखायी देता है । **यथा**—**मुखमिति**—(हे) मृगनयनी ! तुम्हारा मुख कमल है, अन्य कुछ नहीं है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ समास का अभाव होने पर भी मुख में कमल के आरोप के कारण **निरङ्गकेवलरूपक** है ।

(३) दण्डी ने **व्यस्त—समस्त** और **व्यस्तसमस्त**— इसप्रकार तीन प्रकार का **रूपक** स्वीकार किया है ।

अर्थ—(४) कहीं उपमान और उपमेय की भिन्न विभक्ति होने पर भी **(विभिन्नयधिकरणं=व्यधिकरणं तस्य भावः वैयधिकरण्यं तस्मिन् वैयधिकरण्ये)** (रूपक दिखायी देता है ।) **यथा**—(**विदधे इति**—विधाता ने इस (नायिका) में भ्रूलता में भ्रमर पंक्ति का निर्माण किया है ।

टिप्पणी—(१) "**भ्रूलतया**" के अन्दर अभेद में तृतीया है, अन्यथा तादात्म्य का आरोप नहीं हो सकता ।

(२) यहाँ व्यधिकरण पद से उपस्थाप्य भ्रूलता में भ्रमर श्रेणी का **आरोप** होने से "निरङ्ग केवल रूपक" है ।

अर्थ—(५) कहीं विरुद्ध धर्मों के होने पर भी (रूपक दिखायी देता है ।) **यथा**—**सौजन्येति**—सुजनता रूपी जल के लिये मरूभूमि स्वरूप, शोभन आचरण रूपी चित्रकर्म के लिये आकाशभित्ति स्वरूप, [अर्थात् जिस प्रकार आकाश में चित्र नहीं बन सकते हैं, उसीप्रकार राजागण भी सुचरितों की ओर ध्यान नहीं देते हैं ।] दयादाक्षिण्यादि गुण रूपी चन्द्रिका के लिये कृष्णपक्ष की चतुर्दशीस्वरूप [अर्थात् जिसप्रकार कृष्णपक्ष की चतुर्दशी में ज्योत्सना का सर्वथा अभाव होता है उसीप्रकार राजागणों में भी दयादाक्षिण्यादि गुणों का अभाव होता है ।]; सरल व्यवहार के सम्बन्ध के लिये कुत्ते की पूँछ की कुण्डलीस्वरूप [अर्थात् कुत्ते की पूँछ की तरह राजागणों में सरलता की गन्ध भी नहीं होती है ।]

यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥'

इदं मम।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कार-मध्ये गणनम्। एवं वक्ष्यमाणालङ्कारेषु बोध्यम्।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसंज्ञकम्।

इसप्रकार के राजसमूह की जिन्होंने कलियुग में दुष्ट धन की तृष्णा से सेवा करली, उन (मनुष्यों) के लिये केवल भक्ति से प्राप्य शिवजी की सेवा में क्या निपुणता है अर्थात् केवल भक्ति से प्रसन्न होने वाले शिव जी की आराधना उनके लिये क्या कठिन है ?

इदमिति—यह (पद्य) मेरा अर्थात् ग्रन्थकार का है।

टिप्पणी—इस उदाहरण में मरुस्थली में जल के, आकाशभित्ति में चित्र के, कृष्णचतुर्दशी में ज्योत्सना के और कुत्ते की पूंछ में सरलता के असम्भव होने से मरुस्थली आदि में जलादिकों की विधर्मता समझनी चाहिये। इसीलिये प्रथम तीन विशेषणों में **अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमालारूपपरम्परितरूपक** है, और अन्तिम विशेषण में **निरङ्गकेवलरूपक** है।

अवतरणिका—प्रश्न—श्लिष्टपरम्परितरूपक के उदाहरण **"राजमण्डल-राहवे"** इत्यादिकों को, और **श्लिष्टशब्दनिबन्धनसाङ्गरूपक** के उदाहरण **"करमुदय महीधरस्तनाग्रे"** इत्यादिकों को शब्दश्लेष से युक्त होने के कारण शब्दालङ्कार के अन्दर कहना चाहिये था पुनः अर्थालङ्कारों में क्यों कथन किया है ? इसका **उत्तर** देते हैं—

अर्थ—और यहाँ (अर्थात् इन लक्षित रूपकों में से) कुछ रूपकों के शब्दश्लेष मूलक होने पर भी (अर्थात् साधन श्लेष के शब्दालङ्कार होने पर भी) रूपक की प्रधानता से (अर्थात् अर्थमूलक रूपक की प्रधानता के विद्यमान होने से) अर्थालङ्कारों में परिगणन किया है। इसीप्रकार वक्ष्यमाण (**श्लेषमूलक अपह्नुति और व्यतिरेकादि**) **अलङ्कारों में समझना चाहिये।**

टिप्पणी—(१) श्लेष की तरह रूपक की भी शब्दालङ्कारता और अर्था-लङ्कारता दोनों ही हो सकती है, तथापि श्लेष में शाब्दत्व और आर्थत्व दोनों की प्रधानता के एकरूप होने के कारण और यहाँ रूपक में न्यूनाधिक रूप से विपरीत होने के कारण भेद में **"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति"** इस न्याय से रूपक की अर्था-लङ्कारता है। अतः **श्लिष्ट परम्परितरूपकादि** शब्दार्थोभयालङ्कारता ही ठीक है।

अर्थ—(६) **अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपक** का लक्षण) **अधिकेति**—जो रूपक अत्यधिक वैचित्र्य को (विशेषण को) प्राप्त है, वह (रूपक) उसी (**अधिकारूढवैशिष्ट्य**) नाम वाला (**अधिकं—अत्यर्थं आरूढं प्राप्तं वैशिष्ट्यं—वैचित्र्यम्, विशेषणं इत्यर्थः यत्र तत् तादृशम्**) होता है। [कारिकास्थ **"तदेव"** शब्द की व्याख्या करते हैं।]

तदिति—तदेव अर्थात् **अधिकारूढवैशिष्ट्य नामक रूपक ही।**

यथा मम—

'इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः।
इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥'

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्टयम् ।

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥३४॥
परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

अर्थ—(**अधिकारूढवैशिष्टयरूपक** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् ग्रन्थकार कृत—**इदमिति**—[**प्रसङ्ग**—किसी कामिनी का यह वर्णन है ।] यह (दिखायी देने वाला कामिनी का) मुख साक्षात् (प्रत्यक्ष) निष्कलङ्क चन्द्रमा है, अमृतधारा का आधारभूत अधरोष्ठ सम्यक् तथा परिपक्व बिम्बाफल है; ये (दिखायी देने वाले) नेत्र दिन रात अत्यधिक सुशोभित होने वाले दो नीलकमल हैं, (तथा) शरीर अवगाहन में (उपचार से उपभोग में) अत्यन्त सुख को देने वाला लावण्य का समुद्र है ।

टिप्पणी—(१) लावण्य का लक्षण—

"**मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।**
दृश्यमानं यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥" इति ॥

अर्थ—यहाँ (मुखादिकों की) कलङ्करहितता आदि ("आदि" शब्द से सुधा धारात्वादि का ग्रहण होता है ।) में (चन्द्रमादि की अपेक्षा) अधिक वैशिष्टय (बतलाया गया) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ चन्द्रमा-उपमान में अविद्यमान निष्कलङ्कता का आरोप करके पुनः उसका मुख में आरोप किया है । और अधर उपमेय में अविद्यमान सुधा धारा रूप धर्म का आरोप करके तथा परिपक्व के योग्य उपमान बिम्बाफल में अविद्यमान भी परिपक्वता रूप धर्म का आरोप करके पुनः अधर में उसका आरोप किया है । तथा रात्रि में ही अधिक शोभित होने वाले उपमान नीलकमल में अविद्यमान भी दिन रात की अधिक शोभा रूप धर्म का आरोप करके नेत्रों में उसका आरोप किया है । इसीप्रकार से ही समुद्र उपमान में लावण्य सम्बन्ध का आरोप करके पुनः शरीर में उसका आरोप किया है । अतः यहाँ **अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपक** है ।

(२) यह **अधिकारूढवैशिष्टयरूपक** ध्वन्यमान भी होता है ।

(३) काव्यप्रकाशकार ने तो "**इत्यादिरशनारूपकं न वैचित्र्यवत् इति न लक्षितम्**" ऐसा कहकर इसको स्वीकार नहीं किया है ।

अथपरिणामालङ्कारनिरूपणम्—

अवतरणिका—**रूपकालङ्कार** के निरूपण के उपरान्त उसके सजातीय होने से **परिणामालङ्कार** का निरूपण करते हैं—

अर्थ—(**परिणामालङ्कार** का लक्षण) **विषयात्मतयेति**—आरोप्यमाण वस्तु मे (उपमान में) आरोप विषय के अभिन्न होने के कारण (अर्थात् विषय (उपमेय) के तादात्म्य से) प्रस्तुत कार्य के उपयोगी होने पर **परिणामालङ्कार** होता है । (और वह **परिणाम**) (१) तुल्याधिकरणक (**तुल्यं—समानं अधिकरणं यस्य स तथोक्तः—समानविभक्तिकः**) और

(२) अतुल्याधिकरणक (**अतुल्यं—असमानं अधिकरणं यस्य स तथोक्तः—व्यधिकरणः**)—इसप्रकार दो प्रकार का होता है ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः।

यथा—'स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृ (त) तो द्यूते पणस्तया॥'

टिप्पणी—(१) **तुल्याधिकरणत्व** का लक्षण—उपमान और उपमेय की समान विभक्ति का होना "तुल्याधिकरणता" कहलाती है।

(२) **अतुल्याधिकरणत्व** का लक्षण—उपमान और उपमेय की असमान विभक्ति का होना "अतुल्याधिकरणता" कहलाती है।

(३) **रूपक** और **परिणाम** में भेद—"**रूपके सदृशवस्तुनः तादात्म्यं विषये भासते, इह तु सजातीयफलसाधनतया विषयस्य तादात्म्यमारोप्यमाणे भासते इति विशेषः॥**

(४) **परिणामालङ्कार** का लक्षण—**प्रस्तुत प्रयोजनसाधनोपयोगितया उपमानाभेदारोपः परिणामः॥**

अर्थ—(**परिणामालङ्कार** के नाम की सार्थकता दिखाते हैं) **आरोप्यमाणस्येति**—**उपमान** के (आरोप्यमाणस्य) उपमेय रूप से (आरोपविषयातया) परिणत होने से (परिणतबुद्धि के विषय करने से) **परिणाम** कहलाता है।

अवतरणिका—सुगमता के लिये एक ही उदाहरण मे "परिणाम" के दोनों भेदों को दिखाते हैं।

अर्थ—(**परिणामालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—**स्मितेनेति**—उस (मेरी प्रियतमा) ने दूर से आये हुये मुझको मृदुलहास्य रूपी उपहार दिया (तथा) द्यूत क्रीडा में स्तनों का मर्दन पूर्वक आलिङ्गन रूप पण स्थापित किया।

टिप्पणी—(१) दूर देश से आये हुये प्रिय व्यक्ति को बन्धुबान्धवों द्वारा उपहार दिया जाता है और द्यूतक्रीड़ा के अन्दर कोई भी वस्तु पण रूप से रखी जाती है। कहने का **आशय** यह है कि मेरे दूर से आने पर मेरी प्रियतमा ने मृदुहास रूपी उपहार मुझे दिया तथा "द्यूतक्रीड़ा में मुझसे हारने पर स्तनोपमर्दन पूर्वक आलिङ्गन नहीं देता है ऐसा कहकर द्यूतक्रीड़ा में स्तनोपमर्दन रूप आलिङ्गन रूप ही पण रख दिया।

(२) यहाँ उपमेयभूत स्मित में उपमानभूत उपायन के तादात्म्य रूप से आरोप के प्रस्तुत नायक की याचना में उपकारक होने से और उपमेयभूत स्तनोपपीडपूर्वक आलिङ्गन में उपमानभूत पण के तादात्म्य भाव से आरोप के और प्रस्तुत अक्ष क्रीडा के उपकारक होने से "**परिणामालङ्कार**" का लक्षण घटित होता है।

(३) प्रकृत उदाहरण में "**कृतः**" के स्थान पर "**ततः**" पाठ ज्यादा अच्छा है, अन्यथा उसमें "**कथितपदत्वदोष**" आता है।

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते। अत तु नायकसंभावनद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया। प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन।

रूपके 'मुखचन्द्रं' पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः। इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्यं प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः। अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः, अत्र तु तादात्म्येन।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं)

अन्यत्रेति—अन्यत्र उपहार देना और पण रखना वस्त्र और अलंकारादि के रूप में उपयुक्त होते हैं। [अर्थात् आदर और द्यूत के साधन और उपयोगी कारण होते हैं।] यहाँ ("**स्मितेनोपायनं दूरात्**" इत्यादि में) तो नायक की सम्भावना (आदर) द्यूत में स्मित और आलिङ्गन के तादात्म्य से (प्रयुक्त हुये) हैं अर्थात् उपयोगी रूप से प्रतीत होते हैं। [इसीलिये **परिणामालङ्कार** का लक्षण घटित हो जाता है।] **प्रथमार्धेइति**—(पद्य के) पूर्वार्ध में (अर्थात् "**स्मितेन**" और **उपायनम्** इन) उपमेय और उपमान में परस्पर भिन्न विभक्तियों के रूप से प्रयोग है, (अतः **अतुल्याधिकरण परिणामालंकार** का उदाहरण है और) उत्तरार्ध में ("आश्लेषः" और "**पणः**" इन उपमेय और उपमान में परस्पर समान विभक्तियाँ होने से) समानाधिकरण्य से प्रयोग है, (अतः **तुल्याधिकरण परिणामालंकार** का उदाहरण है।) [**रूपकालंकार से परिणामालंकार** का परस्पर भेद दिखाते हैं।] **रूपक इति**—रूपक के "**मुखचन्द्रं पश्यामि**" इत्यादि (उदाहरण) में आरोप्यमाण (मुख के साथ तादात्म्य का आरोप होने पर उपमान भूत) चन्द्रादि की केवल उपमेय की उत्कृष्टता की द्योतकता है (**उपरजकतामात्रम्**) "**मुखचन्द्र पश्यामि**" इत्यादि में तादात्म्य के आरोप से मुखादि में केवल सौन्दर्य की व्यञ्जकता है] परन्तु प्रकृत दर्शनादि में (चन्द्रादि का) उपयोग नहीं है। (क्योंकि मुखादि में चन्द्रादि तादात्म्य के आरोप के बिना भी मुख का दर्शन हो सकता है) **इहेति**—यहाँ ("**स्मितेनोपायनं** इत्यादि **परिणामालंकार** के स्थल में) तो उपायनादि का विषय के साथ) (अर्थात् स्मित और आश्लेष रूप उपमेय के साथ) अभेद है और प्रकृत (उपमेयभूत) नायक के सम्भावनादि (कार्य) में उपयोग होता है। अतएव **रूपकालंकार** में आरोप्य का (उपमान चन्द्रादि पदार्थ का) केवल अवच्छेदक रूप से (दूसरे को पृथक् करने के रूप से) अन्वय (उपमेयभूत मुखादि में तादात्म्य का सम्बन्ध) होता है और यहाँ **परिणामालंकार** में तादात्म्य का सम्बन्ध से (प्रस्तुत विषय में साधन के उपयोगी होने के कारण अभिन्न रूप से) अन्वय होता है। **कहने का आशय यह है** कि "**मुखचन्द्रं पश्यामि**" इत्यादि रूपकालंकार में आरोप के विषयभूत उपमेय मुखादि में साधर्म्य के कारण तादात्म्य रूप से आरोपित किया जाता हुआ भी चन्द्रादि उपमान पदार्थ वस्तुतः अभिन्न रूप से प्रतीत नहीं होता है किन्तु मनोज्ञादि विशेषण की तरह ही प्रतीत होता है, "परन्तु **स्मितेनोपायनम्**" इत्यादि परिणामालंकार में स्मित और उपायनादि दोनों ही पदार्थों में तादात्मय रूप से आरोपित होने के कारण और नायक की सम्भावना रूप एक कार्य के होने के कारण वास्तव में अभिन्न रूप से ही प्रतीत होता है। इति]

'दासे कृतागसि–' इत्यादौ रूपकमेव, न तु परिणामः। आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात् । न खलु तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसन्धीयते ।

अयमपि रूपकवदधिकारूढवैशिष्ट्यो दृश्यते ।

यथा—

'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः ।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥'

अत्र प्रदीपानामोषध्यात्मयता प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽतैलपूरत्वेनाधिकारूढवैशिष्ट्यम् ।

प्रश्न—"**दासेकृतागसि**" इत्यादि में चरणों को बींधने रूप कार्य के साधन होने से प्रसिद्ध कण्टक का पुलकाङ्कुर रूप से आरोप है, अतः **परिणामालङ्कार** होना चाहिये ? इसका **समाधान** करते हैं **दासे इति** "**दासेकृतागसि**" इत्यादि में रूपकालंकार ही है परिणामालंकार नहीं क्योंकि उपमानभूत (आरोप्यमाण) कण्टक का पादभेदन रूप कार्य प्रस्तुत नहीं है (यहाँ तो मानिनी के मान को भंग करने के लिये नायक का अनुनय-विनय करना ही प्रस्तुत है ।) और न हीं उसकी (कण्टकों के पादभेदन रूप कार्य की) किसी प्रस्तुत कार्य की योजना के लिये प्रतीति होती है।

टिप्पणी--(१) **भाव यह है कि** यहाँ प्रस्तुत कार्य नायक की अनुनय-विनय है । और उसके घटक पैरों पर गिरना तथा उस प्रकार के वचन हैं । परन्तु चरणों को कण्टकों के द्वारा क्षत करना तो मानभङ्ग करने के विपरीत और दुःख को उत्पन्न करने के कारण बाधक है, अतः चरणों को क्षत करना चल रहे प्रसङ्ग के अन्दर भी अप्रस्तुत है ।

अवतरणिका—**परिणामालङ्कार** के भेदों का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ--(१) यह (**परिणामालङ्कार**) भी रूपक की तरह (**अधिकारूढवैशिष्ट्य** दिखायी देता है । (**अधिकारूढवैशिष्ट्यपरिणामालङ्कार** का उदाहरण) **यथा—वनचरेणामिति—[प्रसंग**—कुमारसम्भव के प्रथम सर्ग में यह हिमालय का वर्णन है ।] जिस (हिमालय) पर रात्रि के समय गुफा रूपी घरों के अन्दर फैल रही हैं किरणें जिनकी ऐसी औषधियाँ सपत्नीक वनवासियों के लिये तैलरहित शृङ्गार कालिक दीप हो जाती है । (ऐसा वह हिमालय है) ।

अर्थ—(**अधिकारूढवैशिष्ट्य** दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ प्रकृत सुरत के उपयोगी अन्धकार के नाश में दीपकों के औषधी रूप होने से उपयोग है । [अतः यहाँ पर **परिणामालङ्कार** है ।] (और) "**अतैलपूर**" होने के कारण अधिकारूढ़ वैशिष्ट्य है ।

टिप्पणी—(१) "**अतैलपूर**" शब्द से दीपकों की अपेक्षा औषधियों में यह विशेषता प्रतीत होती है कि दीपकों में तेल डालना पड़ता है, और ये बिना ही तेल के दीपक हैं तथा अन्धकार को विनष्ट करने वाले हैं ।

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥३५॥
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ।
अथ सन्देहालङ्कार निरूपणम् :—

अवतरणिका—उपमान और उपमेय के प्रकरण से सम्प्रति उपमान के संशय से युक्त **सन्देहालङ्कार** का प्रतिपादन करते हैं :—

अर्थ (सन्देहालङ्कार का लक्षण) **सन्देह इति–प्रकृत**–(उपमेय) में कविप्रौढोक्ति-सिद्ध (वस्तु स्वभाव सिद्ध नहीं) अन्य (उपमान) का संशय मन्देहालङ्कार (होता) है। वह (सन्देह)(१) शुद्ध (**आदावन्ते मध्ये च संशय एव प्रतिभया उत्थाप्य मानो यत्र स्यात् स शुद्ध सन्देहः ।**) (२) निश्चय गर्भ (**यत्रादौ अन्ते च संशयो निश्चयो गर्भे मध्ये यस्य सः तादृशोद्वितीयो निश्चयगर्भः सन्देहः**) और (३) निश्चयान्त (**यत्रादौ मध्ये य संशयो निश्चयोऽन्तेऽवसाने यस्य सता दृशस्तृतीयो निश्चयान्त सन्देहः**)—इस प्रकार तीन प्रकार का होता है।

टिप्पणी (१) इस अलंकार के अन्दर संशय दोनों पक्षों में समान रूप से होना चाहिये, जिससे संशय के विशेप रूप सम्भावना वाले उत्प्रेक्षालङ्कार में सन्देहालङ्कार की प्रसक्ति न हो जावे। क्योंकि सम्भावना किसी एक पक्ष में अधिक हुआ करती है, अतः वह दोनों पक्षों में नहीं हो सकती है। "उपमेय में उपमान का संशय" ऐसा करने से सादृश्य मूलकता अपेक्षित है, इसीलिये—

"इतो गता सा क्व गता न जाने गेहं गता मेहृदयं गता वा ॥" यहाँ पर सन्देहालङ्कार नहीं है, क्योंकि संशय सादृश्यमूलक नहीं है।

(२) **"सन्देह"** यह नाम **"उपमानोपमेय संशयः सन्देहः"** इस **वामनाचार्य** के सूत्र से सिद्ध होता है।

(३) कुछ आचार्य **काव्य प्रकाश** की कारिका की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि—

"भेदोक्तौ तु ससन्देहो भेदानुक्तौ तु संशयः"

अर्थात् "भेद का कथन करने पर "ससन्देहः" और भेद का कथन न करने पर "संशय" इस प्रकार दो अलंकार मानते हैं। परन्तु ऐसी व्याख्या करना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी व्याख्या करने पर विशेष्य दुर्लभ हो जावेगा। उपमान और उपमेय के भेद का कथन करने पर "ससन्देह और उसका कथन न करने पर "संशय" यदि ऐसा अर्थ किया जावेगा तो प्रथम का (ससन्देह का) व्यतिरेक में और दूसरे की (संशय की) रूपकादि में अतिव्याप्ति होगी और "संशयालंकार का पृथक रूप से भी ग्रहण किया है।

अतएव **"भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः स तु सन्देहः"** ऐसा काव्य-प्रकाश का अभिप्राय लेकर ग्रन्थकार ने उक्त लक्षण किया है।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः ।

यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः ।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

अर्थ—(१) (**शुद्ध सन्देह** का लक्षण) **यत्रेति**—जहाँ संशय में ही (आदि, मध्य, और अन्त में संशय के होने पर ही वाक्य की) समाप्ति हो, वह **शुद्ध सन्देह** (होता) है । **यथा—किमिति** - [प्रसङ्ग—नायिका को देखकर कामी व्यक्ति की वितर्क परिपाटी है ।] यह (सामने दिखायी देने वाली कोई नायिका) यौवन रूपी वृक्ष की रस की अधिकता के कारण निकली हुई क्या नवीन मञ्जरी है ? किनारे तक उछलते हुये सौन्दर्य रूपी समुद्र की क्या तरङ्ग है ? (अथवा) अत्युत्कट (कान्ता विषवक) उत्कण्ठा वालों को अर्थात् कान्ता के साथ सम्भोग करने के लिये अत्यन्त उतकण्ठित व्यक्तियों को) अपने सिद्धान्त की अथवा अपने आचार की शिक्षा देने में इच्छुक कामदेव की साक्षात् क्या उपदेश यष्टि है ? [जिसप्रकार विद्यालय में किसी भी विद्या का ज्ञान देने वाले अध्यापक चञ्चल चित्त वाले बालकों को मारने के लिये यष्टि को दिखाकर शिष्यों को पढ़ने में प्रवृत्त कराते हैं; उसीप्रकार कामदेव भी इस नायिका को दिखाकर अपनी शिक्षा में कामुक व्यक्तियों को प्रवृत्त करता है ।]

टिप्पणी (१) यह **बन्धु कवि** का पद्य है ।

(२) यहाँ प्रकृत उदाहरण में उपमेयभूत कामिनी में उपमानभूत वल्लरी आदि का संशय होने से और अन्ततोगत्वा भी निश्चय न होने के कारण वाक्य में ही संशय की समाप्ति हो जाने से **शुद्ध सन्देहालंकार** है ।

(३) **अन्य उदाहरण**—

**"अस्याः सर्ग विधौ प्रजापति रभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ?
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनः ? मासो नु पुष्पाकरः !
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो
निर्मातुं प्रभवते मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ?" इति**

यत्रादावन्ते च संशय एव मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः ।

यथा—

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम् ।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥'

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयः, राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात् ।

अर्थ—(२) **निश्चयगर्भ सन्देहालङ्कार** का लक्षण) **यत्रेति**—जहाँ आदि और अन्त में संशय ही हो, और मध्य में निश्चय हो, वह **निश्चयगर्भ सन्देहालङ्कार** (कहलाता) है । **यथा—अयमिति—[प्रसङ्ग**—राजा की प्रसंशा करते हुये किसी की उक्ति है ।] यह (सामने दिखाई देने वाला पदार्थ) क्या (पृथिवी पर विद्यमान) सूर्य है ? (यह संशय है) । वह (प्रसिद्ध सूर्य) सात घोड़ों से गति करता है [सूर्य के सात घोड़ों के वाहन होने से, यह सूर्य नहीं है, यह निश्चय है ।] । क्या अग्नि है ? (यह संशय है) । यह (अग्नि) सभी दिशाओं में निश्चित रूप से नहीं फैलता । [वह केवल वायु के अनुसार फैलता है, अथवा ऊर्ध्वगमनशील होता है, यह तो सभी दिशाओं में फैल रहा है, अतः अग्नि नहीं है, यह निश्चय है ।] साक्षात् क्या यमराज है ? (यह संशय है) । किन्तु वह (यमराज) तो भैंसे की सवारी वाला है । [यह तो कभी भी भैंसे पर सवारी नहीं करता है, किन्तु घोड़े पर चढ़ता है, अतः यमराज भी नहीं है, यह निश्चय है ।] (हे राजन्) तुमको युद्ध में देखकर प्रत्येक योद्धा इस प्रकार वितर्कों को करता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ उपमेयभूत राजा में उपमानभूत सूर्यादिकों के संशय के आदि और अन्त में स्थिर होने से और मध्य में निश्चित होने से **निश्चय गर्भ सन्देहालङ्कार** है ।

अर्थ—(निश्चयगर्भ के लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मध्य में सूर्यादिकों के अभाव का (एक दूसरे के अभाव के अनुमान से) निश्चय होता है (राजा का निश्चय नहीं) राजा का निश्चय हो जाने पर द्वितीय संशय का उत्थान ही नहीं हो सकता है ।

टिप्पणी—(१) **भाव यह है कि**—"त्वाम्" इस युष्मद् शब्द से उपस्थाप्य राजा का अनुमान से निश्चय हो जाने पर "**कृशानुः" किम्** ? इस दूसरे संशय की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है । क्योंकि पुनः संशय को उत्पन्न करने के लिये सामग्री ही नहीं रहती है ।

यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः ।
यथा—

'किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहो स्विन्मुखमवभासते तरुण्याः ।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥
अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलङ्कारः ।

अर्थ—(३) (**निश्चयान्त सन्देह** का लक्षण) **यत्रेति**—जहाँ आदि में संशय हो और अन्त में निश्चय हो, वह **निश्चयान्तसन्देह** (होता) है **यथा—किमिति—** [**प्रसङ्ग**—**शिशुपालवध** के अष्टमसर्ग में यह पद्य है ।] पास में (विद्यमान) सरोवर में यह (दिखायी देने वाला) क्या कमल है ? अथवा क्या (किसी) (नवयौवना) तरुणी का मुख शोभित हो रहा है ? इसप्रकार क्षण भर सन्देह करके किसीने बगुलों के साथ रहने वाले कमलों में [स्त्रियों के बिब्बोक नामक भावों की सर्वथा अनभिज्ञता बताने के लिये कमलों का "बकसहवासित्वेन" उपन्यास किया है ।] इन्द्रियों से अगोचर बिब्बोक नामक विलास विशेषों से (मुख है, ऐसा) निश्चय कर लिया [क्योंकि ऐसा विलास कमलों में कहाँ होता है, अतः यह किसी तरुणी का मुख है—ऐसा निश्चय कर लिया ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ उपमेय तरुणी के मुख में पहले उपमान कमल का संशय होने से और अन्त में उसके मुख रूप का निश्चय होने से **निश्चयान्त सन्देहालङ्कार** है ।

(२) यह निश्चयान्त सन्देहालङ्कार लक्ष्य और व्यंग्य में भी हो सकता है ।

(३) यह संशय कहीं **अनाहार्य** होता है, और कहीं **आहार्य** होता है । जहाँ कवि के द्वारा परनिष्ठ संशय निबद्ध किया जाता है, वहाँ प्रायः **अनाहार्य** होता है । और जहाँ स्वागत ही होता है, वहाँ **आहार्य** होता है । (१) उनमें से पहले अर्थात् **अनाहार्य** का उदाहरण—यथा—"**किं तारुण्य तरोरियम्**" इत्यादि में संशय करने वालों को निश्चय नहीं होता है । "**अयं मार्तण्डः**" इत्यादि में पुनः अन्त में वक्ता को तत्वज्ञान हो जाता है । "**किमिन्दुः**" इत्यादि में भी **अनाहार्य** ही है ।

अर्थ—(लक्षण में "**प्रतिभोत्थितः**" इसकी व्यावृत्ति दिखाते हैं ।) **अप्रतिभेति**—कवि प्रौढोक्ति से रहित (केवल वस्तु मात्र से) उत्थापित होने पर तो "स्थाणु है अथवा पुरुष है" इत्यादि संशय में यह अलंकार (सन्देहालंकार) नहीं (होता) है ।

टिप्पणी—**प्रश्न**—जिस प्रकार "**स्थाणुर्वा पुरुषो वा**" यहाँ संशय प्रतिभा से उत्थित नहीं है । उसीप्रकार दोनों ही उपमान और उपमेय का अभाव भी है, अतः दोनों अङ्गों से विकल होने से यह उदाहरण ठीक नहीं है ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि स्थाणु और पुरुष के तुल्य स्वरूप होने से यहाँ पर उपमानोपमेय भाव विद्यमान है, क्योंकि इनके आधार से ही संशय की उत्पत्ति हुई है, अन्यथा संशय ही उत्पन्न न होता ।

'मध्यं तव सरोजाक्षि पयोधरभरार्दितम् ।
अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते ॥'

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलङ्कारविषत्वात् ।

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥३६॥

अर्थ—(लक्षण में विद्यमान "**प्रकृतेऽन्यस्य**" का प्रयोजन दिखाते हैं।) **मध्यमिति**—(हे) कमलनयनी ? स्तनों के भार से पीड़ित तुम्हारी कमर, है अथवा नहीं है, यह सन्देह किस (व्यक्ति) के मन में नहीं स्फुरित होता है ? अपितु सभी के हृदय में अत्यन्त कृश होने से उठता है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में मन में उसप्रकार के संशय के उठने का सम्बन्ध न होने पर भी उसका सम्बन्ध बतलाने से असम्बन्ध में सम्बन्ध रूपा) अतिशयोक्ति ही है (सन्देहालंकार नहीं) क्योंकि उपमेय में उपमान का संशय ही इस अलंकार का (सन्देहालङ्कार का) विषय है । [इसप्रकार लक्षण कारिका में "**प्रकृत**" पद से उपमेय का और "**अन्य**" पद से उपमान का ग्रहण होता है ।]

अथ भ्रान्तिमान् अलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**भ्रान्तिमान अलङ्कार** का लक्षण) **साम्यादिति**—सादृश्य के कारण अतथाभूत वस्तु में केवल कविप्रौढोक्ति सिद्ध (प्रतिभोत्थितः) उस वस्तु का ज्ञान **भ्रान्तिमान् अलङ्कार** (**भ्रान्तिरस्यास्तीति = भ्रान्तिमान्**) होता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ भ्रांतिमान् अलंकार होता है, और "भ्रान्तिमान् अलंकार" यह व्यपदेश औपचारिक है ।

कहा भी है कि— "**प्रमात्रान्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते ।
स भ्रान्तिमान् इति ख्यातोऽलङ्कारे त्वौपचारिकः**"

अतः **प्रतिभोत्थितत्वे सति सादृश्य मूलकः अतस्मिन् तद्बुद्धिः भ्रान्तिमान्**" यह लक्षण हुआ ।

(२) इस अलंकार की रूपक और अतिशयोक्ति अलंकार में अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि **आरोप-अध्यवसाय** और **भ्रम** के द्वारा परस्पर भिन्नता हो जाती है । तथाहि—

(१) **एकस्मिन्नन्यस्य आरोप स्थले** रूपकम्

(२) एकस्मिन्नन्यस्य अध्यवसायस्थले अतिशयोक्ति और **एकस्मिन्नन्यस्य भ्रमस्थाने भ्रान्तिमान् इति** ।

(३) संशय में भी अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि उनमें दोनों पक्षों में अनिश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न होती है ।

(४) भ्रान्तिमान् नाम की सार्थकता—"**सादृश्यात् अन्यस्मिन् अन्यबुद्धि-र्भ्रान्तिः, सा च प्रशस्ता अस्मिन्नस्तीति भ्रान्तिमान् इत्यन्वर्थेयं संज्ञा**" और भ्रान्ति की प्रशस्तता चमत्कार के कारण के होने पर ही होती है, अतएव लक्षण के अन्दर "**प्रतिभोत्थिता**" यह कहा है अन्यथा इस अलंकार की अलंकारता ही सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि फिर तो "**पशुरयम् स्थाणुरयम्**" **भूतेन तेन परिपीडित एष आत्मा**" इत्यादि में भी अलंकार की प्रसक्ति हो जाती है ।

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो बल्लवाः
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका ॥'

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः । यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति । न चासादृश्यमूला ।

यथा—

'संगविरहविकल्पे वरमिह न संगमस्तस्याः ।
सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे ॥'

अर्थ—(भ्रान्तिमान अलंकार का उदाहरण) **यथा—मुग्धेति**—[**प्रसंग**—चन्द्रोदय का वर्णन है ।] विमुग्ध ग्वाले दूध वहने की बुद्धि से (चन्द्रिका के फैलने से यह दूध है—इस भ्रान्ति से) गौओं के नीचे अर्थात् स्तनों के नीचे घड़ों को रख रहे हैं । (विमुग्ध नारियाँ भी श्वेत कमल की बुद्धि से (चन्द्रिका के फैलने से यह कुमुद है—इस भ्रान्ति से) कान में नीलकमल धारण कर रहीं है । (तथा विमुग्ध) भीलिनी (शबरी) मुक्ताफल को पाने की इच्छा से (चन्द्रिका के फैलने से ही) बेर को इकट्ठा कर रही है । (अतएव) सघन (चारों तरफ अच्छी प्रकार फैली हुई) चन्द्रमा की ज्योत्स्ना किस मनुष्य के चित्त में भ्रम को पैदा नहीं कर रही है ? अपितु सभी के चित्त में भ्रम पैदा कर रही है ।

टिप्पणी—यहाँ चन्द्रिका में दूध की, कुवलय में कुमुद की और बेर में मुक्ता फल की बुद्धि के कारण "**भ्रान्तिमान अलंकार**" है ।

अर्थ—(**भ्रान्तिमान्** के उदाहरण के अनन्तर "**प्रतिभोत्थितः**" इसकी सार्थकता दिखाते हैं ।) **अस्वरसेति**—कवि की अनिच्छा से अर्थात् वस्तु स्वभाव से उत्पन्न (**अस्वरसोत्थापिता**) भ्रान्ति यह (भ्रान्तिमान्) अलंकार नहीं होता है । **यथा**—"**शुक्तिका में चाँदी**" इति । [अर्थात् शुक्तिका के अन्दर उत्पन्न भी चाँदी की भ्रान्ति "**भ्रान्तिमान्**" अलंकार नहीं होता है ।

प्रश्न—जिसप्रकार यहाँ कवि की प्रतिभा से उत्थित नहीं है, उसीप्रकार इसके अन्दर उपमानोपमेय भाव भी नहीं है, अतः दोनों अंगों से विफल होने के कारण यह प्रत्युदाहरण ठीक नहीं है ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि शुक्ति और रजत के अन्दर विशेष चाकचक्य ही सादृश्य का कारण है, और दोनों में उपमानोपमेय भाव है ।] **न चेति**—(लक्षण में विद्यमान "**साम्यात्**" का प्रयोजन बताते हैं ।) असादृश्यमूलक (भ्रान्ति भी **भ्रान्तिमान् अलंकार**) नहीं होता है । **यथा—सङ्गमेति**—[**प्रसंग**—किसी विरही की अपने मित्र से सखेद यह उक्ति है ।] उस (कामिनी) के समागम और वियोग में से किसी एक की श्रेष्ठता निर्धारण करने पर इस संसार में वियोग (ही) श्रेष्ठ है, समागम नहीं (क्योंकि) समागम में वह (मनोरमा) अकेली ही प्राप्त होगी और वियोग में सारा संसार भी प्रियतमामय (तन्ममयम) हो जाता है । (अतः विरह ही श्रेष्ठ है ।)

टिप्पणी—(१) यहाँ विरहावस्था में अतिशयभावना के कारण तीनों लोकों में विद्यमान सभी वस्तुओं में केवल कवि प्रौढोक्तिसिद्ध प्रियतमा का भ्रम होने पर भी सादृश्यमूलक नहीं है, अतः "**भ्रान्तिमान् अलंकार**" नहीं है ।

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतृणां विषयाणां तथा क्वचित् ।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः सः उल्लेख उच्यते ॥३७॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रिय इति गोपवधूभिः शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥"

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः ।

यदाहुः—

'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥'

अथोल्लेखालङ्कारनिरूपणम् —

अर्थ—(**उल्लेखालंकार** का लक्षण) **क्वचिदिति**—कहीं ज्ञाताओं के (गृहीतृणाम्) भिन्न होने से, कहीं विषयों के (व्यवच्छेद धर्मों के अर्थात् हेतु और अवच्छेक आदि के) भिन्न होने से (तथा) एक (वस्तु) का विविध प्रकार से जो निर्धारण करता है (उल्लेखः) वह **उल्लेखालंकार** कहलाता है।

अर्थ—(१) क्रम से (**"ज्ञाताओं के भेद का"**) उदाहरण—**प्रिय इति**—श्रीकृष्ण जी को (देखकर) गोपिकाओं ने (अपना) प्रियतम, वृद्ध नन्दादिकों ने बालक, इन्द्रादि देवताओं ने अधिपति, ध्रुव, प्रह्लादिकों ने अथवा अक्रूरादि भक्तों ने नारायण, सनकादि योगियों ने ब्रह्म—इसप्रकार समझा।

टिप्पणी—यहाँ गोपियों इत्यादि ज्ञाताओं के भिन्न होने से एक ही श्रीकृष्ण जी का प्रियत्वादि रूप से अनेक प्रकार निर्धारण होने से **"उल्लेखालंकार"** का लक्षण घटित होता है।

अवतरणिका—प्रश्न—एक ही व्यक्ति के अनेक रूप से निर्धारण करने में क्या प्रयोजक है? अथवा सभी ज्ञाताओं का क्या प्रयोजक है? क्या एक प्रकार से उल्लेख नहीं हो सकता है? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—यहाँ (उक्त उदाहरण में) एक ही भगवान् श्रीकृष्णजी के अन्दर उन (प्रियत्व और शिशुत्व आदि) गुणों के सम्बन्ध से अनेक रूप से उल्लेख करने में गोपिका प्रभृति की (यहाँ "प्रभृति" पद से वृद्धादि" का ग्रहण होता है) रुचि आदि यथा सम्भव कारण है। [भाव यह है कि श्रीकृष्णजी के अन्दर विभिन्न-विभिन्न गुणों के होने पर भी गोपिका आदिकों की रुचि आदि के ("आदि" पद से आर्थित्व और व्युत्पत्ति का ग्रहण होता है) भिन्न होने से विविध प्रकार से ही उल्लेख हो सकता है, एक प्रकार से नहीं क्योंकि रुचि आदि में से कोई एक भी कारण सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता है।] क्योंकि कहते हैं कि—**यथा रुचीति**—एक ही वस्तु के विषय में रुचि के अनुसार (**रुचि-अभिलाषं अनतिक्रम्य=यथा रुचि—यथाभिलाषम्**), प्रयोजन के अनुसार (**आर्थित्वमर्थः प्रयोजनापेक्षयाऽस्तीति तस्य भावस्तत्त्वं, तदनतिक्रम्य यथार्थित्वं=यथाप्रयोजनापेक्षित्वम्**) (और) भावना के अनुसार (**व्युत्पत्तिः—भावनां तामतिक्रम्य=यथा व्युत्पत्तिः**) विविध विशेषणों के ज्ञान से उत्पन्न (अनुसन्धान साधितः) ज्ञान भिन्न-भिन्न हो जाता है। [अर्थात् एक विषय में व्यक्तियों के भिन्न होने से विविध प्रकार के ज्ञान की उत्पत्ति में उन-उन विशेषणों के ज्ञान से सहकृत रुचि आदि कारण होते हैं।]

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न मालारूपकम्, न च भ्रान्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिः।

टिप्पणी—कहने का **आशय** यह है कि—जिसप्रकार एक ही पुरुष के विषय में उसकी पत्नी को रुचि के अनुसार भावना के द्वारा "प्रिय" **यह ज्ञान होता** है, मित्रों को अपने प्रयोजन के अनुसार भावना के द्वारा "सखा" यह ज्ञान होता है; दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति की भावना के अनुसार "दुष्ट" ऐसा ज्ञान होता है, उसीप्रकार एक ही श्रीकृष्णजी के विषय में गोपिकाओं को और नन्दादिकों को रुचि के अनुसार भावना के द्वारा "प्रिय" और "शिशु" यह ज्ञान हुआ, महेन्द्रादि देवताओं को और उद्धवादि भक्तों के प्रयोजन के अनुसार भावना के द्वारा "अधिपति" और "नारायण" यह ज्ञान हुआ, और योगियों को अपनी भावना के अनुसार "ब्रह्म" ऐसा ज्ञान हुआ॥

अवतरणिका—**प्रश्न**—"**मुखं चन्द्रः**" यहाँ मुख में चन्द्रत्व के आरोप की तरह प्रिय इत्यादि छ विकारादिकों से शून्य श्रीकृष्णजी में प्रियत्वादि अनेक आरोपों के कारण **मालारूपक अलंकार अथवा** वस्तुतः गुणक्रिया शून्य तात्विक ब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण जी में गोपिओं को प्रीति उत्पन्न करने की, नन्दादि वृद्धों में शिशुत्व की; देवताओं में अधिपत्व की, भक्तों में नारायणत्व की और योगियों में ब्रह्मत्व की भ्रान्ति से "**भ्रान्तिमान् अलंकार**" क्यों न मान लिया जाये? **उल्लेखालंकार** को मानने की क्या आवश्यकता है? इसका **उत्तर** देते हैं—

अर्थ–यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) भगवान श्रीकृष्णजी में प्रियत्वादिकों के वास्तविक होने के कारण (आरोपित न होने के कारण) और ज्ञाताओं के भिन्न होने के कारण **मालारूपकअलंकार** नहीं है, और नहीं **भ्रान्तिमान् अलंकार** है। (प्रियत्वादिकों के वास्तविक होने से)। [पृथिवी का भार उठाने के लिये जन्मादि छ विकारों के आश्रय श्रीकृष्णजी में गोपिकादिकों की अपेक्षा सभी प्रियत्व आदि धर्मों के सर्वथा यथार्थ रूप से आरोप करने के कारण और सादृश्य से उत्पन्न भ्रान्ति के न होने से तथा ज्ञाताओं के भिन्न होने से न तो यहाँ पर **मालारूपकालंकार** है। और न ही **भ्रान्तिमान् अलंकार** हो सकता है। क्योंकि कोई भी वस्तुतः ही मुख में चन्द्रमा का आरोप अथवा चन्द्रमा का भ्रम नहीं करता है, और न ही "**मुखं चन्द्रः**" इत्यादि में मुख में चन्द्रत्व का आरोप हो जाने पर और "**रङ्गे रजतम्**" इत्यादि में शुक्तिका में रजत्वप्रकारक भ्रम हो जाने पर ज्ञाताओं में भेद हो सकता है। इसीलिये—

> **"पिता प्रजानां शमनोरिपूणां वनीकपानाममरद्रुमश्च।**
> **कविः कवीनां सुहृदां सुधांशुः सतां गुरुर्भूमिपतिः प्रतीतः॥"**
> **यमः खलु महीभृतां हुतवहोऽसि तन्वीवृतां**
> **सतां प्रतियुधिष्ठरो धनपतिर्धनाकाङ्क्षिणाम्**
> **गृहं शरणमिच्छतां कुटिलकोटिभिर्निर्मितम्**
> **त्वमेक इव इह भूतले बहुविधो विधात्रा कृतः॥**

तथाहि—'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्—' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम् । न चेह भगवती गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते । प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात् । केचिदाहुः—'अयमलङ्कारो नियमेना-लङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः । उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमनाभिप्रायात्प्रि-यत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय इत्यतिशयोक्तिरस्ति । तत्सद्भावेऽपि प्रत्येतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्तिविशेष [उल्लेखभिन्नालङ्कारप्रयोजकः ।

इत्यादि में पितृत्वादिकों के और यमत्वादिकों के अवास्तविक होने पर भी ज्ञाताओं के भिन्न होने से ही **मालारूपकालंकार** नहीं है । तथा—

> "**कपोले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनः**
> **तरुच्छिद्रप्रोतान् विसमिति करी संकलयति ।**
> **रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति**
> **प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति ॥**

इत्यादि में उस-उस रूपता के सादृश्यमूलक होने से और किरणों के भिन्न होने से उनमें जाति के अभिप्राय से एकत्व का आरोप करने पर भी शुभ्रता की एकता से भिन्नता की अनुपपत्ति होने से **भ्रान्तिमान्**अलंकार ही है ।] **न चेति**—और नहीं यह (उल्लेखालंकार) "अभेद में भेद" है । इसप्रकार **अतिशयोक्ति** अलंकार है, क्योंकि वहाँ (**अभेद में भेदरूप अतिशयोक्ति** में) "अन्यदेवाङ्गलावण्यम्" इत्यादि में लावण्य आदि विषय (उपमेय) का पृथक् रूप से (सामान्य लावाण्यादि से भिन्न रूप से) अध्यवसाय (किया) है । और यहाँ (उक्त उदाहरण में) भगवान् श्रीकृष्ण में गोपिका आदिकों के द्वारा प्रियत्वादि का अध्यवसान नहीं है क्योंकि उस समय (श्रीकृष्ण जी और गोपिकादिकों की सत्ता के समय) भगवान् में प्रियत्वादि (का ज्ञान) वास्त-विक है ।

अर्थ—प्रश्न—कुछ (आचार्य) कहते हैं कि—"यह (**उल्लेखालंकार**) नियम से (अव्यभिचारी रूप से) अन्य अलंकार की विचित्रता है मूल में जिसके ऐसा होता है, अर्थात् दूसरे अलंकार के कारणभूत चमत्कार को लेकर ही यह अलंकार होता है, अपने आप में नहीं । उक्त उदाहरण ("**प्रिय इति गोपवधूभिः**" इत्यादि) में शिशुत्वा-दिकों में ("आदि" पद से प्रियत्वादिकों का ग्रहण होता है ।) नियय के अभिप्राय से (श्रीकृष्णजी गोपिकाओं के लिये प्रिय ही हैं, नन्दादिकों के लिये शिशु ही हैं, इस नियम के तात्पर्य से) प्रियत्वादि की भिन्नता का अध्यवसाय है" अतः (**अभेद में भेदाध्यवसायमूलक**) **अतिशयोक्ति** है; और उस (अतिशयोक्ति) के होने पर ही ज्ञाताओं की भिन्नता से (अर्थात् एक ही श्रीकृष्ण जी में गोपिका प्रभृति की रूच्यादि भेद से प्रियत्वादि की प्रतीति रूप **अतिशयोक्ति अलंकार** मूलक) विभिन्न ज्ञान रूप वैचित्रय का अतिशय (सहृदसो के लिये नानात्व की प्रतीति ही विच्छित्तिविशेष होता है) **उल्लेख** नामक भिन्न अलंकार का कारण है ।

श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः। इह च रूपकालङ्कारयोगः।

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्–' इत्यादौ भ्रान्तिमत्त्वमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात्।

अवतरणिका— उत्तर— ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सर्वत्र ही उल्लेखालङ्कार के मूल में अतिशयोक्ति अलंकार होगा क्योंकि ऐसे भी स्थल हैं जहाँ उल्लेखालङ्कार के मूल में अतिशयोक्ति के अतिरिक्त अन्य अलंकार भी होते हैं। यथा—

अर्थ—(बाणभट्ट कृत हर्षचरित्र के अन्दर) श्रीकण्ठ नामक जनपद के वर्णन में "शरणागतों ने वज्ररूपी छिपने का स्थान, वायु से उत्पन्न देवयोनि विशेषों ने अथवा वातरोग विशिष्ट मनुष्यों ने आकाश विवर—(समझा)", इत्यादि **अतिशयोक्ति से** भिन्न (किसी भी अध्यवसाय के न होने से) विषय है। और यहाँ ("**वज्रपञ्जरम**" इत्यादि में) **रूपकालङ्कार** का योग है। [क्योंकि जनपद में वज्रपञ्जरता और अम्बरविवरता का आरोप है। इसप्रकार यहाँ पर रूपक जनित चमत्कार विशेष मूलक ही **उल्लेखालङ्कार** है।] वास्तव में तो "**अम्बरविवरम्**" इत्यादि में ("आदि" शब्द से "**वज्रपञ्जरम्**" का ग्रहण होता है।) भ्रान्तिमान् अलङ्कार ही (तत्वज्ञ) मानते हैं, **रूपकालङ्कार** नहीं क्योंकि भेद प्रतीति पूर्वक ही (अभेद प्रतीति पूर्वक नहीं) आरोप की गौणी मूलक रूपकादि के विषय में प्रयोजकता होती है। [अर्थात् सादृश्य लक्षणा सारोपा गौणी लक्षणा ही रूपकादि की प्रयोजिका होती है। ("आदि" पद से लोचनकार "अपह्नुति" का और कुछ "परिणामादि" का ग्रहण करते हैं। **आशय यह है कि—"मुखं चन्द्रः"** इत्यादि में पहले दोनों ही मुख और चन्द्रमा का साक्षात् कथन होने के कारण परस्पर पार्थक्य की प्रतीति होती है, किन्तु "**मुखं चन्द्र एव**" इस आरोप के तादात्म्य से रूपक का ज्ञान होता है, और इसका मूल मुख रूप विषय (उपमेय) के अविगीर्ण स्वरूप होने से सादृश्य के कारण सारोपा नामक गौणी लक्षणा ही है। परन्तु प्रकृत उदाहरण में जनपदरूपविषय (उपमेय) के समीप साक्षात् शब्द से कथन न होने से परस्पर भेद की प्रतीति नहीं होती है, और उसीप्रकार से ही उसके निगीर्ण स्वरूप होने से जनपद रूप की मूलभूत सारोपा नामक गौणी लक्षणा के न होने से **रूपक** भी नहीं है, अपितु "**मुग्धा दुग्धधिया**" इत्यादि की तरह जनपद में अम्बरविवरादि के भ्रम से **भ्रान्तिमान अलंकार** ही है।]

यदाहुः शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः—'अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति। यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः संप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरःसुरः' इति। इह तु वार्तिकानां श्रीकण्ठजनपदवर्णने भ्रान्तिकृत एवाम्बरविवराद्यारोप इति।

अत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः' इत्यादौ परिणामालङ्कारयोगः।

अर्थ— यदिति—क्योंकि शारीरिक मीमांसा भाष्य की व्याख्या के अवसर पर (भामतीकार) **श्रीमद्वाचस्पतिमिश्र** कहते हैं कि— "अपि च अन्य वाचक शब्द [उपमान का वाचक शब्द] अन्य अर्थ में (उपमेय में) प्रतीयमान साधारण धर्म के सम्बन्ध से प्रयुक्त होता है, इति। [यथा—"**मुख चन्द्रं मनोहरं पश्यति**" यहाँ मुख में जो चन्द्रत्व का आरोप है, वह प्रतीयमान मनोहरत्व रूप गुण-धर्म के सम्बन्ध से है।] **यत्रेति**— जहां (आरोप के होने) पर वक्ता (प्रयोक्ता) और बोद्धव्य (प्रतिपत्ता) का सम्यक् ज्ञान (प्रमात्मक सादृश्य ज्ञान) समान होता है, वह गौण शब्द कहलाता है अर्थात् गौणी लक्षणा विषयक शब्दव्यापार होता है। और वह (वक्तृतात्पर्यज्ञान विशेष रूप शब्दव्यापार) भेद ज्ञान पूर्वक (ही) होता है।

[**तथाहि**—गौणीलक्षणा सादृश्य मूलक होती है, और सादृश्य भेद होने पर ही होता है। **यथा**—"**गौर्वाहीकः**" इत्यादि में पहले गो और वाहीक की परस्पर पार्थक्य प्रतीति होती है, किन्तु गो शब्द जाड्य और मान्द्य का ज्ञान कराता हुआ भी मूत्र— पुरीषत्व साधारणधर्म के सम्बन्ध से वाहीक अर्थ में रहता है, और इसमें वक्ता और श्रोता का उसप्रकार का साधारणधर्म का ज्ञान समान रूप से ही होता है।] **इहेति**— (किन्तु) यहाँ ("**अम्बरविवरम्**" इत्यादि में) तो वार्तिकों का श्री कण्ठ जनपद के वर्णन में भ्रान्ति से किया हुआ ही (अर्थात् स्वेच्छापूर्वक सञ्चरण में समान होने के कारण भ्रम से उत्पन्न किया हुआ ही) अम्बरविवरादि का (अभेदरूप से) आरोप (अध्यवसाय) है, इति। [अतः यहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार ही हो सकता है, रूपक नहीं।] **अत्रैवेति**—और यहीं (**हर्षचरित्र** में श्रीकण्ठ नामक जनपद के वर्णन में) "मुनियों ने तपोवन, वेश्याओं ने कामागार, और नृत्यकों ने संगीतशाला" इत्यादि में (**उल्लेखालंकार** के साथ) **परिणामालंकार** का योग है॥ [अर्थात् आरोप्यमाण तपोवन-कामायतन और संगीत-शालाओं के तपस्या-काम-और संगीतरूप प्रकृत प्रयोजन के उपयोगी होने के कारण परिणामालङ्कार है।]

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः ।'

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः । अत्र च रूपकयोगः । 'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि—' इत्यादिषु चास्य रूपकाद्विविक्तो विषय इति । अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः ।

अवतरणिका—विषय भेद से उल्लेखालङ्कार का उदाहरण—

अर्थ—(२) (**विषय भेद से उल्लेखालंकार** का उदाहरण) **गाम्भीर्येणेति**—"गम्भीरता के कारण (तुम) समुद्र हो (और) गौरव के कारण पर्वत हो ।।" इत्यादि में (एक ही राजा के) अनेक प्रकार से उल्लेख होने पर (समुद्रादि विविध प्रकार से ग्रहण करने पर) गाम्भीर्यादि विषयों का भेद (समुद्रत्वादि आरोप के प्रयोजक धर्मों का भेद **उल्लेखालंकार** का) प्रयोजक है । [यहाँ गाम्भीर्यादि विषयों के भेद से एक ही मनुष्य का समुद्रादि अनेक रूप से उल्लेख है ।]

और यहाँ (उल्लेखालंकार के साथ) **रूपकालंकार** का सम्बन्ध है । [अर्थात् राजा में समुद्रत्वादि आरोप के भेद ज्ञान के साथ सारोपा नामक गौणी रूप लक्षणा मूलक रूपक का सम्बन्ध है । और लक्षणा का सारोपा होना और गौणी रूप होना "असि" इससे उपस्थापित राजा के क्रम से अनिगीर्ण स्वरूपत्वेन और गाम्भीर्यादि सादृश्य के सम्बन्धत्वेन समझना चाहिये ।] **गुरुरिति**— ("उपदेशरूपक") "वाणी में गुरु अर्थात् उपदेष्टा **अन्यत्र** बृहस्पति, वक्षःस्थल में विशाल **अन्यत्र** पृथु राजा, यश से शुभ्र **अन्यत्र** अर्जुन अथवा कार्तवीर्यार्जुन" इत्यादिकों में इस (**उल्लेखालंकार**) का **रूपकालंकार** (के विषय) से पृथक् विषय है । ["**त्वं भवान्**" इन दोनों में से किसी एक का भी कथन न होने के कारण विषय के निगरण स्वरूप होने से रूपक की मूलभूत सारोपा नामक लक्षणा ही सम्भव नहीं है, अतः रूपकालङ्कार से असंकीर्ण ही **उल्लेखालंकार** का विषय है ।] **अत्रेति**— यहाँ ("**गुरुर्वचसि** इत्यादि में) श्लेषमूलक अतिशयोक्ति अलङ्कार का सम्बन्ध है । [गुरु— उपदेष्टा ही गुरु— बृहस्पति है— इसप्रकार भेद होने पर भी अभेद का अध्यवसाय होने से "**श्लेषमूलातिशयोक्ति** है । किन्तु यदि "**त्वं भवान्**" इनमें से किसी एक का निर्देश होता तो अनिगीर्ण स्वरुपत्वेन रूपक मूलभूत सारोपा नामक लक्षणा के होने से **रूपक अलंकार** ही होता ।]

टिप्पणी—(१) यहाँ पर "**दुर्गालङ्घित विग्रहः**" इत्यादि की तरह **उपमाध्वनि** नहीं है, क्योंकि "**दुर्गालङ्घित विग्रहः**" में विशेष्यश्लिष्ट "उमावल्लभ पद की तरह यहाँ ("**गुरुर्वचसि**" **इत्यादि** में) विशेष्य पद नहीं है । "**त्वं**" पद के होने पर भी **रूपकालंकार** ही होता **उपमाध्वनि** नहीं, क्योंकि श्लिष्ट नहीं है ।

(२) यह **उल्लेखालंकार** ६ प्रकार का होता है ।

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

अथापह्नुति अलङ्कार निरुपणम् ।

अर्थ—(अपह्नुति अलंकार का लक्षण) **प्रकृतमिति**— प्रस्तुत (उपमेय) का (शब्द से अथवा अर्थ से असत्य रूप से) प्रतिषेध करके अप्रस्तुत (उपमान) का (सत्य-रूप से) स्थापन अर्थात् आरोप करना अपह्नुतिनामकअलंकार होता है ।

टिप्पणी—(१) "प्रतिषिध्य" यहाँ क्त्वा प्रत्यार्थक पूर्वकालिक अविवक्षित हैं, अतः पहले अथवा पश्चात् उपमेय स्वरूप प्रतिषेध सहित उपमेय के स्थान पर उपमानता रूप व्यवस्थापन करना **अपह्नुति** कहलाता है ।

(२) **प्रतिषिध्य** के द्वारा **रूपक** का निराकरण किया है क्योंकि वहाँ प्रकृत का निषेध नहीं होता है ।

(३) "**प्रकृतं प्रतिषिध्य**" एतावन्मात्र कहने पर वक्ष्यमाण आक्षेपालंकार में अतिव्याप्ति न हो जावे अतः "**अन्यस्थापनम्**" कहा है ।

(४) **सन्देह** और **अपह्नुति** में भेद— **सन्देह** में संशय होता है और **अपह्नुति** में निश्चय होता है, यही इन दोनों में भेद है ।

(५) "**प्रकृतम्**" यह अजहत्स्वार्थालक्षणा के द्वारा अन्य का उपलक्षण है, अतः कुछ छिपाकर किसी को बताना— इतना मात्र ही लक्षण है । और यह "**केसेषु वलामोडिऊ**" इत्यादि उदाहरण में चतुर्थ समुल्लास में **काव्यप्रकाशकार** ने स्पष्ट किया है ।

तथाहि—"**स्वयं न पलाय्य गतास्तद्वैरिणाः अपितु ततः पराभवं सम्भाव्य तान् कन्दरानत्यजन्ति**" इति अपह्नुति की व्यञ्जना होती है । यदि उपमानोपमेय भाव के होने पर ही **अपह्नुति** हो, तो यहाँ उपमानोपमेय के न होने से **अपह्नुति** की प्राप्ति ही नहीं है, क्योंकि उसका लक्षण ही घटित नहीं होता है । और इसीप्रकार "**नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसीमुखम्**" इत्यादि में उपमान का निषेध करने पर भी अपह्नुति ही है । साहित्यदर्पणकार स्वयं ही आगे चलकर "**गोपनीयम्**" इत्यादि लक्षण कहेंगे ।

(६) "**स्थापनम्**" इसका "**आहार्य निश्चय विषयी करणम्**" यह अर्थ करने से— "**न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे ।।**"

इत्यादि अनाहार्य में अतिव्याप्ति नहीं होती है । तथा वियोगी मनुष्यों के वाक्य— "**नायं चन्द्रोऽपितु मार्तण्डः**"

इत्यादि में उनके इस ज्ञान के दोष विशेष से जन्य होने के कारण अनाहार्यता है ।

"**नायं चन्द्रोऽरविन्दं वा मुखं वेदं मृगीदृशः**"

यहाँ अपह्नुति नहीं है क्योंकि विषय का निश्चय नहीं है । **अपह्नुति अलंकार** कवि प्रौढोक्तिसिद्ध विच्छित्ति विशेष में ही होता है । अतएव—

"**इयं जडं न मनुजं वेद्मि गामेव केवलम्**" ।

इत्यादि में **अपह्नुति अलंकार** नहीं है ।

(७) इसी **अपह्नुति अलंकार** का दूसरा नाम "**शुद्धापह्नुति**" है ।

इयं द्विधा। क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति। क्रमेणोदाहरणम्—

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः॥'

'एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि
डिण्डीर-पिण्ड-रुचि-शीतमरीचिबिम्बम्।
उज्ज्वालितस्य रजनौ मदनानलस्य
धूमं दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन॥'

इदं पद्यं मम।

अर्थ—यह (**अपह्नुति अलङ्कार**) दो प्रकार का होता है:—(१) कहीं (किसी **अपह्नुति** में) अपह्नवपूर्वक आरोप होता है अर्थात् उपमेय का प्रतिषेध करके उपमान का स्थापन किया जाता है, (और) (२) कहीं (किसी **अपह्नुति** में) आरोप पूर्वक अपह्नव होता है, अर्थात् उपमान का स्थापन करके उपमेय का प्रतिषेध किया जाता है। **क्रमेणेति**—क्रम से [अर्थात् (१) अपह्नव पूर्वक आरोप का] उदाहरण—**नेदमिति**—[**प्रसङ्ग**—आकाश में चन्द्रमा को देखकर किसी की यह उक्ति है।] यह (दिखाई देने वाला) आकाशमण्डल नहीं है, (किन्तु) समुद्र है, [समान रूप से ही विशाल और अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण]। **प्रश्न**—तारों के प्रत्यक्ष दिखायी देने से यह समुद्र कैसे है? अतः कहते हैं कि--**नैताश्चेति**—ये (सामने दिखायी देने वाले) नक्षत्र नहीं हैं, (किन्तु) नवीन समुद्र के फेन खण्ड हैं, [समान रूप से ही कुछ शुभ्र होने के कारण] **प्रश्न**—चन्द्रमा के होने के कारण समुद्र का विश्वास मनुष्यों को कैसे सकता है? अतः कहते हैं कि—**नायमिति**—यह (दिखायी देने वाली वस्तु।) चन्द्रमा नहीं है, (किन्तु) कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग है। [एक आकार के कारण ही श्वेत और गोलाकार होने के कारण] **प्रश्न**—यदि कुण्डली मारकर बैठे हुए शेषनाग हैं तो मध्य में कलङ्क कैसा है? अतः कहते हैं—**नासाविति**—वह [मध्य में दिखाई देने वाली श्याम वर्ण की वस्तु) चन्द्रमा गत कलङ्क नहीं है, (किन्तु) लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु सोये हुये हैं। (समान श्याम रूप होने के कारण]॥

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में नभोमण्डलादि उपमेय का प्रतिषेध करके अम्बुराशि आदि उपमान की स्थापना करने के कारण **अपह्नुति अलंकार** है। यहाँ पर साक्षात् चार नञ् का उपादान करने से प्रकृत का प्रतिषेध शाब्द ही समझना चाहिये।

अर्थ—(**आरोप पूर्वक अपह्नव** का उदाहरण) **एतदिति**—अस्ताचल के शिखर का चुम्बन अर्थात् अवलम्बन करने वाला, फेन समूह की कान्ति के समान कान्ति वाला, यह (दिखाई देने वाला) चन्द्रमण्डल स्पष्ट ही कलङ्क के बहाने से सारी रात्रि उद्दीपित कामाग्नि के धूम को धारण करता हुआ सुशोभित हो रहा है। इदमिति—यह पद्य मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार का है।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः' इत्याद्याकारेण च प्रकृतनिषेधोबोध्यः।

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ॥३८
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में पहले धूम रूप उपमान का आरोप करने के पश्चात् लाञ्छन— रूप उपमेय का अपह्नव करने से **अपह्नुति अलंकार** है। और यह **अपह्नुति** आरोप के केवल होने से केवलरूपा है, तथा "कैतवेन" का कथन करने से और नञ् का कथन न करने से प्रकृत का प्रतिषेध आर्थ समझना चाहिये।

(२) इसी प्रकार आरोप पूर्वक अपह्नव में अर्थतः प्रकृत में निषेध करने पर **मालारूपापह्नुति** का उदाहरण समझना चाहिये।

अर्थ—इसीप्रकार आकाश के समान शरीर वाला समुद्र शोभित हो रहा हैं, और उस (समुद्र) में फेनखण्ड नक्षत्रों के समान है—इत्यादि अन्य प्रकार से प्रकृत का निषेध समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में "वपुः" पद का प्रयोग होने के कारण तथा मयट् प्रत्यय करने से उपमेय व्योम और नक्षत्रों के गोपन में वक्ता का अभिप्राय है तथा उपमान पयोधि और फेनभङ्ग का स्थापन है, अतः **अपह्नुति अलंकार है**। नञ् का उपादान न होने से अर्थतः ही प्रकृत का निषेध है।

(२) यहाँ **रूपकालङ्कार** की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि रूपक में **"विषयनिरपह्नवे"** कहा हुआ है।

(३) सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

"विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः ।
फणीश्वरोऽयं द्विजराजमूर्तिः नवाम्बुदश्रीर्ननु तस्य लक्ष्म ॥"

(४) **कुवलयानन्दकार** ६ प्रकार की **अपह्नुति** मानते हैं। तद्यथा—(१) शुद्धापह्नुति, (२) हेत्वापह्नुति (३) पर्यस्तापह्नुति (४) भ्रान्तापह्नुति (५) छेकापह्नुति और (६) कैतवापह्नुति।

अवतरणिका—उपमेय का निषेध और उपमान का स्थापन न होने पर भी **अपह्नुति अलङ्कार** होता है, अतः प्रकारान्तर से **अपह्नुति अलंकार** का प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—(२) (**अपह्नुतिअलंकार** का प्रकारान्तर से लक्षण) **गोपनीयमिति**—(कोई वक्ता लज्जादि के द्वारा) रहस्यमय किसी भी प्रयोजन को किसी प्रकार से (शब्द से अथवा सादृश्यादि के द्वारा) प्रकट करके यदि श्लेष से अथवा अन्य प्रकार से (अश्लेष से) अन्यथा कर दे (तो) वह भी **अपह्नुति नामक अलङ्कार** (होता) है।

टिप्पणी—(१) इसी अपह्नुति का दूसरा नाम छेकापह्नुति है।

(२) इस प्रकार यह अपह्नुति दो प्रकार की हुई—(१) **श्लेषरूपा**, (२) **अश्लेषरूप** ॥

श्लेषेण यथा—

'काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः ॥'

अत्र 'अपतितया' इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेन इत्यन्यथा कृतम् ।

अश्लेषेण यथा—

'इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा
मिलति का न वनस्पतिना लता ।

अर्थ—श्लेषापह्नुति (का उदाहरण) **यथा—काले इति—[प्रसङ्ग**—वर्षाकाल में सखी के साथ मार्ग में जाती हुई किसी वियोगिनी की यह उक्ति ।] बादलों के समय में अर्थात् वर्षाकाल में पति से शून्य होकर (**न पतिः—मदनज्वालाप्रशमितृतया रक्षकः यस्य स्तस्याः भावस्तत्तातया—अपतितया-पतिशून्यतया हेतुना** । (मुझसे) रहा नहीं जा सकता है । (भाव यह है कि वर्षाकाल के अत्यन्त कामोद्दीपक होने के कारण पति से पृथक् होकर रहना कठिन है ।) अन्यत्र (इस मार्ग में चलने के समय) बिना स्खलित हुये (**अपतितया = न पतिता अपतिता तथा**) (मुझसे) रहा नहीं जा सकता है (मार्ग के पिच्छल होने के कारण) । [इसप्रकार स्पष्ट अर्थ को समझकर उस सखी से पूछती है कि] (हे) चञ्चले ! (पति के विरह से अन्य के साथ समागम के लिये) उत्कण्ठित हो ! [इस प्रकार सखी के प्रश्न के अनन्तर वह पुनः बात को अन्यथा प्रकारेण कहती है ।] **नहि नहीति**—(हे) सखि ! (पति के बिना मैं रह नहीं सकती हूँ, मैंने यह नहीं कहा अपितु) यह मार्ग (जिस पर हम दोनों चल रहे हैं) पानी के कारण फिसलन वाला है । [अतः अवश्य ही स्खलित होने के कारण ही ऐसा कहा है ।] ॥

टिप्पणी—(१) यहाँ "**अपतिततया**" श्लिष्ट पद है ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**अपतितया**" इसके द्वारा "पति के बिना" ऐसी स्पष्ट व्यञ्जना करके पश्चात् "गिरे बिना" ऐसा अन्यथा कर दिया ।

अर्थ—अश्लेषमूलापह्नुति (का उदाहरण) **यथा—इहेति—[प्रसंग**—वर्षाकाल में सहचारिणी सखी के साथ विरहिणी की उक्ति-प्रत्युक्ति है ।] इस (वर्षाकाल) में सामने वायु से आन्दोलित शरीर वाली कौन-सी लता वृक्ष के साथ [यद्यपि फल और पुष्प से रहित वृक्ष के लिये "वनस्पति" शब्द का प्रयोग होता है, तथापि यहाँ वृक्षमात्र के लिये प्रयुक्त हुआ समझना चाहिये ।] नहीं मिलती है, अपितु सभी मिलती हैं । [यहाँ काम के उद्रेक से काम नामक सात्विकभाव से युक्त कौन सी रमणी अपने प्रिय के साथ समागम नहीं करती है—यह व्यञ्जित होता है । ऐसा कहते हुये सुनकर सखी प्रश्न करती है ।]

स्मरसि किं सखि कान्तरतोत्सवं
नहि घनागमरीतिरुदाहृता ॥

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः। गोपनकृता गोपनीयस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तेः।

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥३६॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः। अन्यदित्यारोप्यमाणम्।

स्मरसीति—(हे) सखि ! क्या (लता और वृक्ष के समागम को देखकर) पति के सुरत-कालिक आनन्द व्यापर को स्मरण कर रही हो ? [अपने अभिप्राय को समझा हुआ समझकर सखी पुनः छिपाती है।] **न हीति**—नहीं, (प्रिय के साथ अनुभव किये हुये कामजन्य आनन्द को स्मरण नहीं कर रही हूँ, अपितु), वर्षाकाल के स्वभाव को कहा है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रियतम के साथ अनुभव किये हुये सुखजन्य आनन्द के स्मरण को नायिका ने अश्लेष से छिपा लिया है।

अर्थ—(वक्रोक्ति और अपह्नुति में भेद) **वक्रोक्ताविति**—वक्रोक्ति अलङ्कार में ["**के यूयं स्थल एव**" इत्यादि में] दूसरे की उक्ति को अन्यथा किया जाता है, और यहाँ (अपह्नुति में) अपने कहे हुये को ही (अन्यथा किया जाता है) यही भेद है। [इसीलिये ही **वक्रोक्ति** के लक्षण में "**अन्या**" इन दो पदों का कथन किया है, और यहाँ "**समान कर्तृकयोःपूर्वकाले क्त्वा**" इससे क्त्वा प्रत्यय किया है।] व्याजोक्ति और **अपह्नुति** में भेद—**गोपनकृतेति**—गोपन करने वाला (वक्ता)—गोपनीय (अर्थ) का भी ["पतिविहीनतया" इस अर्थ का और कान्तरतोत्सव के स्मरण का] पहले कथन कर देता है, अतः **व्याजोक्ति** से (यह अलङ्कार) भिन्न है। [व्याजोक्ति में वक्ता गोपनीय अर्थ को पहले नहीं कह देता है।

टिप्पणी—(१) **व्याजोक्ति** का उदाहरण—

"**पृथुना जलकुम्भेन श्रमोऽयं श्वासकृन्यम।**
विश्राम्यामि क्षणं तस्यात् वयस्ये ! तव सन्निधौ ॥'

वहाँ पानी लाने के मार्ग में उपपति के साथ किये हुये सम्भोग से उत्पन्न श्रम को वक्ता ने पहले नहीं कहा है तथापि सखी को मालूम पड़ जाने के भय से छिपा लिया है। किन्तु अपह्नुति में उसका पहले कथन कर दिया जाता है। अतः दोनों में स्पष्ट भेद है।

अथ निश्चयालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**निश्चयालङ्कार** का लक्षण) **अन्यदिति**—(वर्णनीय से भिन्न प्रक्रान्त वस्तु) उपमान का निषेध करके (भिन्न रूप से कथन करके) प्रस्तुत (उपमेय) का स्थापन करना पुनः **निश्चयालङ्कार** (होता) है। **निश्चयेति**—**निश्चयनामक** यह नवीन **अलङ्कार** है। ("अन्यत्" पद की व्याख्या करते हैं।) **अन्यत्**=आरोप्यमाण अर्थात् अतिशय सादृश्य से आरोपित किया जाता हुआ उपमान।

टिप्पणी—(१) कारिका के अन्दर "**पुनः**" पद का प्रयोग **अपह्नुति अलङ्कार** से भिन्न क्रम की व्यञ्जना के लिये समझना चाहिये।

(२) "**निश्चय**" नाम की सार्थकता—प्रकृत उपमेय का निश्चय हो जाने से इस अलंकार का नाम "**निश्चय**" है। यहाँ पर भी "निषिध्य" मेंक्त्वा प्रत्ययार्थक पूर्वकालिकता अविवक्षित है। अतः पूर्व की तरह यह भी दो प्रकार का ही होता है—

(१) **प्रकृतस्थापनपूर्वक अन्य निषेध** और (२) **अन्य निषेधपूर्वक प्रकृत स्थापन ॥**

यथा मम—

'वदनमिदं न सरोजं नयने नेन्दीवरे एते ।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर मुदा किं परिभ्रमसि ॥'

यथा वा—

'हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।
मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥'

अर्थ—(१) (**प्रकृतस्थापनपूर्वकान्यनिषेधनिश्चयालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत—**वदनमिति— प्रसङ्ग**—रमणी के मुख के पास घूमते हुये किसी मधुकर को देखकर किसी विदग्ध व्यक्ति की यह उक्ति है ।] (हे) मधुकर ! यह (दिखाई देने वाली वस्तु) मुख है, (तुम्हारे पान करने योग्य मधु से युक्त) कमल नहीं, (तथा) ये (सामने दिखाई देने वाली वस्तुयें) नयनयुगल हैं, नीलकमल नहीं । (अतः) इस सुन्दर नयनों वाली (इस रमणी) के पास में क्यों हर्ष से घूम रहे हो ।

टिप्पणी—(१) यहाँ रमणी के उपमेयभूत मुख और नयनों के स्थापनपूर्वक उपमानभूत कमल और नीलकमल का निषेध होने के कारण **निश्चयालङ्कार** है ।

(२) इसीप्रकार—**"नवजलधरः सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः ॥"** इत्यादि में भी यही अलंकार समझना चाहिये ।

अवतरणिका—दृढ़ प्रतिपत्ति के लिये प्राचीन उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—अथवा (प्राचीन उदाहरण)—हृदीति—[**प्रसङ्ग**—काम से पीड़ित किसी विरही की बड़े दुख के साथ यह उक्ति है ।] (हे) कामदेव ! यह (मेरे) वक्षःस्थल पर मृणाल तन्तुओं से निर्मित हार है, (विस के समान शुभ्र स्वरूप वाला शिवजी के हृदय पर विद्यमान) फणिराज वासुकि नहीं है । गले में (विरहताप की शान्ति के लिये) नीलकमल के पत्तों की पंक्ति हैं, वह (प्रसिद्ध) हालाहल विष की (श्यामरूप) दीप्ति नहीं है, (वह तो शिवजी के गले में ही है) । (तथा) यह (शरीर पर दिखाई देने वाली) चन्दन की धूलि है, (शिवजी के शरीर पर विद्यमान) भस्म नहीं है । अतः शिवरूपता नहीं है । अतएव प्रिया से वियुक्त मुझ पर (अपने को जलाने वाले) शिवजी की भ्रान्ति से (वाणों से) प्रहार मत करो (तथा शिवजी के न होने से मेरी ओर) क्रोध से क्यों (प्रहार करने के लिये) दौड़ रहे हो ।

टिप्पणी (१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में उपमेयभूत विसलतादिकों की स्थापना-पूर्वक उपमानभूत भुजङ्गमनायकादिकों का निषेध होने से **निश्चय नामक अलङ्कार** है ।

(२) **अन्य निषेधपूर्वक प्रकृतस्थापन निश्चयालङ्कार** का उदाहरण—

"न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे" ॥

नह्ययं निच्श्रयान्तः संदेहः, तत्र संशयनिश्चययो रेकाश्रयत्वेनावस्थानात् । अत्र तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि संशयः । एककोटच्यधिके ज्ञाने तथा समीपागमनासंभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु । अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः ।

अवतरणिका—सम्प्रति इस **निश्चयालंकार** का अन्य अलङ्कारों से भेद दिखाते हैं—

अर्थ—यह [अभिनव **निश्चयालंकार "वदनमिदं न सरोजम्"** इत्यादि में निश्चय के विद्यमान होने के कारण और मध्य में निश्चय के होने के कारण **शुद्ध सन्देह** और **निश्चयगर्भ सन्देह** अलंकारों के सम्भव न होने से मुख में भ्रमर के कमल संशय को और वक्ता के मुख निश्चय को लेकर] **निश्चयान्त सन्देहालंकार** नहीं है, (क्योंकि) उसमें (**निश्चयान्त सन्देहालंकार** में) संशय और निश्चय एक ही आश्रय में अवस्थित रहते हैं । यहाँ (**"वदनमिदं न सरोजम्"** इत्यादि में) तो भ्रमरादि को संशय है, (और) नायकादि को निश्चय है । [अतः संशय और निश्चय के समान अधिकरण में न रहने से **निश्चयान्तसन्देहालंकार** नहीं है ।] **प्रश्न**—संशय और निश्चय—इन दोनों को **निश्चयान्त सन्देह अलंकार** में समान अधिकरण में ही रहना चाहियें—इस नियम में क्या प्रमाण है ? अतः कहते हैं—**किञ्चेति**--तथा (किसी प्रकार से भी वक्ता नायकादिको संशय नहीं है, परन्तु) भ्रमरादि को भी संशय नहीं है ("आदि" पद से अनङ्गककवि—प्रभृति का ग्रहंण होता है ।) क्योंकि एक कोटिक अधिक ज्ञान के न होने पर अर्थात् दोनों कोटि में बराबर ज्ञान के रहने से (अर्थात् मुख और कमल दोनों विषयक ज्ञाम के होने पर) उसप्रकार से (मुख और नयन के) अत्यन्त समीप (उस भ्रमर का) गमन सम्भव नहीं है । [भाव यह है कि उभयकोटिक ज्ञान ही संशय कहलाता है । तथाहि **"इदं वदनं सरोजं वा"** ऐसा सन्देह करता हुआ मधुपान का इच्छुक भ्रमर उसके अत्यन्त पास नहीं जाता, और नहीं अत्यन्त पिपासु कोई भी व्यक्ति मृगमरीचिका में "जल है अथवा मरीचिका" है ऐसा सन्देह करता हुआ उसके पास जाने की प्रवृत्ति करता है क्योंकि अभीप्सित मनोरथ की प्राप्ति के निश्चित न होने से जाने का प्रयास भी नहीं किया जाता है । अतः यहाँ पर भ्रमर को **"इदं सरोजम्"** ऐसा पूर्ण निश्चय है, तभी वह उसके पास गमन करता है ।] **प्रश्न**—अच्छा तो मुख में **'सरोजमेवेदम्"** इत्यादि भ्रमर आदि की भ्रान्ति से **भ्रान्तिमान् अलंकार** ही मान लिया जाय ? ऐसी आशङ्का करते हैं—

तर्हीति—(अच्छा) तो (मुखादि में भ्रमरादि को सरोजादि की भ्रान्ति ही स्वीकार करने पर) **भ्रान्तिमान् अलंकार** मान लिया जाये ? (क्योंकि भ्रान्ति के निश्चय रूप होने से भ्रमरादि का उसके पास गमन सम्भव हो सकता है ।) **समाधान** करते हैं—**अस्त्विति**—(भ्रमरादि को भ्रान्ति हो ।)

न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम् अपि । तु तथाविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसंवेद्यम् । किञ्चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेःपतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटुवादिरूपेणैव संभवति तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्, मुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणात् । न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधादितिपृथगेवायमलङ्कारश्चिरन्तनोक्तालङ्कारेभ्यः । शुक्तिकायां रजतधिया पततिपुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावात् ।

यहाँ (भ्रमरादि में) उस (भ्रान्ति) के चमत्कार की आधायकता नहीं है, किन्तु उसप्रकार की ("**वदनमिदम्**" इत्यादि रूप) वक्ता नायकादि की उक्ति की ही (चमत्काराधायकता) है, [क्योंकि इससे नायिका सन्तुष्ट होती है और कुतूहल सूचित होता है । अतः एव उसप्रकार की भ्रान्ति का आश्रय लेकर **भ्रान्तिमान्** अलंकार नहीं हो सकता है क्योंकि चमत्कार को उत्पन्न करने वाले ही अलंकार माने जाते हैं ।] यही सहृदय संवेद्य है । **प्रश्न**—सम्बोध्य भ्रान्ति के बिना उसप्रकार की उक्ति असम्भव ही है । और इसप्रकार इसकी भ्रान्तिमूलकता निश्चित है; तथा प्रकृत में भी वही चमत्कार को पैदा करने वाली है और उसप्रकार की उक्ति वो भ्रम की व्यञ्जिका है ही ? अतः कहते हैं कि—**किञ्चेति**—तथा (नायक के द्वारा) अविवक्षित होने पर भी भ्रमरादि के ("आदि" पद से द्वितीयपद्योक्त अनङ्गादिकों का ग्रहण होता है) मुख के ऊपर गिरने आदि में ("आदि" शब्द से अनङ्गकृत प्रहारादि का ग्रहण होता है) अथवा भ्रान्ति के अविवक्षित होने पर नायिका को चाटु वचनों से प्रसन्न करने के अभिप्राय से ही उसप्रकार का ("**वदनमिदम्**" इत्यादि रूप और "**हृदि विलसिता हारः**" इत्यादि रूप) नायक का वचन सम्भव हो सकता है । [**आशय यह है कि** नायिका के मुख और नयनों के सरोज और इन्दीवर की समानता का ज्ञान कराने से अत्यन्त सन्तुष्टिकर होने के कारण "**वदनमिदं न सरोजम्**" इत्यादि रूपा और अपनी कामवेदना की अधिकता का ज्ञान कराने वाले होने से "**हृदि विलसिता हारः**" इत्यादि रूपा उक्ति हो सकती है, अतः उसप्रकार के चमत्कार के अवश्य होने से **निश्चयालंकार** भी निश्चय ही हो सकता है ।] **प्रश्न**—इसप्रकार सन्देहादि अलंकारों के न होने पर भी मुखादि में सरोजत्वादि के आरोपों का व्यञ्जना से ज्ञान होने से **रूपक ध्वनि** ही इसको स्वीकार कर लो ! अतः कहते हैं—**न चेति**—और नहीं यह **रूपकध्वनि** है क्योंकि मुख का कमलरूप से (और विरही का शिवजी रूप से) निर्धारण नहीं किया है । [**भाव** यह है कि रूपक में "मुखकमलम्" इत्यादि में ज्ञाता मुखादिकों को पद्मादि रूप से निश्चित कर लेते हैं यहाँ पर तो वैसा निश्चय ही नहीं है अपितु "**न सरोजम्**" इत्यादि से सरोजादि से अतिरिक्त रूप से ही मुखादिकों का निश्चय करते हैं, अतः **रूपक** का यहाँ अंश भी नहीं है ।]

भवेत्संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।

अर्थ—**प्रश्न**—तो फिर, सरोजादि के निषेध से और मुखादि की स्थापना से **अपह्नुति अलंकार** ही मान लिया जाये ? अतः कहते हैं—**न चेति**—और न हीं **अपह्नुति अलंकार** है क्योंकि प्रस्तुत (उपमेय) का निषेध नहीं किया है । [**तथाहि**—**अपह्नुति अलंकार** में उपमेय के ही निषेध का निश्चय होता है, और यहां तो उपमान का ही निषेध होता है, और उपमेय के निषेध का अभाव होता है, अतः **अपह्नुति अलंकार** सम्भव नहीं है ।] अतः प्राचीन आचार्यों द्वारा कहे हुये अलङ्कारों से भिन्न ही यह (**निश्चय नामक**) अलङ्कार है । **शुक्तिकायामिति**—शुक्तिका के अन्दर चाँदी के भ्रम से (किसी) पुरुष के जाने पर "यह" शुक्तिका है, रजत नहीं है ऐसी किसी की उक्ति यह (**निश्चय नामक**) अलङ्कार नहीं है क्योंकि वैचित्र्य का अभाव है ।

टिप्पणी—(१) केवल यही **निश्चयालंकार** ही नवीन अलङ्कार प्राचीन आचार्यों से भिन्न नहीं माना है, अपितु

दशरश्मि शतोपमद्युति यशसादिक्षु दशस्वपि श्रुतम् ।
दशपूर्वरथं यमारव्यया दशकण्ठारिगुरुं विदुर्बुधाः ॥

यह **एकसंख्यालंकार** तथा एक विष्णु द्वे तदीये च नेत्रेत्रींस्तान् देवान् दोश्चतुष्कं च विष्णोः ।
पञ्चे शास्योन्यग्निभूषणमुखानि सप्तार्चिष्कं नौमिसाष्टांगयातम् ॥

यह **क्रमिक संख्यालंकार** भी स्वीकार किये है । अन्य वैचित्र्य को धारण करने वाले अलङ्कारों को स्वयं समझ लेना चाहिये ।

अर्थ—(**उत्प्रेक्षालंकार** का लक्षण) **भवेदिति**—प्रस्तुत (उपमेय) की अप्रस्तुत स्वरूप से अर्थात् उपमान रूप से (**परः सदृशतयोपकल्पितः अर्थात् असम्भवनीयोऽर्थस्तदात्मना—तत्स्वरूपेण**) सम्भावना (उत्कट एक कोटि वाला संशय) **उत्प्रेक्षा** (**उत्-उर्ध्वं गता, प्रेक्षा-दृष्टिः प्रतिभा च यस्यां सोत्प्रेक्षा**) होती है । (संशयालु व्यक्ति की दृष्टि प्रायः इसीप्रकार की होती है।)

टिप्पणी—(१) **सम्भावना** का लक्षण—**उत्कटैककोटिकः संशयः** अर्थात् जिसमें एक कोटि उत्कट हो, उस संशय ज्ञान को **सम्भावना** कहते हैं। **संशय** के अन्दर दोनों कोटि समान रूप से रहती हैं । "**अयं स्थाणुः पुरुषो वा**" इत्यादि में एक कोटि स्थाणु को बताने वाली है और दूसरी '**पुरुषो वा**" इससे पुरुष को बताने वाली है । इनमें से "**अयं पुरुषो न वा**" इत्यादि में प्रथम कोटि पुरुष का ज्ञान कराने वाली है, और दूसरी "**न वा**" यह पुरुष के ज्ञान का निषेध करने वाली है । जिस संशय में दोनों कोटियों में से एक कोटि की उत्कटता (प्रायः निश्चित हो, परन्तु निश्चय नहीं हो) हो; वही (पहली) **संशय** की कोटि **सम्भावना** कहलाती है । यथा—प्रायः "यह पुरुष है" इस प्रकार सादृश्य से वर्णनीय उपमेय की उपमान रूप से सम्भावना होती है । और उपमेय की उपमान रूप से निश्चित प्रायः सम्भावना **उत्प्रेक्षा** होती है । ढोलायमान दूसरी कोटि का निश्चित प्रायत्वेन निराकरण हो जाता है ।

वाच्या प्रतीयमाना सा प्रथमं द्विविधा मता ॥४०॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः ।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥४१॥
तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥३२॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

---

(२) इस **उत्प्रेक्षालङ्कार** में संशय के उत्कट एक कोटिक होने से लक्षण की **सन्देहालङ्कार** में अतिव्याप्ति नहीं होती है ।

(३) **रूपक, भ्रान्तिमान और अतिशयोक्ति में आरोप, भ्रम और अध्यवसान** के निश्चित रूप होने के कारण इनका "**संशय**" पद से निराकरण कर दिया है ।

(४) **उपमा** में उपमान पदार्थ के वास्तविक होने के कारण उक्त सम्भावना का अभाव ही होता है, किन्तु यहाँ **उत्प्रेक्षा** में तो उपमान पदार्थ के अवास्तविक होने के कारण उसप्रकार की सम्भावना रहती ही है—यही दोनों में भेद है ।

(५) उपमान कहीं, सम्भावी होता है, और कहीं कविप्रौढोक्तिसिद्ध होता है । इनमें से प्रथम का उदाहरण—यथा—"**गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्यसप्रसवा इव**" । यही "**प्रसव**" सम्भवी है ।

दूसरे का उदाहरण—यथा—"**उरूः कुरङ्गकदृशः**" इत्यादि । यहाँ सुरते-च्छारूप कामदेव का कनकमय विजय स्तम्भ शशविषाण की तरह मिथ्या कवि की प्रौढोक्ति से ही सिद्ध है ।

(६) अलङ्कारों के चमत्कार मूलक होने से प्रतिभा से अनुत्थापित वास्तविक सम्भावना और रमणीय साधारणधर्म मूलक सम्भावना क्योंकि चमत्कार को उत्पन्न करने वाली नहीं होती है, अतः अलङ्कार नहीं कहलाती है ।

अवतरणिका—उत्प्रेक्षालङ्कार के भेदों को दिखाते हैं ।

अर्थ—पहले वह (**उत्प्रेक्षा**) (१) **वाच्या** और (२) **प्रतीयमाना**—इसप्रकार से **दो प्रकार** की मानी जाती है । (**वाच्योत्प्रेक्षा** का लक्षण—) **वाच्येति**—इवादि (वाचक पदों) के प्रयोग होने पर **वाच्योत्प्रेक्षा** और (**प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** का लक्षण—) **अप्रयोगे इति**—(इवादि वाचक पदों के) प्रयोग न होने पर पुनः दूसरी अर्थात् **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** होती है जिस कारण से दोनों (**वाच्योत्प्रेक्षा** और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा**) में ही जाति (**एकधर्मवत् नानाधर्मवाचकोपमेयोऽर्थः**), गुण (**समानाधिकरण्येन सिद्धता-निर्देश्यो धर्मः**), क्रिया (**साध्यातकार निर्देश्यो धर्मः**), और द्रव्य (**शृङ्ग-ग्राहिकया निर्देश्यो धर्मः**)—ये चारों उत्प्रेक्षणीय अर्थात् सम्भावनीय होते हैं, उस कारण से (**उत्प्रेक्षा**) आठ प्रकार की होती है । (अर्थात् वाच्या और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षाओं में से प्रत्येक जाति-गुण-क्रिया-और द्रव्य रूप उत्प्रेक्षणीय होती हैं, अतः दुगुना करने से आठ प्रकार की उत्प्रेक्षा हुई) । **प्रत्येकमिति**—(उत्प्रेक्षा के इन आठों प्रकार के भेदों में से) भाव के उत्प्रेक्ष्य होने से और अभाव के उत्प्रेक्ष्य होने से प्रत्येक (दो प्रकार का होता है ।] [इसप्रकार उत्प्रेक्षा **सोलह प्रकार** की हुई ।] **गुणेति**—और पुनः (सोलह प्रकार की उत्प्रेक्षायें) उत्प्रेक्षा के कारण के (सम्भावना को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के विषय साधारणधर्म के) गुणस्वरूप और क्रियास्वरूप होने से (इस प्रकार प्रत्येक के पुनः दो प्रकार के होने से मिलकर) बत्तीस प्रकार की होती है ।

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहृरणं दिङ्मात्रं यथा—

'ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥'

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा ।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—उत्प्रेक्षा के दो भेद होते हैं—(१) वाच्योत्प्रेक्षा और (२) प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । इनमें से (१) इवादि का प्रयोग होने पर वाच्या और (२) इवादि का प्रयोग न होने पर प्रतीयमाना । इसप्रकार दो प्रकार की उत्प्रेक्षा अप्रकृत जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यों के निश्चित होने से प्रत्येक चार प्रकार की होती हैं, अतः आठ प्रकार की हुई । पुनः यह आठ प्रकार की उत्प्रेक्षा भी भाव और अभाव के उत्प्रेक्ष्य होने से दो प्रकार की होती हुई—सोलह प्रकार की होती हैं । पुनः इनके निमित्त कारण के गुण और क्रिया स्वरूप होने से दो प्रकार की होकर बत्तीस प्रकार की होती है ।

अर्थ—उनमें से (बत्तीस प्रकार की उत्प्रेक्षाओं में से) **वाच्योत्प्रेक्षा** के कुछ उदाहरण—यथा—(१) **वाच्यजात्युत्प्रेक्षा** का उदाहरण) ऊरुरिति—मृगनयनी का (वायु के वेग से) हिलते हुये सूक्ष्म वस्त्र का आँचल है जिसमें ऐसा उरु कामदेव के ध्वजसहित सुवर्ण से निर्मित विजय स्तम्भ की तरह सुशोभित हो रहा है ।

टिप्पणी—(१) **विजयस्तम्भ** का लक्षण—शत्रुओं को जीतकर उसके देश में वीर पुरुषों द्वारा अपनी विजय की सूचना के लिये जो स्तम्भ विशेष आरोपित किया जाता है, वह "**विजयस्तम्भ**" कहलाता है ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में जात्युत्प्रेक्षा दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) विजयस्तम्भ के बहुवाचक होने के कारण जात्युत्प्रेक्षा है । (अर्थात् विजयस्तम्भ रूप जाति विशिष्ट कामदेव सम्बन्धी विजयस्तम्भ की उत्प्रेक्षा करने के कारण "जात्युत्प्रेक्षा" है)

टिप्पणी—(१) यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि—उरु उपमेय है और विजय-स्तम्भ उपमान है । तथा "**स्मरस्येव**" यहाँ केवल सुरताभिलाष रूप होने के कारण वीरता में मिथ्या रूप होने से उसका विजयस्तम्भ भी मिथ्या है, अतः उपमान पदार्थ की अवास्तविकता है । इव शब्द के प्रयोग से यह **वाच्योत्प्रेक्षा** है । और विजय-स्तम्भ भाव पदार्थ है, अतः भाव की उत्प्रेक्षा होने से यह भावभिमानिनी है और उत्प्रेक्षा के निमित्त नायिका के उरु का सौन्दर्य गुण है ।

(२) यहाँ पर "इव" शब्द को उपमापरक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि **आचार्य दण्डी** ने "इव" को सम्भावनावाचक भी बतलाया है यथा—

**"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येव मादिभिः
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिव शब्दोऽपितादृशः ॥"**

इसीलिये ग्रन्थकार ने "**इवादि प्रयोगे**" ऐसा कहा है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।'
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥'

अत्र सप्रसवत्वं गुणः ।

'गङ्गाम्भसि सुरत्राण तव निःशाननिस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

अत्र स्नातीति क्रिया ।

अर्थ—(२) (**वाच्यगुणोत्प्रेक्षा** का उदाहरण) **ज्ञानेइति**—(**प्रसङ्ग—रघुवंश** के प्रथम सर्ग में राजा दिलीप का वर्णन है) उस (राजा दिलीप) के समस्त विषयक ज्ञान के होने पर भी (अनावश्यक विषय में) मौन रहना (वाचाल की तरह अनावश्यक विषयों में बहुवक्तृता नहीं थी) **अथवा** शास्त्रादि ज्ञान के होने पर भी मितभाषिता (जल्प वितण्डादि की शून्यता); सामर्थ्य होने पर भी क्षमा (तिरस्कार के अयोग्य अपराध की सहिष्णुता); दान करने पर भी आत्मश्लाघा का अभाव (था)। (अतः उसके) मौनादि गुण ज्ञानादि गुणों के अनुयायी होने के कारण सहोदर की तरह (**समान-एकस्मादेवोदशदुत्पन्नतया सदृशः प्रसवो-योनिर्वहिर्भावों येषां ते सप्रसवाः—सहोदराः**) थे । **अत्रेति**—यहाँ सहोदरता गुण (उत्प्रेक्षित) है ।

टिप्पणी—(१) इस पद्य के अन्दर "इव" शब्द के प्रयोग से **वाच्योत्प्रेक्षा** है । "**सप्रसवत्व**" यह गुण है, इसके उत्प्रेक्षणीय होने से यहाँ **गुणोत्प्रेक्षा** हैं । कुक्षि और गर्भ का विभाग ही प्रसव पदार्थ कहलाता है और विभाग का गुणत्वेन कथन किया है । यही बात भाषा-परिच्छेद में भी कही है—

अथगुणा रूपं रसो गन्धस्ततः परम् ।
स्पर्शः संख्या परिमितिः संयोगश्च विभागकः ॥

तथाहि—ज्ञानादिकों की मौनादि के उत्पन्न करने में प्रसव सम्भावना है, क्योंकि ज्ञानादि के होने पर ही मौनादिकों की गुणता है, अतः ज्ञानादिकों को मौनादि का प्रयोजक समझना चाहिये । यह **भावाभिमानिनी उत्प्रेक्षा** है क्योंकि प्रसवभाव पदार्थ है । और उत्प्रेक्षा का निमित्त गुण है । अतः इस उदाहरण में **वाच्यगुणोत्प्रेक्षा** है ।

अर्थ—(३) (**वाच्य क्रियोत्प्रेक्षा** का उदाहरण) गङ्गेति—[प्रसङ्ग—असुरों के शत्रु भगवान् विष्णुजी की प्रशंसा का यह वर्णन है] (हे असुरों से) देवताओं की रक्षा करने वाले ? शत्रुनारियों के समूह के (भय को उत्पन्न करके) गर्भ को गिराने से पातकी (**पातकमस्यास्तीति सः पातकी**) **अथवा** गर्भपात करने रूपी पाप कर्म वाला आपके (युद्ध के लिये) प्रयाणकालीन वाद्य का शब्द गङ्गा के पानी में मानों स्नान कर रहा है । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**स्नाति**" यह **क्रिया** (**उत्प्रेक्ष्य**) है ।

टिप्पणी—पापी मनुष्य गङ्गास्नान करता है, शब्द भी पापी हैं, अतः उसकी गङ्गा के पानी के सम्बन्ध में स्नान की सम्भावना समझनी चाहिये । प्रयाणकालीन वाद्य के शब्द के गङ्गा पर्यन्त जाने के कारण स्नान क्रिया रूप से उत्प्रेक्षा की है, अतः **क्रियोत्प्रेक्षा** है । स्नान क्रिया के भी भाव पदार्थ होने के कारण भावाभिमानिनी **उत्प्रेक्षा** है । और "इव" शब्द का प्रयोग होने से **वाच्योत्प्रेक्षा** है ।

'मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः ।'

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः । एते भावाभिमाने । अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः । एवमन्यत् ।

अर्थ—(४) (**द्रव्योत्प्रेक्षा** का उदाहरण) **मुखमिति**—मृगनयनी का मुख दूसरे (प्रसिद्ध चन्द्रमा से अतिरिक्त) पूर्ण चन्द्रमा की तरह सुशोभित हो रहा है । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "चन्द्रमा" यह शब्द केवल एक व्यक्तिवाची होने से (नाना व्यक्तियों में नियत जाति वाचित्व का अभाव होने से) द्रव्य है । **एते इति**—ये (चारों जाति आदि उत्प्रेक्षा के भेद) भाव पदार्थ की सम्भावना में समझना चाहिये ।

टिप्पणी—(१) यह उपमा नहीं है, क्योंकि उपमा प्रसिद्ध उपमान के होने पर ही होती है, और दूसरा चन्द्रमा प्रसिद्ध नहीं है ।

(२) चन्द्रमा के भाव पदार्थ होने से भावाभिमानिनी उत्प्रेक्षा हैं और इव का प्रयोग होने से वाच्योत्प्रेक्षा है । यहाँ उत्प्रेक्षा का कारण मुख रूप समझना चाहिये ।

अर्थ—(५) (जाति-गुण-क्रिया और द्रव्य में) **अभाव की सम्भावना** का (उदाहरण) यथा—(इनमें से **क्रियाभावोत्प्रेक्षा** का उदाहरण)-**कपोलेइति** [**प्रसङ्ग**—स्वामी के पास उसके वियोग से विरहिणी की दशा को देखने वाले किसी की उक्ति है] इस (रमणी) के कपोल अत्यन्त सुन्दर (तथाविधौ) होकर भी एक दूसरे को (नासिका के उठे हुये होने से व्यवधान हो जाने के कारण) मानों न देखते हुये ऐसी कृशता को प्राप्त हो गये हैं, यह बड़े दुःख की बात है । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "अपश्यन्तौ" इससे (दर्शन) क्रिया का अभाव (उत्प्रेक्ष्य) है । **एवमिति**—इसी प्रकार अन्य (जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यों में से प्रत्येक] का (अभाव की सम्भावना में उदाहरण समझ लेना चाहिये] (अन्यत्) ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है** कि दोनों कपोल संयोग के समय उभरे हुये होने से एक दूसरे को देख लेते थे, और सम्प्रति वियोग के समय विरह में अतिशय कृश हो जाने के कारण और उन्नत नासिका का व्यवधान हो जाने के कारण एक दूसरे को देख नहीं सकते हैं क्योंकि एक बन्धु के वियुक्त हो जाने पर दूसरे बन्धु का कृश हो जाना अवश्यम्भावी हैं—यही कष्ट का विषय है ।

(२) यहाँ कपोल के अचेतन होने के कारण दर्शकता का अभाव होने पर भी दर्शन की उत्प्रेक्षा की है । "इव" शब्द का प्रयोग होने से वाच्योत्प्रेक्षा है । दर्शन का अभाव होने से अभावाभिमानिनी है ।

निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे यथा—'गङ्गाम्भसि' इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्वं गुणः। 'अपश्यन्तो–' इत्यादौ क्षामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया। एवमन्यत्।
प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया॥'

अत्र लज्जयेवेति इवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। एवमन्यत्।

अवतरणिका—इसप्रकार जाति आदि चारों का भावाभिमान में चार भेदों का, और अभावाभिमान में चार भेदों का—इसप्रकार वाच्योत्प्रेक्षा के आठ भेदों का वर्णन करके सम्प्रति उनमें से ही गुणनिमित्तकत्वेन और क्रियानिमित्तकत्वेन प्रत्येक के दो भेदों का प्रतिपादन करते हैं।

अर्थ—निमित्त के गुणरूप और क्रियारूप होने पर (उदाहरण) यथा—"**गङ्गाम्भसि**" इत्यादि में "**स्नातीव**" इस (क्रिया की) उत्प्रेक्षा का निमित्त पातकित्व गुण है। "**अपश्यन्तौ**" इत्यादि में (उत्प्रेक्षा का) क्षामता गमन रूप निमित्त क्रिया है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्य [वाच्योत्प्रेक्षा के गुणनिमित्तक और क्रियानिमित्तक अतिरिक्त उदाहरण समझने चाहिये]।

टिप्पणी—(१) पाप को उत्पन्न करने की योग्यता को पातकित्व कहते हैं और वह पतन का कारण होने से पाप भी अदृष्ट रूप है और पाप "**अदृष्टं शब्द एव च**" और "**धर्माधर्मावदृष्टं स्यात्**" इसके अनुसार गुण विशेष ही है। और उस पाप की ज्ञान के सम्बन्ध से गङ्गास्नान की क्रिया में कारणता है।

(२) निमित्त भी भाव और अभाव रूप से दो प्रकार का होता है। इसीलिये ही—

"**निष्पन्दमरविन्दाक्षि ! नेत्रद्वन्द्व मिदं तव।
चिरविच्छिन्नमेकान्ते कान्तामाध्यायति ध्रुवम्॥**"

इत्यादि में गुण और क्रिया से भिन्न निष्पन्दत्वादि भी निमित्त का ग्रहण हो जाता है।

अवतरणिका—इसप्रकार **वाच्योत्प्रेक्षा** के यत्किञ्चित् उदाहृत करके **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** का उदाहरण देते हैं।

अर्थ—(२) **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** (का उदाहरण) **यथा**—**तत्वङ्ग्या इति**—(स्वभाव से ही) कृशाङ्गी (इस प्रियतमा) के दोनों स्तनों ने सूत्र से गुम्फित **अन्यत्र** विधादया दाक्षिण्यादि गुणशाली हार के लिये स्थान नहीं दिया, इसकारण लज्जा से (देने का अभाव लज्जा को करने वाला होता है) मुख को (चुचुक को) प्रकट नहीं किया (मुख के कालिमा से आवृत होने के कारण)।

टिप्पणी—अन्य व्यक्ति भी विधा आदि गुणों से युक्त पुरुष के लिये किसी भी कारण से स्थान न दे सकने पर लज्जा से जन समाज में अपना मुख नहीं दिखाता है।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृतउदाहरण में) लज्जयेव ऐसा "इवादि" के न होने से ("आदि" पद से मन्ये शङ्के-ध्रुवम्—नूनम् इत्यादि उत्प्रेक्षावाचकों का ग्रहण होता है) **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

टिप्पणी—(१) यह **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** लज्जा के गुण विशेष होने से, भाव रूप होने से, और निमित्त रूप होने से **निमित्तभूतगुणोत्प्रेक्षणरूपाभावाभिमानिनी** है।

ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम् । सम्प्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम् । उच्यते-व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायाम्–'महिलासहस्स–' इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्यविश्रान्तिः । इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

अवतरणिका—प्रश्न—"**तत्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन**" इत्यादि में **उत्प्रेक्षालंकारध्वनि** को स्वीकार करने से ही अर्थ सिद्धि हो जाती है, पुनः अभिनव उत्प्रेक्षा के प्रतीयमान नामक साधारण भेद को मानने की क्या आवश्यकता है ? ऐसी शङ्का उठाते हैं—

अर्थ—प्रश्न—ध्वनिनिरूपण प्रकरण में ("**वस्तुवाऽलङ्कृतिर्वापि**" इत्यादि से) सभी अलङ्कारों की व्यंग्यता होती है—ऐसा कहा है । सम्प्रति पुनः विशेष रूप से क्यों उत्प्रेक्षा की प्रतीयमानता अर्थात् व्यंग्यता (कही) है ? **उत्तर—उच्चयत इति**—(युक्तियुक्त सिद्धान्त का) प्रतिपादन करते हैं, **कि व्यंग्योत्प्रेक्षा** में (काव्य की ध्वनि की प्रयोजक व्यंग्यभूत उत्प्रेक्षा में अर्थात् उत्प्रेक्षालङ्कार ध्वनि में) **महिलेति**—[चतुर्थ परिच्छेद के ध्वनिनिरूपण के प्रकरण में ही इसका संस्कृत अनुवाद किया है और वहीं इसकी व्याख्या (पृष्ठ ······ पर) की हैं] इत्यादि में उत्प्रेक्षण के विना भी (अर्थात् "**अमान्तीव**" इस सम्भावना के विना भी) वाक्य की समाप्ति (हो जाती) है, ["**अयान्ति**" इस पद के "**तवहृदयानुरागपात्रतामवाप्य**" इस अर्थ से अभिधेय करने पर विश्रान्ति हो जाने से वहाँ किसी प्रकार की विप्रनिपत्ति दिखाई नहीं देती तथा च जहाँ वाक्य के अर्थ की समाप्ति के पश्चात् तात्पर्य की विवेचना से अलङ्कारों की प्रतीति होती है, वहाँ उनकी व्यंग्यता है, और जहाँ जिस अलङ्कार के होने के बिना वाक्य के अर्थ की समाप्ति हो जाती है वहाँ **प्रतीयमानता** है।] किन्तु यहाँ ("**तत्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन**" इत्यादि प्रकृत उदाहरण) में स्तनों में लज्जा के असम्भव होने से (क्योंकि स्तन चेतन नहीं है) लज्जया इव ऐसी उत्प्रेक्षा से ही (अर्थात् उत्प्रेक्षावाचक इवादि पद के अध्याहार से ही वाक्य की विश्रान्ति होती है) यही व्यंग्य और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में अर्थात् उत्प्रेक्षा ध्वनि और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में भेद है ।

टिप्पणी—सारांश—जहाँ उत्प्रेक्षण के विना भी अन्वय की उपपत्ति हो जाती है, वहाँ **उत्प्रेक्षाध्वनि**, और जहाँ उत्प्रेक्षण के विना अन्वय की उपपत्ति नहीं होती है, वहाँ **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** होती हैं । अतः पृथक् होने से उत्प्रेक्षाध्वनि से अतिरिक्त प्रतीयमानोत्प्रेक्षा को न मानने वाले को भी अवश्य माननी चाहिये ।

अवतरणिका—वाच्योत्प्रेक्षा के अन्य भेदों में से कुछ विशिष्ट भेदों का वर्णन करते हैं—

अर्थ— सम्प्रति **वाच्योत्प्रेक्षा** के सोलह भेदों में (कुछ) विशेष बतलाते हैं—

—तत्र वाच्याभिदाः पुनः ।
विनाद्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः ॥ ४३ ॥

तत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतु-गम्यत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः । द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भव-तीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः ।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षया यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्तम्भः' इति । 'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः ।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम् ॥'

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फलं क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम् ।

अर्थ—उनमें से (अर्थात् **वाच्योत्प्रेक्षा** और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** के ३२ भेदों में से) द्रव्यमूलकवाच्योत्प्रेक्षा को छोड़कर (अन्य) सभी वाच्योत्प्रेक्षा के भेद (अर्थात् जाति-गुण और क्रिया मूलक १२ भेद) स्वरूप—फल और हेतु में होने वाले पुनः तीन प्रकार के होते हैं ।

टिप्पणी—(१) **फलोत्प्रेक्षा** का लक्षण—**तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तेन तुमुनतेन वा पदेन उत्प्रेक्षा फलगा** । हेतूत्प्रेक्षा का लक्षण—**हेतुविभक्त्यन्तपदेन उत्प्रेक्षा हेतुगा** । **स्वरूपोत्प्रेक्षा** का लक्षण—**फलहेतुभ्यामितरा उत्प्रेक्षा स्वरूपगा** ।

अर्थ—उन कहे हुये **वाच्य** और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** के भेदों से जो **वाच्योत्प्रेक्षा** के सोलह भेद हैं, और उनमें से जाति (गुण और क्रियारूप पदार्थ) आदि तीन के जो बारह भेद हैं, उनमें से प्रत्येक के **स्वरूप—फल** और हेतु गत (भेद) होने से बारह भेद होने से (१२ × ३) ३६ (छत्तीस) भेद होते हैं । द्रव्य में स्वरूप की ही उत्प्रेक्षा सम्भव हो सकती है (फलत्वेन और हेतुत्वेन नहीं क्योंकि उनमें अतिशय चमत्कार नहीं होता है) अतः चार (भेद होते) हैं—ये सब मिलकर चालीस (४०) भेद होते हैं ।

टिप्पणी—यह **स्वरूपोत्प्रेक्षा** केवल **वाच्योत्प्रेक्षा** में ही हो सकती है । **प्रतीय-मानोत्प्रेक्षा** में तो स्वरूप का **उत्प्रेक्षण** ही नहीं हो सकता है, किन्तु फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षण हो सकता है क्योंकि वहाँ पर चमत्कार सम्भव है । आगे चलकर कहा भी है कि "**प्रतीयमाना भेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः**" तथा "**स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति**" ।

अर्थ—इनमें से **स्वरूपोत्प्रेक्षा** (का उदाहरण) यथा—पूर्वोक्त ("**उरु कुरङ्गक-दृशः**" इत्यादि) उदाहरणों में ("आदि" पद से "**स्नातीव**", "**पूर्णचन्द्रइवापरः**" इनका ग्रहण होता है ।) "**स्मरस्य विषयस्तम्भः**" इति (**जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा** का उदाहरण) और "**सप्रसवा इव**" इत्यादि (**गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा** का उदाहरण) जाति गुणरूप है ।

फलोत्प्रेक्षा (का उदाहरण) **यथा—रावणस्येति**—[प्रसंग—रघुवंश के बारहवें सर्ग में यह **पद्य** हैं ।] श्री रामचन्द्रजी द्वारा मारा हुआ बाण रावण के वक्षस्थल को विदीर्ण करके भी (पाताल निवासी) उरगों को प्रिय समाचार ("**रावणो युष्माकं कन्यापहर्तामयाद्य निहितः**" ऐसा रावण के मारे जाने का प्रिय समाचार) मानो कहने के लिये पृथिवी में प्रवेश कर गया । अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पृथिवी में प्रवेश करने का क्रियारूप फल '**आख्यातुम्**" यह उत्प्रेक्षित है ।

टिप्पणी—(१) बाण का पृथिवी में प्रवेश कर जाना रामचन्द्रजी की भुजाओं के अतिशय पराक्रम को सूचित करता है ।

(२) यहाँ तुमुन प्रत्ययान्त "आख्यातुम" इस पद से रामचन्द्रजी के अतिशय पराक्रम को सूचित करने रूप फल की उत्प्रेक्षा है ।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥'

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः । एवमन्यत् ।

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडशभेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्पञ्चाशद्भेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः । तत्र निमित्तस्योपादनं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्तं पातकित्वमुपात्तम् । अनुपादाने यथा—'चद्र इवापरः' इत्यत्र तथाविधसौन्दर्याद्यतिशयो नोपात्तः ।

अर्थ—**हेतूत्प्रेक्षा** (का उदाहरण) **यथा** [प्रसंग—रावण को मारकर पुष्पक विमान से अयोध्या को आते हुए श्री रामचन्द्रजी की मार्ग में सीताजी के प्रति यह उक्ति है] (हे प्रिये !) यह (दिखाई देने वाली) वह वन भूमि है, जहाँ तुमको खोजते हुये मैंने पृथ्वी पर (तुम्हारे पैरों से) गिरा हुआ एक नूपुर मानों तुम्हारे चरण कमलों से होने वाले वियोग के दुःख से निःशब्द देखा था । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) दुःख रूप गुण (बद्ध मौनता के) हेतुत्वेन उत्प्रेक्षित है । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यों (के भी उदाहरण समझने चाहिये) ।

टिप्पणी—**क्रियात्प्रेक्षा** की फलोत्प्रेक्षा का ही उदाहरण दिया है, हेतूत्प्रेक्षा का नहीं । **गुणोत्प्रेक्षा** की हेतूत्प्रेक्षा का ही उदाहरण दिया है, फलोत्प्रेक्षा का नहीं । **जात्युत्प्रेक्षा** की अनेक उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण दिये हैं ।

अवतरणिका—**स्वरूपोत्प्रेक्षा** के अन्य भेदों का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—उनमें से (पूर्वोक्त उत्प्रेक्षाओं में से) **स्वरूपोत्प्रेक्षा** (गुण–क्रियारूप कारण) के उक्त और अनुक्त होने से दो प्रकार की होती है ।

(कारिका की व्याख्या करते हैं) **तेष्वति**—उन चालीस संख्यक भेदों में से जो **स्वरूपोत्प्रेक्षा** के सोलह भेद हैं [अर्थात् जाति के भावाभिमान में एक और अभावाभिमान में एक—इन दोनों में से प्रत्येक के गुणनिमित्तक और क्रियानिमित्तक होने से चार भेद हुये । इसीप्रकार गुण के चार और क्रिया के चार और द्रव्य के चार—ये सब मिलकर स्वरूपोत्प्रेक्षा के सोलह भेद होते हैं ।] वे, उत्प्रेक्षा के कारण के उपादान से और अनुपादान से (दो प्रकार के होकर) बत्तीस भेद होते हैं । इसप्रकार मिलकर (२४ + ३२) **वाच्योत्प्रेक्षा** के ५६ (छप्पन) भेद होते हैं ।

उनमें से **निमित्त के उपादान** (का उदाहरण) यथा—पूर्व उदाहृत (पद्य) में "**स्नातीव**" इस उत्प्रेक्षा में कारण पातकित्व का ग्रहण किया है । (निमित्त के) **अनुपादान** में (उदाहरण) यथा—"**चन्द्र इवापरः**" यहाँ अलौकिक सौन्दर्यादि अतिशय गृहीत नहीं है ।

हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव । तथा हि—'विश्लेषदुःखादिव' इत्यत्र यन्निमित्तं बद्धमौनत्वम् 'आख्यातुमिव' इत्यत्र च भूप्रवेशस्तयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात् ।

प्रतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

अवतरणिका—प्रश्न—हेतूत्प्रेक्षा और **फलोत्प्रेक्षाओं** में निमित्त के उक्त और अनुक्त होने पर ३६ भेद क्यों नहीं किये ? इसका **उत्तर** देते हैं—

अर्थ—हेतूत्प्रेक्षा और **फलोत्प्रेक्षा** में तो नियम से (आवश्यक रूप से) निमित्त का ग्रहण होता ही है । [क्योंकि—हेतूत्प्रेक्षा में उत्प्रेक्ष्यमाण का फल ही निमित्त होता है, और **फलोत्प्रेक्षा** हेतु ही निमित्त होता है ।] **तथाहि—"विश्लेषदुःखादिव"** यहाँ (हेतूत्प्रेक्षा में) कारण जो बद्धमौनता है और **"आख्यातुमिव"** यहाँ (फलोत्प्रेक्षा में) पृथिवी में प्रवेश करना (जो कारण) हैं—इन दोनों का (बद्धमौनता और पाताल प्रवेश रूप कारणों का) कथन न करने पर वाक्य ही असङ्गत होता ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि–"त्वच्चारणविदविश्लेषदुःखादिव अवृश्यत"** केवल इसके और **"आश्रुगः उरगेभ्यः प्रियमाख्यानुमिव"** केवल इसके कहने पर जिज्ञासित पद के अभाव में अभिप्रेतवाक्य के अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती है । अतः हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में निमित्त का ग्रहण करना आवश्यक होता है ।

(२) **निमित्त** का लक्षण—**"येन विना यन्न भवति तत्तस्य निमित्तम्"** ।

अवतरणिका—इसप्रकार **वाच्योत्प्रेक्षा** का निरूपण करके **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का विशेष रूप से** वर्णन करते हैं ।

अर्थ—**प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** के सोलह भेदों में [जाति-गुण-क्रिया और द्रव्य इन चार उत्प्रेक्षाओं के भाव और अभाव रूप पुनः दो भेद होने से आठ (८) भेद हुये । और इन आठ भेदों के पुनः गुणनिमित्तक और क्रियानिमित्तक दो प्रकार के होने से १६ भेद होते हैं ।] विशेष का वर्णन करते हैं—

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के (उक्त सोलह) भेद भी एक-एक करके फलगत और हेतुगत (रूप से दो प्रकार के होकर ३२ (बत्तीस) प्रकार (के) होते हैं ।

टिप्पणी—(१) इनमें से **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के फलगतादि** उदाहरण–**यथा**—**"रावणस्यापि"** इत्यादि में **"उरगेभ्यः किलप्रियम्"** यह पाठ परिवर्तन कर देने पर । तथा च इवादि के अनुक्त होने से प्रतीयमानता **"आख्यातुमिव"** इसके फलोत्प्रेक्षा होने से फलगता है । **अथवा**—

राहुणा ग्रस्यते पूर्णः पान्थः हिंसः कलानिधिः ।
दीनेष्वायण मार्गेण वर्त्तितव्यं सुघोषितुम् ।"

यहाँ पर इवादि के अनुक्त होने से प्रतीयमानता **सुघोषितुम्** और ग्रसने का फल–यह फलोत्प्रेक्षण होने से **फलगता** है ।

यथोदाहृते 'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयैवेति हेतुरुत्प्रेक्षितः। अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति। धर्मान्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात्।

यथा—'अयं राजापरः पाकशासनः' इति। विशेषणाभावे च रूपकस्य, यथा—'राजा पाकशासनः' इति। तदेवं द्वात्रिंशप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

अर्थ—(प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हेतुगता का उदाहरण) यथा—उदाहृत (पद्य) में **"तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन"** इसमें "लज्जयेव" यह हेतु उत्प्रेक्षित है। **अस्यामिति**–(**फल-हेतुगता वाच्योत्प्रेक्षा** में की तरह) इसमें अर्थात् **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** में निमित्त का अनुपादान नहीं हो सकता है; (क्योंकि) इवादि का ग्रहण न करने पर और निमित्त का कथन न करने पर सम्भावना का (उत्प्रेक्षणस्य) निश्चय करने में प्रमाता अशक्य हो जावेगा। [अत एव "**तन्वङ्ग्यास्तनयुग्मेन**" इत्यादि में हार के लिये स्थान न देना—यह लज्जा उत्प्रेक्षा का कारण है यहाँ पर—

"तन्वङ्ग्या स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्।
हाराय गुणिने स्थानं पीवरेण न चार्पितम्॥

यह पाठ कर देने पर लज्जा हेतु के न होने से प्रमाता **लज्जोत्प्रेक्षा** का निश्चय नहीं कर सकता है। और उसका निश्चय न होने पर अचेतन स्तनयुग्म के अन्दर लज्जा के असम्भव होने से उसका अन्वय भी बाधित हो जाता है, और बाध हो जाने से पुनः उत्प्रेक्षा का निश्चय भी नहीं होता है। अतः **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** में निमित्त का उपादान करना आवश्यक है] **स्वरूपोत्प्रेक्षाऽपीति**—यहाँ (**प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में**) **स्वरूपोत्प्रेक्षा** भी नहीं हो सकती है, (क्योंकि) दूसरे धर्म के साथ अभेद प्रतीति (तादात्म्य) है कारण जिसका ऐसी अर्थात् दूसरे धर्म के साथ तादात्म्य विषयिणी इस (उत्प्रेक्षा) में इवादि का प्रयोग न होने पर और विशेषण का (असम्भव अर्थ का सम्पादन करने वाले धर्म का) सम्बन्ध होने पर **अतिशयोक्ति अलङ्कार** की प्रतीति होती है। [इस-प्रकार उपमान और उपमेय की तादात्म्य–प्रतीति वाले तीन अलङ्कार होते हैं—(१) रूपक (२) उत्प्रेक्षा और (३) अतिशयोक्ति। उनमें से (१) **इवाद्यनुपादाने असम्भवविशेषणानुपादाने च केवलारोपप्रतीतेरूपकमेव** (२) **संशयविशेषात्मिकायाः सम्भावनाया वाचकानामिवादीनामुपादाने असम्भवविशेषणोपादाने च सम्भावनाया एव प्रतीतेरुत्प्रेक्षैव**: (३) **तथाविधसम्भावना वाचकानामिवादीनामुपादाने असम्भवविशेषणोपादाने च सिद्धरूपत्वे निश्चयात्मकाध्यवसायस्यैव प्रतीतेरतिशयोक्तिरेव**—इति। अतः इनकी परस्पर अपने-अपने लक्षणों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति नहीं होती है।] **यथा**—"यह राजा दूसरा इन्द्र है" इति [यहाँ राजा यह उपमेय है, पाकशासन यह उपमान है, दूसरे इन्द्र के न होने के कारण "**अपरः**" यह विशेषण असम्भव है। अतः यहाँ पर सम्भावना वाचक इवादि पदों का ग्रहण न करने से और असम्भव विशेषण के उपादान से केवल अध्यवसाय की ही प्रतीति होने से **अतिशयोक्ति** है।] **विशेषणाभाव इति**—और (असम्भव) विशेषण के न होने पर (और इवादि का उपादान न करने पर) **रूपक** की (प्रतीति होती है) **यथा**—"राजा इन्द्र है" इति [इवादि का उपादान न करने पर और सम्भवपरक विशेषण के होने पर **रूपक** ही होता है] **तदिति**–अतः इसप्रकार **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** बत्तीस प्रकार की होती है।

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ता उत्प्रेक्षाः । उक्तौ यथा—'ऊरुः कुरङ्गकदृशः–' इति ।

अनुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम् 'प्रद्युम्नः—इह हि सम्प्रति दिगन्तरमाच्छादयता तिमिरपटलेन—

'घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः पूरितमिव मृगमदक्षोदैः ।
ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम् ॥'

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्वं नोपात्तम् ।

टिप्पणी—(१) रूपक और अतिशयोक्ति में भेद—

यत्र प्रसिद्धमुपमानं, तत्रैव विषयस्याधःकरणाभवात् रूपकस्यावसरः यत्र तु उपमानस्याप्रसिद्धत्वं, तत्रातिशयोक्तिः ।

उसमें भी **यदि फलस्य हेतोश्च सद्भावः स्यात् तदा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा इति ।**

(२) इसप्रकार **वाच्योत्प्रेक्षा** के ५६ और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** के ३२ भेद मिलकर कुल उत्प्रेक्षा के ८८ भेद होते हैं ।

अवतरणिका—पूर्वोक्त ८८ प्रकार की **वाच्योत्प्रेक्षा** और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** के पुनः दो प्रकार के भेद करते हैं ।

अर्थ—वे (पूर्वोक्त ८८ प्रकार की उत्प्रेक्षायें) भी प्रस्तुत (उपमेय) के उक्त और अनुक्त होने से प्रत्येक दो प्रकार की होती हैं । [कारिकास्थ "**ताः**" पद की व्याख्या करते हैं ।] **ताः**—उत्प्रेक्षायें ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार ५६ प्रकार की वाच्योत्प्रेक्षा, ३२ प्रकार की प्रतीयमानोत्प्रेक्षा । ये दोनों मिलकर (५६ + ३२ = ८८) ८८ प्रकार की उत्प्रेक्षायें होती हैं । पुनः प्रस्तुत का उपादान करने और न करने से दो प्रकार की होती हैं । इसप्रकार कुल (८८ × २ = १७६) १७६ उत्प्रेक्षा के भेद होते हैं ।

(२) इसप्रकार १७६ उत्प्रेक्षा के भेदों का प्रतिपादन करने से "**काव्यप्रकाशकृत**" **सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यसमेन यत्**" इस लक्षण के अनुसार एक प्रकार की उत्प्रेक्षा का खण्डन हो जाता है ।

अर्थ—[प्रस्तुत उपमेय के शब्द से] उक्त होने पर (उदाहरण) **यथा–उरूरिति**–[यहाँ उरु की विजयस्तम्भत्वेन उत्प्रेक्षा की है । अतः उरु उपमेयभूत है और इसके उक्त होने के कारण यह **उक्तप्रस्तुता उत्प्रेक्षा है** ।] **अनुक्ताविति**—(प्रस्तुत उपमेय के) अनुक्त होने पर (उदाहरण) **यथा**—मेरी (साहित्यदर्पणकारकृत्) **प्रभावती** में **प्रद्युम्न**—यहाँ (युद्ध स्थल में) सम्प्रति दिशाओं को आच्छादित करते हुये अन्धकार समूह ने–**घटितमिति**–संसार को काजल के समूहों से मानो निर्मित किया है, कस्तूरी के चूर्ण से मानो भर दिया है तमाल के वृक्षों से मानो व्याप्त कर दिया है, (और) मानो नील वर्ण के वस्त्रों से आच्छादित कर दिया है । **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) अञ्जन से घटितत्वादि उत्प्रेक्षणीय की विषय व्याप्तता अर्थात् प्रस्तुत उपमेय अन्धकार की व्याप्तता (शब्द से) गृहीत नहीं है । [अर्थात् अन्धकार समूह से भुवनव्यापनरूप उपमेय को नहीं कहा है ।]

यथा वा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।'

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः। अञ्जनवर्षणस्य तमःसम्पातः। अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधःसंयोगश्च यथासंख्यम् ।

अर्थ—अथवा-(दूसरा उदाहरण) लिम्पन्तीवेति-[प्रसङ्ग-मृच्छकटिक में प्रगाढ़ अन्धकार का वर्णन है] अन्धकार शरीर के अङ्गों को मानो लिप्तसा कर रहा है। (और) आकाश काजल को मानो बरसा रहा है। **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अन्धकार के लेपन का (उपमान का) व्यापन रूप (सम्पूर्ण शरीर में सान्द्रसम्बन्ध रूप प्रस्तुत उपमेय) विषय गृहीत नहीं है। (और) अञ्जन की वर्षा (रूप-उपमान) का तम्रसम्पात (अन्धकार का गिरना रूप विषय अर्थात् प्रस्तुत उपमेय) गृहीत नहीं है। (यहाँ सम्पातः से अधःसंयोग के कारण पतन क्रिया का ही ग्रहण करना चाहिये, अधःसंयोग का नहीं) **अनयोरिति**—और इन दोनों की ("**लिम्पत्तीव**" और "**वर्षतीव**" इन दोनों की) उत्प्रेक्षा के कारण क्रमशः अन्धकार की सघनता ("**लिम्पत्तीव तमोङ्गानि**" यहाँ उत्प्रेक्षा का कारण अन्धकार की अति बहुलता है) और (अन्धकार का) धारा रूप से अधःसंयोग ("**वर्षतीवाञ्जनं नभः**" यहाँ अन्धकार का धारा रूप से नीचे गिरना रूप संयोग है।)

टिप्पणी—(१) पूर्वोक्त पद्य **मृच्छकटिक** में सम्पूर्ण इसप्रकार है—

"लिम्पतीव तमोङ्गानिवर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।।" इति ।।

(२) **कहने का आशय यह है कि—"लिम्पति"-"वर्षति"** इन क्रियाओं के कारण "**गौरयम्**" यहाँ पर वाहीक की तरह **साध्यवसाना लक्षणा** के द्वारा उपमान अन्धकार और अञ्जन का उपमेय व्यापन और अधःप्रसरण है। **तथा च** अन्धकार कर्त्ता का अङ्गव्यापन कर्म है और नभःकर्त्ता का अधःप्रसरण अञ्जन कर्म है—इसप्रकार अन्धकार के व्यापन कारण से और आकाश के भूतलपर्यन्त गाढनीलिमा के प्रसरण निमित्त से लेपन और वर्णन रूप की उत्प्रेक्षा है। **अथवा**-अचेतन अन्धकार का व्यापनात्मक विषय लेपनता से और अधः सम्पात वर्षणता से उत्प्रेक्षित है। दोनों ही अवस्थाओं में विषय का (उपमेय का) अनुपादान है-ग्रहण नहीं हुआ है। यहाँ पर अन्धकार के व्यापन निमित्त से लेपनकर्तृक तादात्म्य की उत्प्रेक्षा है और आकाश के पृथिवी पर्यन्त गाढ नीलिमा रूप व्याप्तत्व निमित्त से अञ्जनवर्षणकर्तृक तादात्म्य की उत्प्रेक्षा है—इसप्रकार दोनों ही उत्प्रेक्षायें उक्त विषय वाली हैं अर्थात् उपमेय

केचित्—'अलेपनकर्तृभूतमपि तमोलेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नभोऽपि वर्षणक्रियाकर्तृत्वेन' इत्याहुः ।

का कथन किया गया है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि **लिम्पति-वर्षति**—इन क्रियाओं के कृर्तवाचक होने पर भी **"भाव प्रधानमाख्यतम्"** इस न्याय के अनुसार धात्वर्थ की क्रिया की ही प्रधानता से और गौण रूप से अन्वित कर्त्ता के उत्प्रेक्षणीय होने से अन्यत्र अन्वय सम्भव नहीं है—यह सब कुछ **कुवलयानन्द** में स्पष्ट है। आख्यात तिङन्त होता है, इसके अर्थ की अपेक्षा भाव धातु का अर्थ **"क्रिया प्रधानम्"** होता है। आख्यात अर्थ वाले कर्त्ता की क्रिया गौण होने से अन्यत्र अन्वय सम्भव न हो सकने से ही इसका उपमा के अन्दर उपमान रूप से अन्वय का **"काव्यादर्श"** में दण्डी ने निराकरण किया है। तथाति—

कर्त्ता यद्युपमानं स्यात् न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे ।
स्वक्रिया साधनव्यग्रो नालमन्यद् व्यपेक्षितिम् ॥

भाव यह है कि एक स्थान पर अन्वित का अन्यत्र अन्वित होना ठीक है, परन्तु एक स्थान पर विशेषण रूप से अन्वित हुए का अन्यत्र भी विशेषण रूप से अन्वित होना ठीक नहीं है। प्रकृत उदाहरण में तो अपने व्यापार में विशेषण रूप से अन्वित कर्त्ता की उपमानता स्वीकार कर लेने पर उपमेय अन्धकार में भी विशेषण रूप से अन्वितता स्वीकार कर लेना ठीक नहीं है। **दीधीतिकार** ने कहा भी है कि—**"इतरेतरविशेषणत्वेनोपस्थितस्याप्यन्यत्र विशेषणत्वेनान्वयायोगात्"** इति। अतः यहाँ पर कर्त्ता की उपमानता नहीं है।

अर्थ—कुछ (आचार्य **अलंकारसर्वस्वकरादि**) तो लेपन (क्रिया) का कर्त्ता न होते हुये भी [अर्थात् तैलादि की तरह अन्धकार के अन्दर चिक्कणता का अभाव होने से उसके द्वारा किया हुआ लेप भी नहीं हो सकता है।] अन्धकार को लेपन क्रिया का कर्त्ता रूप में उत्प्रेक्षित किया है, और (अन्धकार का) व्यापन कारण है, इसीप्रकार (वर्पण क्रिया का कर्त्ता न होते हुये) आकाश भी (अञ्जन) वर्षण क्रिया का कर्त्ता रूप से (उत्प्रेक्षित) है, ऐसा कहते हैं।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार **अलंकार सर्वस्वकारादि** आचार्यों के मतानुसार यहाँ कर्तृ स्वरूप द्रव्योत्प्रेक्षा समझनी चाहिये।

(२) **साहित्यदर्पणाकार** ने यहाँ धारारूप से अधःसम्पात निमित्त आकाश के अञ्जन वर्षण के कर्त्तृत्वेन सम्भावना में प्रकृत उपमेय अन्धकार का ज्ञान दुर्घट हैं—ऐसी **"केचित्"** पद से अपनी विमति प्रदर्शित की है।

(३) कुछ आचार्य "अन्धकार को अञ्जनत्वेन उत्प्रेक्षित किया है और प्रगाढ़ता यहाँ कारण है" ऐसा कहते हैं।

(४) **काव्यप्रकाशकार** ने **"व्यापनादिलेपनादिरूपतया सम्भावितम्"** ऐसा कहकर क्रियोत्प्रेक्षा ही स्वीकार की है।

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥४५॥

तत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा मम—

'अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।
अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥'

श्लेषहेतुगा यथा—

'मुक्तोत्कारः सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः ।
जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद्गुणवत्त्वमाप ॥'

अर्थ—वह (सम्पूर्ण प्रकार की **उत्प्रेक्षा**) दूसरे अलङ्कार से निष्पन्न हुई अर्थात् अलङ्कारान्तरमूला अधिक वैचित्र्य को प्राप्त होती है ।

टिप्पणी—यदि इस उत्प्रेक्षा के अन्दर कोई कवि अतिशय चमत्कार को उत्पन्न करना चाहता है तो इसको अन्य अलंकार के साथ रखना चाहिये ।

अर्थ—उनमें से (उन उत्प्रेक्षालङ्कारों में से) **अपह्नुति अलंकार मूलोत्प्रेक्षा** का (उदाहरण) **यथा**—मेरा (अर्थात् साहित्यदर्पणकार द्वारा स्वयं निर्मित)— **अश्रुच्छलेनेति**–[**प्रसङ्ग**—सपत्नीक पति के यज्ञ करने पर उसके समीपवर्तिनी नायिका की आँखों में से आंसुओं को निकलता हुआ देखकर किसी की यह उक्ति है ।] आहुति दी जाती हुई अग्नि के धूम्र से व्याप्त नयनों वाली (इस) सुनयनी के आंसुओं के बहाने से लावण्य रूपी जल का प्रवाह शरीर में इयत्ता को मानों बिना प्राप्त किये ही निकल रहा है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रस्तुत अश्रु का कैतवार्थक छल शब्द के द्वारा प्रतिषेध करके उपमानभूत लावण्य रूपी जल के प्रवाह की स्थापना करने के कारण **अपह्नुति** है, और अपह्नुति मूलक अतिशय चमत्कार का आधान करने वाली यह **क्रियोत्प्रेक्षा** है ।

अर्थ—(२) **श्लेपहेतुमूलोत्प्रेक्षा (श्लेष एव हेतुरुत्थापकरत्तंगच्छतीतितादृशी श्लेषहेतुगा—श्लेष हेतुमूला उत्प्रेक्षा** का उदाहरण) यथा–**मुक्तोत्कर इति**—(**प्रसङ्ग**— किसी नायिका को देखकर किसी की यह उक्ति है ।) संकीर्ण शुक्ति के अन्तराल से अन्यत्र संसार के सम्पूर्ण सङ्कटों के क्लेश से, निकले हुये मोतियों के समूह ने अर्थात् हार ने अन्यत्र मुक्त पुरुषों के समूह ने इस (पुरोदृश्यमान) कमलनयनी की सुन्दर शङ्ख के समान कण्ठप्रदेश में निवास से **अन्यत्र** वासना से सूत्रवत्ता को **अन्यत्र** गुणवत्ता को प्राप्त कर लिया है, ऐसी सम्भावना करते हैं ।

अत्र गुणवत्त्वे श्लेषः। कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतूत्प्रेक्षाया हेतुः। अत्र 'जानीमहे' इत्युत्प्रेक्षावाचकम्।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

क्वचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः॥'

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "गुणवत्व" में श्लेष है। "**कम्बुग्रीवाधिवासादिव**" यह हेतूत्प्रेक्षा का कारण है। यहाँ (वाच्योत्प्रेक्षा में) "**जानीमहे**" यह उत्प्रेक्षा वाचक है।

टिप्पणी—(१) "त्यागशौर्यादिसत्त्वादि सन्ध्याद्यावृत्ति रज्जु" इस मेदिनी-कोश के अनुसार "गुण" पद के अनेकार्थवाची होने से "**गुणवत्वे गुणवत्वम्**" ऐसे तन्तुवत्व और उत्कर्षवत्व रूप दो अर्थ है।

(२) प्रकृत उदाहरण में हार के अन्दर तन्तु के वास्तविक होने से तत्प्राप्ति हेतुक उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती है, अतः "गुण" शब्द के श्लेष से उत्कर्ष विशेष प्राप्ति रूप हेतूत्प्रेक्षा हो सकती है क्योंकि वही उत्थायक है, अतः यहाँ पर **श्लेषमूलोत्प्रेक्षा** है।

(३) **कम्बुग्रीवाधिवासादिव** यहाँ श्लेष करने से हेतुमूला भी है, अतः यहाँ पर हेतुमूला और श्लेषमूला दोनों प्रकार की उत्प्रेक्षा है।

(४) हार के अन्दर (**मुक्तोत्करस्य**) गुण (तन्तु) वत्ता की प्राप्ति स्वभावसिद्ध है, अतः उत्कर्ष का आश्रय लेने से गुणशालिता होती है—यह ज्ञान कराने के लिये "श्लेष" का आश्रय लेकर गुणवत्ता उत्प्रेक्षित की है, अतः इसके अन्दर **श्लेषमूलात्व** है। और उसमें कारण "वासात्" इस पञ्चमी से कहा है। तथा शुक्ति के मध्य की अपेक्षा कम्बुग्रीवा के विशिष्ट होने से और उसमें अधिवास से गुणवत्ता का लाभ होने के कारण उसकी कारणता न्याय्य भी है।

अर्थ—इसीप्रकार ("जानीमहे" की तरह) मन्ये, शङ्के—ध्रुवं–प्रायः–नूनम् इत्यादि (शब्द उत्प्रेक्षावाचक समझने चाहियें)। [यहाँ "आदि" पद से खलु–किमु–किम् प्रभृति पदों का ग्रहण समझना चाहिये।]

टिप्पणी—(१) "इव" शब्द की उत्प्रेक्षावाचकता प्रसिद्ध है, अतः उसका कथन नहीं किया है।

(२) **काव्यादर्श में आचार्यदण्डी** ने कहा है कि—

मन्येशङ्के ध्रुवं प्रायो नूननित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥ इति॥

अर्थ—कहीं **उपमामूलोत्प्रेक्षा** (**उपमा—उपक्रमे–आरम्भे–यस्याः तादृशी उत्प्रेक्षा**—उपमामूलोत्प्रेक्षा का उदाहरण) **यथा—परिजलमिति**—[**प्रसङ्ग–शिशुपाल-वध** के तीसरे सर्ग में यह पद्य है] श्री कृष्णजी ने समुद्र के जल के पार सम्यक् रूपेण प्रगाढ़ नीलवर्ण वाले पत्तों के समूह हैं जिनके ऐसी, (तथा) तरङ्गों के समूहों से प्रतिक्षण किनारे पर पहुँचाई हुई सिवाल की कान्ति के समान है, कान्ति जिनकी ऐसी वनपंक्ति देखी।

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा। पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थितेः सम्भावनानुपपत्तेः सम्भावनोत्थापनमित्युत्प्रेक्षा।

एवं विरहवर्णने–'केयूरायितमङ्गदैः—' इत्यत्र 'विकासिनीलोत्पलति स्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः' इत्यादौ च ज्ञेयम्।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) आभा शब्द के (**शैवलस्य आभेव आभा यासामिति** बहुव्रीहि समास के कारण) उपमा के वाचक होने से आरम्भ में उपमा (प्रतीत होती) है। परन्तु समाप्ति में (अर्थात् "**शैवलायाः**" इसीसे ही उपमा के सम्भव होने पर उत्कूलित्व कहना ठीक नहीं है, अतः "**उत्कूलितशैवलाया इव**" ऐसी समाप्ति होने पर) समुद्र के किनारे सिवाल की स्थिति की सम्भावना न होने से सम्भावना की प्रतीति होती है, अतः **उत्प्रेक्षा** है। [क्योंकि सिवाल की सम्भावना की प्रतीति न होने पर **उत्कूलित** विशेषण व्यर्थ हो जाता है। इसप्रकार उत्प्रेक्षा के प्रारम्भ में उपमा का विषय होने से यह **उपमामूला उत्प्रेक्षा** है। **प्रश्न**—प्रायः सरोवर के किनारे सिवाल होता है, समुद्र के किनारे नहीं, और यहाँ पर दूर से देखने से समुद्र के पानी की प्राकृतिक नीलिमा ही सिवालरूप से प्रतीत होती है, अतः इस निश्चय को **भ्रान्तिरूप** मान लें तो? **उत्तर**—नहीं, ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रकृत उदाहरण में सिवाल के जलीय होने से अन्य जलाशय की तरह समुद्र के भी जलाशयरूप होने से यहाँ सिवाल सम्भव हो सकता है, अतः यह **भ्रान्तिरूप** नहीं है।] **एवमिति**—इसीप्रकार विरह वर्णन (के प्रारम्भ) में "**कङ्कणों ने केयूर के समान आचरण किया**" [अर्थात् विरह की कृशता के कारण कङ्कणों ने केयूर का स्थान ले लिया। यहाँ आय प्रत्यय के उपमा वाचक होने से प्रारम्भ में उपमा की प्रतीति होने पर भी समाप्त में भुजाओं के मध्य भाग में कङ्कण का धारण करना असम्भव है, अतः सम्भावना की प्रतीति होने से उत्प्रेक्षा की प्रतीति होती है।] यहाँ और [**श्रौत्युपमोत्प्रेक्षा** को दिखाकर **आर्थ्युपमोत्प्रेक्षा** को दिखाते हैं] "**हरिण के समान दीर्घ नेत्रों वाली नायिका का कुटिल कटाक्ष कर्ण में प्रस्फुटित नीलकमल के समान आचरण कर रहा था।** यहाँ क्विप प्रत्यय के और आय के लोप के उपमावाचक होने से प्रारम्भ में आर्थीलुप्ता उपमा की प्रतीति होने पर भी समाप्ति मे कान में कटाक्ष के असम्भव होने से सम्भावना की प्रतीति होती है, अतः उत्प्रेक्षा ही है, ऐसा समझना चाहिये।] इत्यादि में (उत्प्रेक्षा) समझनी चाहिये।

टिप्पणी—(१) विरहवर्णन का सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

प्रयास्यन्तं प्रियं श्रुत्वा गोविन्दं भज योषिताम्।
तत्क्षणाज्जातमौनाना केयूरायितमङ्गदैः॥

(२) दूसरा पद्य इस प्रकार है—

विकासिनीलोत्पलति स्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः।
नासाग्रमुक्ता मधरप्रसारि रोचिर्निनायेव च विद्रुमभाम्॥

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां बल्लवादीनां विषयस्य चन्द्रिकादेर्ज्ञानमेव नास्ति। तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात्। इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः।

अवतरणिका—(१) सम्प्रति **भ्रान्तिमदादि** अलंकारों से **उत्प्रेक्षा** का भेद निरूपित करते हैं।

(२) **प्रश्न**—"**उरूः कुरगंकदृशः**" इत्यादि में नायकादि में कामदेव के विजय-स्तम्भादि के भ्रम से **भ्रन्तिमान्** अलंकार क्यों न मान लिया जावे ? इसका **समाधान** करते है।

अर्थ—भ्रान्तिमान् अलंकार (के उदाहरण)—"**मुग्धादुग्धधिया**" इत्यादि में भ्रान्त ग्वाले आदिकों को विषय (उपमेयभूत) चन्द्रिकादि का ("आदि" पद से चन्द्रि-काशवलित कुवलयादि का ग्रहण होता है) ज्ञान ही नहीं है [चन्द्रिकात्वेन ज्ञान ही नहीं है, शुक्तिकादि में रजतत्वादि की भ्रान्ति वाले व्यक्ति के शुक्तिकादि ज्ञान की तरह। क्योंकि चन्द्रिकात्वेन ज्ञान होने पर दुग्ध की भ्रान्ति से गायों के स्तनों के नीचे घड़े रखे नहीं जा सकते थे।

प्रश्न—"**न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका**" इससे मालूम पड़ता है कि उनको चन्द्रिकात्वेन ज्ञान है। इसका **समाधान** करते है—] क्योंकि उस (चन्द्रिकादि के अज्ञान) का वर्णन तो कवि ने किया है। **इहेति**—किन्तु यहाँ (उत्प्रेक्षा में) तो सम्भावना करने वाले (कवि) को (अथवा उसका वर्णन करने वाले व्यक्ति को) विषय (उपमेयभूत) का भी ज्ञान रहता है यही दोनों में भेद है।

टिप्पणी—**आशय यह है कि**—शुक्तिका को देखकर "**रजतमिदम्**" इस ज्ञान-रूप भ्रम में शुक्तिका की प्रतीति ही नहीं होती है किन्तु केवल चाँदी की हीं प्रतीति होती है क्योंकि भ्रम निश्चय रूप होता है और एकमात्र विषयक होता हैं। "**स्थाणुः पुरुषो वा**" यहाँ स्थाणु और पुरुष के उभय रूप होने से संशय विषयक पदार्थ को दूर से देखकर किसी भी कारण से "**सम्भावये स्थाणुत्वोयम्**" इस ज्ञान वाली सम्भा-वना में तो "**स्थाणुर्हि कथञ्चिदपि निश्चितरूपत्वेनावभासते, पुरूषस्तु अनिश्यितरूप-त्वेनैव, सम्भावनाया, संशयविषयरूपत्वेन नानाविषयकत्वात्**"। और इसप्रकार भ्रम और सम्भावना के व्यतिरेक से "**यत्र वाक्यगृहीतस्य पुरुषस्य भ्रमस्तत्र** भ्रान्तिमाना-लङ्कारः **यत्र तु सम्भावना** तत्रोत्प्रेक्षाअलङ्कारः इति॥

अवतरणिका—(१) **सन्देहालङ्कार** और **उत्प्रेक्षालङ्कार** में भेद बताते है।

प्रश्न—यदि सम्भावना संशयविशेषरूप ही हैं तो '**उरुः कुरङ्गकदृशः**" इत्यादि में **सन्देहालंकार** ही स्वीकार कर लिया जावे ? इसलिये कहते है कि—

संदेहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः। इह तूत्कटा संभाव्यभूतैका कोटिः। अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते। इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः।

'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥'

अर्थ—सन्देहालंकार (के **"किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवावल्लरी"** इत्यादि उदाहरण) में समकक्ष होने से (उपमान और उपमेय) दोनों कोटि की प्रतीति होती है। और यहाँ (**उत्प्रेक्षा में**) निश्चित प्रायः सम्भाव्यमान (अनिर्धारित स्वरूप) एक कोटि (की प्रतीति होती) है, (यही दोनों में भेद है)।

टिप्पणी—अतः, सन्देह और उत्प्रेक्षा के व्यतिरेक से **"उरुः कुरङ्गकदृशः"** इत्यादि में स्मरविजयस्तम्भादि रूप एक विषय में ही निश्चितता की प्रतीति होने से **उत्प्रेक्षा** ही है।

अवतरणिका—(१) **अतिशयोक्ति** और **उत्प्रेक्षा** में भेद बताते है।

प्रश्नः—अच्छा, तो इसप्रकार अध्यवसाय के सम्भावना रूप होने से **"उरूः कुरङ्गकदृशः"** इत्यादि उदाहरण में अतिशयोक्ति ही मान ली जावे ? इसका समाधान करते है।

अर्थ—**अतिशयोक्ति** (के उदाहरण **'कथमुपरिकलापिन कलाप'** इत्यादि) में (अन्वय ज्ञान के समय यथार्थ रूप से) प्रतीत हुये विषयी (आरोप्यमाण उपमान) की शाब्दबोध के अनन्तर अवास्तविकता प्रतीत होती है। [साक्षात् अवास्तविकता का ज्ञान कराने वाले इवादि पदों के अन्वय की अनुपपत्ति नहीं होती है परन्तु विचार करने पर अन्त में अन्वय असम्भवता ज्ञात होती है।] किन्तु (**उत्प्रेक्षा में**) प्रतीति के समय में ही [अन्वय के ज्ञान के समय में ही आरोप्यमाण उपमान (विषयी) की असत्यता ज्ञात होती है।] यही (इन दोनों में) भेद है।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि **'वाच्योत्प्रेक्षा'** में साक्षात् अवास्तविकता का ज्ञान कराने वाले इवादि पदों की और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** में अन्वय की अनुपपत्ति की प्रतीति ज्ञान काल में ही रहती है। अतः अन्वय व्यतिरेक से **'उरूः कुरङ्गकदृशः'** इत्यादि में शाब्दबोध के साथ ही स्मरविजयस्तम्भादि की अयथार्थतता का ज्ञान होने से **उत्प्रेक्षा** ही है।

अवतरणिका—**उत्प्रेक्षालङ्कार** के विषय में ही **अलंकारसर्वस्वकारादि** किन्हीं उदाहरणों में सन्देहालंकार मानते है ? इस मत का खण्डन करते है।

अर्थ—[**प्रसंग**—**किरातार्जुनीय** के नवम सर्ग में प्रगाढ़ अन्धकार का यह वर्णन है।] **रञ्जितेति**—अन्धकार ने अनेक प्रकार के वृक्ष पर्वतादिकों को [**तरुशैलाः—तरवः शैलाइवेति, तरवः एव शैला इति वा, तरुभिरुपलक्षिताः शैला इति वा-इति**] क्या नीले रंग से रंग दिया है ? आकाश को क्या ऊपर से नीचे झुका दिया है ? अथवा क्या आच्छादित कर दिया है ? पृथिवी के ऊँचे नीचे स्थानों को क्या भर दिया है ? दिशाओं को क्या एकत्र इकट्ठा कर दिया है ?

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रञ्जनादिरूपेण संदिह्यत इति संदेहालङ्कार इति केचिदाहुः, तन्न–एकविषये समानबलतयानेककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात् । इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसंबन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च ।

अन्ये तु–'अनेकत्वनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैककोट्यधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः' इति वदन्ति स्म, तदप्ययुक्तम् । निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिर्हि संभावना । तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावात् नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता । अलमदृष्टसंदेहप्रकारकल्पनया ।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में **अलंकारसर्वस्वकारादि** के मतानुसार **सन्देहालंकार** दिखाते हैं ।) **इत्यत्रेति**—यहाँ पर (उक्त उदाहरण में) जो तरू आदि में अन्धकार की आक्रान्तता रञ्जनादि के रूप से (**"अयं मार्तण्डः किमु"** इत्यादि में राजा सूर्यादि रूप से) सन्दिग्ध की जाती है, यह **सन्देहालंकार** हैं—ऐसा कुछ (**अलंकारसर्वस्वकारादि**) कहते है । [इस मत का खण्डन करते है ।] **तन्नेति**–यह ठीक नहीं, (क्योंकि) एक विषय (उपमेय) में (उपमान के) समकक्ष होने के कारण अनेक कोटि की प्रतीति होना ही (**यथा "स्थाणुर्वापुरुषोवा"**) **सन्देहालंकार** कहलाता है । यहाँ (**उत्प्रेक्षा में**) तो तरू-शैल-गगन-पृथिवी और दिशा में (अन्धकाररूप कर्त्ता की) व्याप्तिका प्रत्येक सम्बन्धी पदार्थ में (अर्थात् तरू-शैल-गगन-पृथिवी और दिशा में) रञ्जनादि एक एक रूप से भेद हैं । [यहाँ ज्ञान की कहीं भी अनेक कोटि नहीं है । तथा च—एक विषयक अनेक कोटि के ज्ञान का अभाव होने से यह **सन्देहालंकार** नहीं है । **प्रश्न**—अन्धकार से तरु शैलादि को व्याप्त करना, रञ्जन नहीं—इत्यादिक अनेक कोटि के ज्ञान वाले अनेक ही सन्देह है, अतः **सन्देहालंकार** है ? इसका **समाधान** करते हैं ।] **व्यापनादेति**—(अन्धकार के) व्यापन आदि का निगरण करके रञ्जनादि ("आदि" पद से नापन आदि का ग्रहण होता है) ज्ञान होता है ।

टिप्पणी—यदि प्रकृत उदाहरण में व्यापन अथवा रञ्जन इसप्रकार की समकक्षता होती तभी **सन्देहालंकार** होता, परन्तु यहाँ तो व्यापन को निगीर्ण करके रञ्जन की प्रतीति होने से **सन्देहालंकार** नहीं हैं ।

अवतरणिका—सम्प्रति अन्य मत का खण्डन करने के लिये उस मत का प्रतिपादन करते है ।

अर्थ—अन्य तो "**अनेक प्रकार से** (रञ्जन–नापनादि अनेक प्रकार से) **निर्धारणरूप चमत्कार के आश्रय होने से** (अलंकार की आवश्यकता के प्रति यह कारण है) **एककोटि के अधिक होने पर भी** (यहाँ व्यापन रूप कोटि हीनवला है और रञ्जन रूप कोटि अधिकबला है) यह (सामान्य सन्देह से) **भिन्न सन्देहालंकार का भेद है**" ऐसा कहते हैं । [इस मत का खण्डन करते हैं ।] **तदपीति**—यह भी ठीक नहीं है, (क्योंकि) निर्गीणस्वरूप (विषय) की (अन्य विषयी) के साथ अभेद ज्ञान की प्रतीति ही सम्भावना कहलाती है ।

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

इत्यत्र 'मन्ये' शब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सम्भावनाया अप्रतीतेर्वितर्कमात्रं नासावपह्नवोत्प्रेक्षा ।

[यह उत्प्रेक्षा की घटक सम्भावना का लक्षण है ।] और उस (सम्भावना) के स्पष्ट रूप से यहाँ उपलब्ध होने से (तथा च "रञ्जतानु" इत्यादि में विषय (उपमेय) रूप अन्धकार कर्तृक व्यापन का ग्रहण न करने से निर्गीण स्वरूपता है, और विषयी (उपमान) रूप रञ्जनादि शब्द से ग्रहण होने के कारण प्रधान हैं, और दोनों की अभेद ज्ञान रूप सम्भावना स्पष्ट ही अनुभववेद्य है **प्रश्नः**—अच्छा, तो इस प्रकार निर्गीर्ण होने से **अतिशयोक्ति** की प्रसक्ति होती है ? अतः कहते है कि] **नु शब्देनेति**—और "नु" शब्द से "इव" शब्द की तरह उस (सम्भावना) के द्योतन करने से यह ("**रञ्जितानु** इत्यादि) उत्प्रेक्षा ही हो सकती है, (इससे **अतिशयोक्ति** का निराकरण कर दिया) अतः (किसी भी ग्रन्थ में दूसरों के द्वारा) अनालोचित सन्देह विशेष की कल्पना नहीं करनी चाहिये । [अर्थात एक कोटिक ज्ञान के प्रबल होने पर भी निर्धारण न होने से ही भिन्न सन्देह विशेष की कल्पना नहीं करनीं चाहिये क्योंकि साधारण सन्देह के होने पर नवीन सन्देह विशेष की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं है ।]

अवतरणिका—"**यदेतच्चन्द्रान्तः**" इत्यादि पद्य में उत्प्रेक्षावाचक शब्द के निवेश-मात्र से ही उत्प्रेक्षा है–इस **सरस्वतीकण्ठाभरणकार** के मत का निराकरण करते है—

अर्थ—[**प्रसङ्ग**—किसी राजा की यह स्तुति है ।] **यदेतदिति**—चन्द्रमा के मध्य में जो यह (दिखाई देने वाली मलिन (वस्तु) क्षुद्रमेघ खण्ड की शोभा को फैला रहा है, संसार उस (वस्तु) को 'खरगोश' ऐसा कहता है (किन्तु) मेरे लिये (तो वह वस्तु) वैसी ('खरगोश' के रूप में) नहीं है । [अर्थात् अन्य व्यक्ति उसको खरगोश कहे. पर मैं तो उसे ऐसा नहीं समझता हूँ । क्योंकि मुझे उसके खरगोश न होने का पूर्ण निश्चय है ।] मैं तो चन्द्रमा को तुम्हारे (युद्ध में मारे हुये) शत्रुओं की विरह-वेदना से पराभूत अर्थात् विरहिणी रमणियों के कटाक्ष रूपी उल्कापात से विक्षत चिह्न विशेष रूपी कलङ्क से चिह्नित शरीर वाला समझता हूँ ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**मन्ये**" (इस क्रिया पद) शब्द का प्रयोग होने पर भी उक्त स्वरूप वाली ("**निगीर्णस्वरूपस्य अन्यतादात्म्यप्रतीतिर्हि सम्भावना**" **इति**) सम्भावना की प्रतीति न होने से [उक्त उदाहरण में शशक और तथाविध किण कलङ्क में विषय और विषयी (उपमेयोपमान) भाव नहीं हैं क्योंकि निगीर्ण स्वरूप विषय की विषयी के साथ तादात्म्य की प्रतीति हीं सम्भावना कहलाती है ।] केवल वितर्क (नामक व्यभिचारी भाव) है, वह अपह्नुतिमूलोत्प्रेक्षा नहीं है ।

टिप्पणी—(१) सारांश यह है कि—"यदेतत्" इससे जो कोई भी अनिर्दिष्ट स्वरूप वाली वस्तु प्रस्तुत रूप से अभिमत है, उसीको ही शशक रूप से निषेध करके तथाविध कलंक रूप से स्थापन करने पर भी शशक और तथाविध किणकलंक का परस्पर उपमेयोपमानभाव नहीं है, अतः अपह्नुति का विषय नहीं है, और सम्भावना का विषय न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा भी नहीं है। अपितु वितर्क नामक व्यभिचारी-भाव राज विषयक रति भाव का अंग है—यह **रसवदलंकार** में देखना चाहिये।

(२) सुगमता के लिये उत्प्रेक्षालंकार के भेदों का संकलन करते हैं—

(१) **वाच्योत्प्रेक्षा** (२) प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—इस प्रकार पहले दो भेद होते हैं। उनमें से वाच्योत्प्रेक्षा के ११२ भेद होते हैं—

वाच्या—११२

स्वरूपगताः ३२
- जातेः — भावाभिमाने अभवाभिमाने चैकैकमिति द्वौ; प्रत्येकमेवानयोश्च गुणनिमित्तकत्वेन, क्रियानिमित्तिकत्वेन च द्वैविध्यान् चत्वारः। ४
- गुणस्य दर्शित क्रमेण ४
- क्रियायाः दर्शित क्रमेण ४
- द्रव्यस्य दर्शित क्रमेण .... ४ = १६

षोडशानामेषाञ्च निमित्तस्य उपादानात् अनुपादानाच्च द्वैविध्येन द्वात्रिंशत् भेदाः— ३२

फलगताः १२
- द्रव्यस्य फलोत्प्रेक्षाया अभावात्— ......
- जाते—भावाभिमानिदिदर्शिताक्रमेण ४
- गुणस्य— " ४
- क्रियाया " ...... ४ = १२

हेतुगताः १२ / ५६
- द्रव्यस्य हेतूत्प्रेक्षाया अप्यभावात् त्रिपर्वेव; जाते—भावाभिमानादिना दर्शित क्रमेण ४
- गुणस्य " ४
- क्रियायाः " ......४ = १२

षट् पञ्चाशत्प्रकाराणाञ्चैषां प्रत्येकमेव प्रस्तुतस्य प्रतिपादनया अप्रतिपादनया च पुनर्द्वैविध्यात् द्वादशाधिकशत प्रकारा जायन्ते ॥ ११२

प्रतीयमाना—६४

फलगता १६
- प्रतीयमानायां स्वरूपोत्प्रेक्षाया अभावात् फलहेतुगतत्वमेव तत्राद्ये,
- जातेः—भावाभिमानादिनादर्शित क्रमेण ४
- गुणस्य " ४
- क्रियायाः " ४
- द्रव्यस्य " ......४ = १६

हेतुगताः १६ / ३२
- जातेः—भावाभिमानादिनादर्शित क्रमेण ४
- गुणस्य " ४
- क्रियायाः " ४
- द्रव्यस्य " ......४ = १६

द्वात्रिंशत् प्रकाराणाञ्चैषां प्रत्येकमेव प्राग्वता प्रस्तुतस्य प्रतिपादनया अप्रतिपादनया च पुनर्द्वैविध्यात् चतुःषष्टिःप्रकाराजायन्ते।

संकलितेन—११२ + ६४ = १७६

सिद्धत्वेऽध्यवासायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ॥४६॥

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

अथ तिशयोक्ति अलंकार निरूपणम्—

अर्थ—[**अतिशयोक्ति अलंकार** का लक्षण) **सिद्धत्वेइति**—अध्यवसाय के (अध्यास के) सिद्ध होने पर [अर्थात् सत्यवस्तु में असत्यात्मा वाली उक्त सम्भावना के ही निश्चित रूप से होने पर अर्थात् कवि की रचना चातुरी से संशय के अंश में अन्तः विद्यमान की तरह निश्चित रूप से परिणत होने पर] अतिशयोक्ति (अतिशयोऽतिशयिता—**प्रसिद्धिमतिकान्ता उक्तिरतिशयोक्तिः**) **नामक अलंकार** कहलाता है।

टिप्पणी—(१) कहा भी है कि—**विवक्षा चाविशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।**
असावतिशयोक्तिः स्यादलङ्कारोत्तमा यथा ॥

इसप्रकार **अतिशयोक्ति** का लक्षण हुआ कि—

"सत्यस्य असत्यात्मना निश्चितरूपा सम्भावना अतिशयोक्तिः ॥"

(२) अतिशयोक्ति अलंकार में साध्यवसानलक्षणामूलक सम्भावना होती है। इसीलिये इसके लक्षण की **रूपकालङ्कार** में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि **रूपक के मूल में सारोपालक्षणा होती है।**

(३) **वाच्योत्प्रेक्षा** में इवादि पदों के होने से और **प्रतीयमानोत्प्रेक्षा** में अन्वय की अनुपपत्ति के कारण संशयात्मिका सम्भावना होती है, किन्तु यहाँ **अतिशयोक्ति** में इवादि पदों के न होने से और अन्वय की उपपत्ति से निश्चयात्मिका सम्भावना होती है अतः इसके लक्षण की **उत्प्रेक्षा** में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

(४) **निश्चयान्तसन्देहालङ्कार** में पहले संशय की उपलब्धि होती हैं और यहाँ **अतिशयोक्ति** में तो सर्वदैव कवि की रचना चातुरी से संशय की अनुपलब्धि है, अतः इसके लक्षण की **निश्चयान्तसन्देहालङ्कार** में भी अति प्रसक्ति नहीं है।

(५) **भ्रान्तिमान् अलङ्कार** में भ्रम के एक कोटिक होने से भ्रान्त व्यक्तियों को सत्य पदार्थ का ज्ञान होता ही नहीं है, किन्तु यहाँ **अतिशयोक्ति** में तो सम्भावना के द्विकोटिक होने से सम्भावना करने वाले व्यक्ति को सत्य और असत्य दोनों ही पदार्थों का ज्ञान रहता है, अतः इसके लक्षण की **भ्रान्तिमान् अलङ्कार** में भी अतिव्याप्ति नहीं होती है।

अर्थ--(**अध्यवसाय** का लक्षण) **विषयेति**—विषय (प्रकृत) का [**"यत्र अध्यवसीयते-आरोप्यते स विषयः** अर्थात् सत्यवस्तु—उसका] निगरण करके (यथाकथञ्चित गौण करके) विषयी (आरोप्यमाण अप्रकृत) के [यः **"खलु अध्यवसीयते सविषयी अर्थात्** असत्यवस्तुनिर्गीणरूप असत्यवस्तु उसके अभेद का ज्ञान **"अध्यवसाय"** (कहलाता) है। [अर्थात् निगीर्णरूप सत्य वस्तु के साथ असत्य वस्तु का अभेद ज्ञान **अध्यवसाय** कहलाता है।] (**"सिद्धत्वे"** इसकी व्यावृत्तिपूर्वक **उत्प्रेक्षालङ्कार** से इसकी भिन्नता दिखाते हैं।)

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम्, । इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरिति सिद्धत्वम् । विषयनिगरणं चोत्प्रेक्षयां विषयस्याधः—करणमात्रेण । इहापि मुखं द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ ।
यदाहुः—

'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ।।' इति ।

अस्येति—और इस (अध्यवसाय) की **उत्प्रेक्षालंकार** में विषयी (असत्यवस्तु उपमेय) के अनिश्चित रूप से (संशय विशेष रूप सम्भावना के वाचक इवादि पदों के होने से सन्देह की विषयीभूत रूप से) प्रतिपादन होने से साध्यता (प्रमाणादि के द्वारा साधनीयता) होती है, (और) यहाँ (**अतिशयोक्ति** में) निश्चितरूप से ही (विषयी की) प्रतीति होती है, अतः (अध्यवसायकी) सिद्धता है । [**तथाहि**—जिस-प्रकार व्यवहार में कोई दूर से पुरुष की आकृति वाली वस्तु को देखकर "यह पुरुष है या नहीं" इसप्रकार सन्देह करने से, क्रमशः हस्तपादादि अवयवों को देखकर "यह पुरुष ही है" इसप्रकार की तादात्म्य बुद्धि पहले अनिष्पन्न ही निष्पन्न होती है, परन्तु शुक्तिका को देखकर "यह चाँदी है" यह निर्णय हो जाने पर तो तादात्म्य बुद्धि निष्पन्न ही होती है, इसप्रकार उसकी हेतु की अपेक्षा नहीं होती है, इसी-प्रकार से यहाँ पर भी है । अर्थात् उत्प्रेक्षा और **अतिशयोक्ति अलंकार** में तादात्म्य बुद्धि के साध्य और सिद्ध होने से भिन्नता प्रतीत होती है] **प्रश्न**—यदि उत्प्रेक्षा-लंकार में विषय का निगरण हो तभी उसके निराकरण के लिये "**सिद्धत्व**" विशेषण उचित हो सकता है, अन्यथा नहीं । इसप्रकार उत्प्रेक्षा में विषयका निगरण न होने से और उसमें अति प्रसक्ति के निवारण के लिये "सिद्धत्व" विशेष्य ठीक नहीं है । इसलिये कहते हैं कि—**विषयनिगरणमिति**—और विषय का [सत्यपदार्थ का) निगरण **उत्प्रेक्षालंकार** में विषय के अधः कारणमात्र से (हो जाता) है । [इसप्रकार **उत्प्रेक्षा** में विषय का अधःकरण ही विषय निगरण होता है ।] और यहाँ (अतिशयोक्ति में) भी "**मुखं द्वितीयश्चन्द्रः**" इत्यादि में (विषय निगरण) है ही—क्योंकि, कहा है कि **विषयस्येति**—(**निगीर्ण** का लक्षण) विद्वान् विषय (सत्यवस्तु) का शब्द से प्रतिपादन न करने पर भी अथवा शब्द से प्रतिपादन करने पर भी (विषय के) केवल गुणीभूत हो जाने से (विषय का) निगरण कहते हैं ।

टिप्पणी—(१) **केचित्तु** कुछ "निगरण" की व्याख्या इसप्रकार करते हैं कि "निगरण" का अर्थ है अधःकरण । यह "अधःकरणः" भी स्पष्ट नहीं है, अतः विशेषार्थक शब्द के बिना व्यञ्जना के द्वारा ही विषय की निषेध बुद्धि "अधःकरण" कहलाता है । **अपह्नुति** और **निश्चयालंकार** में निषेधार्थक शब्द ही होता है, अतः उनमें निषेध की व्यञ्जना भी नहीं होती है । **रूपक** में तो चन्द्रमा के तादात्म्य से ही मुख की प्रतीति होती है, मुख निषेध की प्रतीति नहीं होती है । **अपह्नुतिअलंकार** के व्यंग्य होने पर तो वह अलंकार ही नहीं होता है अपितु **अपह्नुतिध्वनि** होती है । इसमें अलंकार पद का प्रयोग ब्राह्मण श्रमण न्याय से औपचारिक ही होता है किन्तु अपह्नुति ध्वनि वाले अपह्नुति में ही अतिव्याप्ति है, अतः **अतिशयोक्ति** में अन्यपूर्वक अन्य के तादात्म्य का आरोप होता है—यही इन दोनों में भेद है । ऐसा कहते हैं ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ॥४७॥

तद्विपर्ययौ अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः । सा अतिशयोक्तिः । अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

---

(२) अलङ्कारसर्वस्वकोरादि—अध्यवसाय को दो प्रकार का मानते हैं (१) साध्य और (२) सिद्ध ।

साध्य का लक्षण—यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः, यस्यासत्यत्वं तस्य सत्यत्वप्रतीतावध्यवसायः साध्यः ।

सिद्ध का लक्षण—यत्र विषयिणो वस्तुतोऽसत्यस्यापि सत्यतया प्रतीतिः ।

(३) तुल्य विजय होने के कारण उत्प्रेक्षालंकार में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये "सिद्धत्वे" इस विशेषण का उपादान किया है ।

अवतरणिका—सम्प्रति अतिशयोक्ति अलंकार के पाँच भेदों का निरूपण करते हैं ।

अर्थ—(अतिशयोक्ति अलंकार के ५ भेद) भेदेइति (१) भेद होने पर भी (सत्य से असत्य पदार्थ के भिन्न होने पर भी) अभेद का ज्ञान, (२) (सत्य पदार्थ का) सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध (की सम्भावना) का न होना; (३-४) उन दोनों का (अर्थात् भेद होने पर भी अभेद का ज्ञान और सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध का न होना) विपरीत अर्थात्—(३) अभेद होने पर भी भेद की सम्भावना, और (४) असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध की सम्भावना, (५) तथा कार्य और कारण का विपर्यास (अर्थात् पूर्ववर्तित्व और परवतित्व का उल्लंघन)—इस कारण से (ततः) वह (अतिशयोक्ति) पाँच (५) प्रकार की होती है । [कारिकास्थ कठिन पदों की व्याख्या करते हैं ।] तद्विपर्ययाविति—तद्विपर्ययौ अभेद में भेद और असम्बन्ध में सम्बन्ध । सा=अतिशयोक्ति ।

टिप्पणी—(१) अतिशयोक्ति ५ प्रकार की होती है—(१) भेदेऽभेदः (२) अभेदे भेदः (३) सम्बन्धेऽसम्बन्धः (४) असम्बन्धे सम्बन्धः और (५) कार्यकारणयोः पौर्वापर्यव्यत्ययासः ॥

(२) पौर्वापर्यात्यय दो प्रकार का होता है—

(क) पूर्वोत्पन्ने परोत्पन्नत्वारोपः, परोत्पन्ने पूर्वोत्पन्नत्वारोपः इति ।

(ख) क्रमोत्पन्ने समकालोत्पन्नत्वारोः इति ॥

(३) यह अतिशयोक्ति वेद में और स्मृति में भी दिखाई देती है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरकं पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति"
या निशासर्वभूतानां तस्यां जागर्ति सेयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।

अर्थ—इन (पाँच भेदों) में से भेद में अभेद (का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत्—

"कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति तस्य तलेऽष्टीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥"
अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः ।

कथमिति—[**प्रसङ्ग**—किसी नायिका के केशपाश का वर्णन है ।] ऊपर अर्थात् सिर पर मयूर की (**कलापः—वर्हमस्यास्तीति कलापी**) पूँछ कैसे ?

[इस नायिका के सिर पर मयूर की पूँछ कैसे है ? यह बड़े आश्चर्य की बात है क्योंकि मयूर के पीछे तो पूंछ सर्वदा ही देखी जाती हैं,–यह केशों का वर्णन है ।] उस (मयूर की पूँछ) के नीचे अष्टमी का चन्द्रमा कैसे सुशोभित हो रहा है ? [अष्टमी का चन्द्रमा तो शिवजी के मस्तक पर है, वह मयूर पुच्छ के नीचे कैसे ? यह परम आश्चर्य है । —यह भाल का वर्णन है ।] उस (अष्टमी चन्द्रमा) के (नीचे) चञ्चल दो नीलकमल कैसे (सुशोभित है ?) [नीलकमल सरोवर में दिखाई देते हैं, वे अष्टमी के चन्द्रमा के नीचे कैसे ? यह महत् आश्चर्य है । दोनों नेत्रों का वर्णन है ।] 'उन (नीलकमलों) के नीचे तिल का पुष्प (कैसे सुशोभित हो रहा है ?) [तिल का पुष्प तो प्रायः तिल के वृक्ष के ऊपर होता है,] वह नीलकमल के नीचे कैसे ? यह बड़ा ही आश्चर्य है । यह नासिका का वर्णन है ।] इस (तिल पुष्प के (नीचे) विद्रुम अथवा नवीन पल्लव (कैसे शोभित हो रहा है ?) [तिल पुष्प के नीचे तो वृन्त ही दिखाई देता है, यहाँ प्रवाल कैसे ? यह महान् आश्चर्य है । —यह ओष्ठ का वर्णन है ।]

टिप्पणी—यहाँ कान्ता के केशपाशदि से भिन्न होते हुये भी मयूरकलापादिका अभिन्न रूप से अध्यवसान किया गया है ।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कान्ता के केशपाशदिका ("आदि" पद से ललाट-लोचन-नासिका और अधर का ग्रहण होता है ।) मयूरकलापादि के साथ ('आदि' पद से अष्टमीन्दुखण्ड, कुवलय तिलकुसुम—और प्रवाल का ग्रहण होता है ।) अभिन्न रूप से अध्यवसाय है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ कामिनी को केशपाशदिरूप से प्रत्यक्ष देखा है, अतः केशपाशदि ही सत्य है कलापादि रूप में प्रत्यक्ष न देखने के कारण ये असत्य भूत है—अतः केशपाशदिकों का कलापादिरूप से अध्यवसान होने से लक्षण घटित हो जाता है ।

(२) यहाँ कलापी के रूप में प्रशस्त केशपाशा कामिनी, मयूरीपिच्छ के रूप में केशपाश, अष्टमी के चन्द्रमा के रूप में ललाट, दो नीलकमलों के रूप में लोचनद्वय, तिलपुष्प के रूप में नासिका और प्रवाल के रूप में अधर अध्यवसित हुआ है । केशपाशदिकों का कलापादिकों के साथ परस्पर भेद होने पर भी, अतिशय सादृश्यके कारण अध्यवसाय होने से **भेद में अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्ति** समझनी चाहिये ।

(३) यहाँ आरोप के विषय केशपाशदिकों का उपादान न करने से ही निषेध का व्यञ्जना रूप अधःकरण है । इसीप्रकार आगे भी विषय का अनुपादान करने पर समझ लेना चाहिये ।) विषय का उपादान करने पर तो **रूपकालङ्कार** ही कहा जाता है ।

यथा वा—'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्'। अत्र चेतनगतमौनित्वमन्यत्, अचेतनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः।

एवम्—

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः।'

अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः

अवतरणिका—सादृश्यमूलक—अभेदारोपरूपातिशयोक्ति का उदाहरण देकर सम्प्रति एक शब्द प्रतिपाद्यत्वमूलक **अभेदारोपरूपातिशयोक्ति** का उदाहरण देते हैं।

अर्थ—(साहित्यदर्पणकार अपने निर्मित पद्य के विषय में अप्रामाणिकता की आशङ्का से प्राचीन उदाहरण को उदाहृत करते हैं।) **यथावेति**—अथवा—**"विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्"** (–इसकी व्याख्या पृष्ठ पर की जाती है।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) चेतनगत मौनता (वचन का न कहना) और होती है और अचेतनगत (मौनता = ध्वनि का अभाव) और होती है—इस प्रकार दोनों के अन्दर **भिन्नता होने पर भी अभिन्नता है।**

टिप्पणी—(१) इसकी टिप्पणी में परस्पर अत्यन्त भेद की सूचना देने के लिये **दो "अन्यत्"** शब्दों का ग्रहण किया है।

(२) मनुष्य के अन्दर होने वाली चेतनगत मौनता का तात्पर्य है, वास्तव में वाचसंयम अर्थात् वाणी न कहना। तथा नूपुरादि अचेतनगत मौनता का तात्पर्य है, शब्दमात्र का न होना—इसप्रकार भेद होने पर भी प्रकृत उदाहरण में मौनता का तात्पर्य दोनों ही स्थलों पर ध्वनि की अभावरूपता ही है। पहले के अन्दर अभिधा शक्ति है और दूसरे के अन्दर लक्षणा शक्ति है—श्लेष के कारण उन दोनों से एक बार में ही दोनों की प्रतीति हो जाती है। अतः उन दोनों के अन्दर **भेद होने पर भी अभेद का अध्यवसाय होने से अतिशयोक्ति है।**

अवतरणिका—सम्प्रति केवल अभिधा शक्ति से उपपादित श्लेष का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—इसी प्रकार **प्रिय (पति) यौवन में इस (नायिका) के अधर रूपी पल्लव के साथ लालिमा** अन्यत्र **अनुराग को प्राप्त हुआ।** [अर्थात् जैसे-जैसे अधर पल्लव लाल होता गया वैसे-वैसे ही पति भी उस नायिका में अनुराग युक्त होता गया।] (लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—अधर का राग लालिमा है, (और) प्रिय का राग प्रेम है—दोनों में ही ("राग" पद के श्लिष्ट होने से) अभेद है।

टिप्पणी—लालिमा और प्रेम में भेद होने पर भी अभिधा शक्ति से प्रतिपाद्य "राग" पद के श्लेष से प्रिय में प्रेमात्मक राग के सत्य होने पर भी प्रिय में असत्य लालिमा रूप राग की सम्भावना से अभेदाध्यवसाय होने के कारण **अतिशयोक्ति है।**

अभेदे भेदो यथा—

> अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
> तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

> 'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः ।
> शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

अर्थ—(२) **अभेद में भेदातिशयोक्ति** (का उदाहरण) **यथा—अन्यदिति—** उस कमलपत्र के समान विशाल सुन्दर नयनी (नायिका) की शारीरिक सौन्दर्य अलौकिक ही है, [अर्थात् साधारण नायिका के सौन्दर्य से भिन्न है।] (उसकी) गुण परम्परा असाधारण है, [अर्थात् साधारण नायिकाओं से विलक्षण है।] (और) सरसता लोकातीत ही है, अर्थात् अलौकिक है।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में अन्य नायिकाओं के अन्दर जैसा सौन्दर्यादिक है, वैसा ही लावण्यादिक उस नायिका में भी है—इसप्रकार लावण्यादिक में अभेद होने पर भी असाधारण लावण्यादि से भेद का अध्यवसाय करने से **अतिशयोक्ति** है।

(२) "**सौरभसम्पदः**" यहाँ पर तो **भेद में अभेदातिशयोक्ति** है क्योंकि माधुर्यादि गुणों के सौरभ सम्पत्ति से भिन्न होने पर भी अभिन्न रूप से अध्यवसित हुये हैं।

अर्थ—(३) **सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध** (का उदाहरण) **यथा—अस्या इति—[प्रसङ्ग—विक्रमोर्वशीयत्रोटक** के प्रथम अङ्क में उर्वशी को देखकर राजा पुरुखा की यह वितर्क परम्परा है।] इस (सुन्दरी-उर्वशी) के निर्माण करनेमें क्या सौन्दर्य का प्रदान करने वाला चन्द्रमा प्रजापति अर्थात् स्रष्टा था? [क्योंकि अपूर्व कान्ति की सृष्टि चन्द्रमा से ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा ऐसी कान्ति कैसे सम्भव है। अर्थात् क्या चन्द्रमा नामक प्रजापति ने इसके सौन्दर्य का निर्माण किया है।] (अथवा) शृङ्गार ही है, मुख्य रस जिसका ऐसा कामदेव ही क्या साक्षात् (स्वयं) प्रजापति था? [क्योंकि शृङ्गार के उद्दीपक रूप सौन्दर्य आदि की सृष्टि उसमें ही सम्भव हो सकती है, अन्यथा कैसे यह इसप्रकार की शृङ्गार को उत्पन्न करने वाली होती?] (अथवा) क्या वसन्तमास अर्थात् चैत्र (प्रजापति था!) [क्योंकि चैत्र के महीने में ही पुष्पों का विकास होता है, अन्यथा इसप्रकार की अतिशय सुकोमलता कैसे हो सकती थी। वसन्तकालीन पुष्पों के समान अङ्गों की सौन्दर्यशलिता का विधान कवि निवद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्तिसिद्ध है। इससे अङ्गों की पुष्पों के समान अतिशय सुकुमारता ध्वनित होती है।] **अथवा**—इस उर्वशी के निर्माण करने में क्या चन्द्रमा सौन्दर्य का आधायक प्रजापति था? अथवा क्या शृङ्गार रस का अनन्यदेवता कामदेव सौन्दर्य का आधायक प्रजापति था? अथवा क्या चैत्र नामक मास सौन्दर्य का आधायक प्रजापति था?

अथवा—"**शृङ्गारैकरसः**" यह चैत्र का भी विशेषण हो सकता है क्योंकि चैत्र का महीना वसन्त का महीना होता है और वसन्त तो काम का उद्दीपक कहलाता ही है।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ।।'
अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बधः ।

प्रश्न—प्रसिद्ध प्रजापति का तिरस्कार करके अन्य अनेक प्रजापति की इस-प्रकार क्यों कल्पना की गई है ? इसका **समाधान** करते हैं—**वेदाभ्यासजडइति**—वेदों का पौनःपुन्येन अनुशीलन करने से कर्तव्यविमूढ (अतएव) विषयों से (भोग्य पदार्थ वनितादिकों से) निवृत्त हो गई है उत्सुकता (कौतूहलः) जिसकी ऐसा वद्ध मननशील (ब्रह्मा) इस प्रकार सुन्दर रूप को (अतिशय सौन्दर्य से सभी की चित्तवृत्ति को आकृष्ट करने वाला) निर्माण करने में किसप्रकार से अथवा किस उपाय से समर्थ हो सकता है ? अर्थात् किसीप्रकार भी समर्थ नहीं हो सकता है । [अतः इस उर्वशी का निर्माण करने वाले चन्द्रादिक ही है, प्रसिद्ध प्रजापति नहीं क्योंकि "**नहि गुणा न भिज्ञो गुणवन्तं निर्मातुं शक्नोति**" इति ।

टिप्पणी—**उर्वशी** के निर्माण की पौराणिकी गाथा इसप्रकार है—प्राचीन काल में भगवान् नारायण को तपस्या करते हुये देखकर "यह अपनी तपस्या से स्वर्ग का अधिपत्य चाहते हैं" इस प्रकार की विचारपरम्परा से डरे हुये देवताओं ने काम-देव को वसन्त और अप्सराओं को साथ ले जाकर उसकी तपस्या भङ्ग करने की आज्ञा दी । कामदेव ने नारायण के पास जाकर वसन्त की सहायता से कामोद्दीपिनी माया का विस्तार किया, और उस समय अप्सराओं ने नृत्य प्रारम्भ किया । परन्तु इन सब आयोजनों से भी वे अप्सरायें उनको मोहित करने में सफल नहीं हुईं, तो वे अत्यधिक भयभीत हुई । भयभीत उन अप्सराओं को सान्त्वना देने के लिये भगवान् नारायण ने अपनी जंघा से अनेक अद्भुत सौन्दर्यशालिनी अप्सराओं का निर्माण करके उनको पकड़ लाने की आज्ञा दी । वे स्वर्ग की अप्सरायें उनमें से एक को लेकर भाग गई । वही यह उर्वशी है ।

नारायणोरुर्निर्भिद्य सम्भूता वरवर्णिनी ।
ऐलस्यदयितादेवी योषिद्रत्नं किमुर्वशी ।।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते है ।) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में दक्षादि की अपेक्षा) प्राचीन (भी) प्रजापति का (उर्वशी के) निर्माण करने के विषय में सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध (दिखाया) है ।

टिप्पणी—(१) यद्यपि सम्पूर्ण संसार की सृष्टि करने से प्रजापति का संसार के अन्दर विद्यमान उर्वशी के साथ भी सर्ज्य-सर्जक भाव से सम्बन्ध है, तथापि उनको वेदों के अभ्यास से जड हो जाने के कारण उसप्रकार की सृष्टि का निर्माण करने में असमर्थ बताया है । अतः स्पष्ट ही **सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध** है, अतः **अतिशयोक्ति** है ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा--

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥'

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः ।

---

(२) **काव्यप्रकाशकार** ने इसको **भेदानुक्तौ सन्देहालङ्कार** का उदाहरण दिया है, वह भी ठीक ही है—क्योंकि—"इस उर्वशी की रचना करने में जो कर्त्ता था वह क्या चन्द्रमा अथवा क्या कामदेव अथवा क्या वसन्त था—इसप्रकार चन्द्रत्वादि-रूप विरुद्ध नानाप्रकार की कोटि वाला संशय है। इसप्रकार यहाँ पर उपमेयभूत प्रजापति अथवा उपमानभूत चन्द्रादि में से किसी का भी वैधर्म्य नहीं कहा है, अतः **भेदानुक्तौ सन्देहालङ्कार** है। "**वेदाभ्यासजडः**" इत्यादि से जाड्यादि धर्म का कथन किया है तथापि जाड्यादि की भेदक धर्मता नहीं है क्योंकि उसके अन्दर उपमान और उपमेय में से किसी एक की भी धर्मता नहीं है। परन्तु जाड्यादि चतुर्मुख ब्रह्मा की सृष्टि कर्तृत्व को निराकरण करते हुये चन्द्रादिकों की सृष्टिकर्तृत्व में संशय की पुष्टि करते हैं। प्रसिद्ध सृष्टिकर्ता ब्रह्मा वेदाभ्यासजड है, अतः वह इसका कर्त्ता नहीं हो सकता—इसीलिये सन्देह किया जाता है कि इसका सृष्टिकर्त्ता कौन है—चन्द्रमा है, कामदेव है अथवा वसन्त है। इसलिये पूर्वार्ध में **सन्देहालङ्कार** है और उत्तरार्ध में **अतिशयोक्ति** है—अतः इन दोनों के एकाश्रयानुप्रवेश होने से **संकर** ही है।

अर्थ—(४) **असम्बन्ध में सम्बन्ध** (का उदाहरण) **यथा—यदीति**—यदि चन्द्रमा के मण्डल में दो नीलकमल (किसी भी कारण से) लग जावें, तब मनोहर नयनों वाले उस (कामिनी) का मुख उपमा का विषय बनाया जा सकता है। (अन्यथा नहीं)।

अवतरणिका—प्रश्न—दो नीलकमलों की चन्द्रमण्डल में व्यतिरेक प्रतीति ही होती है, सम्बन्ध का अध्यवसाय कैसे हो सकता है? अतः कहते हैं कि—

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण) में "**यदि**" इस पद के अर्थ बल से आरोपित (आहृतेन) सम्बन्ध के साथ (इन्दीवर के संयोग से) अध्यवसाय से सम्बन्ध (की कल्पना की जाती) है।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार चन्द्रमण्डल में वास्तविक इन्दीवर की संश्लिष्टता नहीं है, तथापि असत्यरूप से संश्लिष्टता का अध्यवसाय किया गया है, अतः **असम्बन्ध में सम्बन्धरूपातिशयोक्ति** है।

(२) **आचार्य दण्डी** इसको "**अद्भुतोपमा**" मानते हैं।

(३) कुछ इसको **कल्पितोपमा** स्वीकार करते हैं।

अवतरणिका—कार्य-कारण के पौर्वापर्य के असत्य का उदाहरण देने से पूर्व विभाग बतलाते हैं।

कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति । कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च ।

क्रमेण यथा—

'प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम् ।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥'
'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम् ॥'

अर्थ—(५) कार्य-कारण के पौर्वापर्य (नियम) का विपर्यय दो प्रकार से हो सकता है । (१) कारण के उत्पन्न होने से पहले कार्य के उत्पन्न होने पर, और (२) दोनों (कार्य और कारण) के समान काल में उत्पन्न होने पर । [यद्यपि कार्य-कारण के पौर्वापर्य विपर्यय के दो प्रकार के होने पर **अतिशयोक्ति** कुल छः प्रकार की होती है, और इसप्रकार **"सा पञ्चधा"** इस प्रतिज्ञा का भङ्ग होता है, तथापि प्राचीन आचार्यों के मतानुरोध से कार्य-कारण के पौर्वापर्य के विपर्यय को एकप्रकार का ही स्वीकार करते हैं ।] **क्रमेणेति**—क्रम से (उदाहरण अर्थात् **"कारण से पूर्व कार्य के होने पर"** का उदाहरण) **यथा**—(१) मृग के नेत्रों के समान नेत्रों वाली (कामिनियों) का चित्त पहले ही (सुरत की) उत्कण्ठा से व्याप्त (हो गया), (और) उसके पश्चात् विकसित कुबुल और आम्र की मञ्जरियों की शोभा (हुई) ।

टिप्पणी—वकुल और आम्रों की विकसित मञ्जरियों को देखने के पश्चात् कामिनियों के हृदय में रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है । अतः यहाँ पर उस प्रकार की मुकुलश्री का दर्शन ही पहले होने से उत्कण्ठा का कारण है, और उत्कण्ठा उसका कार्य है । और उसका पीछे होना ही सत्य है । परन्तु यहाँ पर पीछे उत्पन्न होने वाली उत्कण्ठा का कविवक्तृप्रौढोक्ति के कारण पूर्वभावित्वेन अध्यवसाय होने से स्पष्ट ही कारण से पहले कार्य का वर्णन हो गया है । अतः **कार्य–कारण की पौर्वापर्य विपर्यय रूपातिशयोक्ति है ।**

अर्थ—(२) (**"कार्य और कारण के युगपत् होने पर"** का उदाहरण) **सममेवेति**

[**प्रसङ्ग**—**रघुवंश** के चतुर्थ सर्ग में रघु की राज्य-प्राप्ति का यह वर्णन है ।] हाथी के समान गमनशील रघु ने पितृ सम्बन्धि (पिता से प्राप्त किये) सिंहासन को और शत्रु राजाओं के मण्डल को—इन दोनों को एक समय में ही आरूढ **अन्यत्र** वश में कर लिया ।

टिप्पणी—(१) राजागण पैतृक सिंहासन को प्राप्त करके ही क्रमशः उसकी सेना अन्य सामन्तराष्ट्रों को जीतकर अपने राष्ट्र का विस्तार करते हैं । अतः पैतृक सिंहासन को ग्रहण करना कारण हैं । अतः कारण होने से पहले होना चाहिये और अन्य सामन्तराष्ट्रों को अपने वश में करना कार्य है, अतः कार्य होने से पीछे होना चाहिये । परन्तु इन दोनों को पूर्वापरभावित्वेन वर्णन न करके कविवक्तप्रौढोक्ति के कारण एक समय में ही होने रूप से अध्यवसाय कर दिया है । अतः यहाँ पर **कार्य-कारण के पौर्वापर्य विपर्यय रूपातिशयोक्ति है ।**

इह केचिदाहुः--'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते। केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादिप्रकारेष्वव्याप्तिर्लक्षणस्य' इति।

---

(२) **केचित्**—कुछ आचार्य "**सममेव**" इत्यादि द्वितीय प्रकार को "**धुनोति चासिं तनुते च** कीर्तिम्" इसकी तरह "**समुच्चयालङ्कार**" का विषय मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि "**विरूप**" शब्दों से ही क्रियाओं का उपादान करने पर "**समुच्चय**" माना जाता है। इसप्रकार राज्यमण्डल के आक्रमण रूप कारण के और राजसिंहासनाधिरोहण रूप कार्य के एककालिक रूप से कहने से **पौर्वापर्य बिपर्यय मूला ही अतिशयोक्ति** है।

अवतरणिका—सम्प्रति **अलङ्कारसर्वस्वकार राजानक रूय्यक काव्यप्रकाशकृत्** उक्त **अभेद में** भेदरूपातिशयोक्ति के उदाहरण **कमलयनम्भसि**" इत्यादि की **अभेद में भेदरूपातिशयोक्ति** में अव्याप्ति मानते हैं। अतः उनके मत का खण्डन करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं।

अर्थ—इस विषय में कुछ अर्थात् **अलङ्कारसर्वस्वकार राजानकरूय्यक** कहते हैं—(**भेद में अभेदाध्यवसाय रूप** "**कथमुपरिकलापिनाः कलाया**." इत्यादि पक्ष में) केशपाशदिगत ("अदि" पद से नेत्रादिकों का ग्रहण होता है।) लौकिक (तत्तन्नायिका लोकप्रसिद्ध) अतिशय (अर्थात् लम्बितत्वमसृणत्वादि उत्कर्ष) अलौकिक रूप से (कवि की प्रतिभा से समर्पित विलक्षणता से) अध्यवसित होता है। [इसप्रकार यहाँ पर भी **अभेद में भेदाध्यवसाय रूप ही अतिशयोक्ति** है, **भेद में अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्ति नहीं**] (क्योंकि) केशपाशादिकों का कलापादिकों के साथ ("आदि" पद से कुवलयादिकों का ग्रहण होता है।) अभेदाध्यवसाय (विवक्षित) होने पर "**अन्यदेवाङ्गलावण्यम्**" इत्यादि प्रकारों में ("आदि" पद से "**अन्यल्लावण्यं मन्येव च कापिवर्त्तनच्छाया**" इस **काव्यप्रकाशकृत्** उक्त **अभेद में भेदाध्यवसायादिका** ग्रहण होता है।) लक्षण की ("**सिद्धित्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिः निगद्यते**" इस अतिशयोक्ति के लक्षण की) अव्याप्ति होती है।

टिप्पणी—(१) **इस मत का आशय यह है कि—"अन्यदेवाङ्गलावण्यम्"** इत्यादि उदाहरण में उस नायिका के लावण्यादि में अन्य नायिकाओं के लावण्यादिकों के भेद की ही विद्यमानता से अभेद के न होने से अभेद में ही भेदाध्यावसाय रूपता का अभाव है। प्रत्युत्त लौकिक होने से इस नायिका के सौन्दर्यादि में अलौकिक रूप से अतिरिक्त लावण्यादिकों का अध्यवसाय होने पर तो लक्षणा का समन्वय हो ही सकता है। इसप्रकार **भेद में अभेदाध्यवसाय** के उदाहरण में लौकिकत्व और अलौकिकत्व रूप से ही भेद और अभेद का स्वीकार करना ठीक है, उसीप्रकार से ही "**कथमुपरि**" इत्यादि में भी **अभेद में भेदाध्यवसायरूपातिशयोक्ति** को स्वीकार करना ठीक है।

तन्न, तत्रापि ह्यन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते । तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते । 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्—' इत्यत्र बकुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि पश्चाद्भावित्वेनाध्यवसिता । अत एवात्रापीवशब्दप्रयोगे उत्प्रेक्षा, एवमन्यत्र ।

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥४८॥

अन्येषामप्रस्तुतानाम् । धर्मो गुणक्रियारूपः ।

अर्थ—(उक्त मत का निराकरण करते हैं ।) **तन्नेति**—यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर भी (**अभेद में भेदाध्यवसायरूप अन्यदेवाङ्गलावण्यम्**" इत्यादि में, अन्य अङ्ग का लावण्य अन्य (नायिका के असाधारण) रूप से अध्यवसित होता है । [अतः प्रकृत उदाहरण में **अभेद में भेदाध्यवसाय रूपातिशयोक्ति** का लक्षण समन्वित होने से अव्याप्ति नहीं है ।] **तथाहि**—"**अन्यदेव**" के स्थान पर '**अन्यदिव**' यह पाठ कर देने पर अध्यवसाय के साध्य होने पर **उत्प्रेक्षा** मानी जाती है । [फिर "**इव**" के स्थान पर "एव" होने से जब अध्यवसाय सिद्ध हो गया तो अतिशयोक्ति क्यों न मानी जावे ।] **प्रागेव हरिणाक्षीणाम्**—यहाँ वकुलादि के सौन्दर्य का पहले होना भी पश्चात् भावित्वेन अध्यवसित हुआ है, अत एव यहाँ पर भी "**इव**" शब्द का प्रयोग कर देने पर (**प्रागिव**) **उत्प्रेक्षा** हो जाती है । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र (**भी उत्प्रेक्षा** समझनी चाहिये) ।

टिप्पणी—(१) सर्व सिद्धान्त रूप से **उत्प्रेक्षा** और **अतिशयोक्ति** का विषय भिन्न ही है । अतः एव जहाँ जहाँ "इव" शब्द का प्रयोग हो वहाँ वहाँ सर्वसिद्धान्त रूप से **उत्प्रेक्षा** होती है और जहाँ-जहाँ "एव" शब्द का प्रयोग हो वहाँ "**अतिशयोक्ति**" होती है ।

(२) "**अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभून्मन्ये विधुः कान्तिदः**" यह पाठ कर देने पर **उत्प्रेक्षा** है । इसीप्रकार "**सममेवसमाक्रान्तम्**" यहाँ पर भी "**समामिव**" यह पाठ कर देने पर **उत्प्रेक्षा** ही है ।

अथतुल्ययोगितालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(तुल्ययोगितालंकार का लक्षण) **पदार्थानामिति**—प्रस्तुत (प्रकरण प्राप्त) पदार्थों का अथवा अप्रस्तुत (प्रकरण से अप्राप्त) पदार्थों का जब (गुण और क्रिया में किसी) एक धर्म के साथ संयोग होता है, तब **तुल्ययोगिता नामक अलंकार** होता है । (कारिकास्थ कठिन पदों की व्याख्या करते हैं) **अन्येषामिति**—**अन्येषाम्**—अप्रस्तुत अर्थात् प्रकरण से अप्राप्त पदार्थों का । **धर्मः**—गुणक्रियारूपाः ।

टिप्पणी—(१) लक्षणकारिका में "**वा**" शब्द प्रस्तुत और अप्रस्तुत का व्यवच्छेदक है । अर्थात् यदि प्रस्तुत ही पदार्थों के साथ प्रस्तुत ही पदार्थों का एक धर्म से अर्थात् गुणरूप से, क्रिया रूप से, कर्तृत्वेन, कर्मत्वेन अथवा कारणतादिरूप से सम्बन्ध हो, अथवा यदि अप्रस्तुत ही पदार्थों के साथ अप्रस्तुत ही पदार्थों का उसीप्रकार से ही एक धर्म का सम्बन्ध हो, तब तुल्ययोगिता अलङ्कार होता है ।

उदाहरणम्—

'अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः
कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः।
समयेन तेन सुचिरं शयित-
प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥'

---

(२) तुल्ययोगिता की व्युत्पत्तिः—**तुल्यश्चासौ योगः सम्बन्धश्च अन्वयश्च** तुल्ययोगः—एक धर्मान्वियइत्यर्थः, सोऽस्ति येषांते तुल्ययोगिनस्तेषां भावः तुल्ययोगिता इति ॥

(३) यहाँ औपम्य व्यंग्य होता है क्योंकि उसके प्रयोजक समान धर्म का उपादान होता है, और इवादि वाचक पदों का अभाव होता है तथा धर्मवाचक पदों से तत्तद्रूप से धर्म का भान होने पर भी सादृश्य रूप से भान नहीं होता है। **प्रताप-रूद्रकार ने कहा भी है—**

प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः।
औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥

(४) कारिका के सूत्र रूप होने से **"सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्"** इस नियम के अनुसार **"पदार्थानाम्"** यहाँ बहुवचन अविवक्षित है क्योंकि दो धर्मों के ऐक्य से भी अन्वय में इस तुल्ययोगिता अलङ्कार की स्थिति सम्भव हो सकती है। इसीलिये ही—

"रूङ्कुयन्ति सरोजानि स्वैरिणी वदनानि च"

इत्यादि में **कुवलयानन्दकार** उक्त **तुल्ययोगितालंकार** घटित हो जाता है। और इसीलिये ही—"**प्रिये ! विषादं विजहीहि वाचं प्रियेसरागं वदतिप्रियायाः।**
वारामुदारा विजगालधारा विलोचनाभ्यां मनसश्चमानः ॥

रसगंगाधर कृत यह उदाहरण घटित हो जाता है।

(५) **दीपकालंकार** और **तुल्ययोगितालंकार** में परस्पर भेद—**दीपकालंकार** में अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का अथवा प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत पदार्थ का सादृश्य वाचक और वैधर्म्य वाचक का अभाव होने पर एक धर्म का सम्बन्ध होता है, और यहाँ **तुल्ययोगितालंकार** में प्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का और अप्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत का एक धर्म का सम्बन्ध होता है। यही इन दोनों में परस्पर भेद है।

अर्थ—(१) (क्रिया रूप धर्म सम्बन्ध का) उदाहरण—अनुलेपनानीति—[**प्रसङ्ग—शिशुपालवध** के नवम् सर्ग में यह सन्ध्या का वर्णन है।] उस समय ने अर्थात् सन्ध्याकाल ने अङ्गराग द्रव्यों को (अर्थात् चन्दनादि को) शुक्ल पुष्पों को, पतियों के प्रति मानवती नारियों को (तथा) दीप की ज्वालाओं को (एवं) चिरकाल से पहले प्रसुप्त तदनन्तर उद्दीप्त करने वाले कामदेव को (एक साथ ही) जागरित किया।

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रियाभिसम्बन्धः ।

'तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

एवम्—

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) सन्ध्या वर्णन के प्रस्तुत होने से प्रस्तुत अनुलेपनादिकों का एक बोधन रूप क्रिया के साथ सम्बन्ध है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—सायंकाल कामोद्दीपक होने से प्रस्तुत है, अनुलेपनादिकों की भी कामोद्दीपक रूप से मान का भङ्ग करने में साधन होने से प्रस्तुतता है। अतः इनका **शचित प्रतिबोधितस्मरम्** इस क्रिया विशेषण के साथ "**अबोधिषत**" इस बोधनार्थक एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से **तुल्ययोगितालंकार** है।

अर्थ—(**गुणरूप धर्म सम्बन्ध वाली तुल्ययोगिता** का उदाहरण) तदिति—उस (सुन्दरी) के अङ्गों की सुकुमारता को देखने वाले किस (मनुष्य) के चित्त में मालती का पुष्प चन्द्रमा की कला और कदली की कठोरता नहीं प्रतीत होती है ? अपितु सभी को प्रतीत होती है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ "मालती पद" को कोकनद और इन्दीवर का भी उपलक्षण समझना चाहिये ।

(२) आशय यह है कि उस नायिका के अङ्गों की सुकुमारता की अपेक्षा मालती आदिकों की सुकुमारता अधिक नहीं है ।

(३) प्रतीयमान नायिका को देखने की अपेक्षा मालती की, हाथ, पैर और लोचनादि की अपेक्षा कोकनदादिकों की, मुख की अपेक्षा मृगलाञ्छित चन्द्रमा की और जङ्घा की अपेक्षा कदली की सुकुमारता कुछ भी नहीं है, अहितु कठोरता ही है।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण की योजना करते हैं) **इत्यत्रेति**—यहाँ पर (प्रकृत्त उदाहरण में) अप्रस्तुत मालती आदिकों की (नायिका के वर्णन के ही प्रस्तुत होने के कारण मालती आदिकों की तो उपमानत्वेन अप्रस्तुतता है ।) कठोरता रूप एक गुण के साथ सम्बन्ध है ।

अवतरणिका—अभी तक गुण और क्रिया में से एक का सम्बन्ध होने पर पृथक-पृथक उदाहरण दिखाया । सम्प्रति उन दोनों का ही एक स्थान पर युगपद् सम्बन्ध होने पर उदाहरण दिखाते हैं ।

'दानं वित्ताद्दतं वाचः कीर्त्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥'

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणाक्रियासम्बन्धः ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ।
अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ॥४९॥

अर्थ—इसीप्रकार (**गुण और क्रिया का युगपत् सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगितालंकार का** उदाहरण) **दानमिति**—ईषत्सारवान् वस्तु (असारात्) धन से (साररूप) दान को (ग्रहण करे क्योंकि धन होने का दान देना ही एक प्रयोजन होता है) ईषत् सारवान् वाणी से (साररूप) सत्व को (सञ्चित करे क्योंकि सत्यता के अभाव में वाणी निस्सार है; (ईसत्सारवान्) आयु से (सारभूत) कीर्ति और धर्म को (ग्रहण करे क्योंकि "जिसने कीर्ति अथवा धर्म का अर्जन नहीं किया, उसका जीवन मृत्यु से भी अधम है" इसके अनुसार जीवन का फल कीर्ति और धर्म ही है।) तथा (ईसत्सारवान्) शरीर से पुनः सारभूत परोपकार को ग्रहण करे। [अन्यथा—शरीर विफल है क्योंकि—"**कायेनवाचा मानसा च ये नराः परोपकाराय सदैव दीक्षिताः । त एव धन्याश्च त एव जीविताः**", ऐसा कथन है ।]

(लक्ष्य का समर्थन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रस्तुत उदाहरण में) कर्मभूत दानादिकों का सारता रूप एक गुण का सम्वन्ध होने पर एक उदाहरण क्रिया के साथ (कर्मत्वेन) सम्बन्ध है ।

टिप्पणी—१. इसप्रकार प्रतिवन्धक न होने से युगपत् एक धर्म का सम्बन्ध होने पर भी "**तुल्ययोगिता**" होती ही है ।

अथ दीपकालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**दीपकालंकार** का लक्षण) **अप्रस्तुतेति**—अप्रस्तुत और प्रस्तुत (पदार्थों) में एक धर्म का सम्वन्ध हो अथवा यदि अनेक क्रियाओं में एक कारक हो (तब) **दीपकालंकार** [**दीपयति—अप्रस्तुतमपि पदार्थं बुद्धौ प्रकाशयति अथवा दीप इव दीपकम्**] कहलाता है ।

टिप्पणी (१) "**सूत्रे लिङ्गवचनमतन्यम्**" इस नियम के अनुसार "**अप्रस्तुतम् प्रस्तुतयोः**" यहाँ द्विवचन अविवक्षित है, अतः "**अप्रस्तुतप्रस्तुतानाम्**" इसका भी ग्रहण होता है ।

(२) **सारांश** यह हुआ कि—**सम्मिलित** अप्रस्तुत और प्रस्तुतों में जब एक धर्म का सम्बन्ध हो, तब **दीपक नामक अलंकार** होता है। यहाँ पर भी धर्म को गुण और क्रिया में से किसी एक को समझना चाहिये ।

(३) कारिका के अन्दर '**तु**" इस निपात अव्यय के अनेक अर्थ होने से "साहृश्य वाचक और वैधर्म्य के न होने पर" यह विशेष प्रतीत होता है और सादृश्य

क्रमेणोदाहरणम्—

'वलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च सत्यायोषित एकानुगमनक्रियासम्बन्धः ।

की व्यंग्यता यहाँ पर भी तुल्ययोगिता की तरह है। सम्प्रति सम्पूर्ण लक्षण यह हुआ कि—**"अप्रस्तुत के साथ प्रस्तुतों का अथवा प्रस्तुतों के साथ अप्रस्तुत पदार्थों का सादृश्य वाचक और वैधर्म्य के न होने पर एक धर्म का सम्बन्ध दीपक कहलाता है।"** इसीलिये "तुल्ययोगिता में अतिव्याप्ति नहीं होती है, क्योंकि उसमें (तुल्ययोगिता में) प्रस्तुत के साथ प्रस्तुत का और अप्रस्नुत के साथ अप्रस्तुत का एक धर्माभिसम्बन्ध होता है।

(४) "सादृश्य वाचक पद के न होने पर"-ऐसा कहने के कारण "कमलमिव मुखं मनोज्ञम्" इत्यादि अप्रस्तुत और प्रस्तुत कमल और मुख में मनोज्ञ रूप एक धर्म के होने पर भी सादृश्यवाचक पद "इव" के होने से अतिव्याप्ति नहीं है। इसी-प्रकार—

**त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्वौ सतेजसौ ।
अयं तु युवयोर्भेदः स जडात्मा पटुर्भवान् ॥**

यहाँ पर भी वैधर्म्य के विद्यमान होने पर अतिव्याप्ति नहीं है।

(५) छः कारक निम्न होते हैं—

**कर्त्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणमित्याहुः कारकाणिषड् ॥**

अर्थ—(१) क्रम से उदाहरण—(**प्रथम** दीपिकालङ्कार का उदाहरण) **बलावलेपादिति**—[प्रगङ्ग—शिशुपालवध—के प्रथम सर्ग में यह पद्य हैं] विजय की इच्छा वाला वह (शिशुपाल अपनी शक्ति के गर्व से इस जन्म में भी (अधुनापि) पूर्व-जन्म की तरह (पूर्ववत्) संसार को पीड़ित कर रहा है। (क्योंकि) साध्वी स्त्री की तरह निश्चल प्रवृत्ति भी दूसरे जन्मों में मनुष्य को प्राप्त होती है।

टिप्पणी——मनुजी का कहना है कि—

**पति या नाभिचरित मनोवाक्काय संयता ।
सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः 'साध्वीति कथ्यते ॥**

अर्थ—(उदाहरण की संगति दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत्त उदाहरण में) प्रस्तुत निश्चय प्रकृति का और अप्रस्तुत सती स्त्री का एक अनुगमन रूप क्रिया में में सम्बन्ध है।

टिप्पणी-(१) शिशुपाल के वध के प्रस्तुत होने से उसकी प्रकृति की भी प्रस्तुतता है।

(२) "सतीव योषित् प्रकृतिः सुनिश्चला" इसमें उपमानोपमेय पूर्वक **अर्थान्तरन्यासालङ्कार** है।

'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

इदं मम। अत्रैकस्या नायिकायां उत्थानाद्यनेकक्रियासम्बन्धः।

अर्थ—(द्वितीय कारक दीपकालंकार का उदाहरण) दूरमिति-[**प्रसंग**—किसी नायिका की दूती द्वारा नायक से उसकी विरहावस्था का गर्णन है।] प्राणेश्वर तुम्हारे देशान्तर को चले जाने पर वह वेचारी (तुम्हारी प्रिया नायिका) कामदेव के वाण से विंधी हुई क्षण में (तुमको आया हुआ समझ कर) खड़ी हो जाती है, (क्षण में) सो जाती है, (क्षण में) तुम्हारे निवास गृह की ओर कदाचित् तुम धोखा देने के लिये छिप गये हो, अतः देखने के लिये) आती है। (क्षण में तुमको वहाँ न पाकर निवास-गृह से) बाहर निकलती है (क्षण में तुम्हारी नर्मोक्ति को स्मरण करके) हँसती है, (और क्षण में तुमको दूर गया हुआ समझ कर) उच्छ्वासों को छोड़ती है।

अर्थ—यह (उक्त पद्य) मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणाकारकृत् है। **अत्रेति** यहाँ (उक्त उदाहरण में) एक नायिका का उत्थानादि अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध है।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि प्रकृत उदाहरण में उत्थानादि सभी क्रियाओं का "तत्" पद से प्रतिपाद्य नायिका ही एक कर्तृकारक है, अतः **कारक दीपक** है।

(२) **प्रश्न**—नायिका की विरहावस्था ही वर्णनीय होने से उसमें सम्पूर्ण क्रियाओं के ही प्रस्तुत होने से प्रस्तुत और अप्रस्तुत इन दोनों के न होने से लक्षणा की संगति कैसे घट सकती है?

उत्तर—ठीक है, परन्तु सम्भाव्यमान नायक का आना और आलिङ्गनादि के परस्पर विजातीय होने से एक क्रिया की प्रस्तुतता है और उसकी अन्य क्रियाओं की अप्रस्तुता है ऐसा मान लेने से उक्त दोष नहीं रहता है।

(३) **काव्यप्रकाशकार** के लक्षण के अनुसार दीपक दो प्रकार का होता है। यथा—

"**सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतातात्मनाम्।
सैवक्रियासु बह्वीसु कारकस्येति दीपकम्॥**

(४) **रसगंगाधरकार ने** काव्यप्रकाशकार के **कारक दीपक** के उदाहरण "**स्विद्यति कूणति वेल्लेति**" का खण्डन करके **तुल्ययोगिता** में अन्तर्भाव किया है। यह ठीक नहीं है क्योंकि **भगवान् भरतमुनि** ने भी **दीपकालंकार** को स्वीकृत किया है।

भरतमुनि कृत लक्षण—

**नानाधिकरण स्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकः।
एकवाक्येनसंयोगो यस्तु दीपकमुच्यते॥"**

उदाहरण—यथा—

**"सरांसि हंसः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्हिरेफैश्च सरोरुहाणि।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव यस्मिन्न शून्यानि सदा क्रियन्ते।"**

अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्, तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधा सम्भवात् ।

अवतरणिका—आचार्य दण्डी द्वारा कथित **दीपकालङ्कारों** के अवान्तर भेदों का खण्डन करते है ।

अर्थ—यहाँ गुण और क्रिया के आदि, मध्य और अवसान में होने से तीन प्रकार का (**दीपकालङ्कार**) नहीं कहा है । (क्योंकि) इसप्रकार की विचित्रता तो सर्वत्र ही सहस्रों प्रकार की हो सकती है ।

टिप्पणी (१) आचार्य दण्डी के अनुसार निम्न लक्षण दीपक का है—

"जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपचारश्चेत्तमाहुर्दीपकं यथा ॥" इति

(२) **बिम्बप्रतिबिम्बभाव** से भी **दीपकालङ्कार** होता है—

"शीलमारवती कान्ता पुष्पभारवतीलता, अर्थभारवती वाणी भजतेकामपि श्रियम् ।
लता कुसुमभारेण शीलभारेण सुन्दरी ; कविता चार्थभारेण श्रयते कामपि श्रियम् ॥"

वाण्यादिकों में जिस किसी के प्रस्तुत होने पर उपमेयभूत प्रस्तुत है, उससे भिन्न कान्ता और लतादि की उपमानता है, इनके विशेषणीभूत अर्थादि की बिम्बता है और शीलादि की प्रतिबिम्बता है । इसीप्रकार "**लता कुसुम**" इत्यादि में भी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव प्रतिपादित कर लेना चाहिये ।

(३) काव्यप्रकाशकार ने तो **मालादीपक** भी माना है । उसका लक्षण—

माला दीपकमाधं चेद्यथोत्तरगुणावहम् "इति"

अर्थात् पूर्व-पूर्व की वस्तु के द्वारा यदि बाद-बाद की वस्तु उपकृत की जाती हैं तो **मालादीपकालङ्कार** होता है । इसका उदाहरण—यथा—

संग्रामाङ्गणभागतेन भवता चापे समारोपिते ।
देवाकर्णय येन-येन सहसा यद्यत्समासादितम् ॥
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरास्तेनापि भूमण्डलं ।
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या चलोकत्रयम् ॥

यहाँ धनुष से शत्रु के शिरों को प्राप्त करते हुये बाण उपकृत किये जाते हैं, बाणों से भी पृथ्वी को प्राप्त करते हुये, शत्रुओं के सिर उपकृत किये जाते हैं, सिर से भी श्रेष्ठ नायक तुमको प्राप्त करते हुये भूमण्डल, और भूमण्डल से कीर्ति को प्राप्त करते हुये राजा और राजा से भी त्रैलोक्य को प्राप्त करती हुई कीर्ति उपकृत की जाती है—इसप्रकार पहले-पहले के द्वारा बाद-बाद की वस्तु उपकृत की जाती है । एकही आसादन क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से **मालादीपक** है ।

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्योः ।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ॥ ५० ॥

यथा—

अथप्रतिवस्तूपमालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(प्रतिवस्तूपमालङ्कार का लक्षण) **प्रतिवस्तूपमेति**—जहाँ (जिस काव्य में) प्रतीयमान (वाच्य नहीं) सादृश्य वाले [सादृश्य अर्थात् उपमानोपमेयता । तथा च प्रतीयमान उपमानोपमेय भाव वाले] वाक्यार्थों में [उपमान और उपमेय सम्बन्धियों में अर्थात् उपमानगत एक वाक्य और उपमेयगत दूसरा वाक्य—इसप्रकार यहाँ दो वाक्यार्थों को समझना चाहिये ।] एक भी (अभिन्न भी) साधारण (उपमान और उपमेय दोनों में विद्यमान) धर्म (गुण अथवा क्रिया) पर्याय शब्द से कहा जाता है (वहाँ) वह **प्रतिवस्तूपमा (प्रतिवस्तु-प्रतिपतार्थम् उपमा—सादृश्यं प्रतीयमाना यस्यां तथाभूता)** नामक अलंकार होता है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पूर्ववत् ही "**वाक्ययोः**" इसमें द्विवचन माला के अनुरोध से अनेक का उपलक्षक है । इसीसे "**वाक्यार्थयो वाक्यार्थानां वा**" में उपमा के निष्पादक एक भी धर्म का विभिन्न शब्दों से ग्रहण करना **प्रतिवस्तूपमा** कहलाती है ।

(२) "**पद्मं मनोज्ञं रुचिरः शशाङ्कः**" इत्यादि में एक ही धर्म का पृथक् निर्देश होने पर भी वाक्यार्थों में उपमान और उपमेयभाव के न होने से **प्रतिवस्तूपमालङ्कार की अभिव्याप्ति** नहीं है ।

(३) "**प्रकाशते मुखं तस्याश्चन्द्रमा इव दीप्यते**" साम्य की प्रतीति न होने से **प्रतिवस्तूपमा की अविव्याप्ति** नहीं है ।

(४) "**मुखं तव तथा भाति यथा राजति चन्द्रमाः**" इत्यादि वाच्य का साम्य होने पर भी **प्रतिवस्तूपमा** के लक्षण में "**गम्या**" पठित होने से अतिव्याप्ति नहीं है ।

(५) **प्रतिवस्तूपमा** के लक्षण में "**एकोऽपि**" पठित होने के कारण अनेक धर्म वाले **दृष्टान्तालंकार** में अतिव्याप्ति नहीं होती है । "**पृथक्**" पढा हुआ होने से "**कथितपदत्वं**" दोष नहीं है । यहाँ साधारणधर्म का वस्तु प्रतिवस्तु भाव से निर्देश होने के कारण वाक्यार्थों के अपने-अपने अर्थ में निरपेक्ष होने से **निदर्शना** में अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि वहाँ पर साधारणधर्म निर्दिष्ट नहीं हैं और वाक्यार्थ अपने-अपने अर्थ में सापेक्ष होते हैं ।

(६) "**आपद्गतः खलु महाशयचक्रवर्ती विस्तारयत्यकृत पूर्वमुदारभावम् ।**
कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्ताल्लोकान्तरं परिमलं प्रकटी करोति ॥"

यहाँ आपद्गतत्व और दहनमध्यगतत्व में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने पर भी उपमानोपमेयवृत्ति धर्मवस्तु प्रतिवस्तुभाव को प्राप्त हुई है, इसीलिये ही यहाँ **प्रतिवस्तूपमालंकार है ।**

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा ।

इदञ्च मालयापि दृश्यते यथा—

'विमल एव रविर्विशदः शशी प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः ।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः सहजसुन्दर एव हि सज्जनः ॥'

अर्थ—(प्रतिवस्तूपमालंकार का उदाहरण) **यथा—धन्येति**—[प्रसंग—**नैषधीयचरित** के तृतीय सर्ग में दमयन्ती के प्रति हँस की यह उक्ति है ।] हे विदर्भ राजपुत्री दमयन्ती ! तुम धन्य हो, जिस (तुम) ने राजा नल को भी (अपने) महान् (सौन्दर्यादि) गुणों से सम्यक् प्रकारेण आकृष्ट कर लिया । ["**अपि**" से राजा नल की अतिशय गम्भीरता के कारण "**समाकृष्यत**" इस क्रिया की कर्मता की अयोग्यता सूचित होती है ।] ज्योत्सना की इससे अधिक (कहीं जाती हुई भी अपेक्षा) क्या महिमा (हो सकती) है (अर्थात् कुछ भी नहीं) कि (गम्भीर रूप से प्रसिद्ध) समुद्र को भी चञ्चल कर देती है ।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण की योजना करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में राजा नल को) काम के आविर्भाव से चञ्चल करना (समाकर्षणम्) और प्रवाह के आविर्भाव से (समुद्र को) चञ्चल करना एक ही क्रियायें हैं; (परन्तु) कथितपदत्वदोष के निराकरण के लिये विभिन्न वाचक शब्दों में निर्दिष्ट कर दी है ।

टिप्पणी (१) दमयन्ती और चन्द्रिका की तथा राजा नल और समुद्र की उपमेय और उपमान रूप से समानतापूर्व ही प्रतीयमान समझनी चाहिये ।

(२) यद्यपि समुद्र को चञ्चल करने की तरह राजा नल को आकृष्ट करना यह उपमा प्रतीयमान है, तथापि दो वाक्यों के अन्दर होने से इस **प्रतिवस्तूपमा** का **व्यंग्योपमा** से व्यवच्छेद हो गया है ।

अर्थ—यह (**प्रतिवस्तूपमा**) माला के रूप से भी मिलती है । (**मालाप्रतिवस्तूपमा** का उदाहरण) **यथा—विमलेति**—सूर्य स्वच्छ ही है (तेजोमय होने से प्रकाश-स्वरूप ही है ।); चन्द्रमा (तेजोमय होने से) उज्ज्वल ही है ।; दर्पण भी स्वभाव से (अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण) रमणीय ही है, कैलाश पर्वत शिवजी के हास के समान (ही) है (उसके समान स्वच्छ है ।) (तथा) सज्जन प्रवृत्ति से ही सुन्दर (पवित्र अन्तःकरण वाला) होता है ।

टिप्पणी (१) यहाँ "**यः कौमारहरः स एव हि वरः**" इत्यादि के समान "**एव और हि**" ये दो पद अत्यन्त नियम को सूचित करते हैं । परन्तु "**शिव**" पद के दो बार प्रयुक्त होने से **कथितपदत्वदोष** है ।

अवतरणिका—प्रश्न—यहाँ प्रत्येक वाक्य में धर्म भेद है, पुनः **मालाप्रतिवस्तूपमालंकार** कैसे है ? इसका **समाधान** करने के लिये कहते हैं ।

अत्र विमलविशदादेरर्थत एक एव ।
वैधर्म्येण यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकापानकर्मणि ।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रमनर्मणि ॥'

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) विमल और विशद् आदि (पदों से प्रतिपाद्य धर्म) तात्पर्य से एक ही है ।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि विमलादि पद के भिन्न अर्थ के वाचक होने पर भी अन्ततोगत्वा तात्पर्य से स्वच्छत्वरूप एक ही अर्थ के बोधक हैं किन्तु कथितपदत्वदोष का निराकरण करने के लिये पृथक्-पृथक् पदों से कथन कर दिया है।

(२) यहाँ पर भी रवि-शशि प्रभृति की समानता स्पष्ट ही प्रतीयमान है ।

अर्थ—**वैधर्म्य से** (प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण) **यथा—चकोर्य इति**—[**प्रसङ्ग—बालरामायणस्थ** यह पद्य है ।] चकोरी ही चन्द्रिका का (अर्थात् चन्द्रमण्डल से क्षरण होते हुये अमृत का) पान करने में निपुण (होती) है । (तथा च) अवन्ती देश (उज्जयिनी) में उत्पन्न होने वाली कामिनियों के बिना (अन्य) सुन्दरियाँ सुरत-क्रीडा में निपुण नहीं (होती) है । (केवल अवन्ती सुन्दरियाँ ही निपुण होती हैं) !

टिप्पणी (१) आशय यह है कि—जिसप्रकार अवन्ती सुन्दरियाँ ही सुरत क्रीड़ा में निपुण होती हैं; उसीप्रकार चकोरी भी चन्द्रिका के पान करने में निपुण होती है ।

(२) यहाँ प्रकृत्त उदाहरण में चातुर्यरूप और नैपुण्यरूप धर्म अभिन्न ही है किन्तु कथितपदत्वदोप का निराकरण करने के लिये केवल पृथक् पदों से निर्देश किया है । और वहाँ निषेधार्थक नञ् के होने से नैपुण्य में चातुर्य से विपरीतता उत्पन्न हो गई । **अथवा**—"अवन्ती देश की ही सुन्दरियाँ सुरत-क्रीड़ा में निपुण है" इसप्रकार के वैधर्म्य का विपर्यय होने पर साधर्म्य का पर्यवसान हो गया । चकोरी और अवन्ती नारियों की समानता स्पष्ट ही प्रतीयमान है, अवः **प्रतिवस्तूपमा** है ।

(३) **कुवलयानन्दकार** ने वैधर्म्य के निम्न उदाहरण दिये है—

"विद्वानेवहि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
न हि वन्धना विजानात्ति गुर्वी प्रसववेदनाम्" ॥
यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिका योदः शपथेन विभाव्यते ॥

अथ दृष्टान्तालंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(**दृष्टान्तालंकार** का लक्षण) **दृष्टान्त इति**—समानधर्म वाली (**प्रतिवस्तूपमा** की तरह अतिरिक्त का नहीं) वस्तु का अर्थात् सामान्यधर्म का प्रतिबिम्ब भाव से स्थापन दृष्टान्तालंकार (**दृष्टः—ज्ञातप्रामाण्यकोऽन्तो—दृष्टान्तिक वाक्यार्थनिश्चयसमर्थनीये समर्थक स्वरूपं—सादृश्यमिति यावत् यत्र सः**) (होता) है । **सधर्मस्येति—"सधर्मस्य"** = उपमानोपमेयवर्ती साधारणधर्म का इस (विशेषण) से **प्रतिवस्तूपमा** का व्यवच्छेद (किया) है ।

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा।
क्रमेणोदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥'

टिप्पणी (१) प्रतिवस्तूपमा से भेद की व्यञ्जना करने के लिये **दृष्टान्तालंकार** का लक्षण कारिका में "तु" पद का उपादान किया है।

(२) यहाँ पर भी पहले से "**वाक्ययोः**" इसका अनुवर्तन होता है।

(३) सम्प्रति **दृष्टान्त** का लक्षण इसप्रकार हुआ—

यत्रोपमानोपमेयवाक्ययोः सतोस्तदुभयवर्तिनः समानधर्मिणः तात्पर्य—लभ्य-साम्यकतयाविभिन्नवाक्येनेपदानं दृष्टान्तः इति ॥

(४) **निदर्शना** और **अर्थान्तरन्यास** में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि उनमें कभी समर्थ्य की व्यापकता और समर्थक की व्याप्यता (विशेषता) सामान्यत्व होता है अथवा कभी समर्थ्य की व्यापकता और समर्थक की व्यापकता सामान्यत्व होता है।

(५) "**मुखं तव यथाभाति यथा राजति चन्द्रमाः**" इत्यादि में वाच्य साम्य उपमा में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये ही "**तात्पर्यलभ्य साम्यकतया**" यह कहा है। इसीप्रकार "**मल्लापवर्जितैस्तेषाम्**" इत्यादि में "इव" पद के होने से साम्य वाच्य है। तात्पर्य से लभ्य नहीं है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है।

"**मुखं धाम्नि विधुर्व्योम्नि भाति भाग्येन साम्प्रतम्** ॥"

इत्यादि में तात्पर्य से लभ्य साम्य का ज्ञान एक वाक्य से हो रहा है, इसीलिये ही **दीपकालंकार** में अतिव्याप्ति के निराकरण के लिये **दृष्टान्तालंकार** में "**वाक्यान्तरेण**" का कथन किया है।

अर्थ—(१) यह (**दृष्टान्तालंकार**) भी साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। क्रम से उदाहरण—(**साधर्म्य में दृष्टान्तालंकार** का उदाहरण) **अविदितेति**—[**प्रसंग—वासवदत्ता** में यह पद्य है।] श्रेष्ठ कवियों की वाणी अज्ञात (माधुर्यादि) गुणों वाली होती हुई भी (श्रोताओं के) कानों में मधुरस की धारा को प्रकट करती है। **तथाहि**—मालती पुष्प की माला अप्राप्त सुगन्ध वाली होती हुई भी नेत्रों को (अतिशय सौन्दर्य से) आकृष्ट करती हैं।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण के अन्दर मधुधारावमन की और नेत्र-हरण की एकरूपता नहीं है, परन्तु पुनरपि ध्यान देने से सादृश्य प्रतीयमान है।

(२) इस पद्य का पूर्वार्ध समर्थनीय है और उत्तरार्थ समर्थक हैं—इसप्रकार दोनों ही विशेष रूप हैं।

'त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा ।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः ॥'

'वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः ।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ॥'

इदं पद्यं मम । अत्र 'मनः कुतो नः' इत्यस्य 'काङ्क्षति वल्लिमन्याम्' इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव ।

अर्थ—(२) (वैधर्म्य में दृष्टान्तालङ्कार का उदाहरण) **त्वयीति**---[**प्रसङ्ग**—नायक के प्रति नायिका की दूती की उक्ति है ।] तुम्हारे देख लेने पर मृगलोचनी (तुम्हारी प्रियतमा) की (तुम्हारे विरहमूलक) कामपीड़ा नष्ट हो जाती है । **तथा च**—चन्द्रमा के उदय न होने पर (अर्थात् अस्त होते हुये होने पर) कुमुद समूह की मलिनता (सङ्कोच) देखी गई है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ काम पीड़ा का नष्ट होना और मलिनता का देखा जाना—ये दोनों ही विपरीत हैं, पुनरपि इनका सादृश्य ध्यान देने से गम्य है ।

(२) पूर्वार्ध में मदन व्यथा का नाश और उत्तरार्ध में सङ्कोच—इसप्रकार न होने और होने से विधर्मता है ।

(३) **वैधर्म्य व्यङ्ग्य प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** में भेद—वैधर्म्य व्यंग्यप्रतिवस्तूपमा में वैधर्म्य धर्मान्तरगत होता है और दृष्टान्त में उपमानगत तथा उसमें वैधर्म्य से व्यञ्जना होती है और इसमें साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों प्रकार से व्यञ्जना होती है ।

(४) यहाँ समर्थ्य–समर्थक के विपय रूप होने पर ही **"अविदित" और "त्वयि दृष्टे"** ये दोनों उदाहरण समझने चाहिये । समर्थ्य और समर्थक के साधर्म्य और वैधर्म्य के उदाहरण स्वयं समझ लेने चाहिये ।

अवतरणिका—इसप्रकार दो प्रकार के **दृष्टान्तालङ्कार** का उदाहरण देकर विशेष-स्थलों पर **दृष्टान्त** और **प्रतिवस्तूपमा** में संशय का निराकरण करने के लिये उदाहरण देते हैं—

अर्थ—प्रसङ्ग—राजा की उक्ति है । **वसन्तेति**--वसन्तलेखा (नामक वेश्या) में केवल अनुरक्त हमारा मन अन्य (वसन्तलेखा से भिन्न) रमणियों में कैसे ? (अभिलाषी हो सकता है । अर्थात् किसीप्रकार से भी अभिलाषी नहीं हो सकता है ।) **तथाहि**—विकसित मल्लिका पुष्प के रस का लोभी भ्रमर क्या अन्य (मल्लिका से भिन्न) लता को चाहता है ? अर्थात् किसीप्रकार से भी नहीं चाहता है ।'

यह (उपर्युक्त उदाहरण) पद्य मेरा (अर्थात् साहित्यदर्पणकार का) है । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) **"मनः कुतो नः"** इस (वाक्य) के और **"कांक्षति वल्लिमन्याम्"** इस (वाक्य) के (स्वरूप से भेद होने पर भी) एक रूप से ही निश्चिय होने से **प्रतिवस्तूपमा** ही है । (**दृष्टान्त** नहीं) ।

इह तु कर्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम् । अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यास । प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः ।

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित् ॥ ५१ ॥
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना ।

अर्थ—इहत्विति—यहाँ (**"अविदित गुणापि"** इत्यादि **दृष्टान्तालङ्कार** के उदाहरण में) तो "कान में मधुधारा बरसाना" और "नेत्रों को आकृष्ट करना" इनकी समानता ही है एकरूपता नहीं । [अर्थान्तरन्यास से दोनों प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त का भेद दिखाते है ।] **अत्रेति**—यहाँ [प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त में] यदि समर्थ्य और समर्थक वाक्यों में (अर्थात् पूर्वापर वाक्यों में) सामान्य और विशेष भाव हो तो **अर्थान्तरन्यास** होता है, (किन्तु) **प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** में वैसा अर्थात् समर्थ्य और समर्थक वाक्यों में सामान्य और विशेष भाव नहीं होता है—यही (इनमें) भेद है ।

टिप्पणी—**अर्थान्तरन्यास** से **प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** का भेद—**अर्थान्तरन्यासालङ्कार** में सामर्थ्य वाक्य की सामान्यता (व्यापकता) और अन्य की विशेषता (व्यापकता) अथवा समर्थक वाक्य की सामान्यता और अन्य की विशेषता आवश्यक होती है । इसीप्रकार **प्रतिवस्तूपमा** और **दृष्टान्त** में दोनों वाक्यों के अन्दर यद्यपि समर्थ्य और समर्थक भाव होता है तथापि **अर्थान्तरन्यास** की तरह दोनों वाक्यों में से एक की सामान्यता और दूसरे की विशेषता अथवा एक की विशेषता और दूसरे की सामान्यता नहीं होती है ।

अथ निदर्शनालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**निदर्शनालङ्कार** का लक्षण) **सम्भवन्निति**—जहाँ वस्तुओं का सम्बन्ध (वाक्यार्थों का अथवा पदार्थों का अन्वय अर्थात् धर्म-धर्मी भाव) कहीं अबाधित होता हुआ (किसी भी विप्रतिपत्ति के न होने से सम्भव होता हुआ) अथवा कहीं बाधित होता हुआ (विप्रतिपत्ति के होने से असम्भव होता हुआ) बिम्बप्रतिबिम्ब भाव को अर्थात् उपमानोपमेय भाव को (व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा) बोधित करे वह **निदर्शना** [**निश्चित्यदर्शनं–सादृश्यविष्करणं (उपमानोपमेय भावं बोधयति)**] **अलंकार** होता है ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार यह **निदर्शना** दो प्रकार की होती है-(१) **सम्भवद्वस्तु सम्बन्धा** और (२) **असम्भवद्वस्तुसम्बन्धा** ।

(२) इनमें से **सम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूप निदर्शना** में वाक्यों में सामान्य विशेष भाव होता है, किन्तु **दृष्टान्त** में ऐसा नहीं होता है । यद्यपि **अर्थान्तरन्यास** में भी वाक्यों में सामान्य विशेषभाव होता है, अतः उसके साथ इसका अभेद प्रतीत होता है तथापि उसमें (अर्थान्तरन्यास में) दूसरा वाक्य पूर्व वाक्य का समर्थक होता है, किन्तु यहाँ (सम्भवद्वस्तु सम्बन्धरूप निदर्शना में) तो ऐसा नहीं होता है, अतः **अर्थान्तरन्यास** से भी यह भिन्न है । **असम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपनिदर्शना** में तो वाक्य और अर्थ की उपपत्ति का अभाव होता है, और दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास में वाक्य और अर्थ की उपपत्ति होती ही है—अतः इनका परस्पर भेद है ।

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम् ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां वक्तृत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपधर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां विपत्प्राप्तेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्यानेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।

तत्रैकवाक्यगा यथा—

'कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः ।
अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलनिधिविलासम् ॥'

अवतरणिका—क्रम से (१) सम्भवद्वस्तुसम्बन्धानिदर्शना और (२) असम्भवद्वस्तुसम्बन्धानिदर्शना के उदाहरण दिखाते हैं—

अर्थ—(१) उनमें से **सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना** (का उदाहरण) यथा—कोऽत्रेति–इस पृथ्वीमण्डल पर कौन (मनुष्य) व्यर्थ ही मनुष्यों को पीड़ित करता हुआ चिरकाल तक सम्पत्ति का उपभोग करता है ? अर्थात् कोई भी नहीं । सूर्य दिन के द्वारा (इस बात का) ज्ञान कराता हुआ दिन की समाप्ति पर अस्ताचल को प्राप्त हुआ ।

(उक्त उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) सूर्य का इसप्रकार के अर्थ का ("कोऽत्र" इत्यादि पूर्वार्ध के अर्थ का) ज्ञान कराने वाली क्रिया में वक्ता के रूप से अन्वय हो ही सकता है, क्योंकि इसप्रकार के अर्थ का (पूर्वार्ध के अर्थ का) ज्ञान कराने में समर्थ अस्ताचल को जाना रूप धर्म विद्यमान है । और वह अर्थात् इसप्रकार के अर्थ का ज्ञान कराने में वक्तृत्वेन अन्वय सूर्य के अस्ताचल जाने में और संताप देने वालों के विपत्ति में पड़ने में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव (उपमानोपमेयभाव) का ज्ञान कराता है ।

टिप्पणी—(१) आशय है कि जिसप्रकार सूर्य उदित होकर अन्तन्त प्रदीप्त होता हुआ व्यर्थ में ही दूसरों को संतप्त करता हुआ अस्त हो जाता है, उसीप्रकार अन्य व्यक्ति भी जो व्यर्थ में ही अन्य व्यक्तियों को पीड़ित करते हैं, अन्ततोगत्वा आपत्ति में पड़ते हैं । इसप्रकार का उपमानोपमेयभाव व्यञ्जना से अभिव्यक्त होता है ।

अर्थ—(२) **असम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना** तो (१) एकवाक्यगतत्वेन और (२) अनेकवाक्यगतत्वेन दो प्रकार की होती है । उनमें से (१) **एकवाक्यगतासम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना** (का उदाहरण) यथा–**कलयतीति**–[प्रसङ्ग—यह किसी नायिका का वर्णन है ।] इस (नायिका) का कुटिल कटाक्ष विक्षेप नीलकमलों की माला के सौन्दर्य को, अधरोष्ठ पल्लव की शोभा को, (तथा) मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण करता है ।

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्षविक्षेपादीनां कुवलयमलादिगतललितादीनां कलनमसम्भवत्तल्ललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्षविक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति ।

यथा वा—

'प्रयाणे तव राजेन्द्र मुक्ता वैरिमृगीदृशाम् ।
राजहंसगतिः पद्भ्यामाननेन शशिद्युतिः ।।'

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते, स चासम्भवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अर्थ—(प्रकृत उदाहरण में सम्बन्ध को असम्भव बताते हुये लक्षण की योजना करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "अन्य के धर्म को अन्य कैसे धारण कर सकता है", अतः कटाक्ष विक्षेपादि (कर्ताओं) का नील-कमलों की माला के अन्दर विद्यमान सौन्दर्यादिकों को धारण करने में असम्भव है इसलिये उनके सौन्दर्यादि के समान सौन्दर्यादि का ज्ञान कराने वाले कटाक्ष विक्षेपादि में और नीलकमलों की मालादि में बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का ज्ञान होता है ।

टिप्पणी—केचित्तु—कुछ एकवाक्यगत का यह उदाहरण देते हैं—

त्वामन्तरात्मनि लसन्तमनन्तमज्ञा-
स्तीर्थेषु हन्त ! मदनान्तक ! शोधयन्तः !
विस्मृत्य चैव तटमध्यपरिस्फुरन्तं
चिन्तामणिं क्षितिरजःसु गवेषयन्ति ।।

यहाँ "शोधयन्तः" और "गवेषयति" इन दोनों अर्थों के एक वाक्य में होने से एकवाक्यगतता है ।

अर्थ—अथवा-प्रयाणे इति—(हे) राजेन्द्र ! तुम्हारे (युद्ध यात्रा के लिये) प्रस्थान करने पर शत्रुओं की कामिनियों के पैरों ने राजहंसों की गति, (तथा) मुख ने चन्द्रमा की कान्ति छोड़ दी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि राजन्, तुम्हारे भय से भागते हुये शत्रुओं के पीछे उनकी स्त्रियों के भी भागने से उसकी राजहंसों के समान मन्थर गति और मुख के मलिन हो जाने से चन्द्रमा के समान उनकी सुन्दरता नष्ट हो गई ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में शत्रुओं की नारियों के) पैरों के साथ असम्बद्ध (क्योंकि अन्य का धर्म अन्यत्र सम्भव नहीं हो सकता है) राजहंसों की गति का त्याग असम्भव है, अतः उन दोनों का (शत्रु नारियों के पैरों का और राजहंसों की गति का) वह सम्बन्ध कल्पित किया जाता है, और वह (शत्रु नारियों के पैरों का और राजहंसों की गति का) सम्बन्ध असम्भव होता हुआ राजहंसों की गति के समान गति का ज्ञान कराता है ।

टिप्पणी—इसीप्रकार मुख के द्वारा चन्द्रमा की कान्ति का त्याग अनुपयुक्त है अतः उन दोनों का वह सम्बन्ध कल्पित कर लिया जाता है । और वह सम्बन्ध घटित न होता हुआ भी चन्द्रमा की द्युति के समान द्युति का ज्ञान कराता है । यह भी समझ लेना चाहिये ।

अनेकवाक्यगा यथा—

"इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्त्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति॥'

अत्र यत्तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुषस्तपःक्लमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्त्रधारया शमीलताच्छेदनेच्छेवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति।

यथा—

'जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया॥'

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम्।

अर्थ—(२) **अनेक वाक्यगता सम्भवद्वस्तु सम्बन्ध निदर्शना** (का उदाहरण) यथा—**इदमिति** –[**प्रसङ्ग**—**शकुन्तला** के प्रथम अङ्क में यह पद्य है] इसकी व्याख्या पृष्ठ······ पर की जा चुकी है।

(लक्षण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण में) **यत्** [अर्थात् **"इदम्"** से लेकर **"इच्छति"** तक, और **तत्** [अर्थात् **"ध्रुवम्"** से लेकर **"व्यवस्यति"** तक] शब्दों से निर्दिष्ट वाक्यों के अर्थों में अभिन्न रूप से सम्बन्ध घटित न होता हुआ (शकुन्तला के) उस प्रकार के (अर्थात् अत्यन्त मृदु) शरीर से तपस्या सम्पन्न कराने की इच्छा नीलकमल के पत्ते की धार से शमीलता को काटने की इच्छा के समान (**अयुक्त**) है। इसप्रकार बिम्बप्रतिबिम्ब भाव में पर्यवसित होता है।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर अनेक वाक्यगता यत् और तत् पदों के अनेक होने से समझनी चाहिये।

(२) कुछ की सम्मति में केवल यत् और तत् दोनों के शब्द होने पर ही नहीं अपितु एक के भी आर्थ पर **निदर्शना** होती है। यथा—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥

अर्थ—**जन्मेति**—[**प्रसङ्ग**—**शान्तिशतक** में किसी वीतराग की उक्ति है।] मैंने संसार के विषयानन्द सुख की लालसा से यह (वर्तमान) जन्म विफल कर दिया। दुःख की बात है कि (मैंने) काँच के मूल्य में चिन्तामणि को बेच दिया।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) संसार के उपभोग की लालसा से जन्म का व्यर्थ गँवाना काँच के मूल्य में चिन्तामणि को बेचने के समान है—इसप्रकार (दोनों वाक्यों का बिम्बप्रतिबिम्ब भाव में) पर्यवसान होता है।

टिप्पणी—यहाँ "यत् और तत्" के न होने पर भी पूर्वार्ध और उत्तरार्ध वाक्यों की ही अनेकता है।

एवम्—

'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥'

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनामुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् ।
इयं च क्वचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति ।
यथा—

'योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे ।
समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः ॥'

अर्थ—इसीप्रकार **क्वेति**— प्रसङ्ग—रघुवंश के प्रथम सर्ग में अपनी उद्धता को दूर करने की इच्छा वाले कवि कालिदास की यह उक्ति है । सूर्य से उत्पन्न होने वाला वंश अर्थात् सूर्यवंश कहाँ ? और अल्प मात्र विषयों का अवगाहन करने वाली (मेरी) बुद्धि कहाँ ? तथापि अज्ञानवश क्षुद्र नौका के द्वारा दुस्तर समुद्र को पार करना चाहता हूँ ।

टिप्पणी—इस पद्य के अन्दर विद्यमान दो "क्व" परस्पर महान् अन्तर की सूचना देते हैं अर्थात् सूर्यवंश और क्षुद्र बुद्धि में महान् अन्तर है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहण में) मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्यवंश का वणेन क्षुद्र नौका से समुद्र को पार करने के समान है— इसप्रकार (वाक्यार्थ का) पर्यवसान होता है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि सूर्यवंशीय रघुवंश के अत्यन्त विशाल होने के कारण उनके गुणों की गणना करना सर्वथा असम्भव है । पुनः उन गुणों का वर्णन करना क्षुद्र बुद्धि के द्वारा और भी अधिक असम्भव है— इसप्रकार प्रस्तुत करके "तितीर्षुः" इत्यादि प्रस्तुत किया है । इन दोनों की परस्पर असम्बद्धता ही नौका से समुद्र को पार करने के समान मेरी बुद्धि से सूर्यवंश का वर्णन सम्भव है—इसप्रकार के सादृश्य का ज्ञान कराती है ।

अर्थ—और यह (**असम्भवद्वस्तु सम्बन्ध निदर्शना**) कहीं उपमेय में विद्यमान धर्म के उपमान में (सर्वथा) असम्भव होने पर भी होती है । यथा— **य इति**—उस मृगनयनी (कान्ता) के अधरोष्ठ में जो माधुर्य अनुभव किया था, वह (माधुर्य) रसास्वाद को जानने वालों ने (रसज्ञों ने) द्राक्षारस में सम्यक् रूपेण अनुभव किया ।

टिप्पणी—"**नह्यन्यधर्मा अन्यत्र सम्भवन्ति**" इस न्याय के अनुसार उपमेय अधरगत माधुर्य के उपमान द्राक्षारस में असम्भव होने पर भी उपमानभूत द्राक्षारस में है— ऐसी कल्पना की है ।

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् ।

मालारूपापि यथा मम—

'क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने मृगमर्पयसि मृगादनरदने ।
वितरसि तुरगं महिषविषाणे निदधच्चेतोभोगविताने ॥'

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) प्रस्तुत (उपमेय) अधर की मधुरिमा धर्म के द्राक्षारस (अप्रस्तुत उपमान) में असम्भव होने से (क्योंकि अन्य का धर्म अन्य में सम्भव नहीं हो सकता है) पूर्व (उदाहृत पद्यों) की तरह साम्य में (उपमानोपमेय भाव में) पर्यवसान होता है ।

टिप्पणी—(१) अर्थात् द्राक्षारस में अधर मधुरिमा है— यह अभिन्न रूप से सम्बन्ध घटित न होता हुआ अधर की मधुरिमा के समान मधुरिमा है—इस उपमानोपमेय भाव का ज्ञान होता है ।

(२) उपमेय के धर्म के उपमेय में ही असम्भव होने पर यह **निदर्शना** नहीं होती है, किन्तु **उपमा** ही होती है । यथा—

"मुखं ते चन्द्रमाः स्पर्द्धि पङ्कजद्वेषि लोचनम्" ।

यहाँ द्वेष और स्पर्धा चेतन के विशेष धर्म हैं, अतः मुख और नेत्रों में सम्भव नहीं है, इसलिये **उपमा** में पर्यवसान होता है ।

अर्थ—(**अनेक वाक्यगतासम्भवद्वस्तु सम्बन्ध निदर्शना**) **मालारूप** भी होती है । यथा— मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणाकारकृत्— **क्षिपसीति**—[**प्रसङ्ग**—किसी महात्मा की अपने शिष्य के प्रति सांसारिक भोग विलास से निवृत्ति विषयक यह उक्ति है ।] सांसरिक सुख समूह में चित्त को लगाते हुये (तुम) बिडाल के मुख में शुक को रख रहे हो, मृग का भक्षण करने वाले व्याघ्र के दाँतों में मृग को दे रहे हो, (तथा) भैंसे के सींग पर घोड़े को रख रहे हो ।

टिप्पणी—उक्त पद्य के अन्दर सांसारिक भोग विषयों में चित्त को लगाता हुआ मनुष्य विडालादि के मुखादि में तोते को नहीं रखता है— इसप्रकार तादात्म्य रूप से अन्वय घटित नही होता है । सांसरिक भोग विलासों में चित्त को लगाना विद्रालादि के मुखादि में तोते को रखने के समान अनर्थ का कारण है— इसप्रकार उपमानोपमेय का ज्ञान होता है; अतः **असम्भवद्वस्तु सम्बन्ध निदर्शना** है और उपमानोपमेय भाव के ज्ञान के नानात्वेन यहाँ मालारूपानिदर्शना है ।

अवतरणिका—**दृष्टान्त और अर्थापत्ति से निदर्शना का भेद दिखाते हैं ।**

इह बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम् । दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम् । नापीयमर्थापत्तिः' तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात् ।

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथ वा ॥ ५२ ॥

व्यतिरेकः—

अर्थ—यहाँ अर्थात् असम्भवद्वस्तु सम्बन्धानिदर्शना में बिम्ब (प्रस्तुत उपमेय अर्थात् सांसारिक भोग विलासों में चित्त को लगाना रूप) और प्रतिबिम्बभाव को (प्रस्तुत उपमान अर्थात् व्याघ्र के मुखादि में तोते को रखना आदि रूप) आक्षेप के बिना वाक्यार्थ का (उदाहृत पद्यरूप वाक्यार्थ का) पर्यवसान नहीं होता है । दृष्टान्त में पर्यवसित वाक्यार्थ से योग्यता के कारण बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का (उपमानोपमेय भाव का) ज्ञान होता है ।

प्रश्न—"कोऽत्र भूमिवलये·········" इत्यादि में मनुष्यों को संतप्त करने सूर्य भी अस्त को प्राप्त होता है, फिर अन्यों का तो कहना ही क्या ? "इसप्रकार" "दण्डापूपन्याय" से दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, अतः इसे अर्थापत्ति मान लें ? अतः कहते हैं—नापीति—यह (निदर्शना) अर्थापत्ति भी नहीं है । क्योंकि वहाँ "हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्"—इत्यादि (अर्थापत्ति के उदाहरण) में (वाक्यार्थ का) सादृश्य में पर्यवसाव नहीं होता ।

टिप्पणी—(१) असम्भवद्वस्तु सम्बन्धरूपा निदर्शना और दृष्टान्त में भेद—

"असम्भवद्वस्तु सम्बन्धरूपायाँ स्वतः स्थित्यसम्भववशात् बिम्बप्रतिबिम्बभाव कल्पनयैव वाक्यार्थः सङ्गच्छते, दृष्टान्ते तु असम्भभाववात् स्वयं सम्भाव्यमानेनैव वाक्यार्थेन योग्यतया बिम्बप्रतिबिम्बभाव कल्पनेति बिम्बप्रतिबिम्बभावकल्पनायाः पौर्वापर्येवैवानयोर्भेदः इति ।"

(२) निदर्शना और अर्थापत्ति में अन्तरः—

"सादृश्येतरार्थस्य आपतने अर्थापत्तिः, सादृश्यरूपार्थस्य अपतने तु निदर्शना इति ।"

अथ व्यतिरेकालङ्कार निरूपणम्:—

अर्थ—(व्यतिरेक का लक्षण) अधिक्यमिति—उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता, अथवा (उपमान की अपेक्षा उपमेय की) न्यूनता (का वर्णन करने में) व्यतिरेक (विशेषेण अतिरिच्यते—उपमानदुपमेयं वैधर्म्येणावगम्यते येन सः) नामक अलंकार होता है । [व्यतिरेक का सामान्य लक्षण हुआ—"उपमानोपमेययोर्वैर्णम्यं (वैधर्म्यं) व्यतिरेकः । इसप्रकार व्यतिरेक के दो कारण होते हैं:— १. उपमान की अपेक्षा उपमेय का अधिक होना और २. उपमान की अपेक्षा उपमेय का न्यून होना ।]

स च—

—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा ।
चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ॥५३॥
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेपीति त्रिरष्टधा ।
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ॥५४॥

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः प्रत्येकं समुदायेन वानुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयत्वस्य निवेदनं शब्देन आक्षेपेण चेति द्वादशप्रकारोऽपि

अर्थ—सचेति—और वह (दो प्रकार के कारणों वाला) **व्यतिरेक** हेतु का कथन करने पर (अर्थात् उपमान से उपमेय की अधिकता को सिद्ध करने वाले अथवा उपमान से उपमेय की न्यूनता को सिद्ध करने वाले हेतु का कथन करने पर) एक प्रकार का, तथा हेतु का (उपमान से उपमेय की अधिकता अथवा न्यूनता सिद्ध करने वाले हेतु का) कथन न करने पर पुनः तीन प्रकार का [अर्थात् (१) आधिक्य को सिद्ध करने वाले अथवा (२) न्यूनता को सिद्ध करने वाले अथवा (३) इन दोनों को सिद्ध करने वाले हेतु का कथन न करने पर तीन प्रकार का] होता है। [इसप्रकार हेतु का कथन करने से संयुक्त एक प्रकार के **व्यतिरेक** के साथ हेतु का कथन न करने से संयुक्त तीन प्रकार के **व्यतिरेक** को मिलाने पर] चार प्रकार का भी (वह **व्यतिरेक**) साहृश्य (उपमानोपमेय भाव का) शब्द से (इवादि शब्द से), अर्थ से (तुल्यसाहृश्यादि शब्दों के अर्थ के कारण) और व्यञ्जना से बोध होने से (**अर्थात्** इवादि का प्रयोग होने पर शब्द से साम्य का ज्ञान होते से, और तुल्यादि का प्रयोग होने पर अर्थ से, और जयति आदि का प्रयोग होने पर व्यञ्जना से ज्ञान होने से) बारह प्रकार का (४ × ३ = १२) होता है। [और वह बारह प्रकार का **व्यतिरेक**] श्लेष में भी (**"अपि"** शब्द से अश्लेष में भी) होने पर चौबीस प्रकार का (१२ × २ = २४) होता है। [यह चौबीस प्रकार का **व्यतिरेक** उपमान से उपमेय की अधिकता होने पर होता है। इसीप्रकार उपमान से उपमेय की न्यूनता का कथन करने पर एक प्रकार का, कथन न करने पर तीन प्रकार का, इसप्रकार ३ + १ = ४ प्रकार का व्यतिरेक पहले की तरह ही २४ प्रकार का होता है।] इसप्रकार प्रत्येक (आधिक्य और न्यूनता की अवस्था में) मिलकर पुनः अड़तालीस प्रकार का (२४ × २ = ४८) **व्यतिरेक** होता है।

टिप्पणी—उपमान की अपेक्षा उपमेय की अधिकता से अथवा न्यूनता से वैषम्य होता है। और इसप्रकार का उत्कर्षापकर्ष भाव न **रूपक** में, अथवा न **उपमा** में और नहीं **परिणामादि** अलंकारों में होता है।

अवतरणिका—सम्प्रति कारिका की व्याख्या करते हैं।

अर्थ—उपमेय की उपमान से अधिकता होने पर हेतु उपमेयगत उत्कर्ष का कारण और उपमानगत अपकर्ष का कारण होता है उन दोनों के (हेतु) भी कथन करने पर एक प्रकार का (**व्यतिरेक**) होता है, उत्कर्ष का कारण कथन न करने पर दूसरे प्रकार का (**प्रत्येकम्**) अथवा समुदाय से (अर्थात् उन दोनों का) हेतु का कथन न करने पर तीन प्रकार का (**व्यतिरेक**) होता है। इन चार प्रकार के व्यतिरेक में उपमानोपमेयभाव का कथन शब्द से, अर्थ से और आक्षेप (व्यञ्जना) से होता है।

श्लेषे, 'अपि' शब्दादश्लेषेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकारः। उपमानान्न्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विंशतिप्रकारतेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः।

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम्,। यथा शब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम्॥

अत्रैव ' न कलङ्किविधूपमम्' इति पाठे आर्थम्। 'जयतीन्दुं कलङ्किनम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम्। अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयतोत्कर्षकारणानुक्तिः। कलङ्किपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः। द्वयोरनुक्तौ द्वयोरनुक्तिः।

इसप्रकार बारह प्रकार का व्यतिरेक श्लेष में "अपि" शब्द से अश्लेष मे भी होने पर चोबीस प्रकार का होता है। उपमान से (उपमेय की) न्यूनता की अवस्था में भी इसी क्रम से चोबीस प्रकार का होता है— इसप्रकार मिलकर व्यतिरेकालंकार अड़तालीस प्रकार का होता है।

अर्थ—(व्यतिरेकालङ्कारका) उदाहरणः—अकलङ्कीमति—उस (सुन्दरी नायिका) का निस्कलङ्क मुख कलङ्की चन्द्रमा के समान नहीं है। **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) उपमेयगत (मुखनिष्ठ) निस्कलङ्कता और उपमानगत (चन्द्रमानिष्ठ) कलङ्कित्व दोनों ही हेतु (अर्थात् मुख की उत्कृष्टता के और चन्द्रमा की निकृष्टता के क्रमशः दोनों ही कारण) कहे हुये हैं। अतः [उपमेयाधिक्य हेतुक **व्यतिरेकालङ्कार** है।] और यथा शब्द से (साम्य का) प्रतिपादन होने से शब्द से प्रतिपाद्य औपम्य है। [अर्थात् उपमानोपमेय भाव शब्द है। इसके अन्दर श्लेष नहीं है।] **अत्रैवेति**—यहाँ ही अर्थात् "**अकलंक मुखं तस्याः**······इत्यादि में "**न कलंकी विधुयमम्**" ऐसा पाठ कर देने पर (औपम्य) अर्थ के द्वारा प्रतिपाद्य है। "**जयातीन्दु कलंकिनम्**" ऐसा पाठ कर देने पर तो (शब्द औपम्य का ज्ञान करने वाले इव (आदि शब्द) की तरह (अर्थ औपम्य का ज्ञान कराने वाले) तुल्यादि शब्द के न होने पर (औपम्य) अक्षिप्त हो जाता है। **अत्रैपति**—यहीं अकलङ्क पद का त्याग देने पर [अर्थात् "**शोभते च मुखं तस्या न कलंकी विधुर्यथा**"—ऐसा पाठ कर देने पर] उपमेयगत उत्कर्ष के कारण की (अकलङ्कत्व की) अनुक्ति हो जाता है। और कलङ्की पद का त्याग कर देने पर [अर्थात् "**अकलंक मुखं तस्याः शोभां नैति विधुर्यथा**" ऐसा पाठ करने पर] उपमानगत (चन्द्रमानिष्ठ) अपकर्स के कारण की (कलङ्कित्व की) अनुक्ति हो जाती है। दोनों का ही [पूर्वात् उगमेयगत आधिक्यको बनाने वाले अकलङ्क पद का और उपमानगति न्मूनता को बताने वाले कलङ्की पद का] कथन न करने पर [अर्थात्— **मनोहरं मुखं तस्याः शोभां नैति विधुर्यथा**" ऐसा पाठ कर देने पर] दोनों (हेतुओं) की ही (अकलङ्क और कलङ्की पद की) अनुक्ति हो जाती है।

अवतरणिका—इसप्रकार अश्लेष में उदाहरण देकर श्लेष में भी उदाहरण देते हैं।

श्लेषे यथा—

'अतिगाढगुणायाश्च नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः।'

अत्रेवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम्। उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः। गुणशब्दः श्लिष्टः। अन्ये भेदाः पूर्ववदूह्याः। एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि।

न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

अर्थ—श्लेष में (उदाहरण) यथा—**अतिगाढेति**—अत्यन्त घने अर्थात् चिरकाल तक स्थिर रहने वाले है गुण (सौन्दर्यानुरागादि अथवा तन्तु = डोरी) जिसके ऐसी (उस नायिका) के गुण (सौन्दर्यानुरागादि अथवा तन्तु) कमल के समान क्षण-भङ्गुर नहीं है। [यहाँ नायिका उपमेय है, कमल उपमान है, उपमेय के उत्कर्ष का कारण अतिगाढ़गुणशालिता और उपमान कमल के अपकर्ष का कारण भङ्गुरता है।] **अत्रेति**—यहां (प्रकृत उदाहरण में) इव की अर्थ में वति प्रत्यय हुआ है, अतः औपम्य शब्द है। उत्कर्ष (उपमेयभूत नायिकानिष्ठ आधिक्य को सिद्ध करने वाले) और अपकर्ष (उपमानभूत कमलनिष्ठ न्यूनता को सिद्ध करने वाले) के दोनों ही कारण (अतिगाढगुणशीलता और क्षणभङ्गुरता) उक्त है। गुण शब्द श्लिष्ट है **अन्येइति**—अन्यभेद [अर्थात् औपम्य के आर्थ और आक्षिप्त होने पर हेतु की अनुक्ति में होने वाले तीन भेद] पहले के समान समझ लेने चाहिये। **एतानीति**—और ये (सब) उपमान से उपमेय की अधिकता होने पर उदाहरण है।

टिप्पणी—अवशिष्ट अन्य तीन भेदों के उदाहरण क्रमशः देते हैः—**यथा**—"**अब्जवत्**" यहाँ पर तुल्य के अर्थ में वति प्रत्यय होने से औपम्य आर्थ है।

"जयत्येषा गाढ़गुणाः प्रस्खलद् गुणमम्बुजम्"।

एसा पाठ कर देने पर इवादि और तुल्यादि पदों के न होने से औपम्य आक्षिप्त है।

"कुरङ्गायतनेत्रायाः नाब्जतुल्य स्खलद्गुणाः"

ऐसा पाठ कर देने पर उपमेयगत अधिकता का हेतु अनुक्त है।

'अति गाढगुणायाश्च नाब्ज तुल्य गुणाः किल"

ऐसा पाठ कर देने पर उपमान गत न्यूनता का हेतु अनुक्त है।

"चन्द्रमुख्याः कुरङ्गाक्ष्या स्तन्वङ्ग्या नाब्जवद्गुणाः"।

ऐसा पाठ कर देने पर उपमानिष्ठ और उपमेयनिष्ठ अधिकता और न्यूनता के कारणों का कथन नहीं हुआ है।

अर्थ—(उपमान से उपमेय की) न्यूनता होने पर यत्किञ्चित् (उदाहरण) **यथा—क्षीणइति**—[**प्रसङ्ग**—प्रिय और हित करने वाले किसी मित्र की मानिनी के प्रति यह उक्ति है।] (हे) सुन्दरी—चन्द्रमा (कारण पक्ष में) निश्चित रूपेण अत्यन्त क्षीण होता हुआ भी (शुक्ल पक्ष में) पौनः पुन्येन वृद्धि को प्राप्त हो जाता है, परन्तु गया हुआ यौवन फिर नहीं लौटता है, अतः (मान) छोड़ दो, प्रसन्न हो जाओ।

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम् ।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ।।'

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम् । तेनात्र 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति केसांचिल्लक्षणे विपर्यये 'वेतिपदमनर्थकम्' इति यत्केचिदाहुः, तन्न विचारसहम् । तथाहि-अत्राधिकन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवछिते । अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर उमानभूत चन्द्रमा के क्षीण हो जाने पर भी पुनः वृद्धि हो जाती है अतः अधिकता है, उपमेयभूत यौवन पुनः नहीं आता है, अतः न्यूनता है । इसप्रकार यहाँ पर उपमेय की अपेक्षा उपमान का उत्कर्ष रूप **व्यतिरेकालङ्कार** है । तथा दोनों ही अधिकता और न्यूनता के कारणों का पौनःपुन्येन वृद्धि का होना और वृद्धि का न होना—कथन किया गया है ।

(२) यह पद्य काव्यालङ्कार में है ।

अवतरणिका—**अलङ्कार सर्वस्वकार** ने **व्यतिरेक** का लक्षण इस प्रकार किया है:— "**उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यविरेकः**।" इसी लक्षण के आधार पर साहित्यदर्पणाकार ने भी **व्यतिरेकालङ्कार** का लक्षण किया है । किन्तु **अलङ्कार—कौस्तुभकार** ने **अलङ्कारसर्वस्वकार** कृत **व्यतिरेक** के लक्षण पर आपत्ति उठाई है । अतः उस उठाई हुई आपत्ति का निराकरण साहित्यदर्पणकार कहते हैं ।

अर्थ—**पूर्वपक्ष**—यहाँ ("**क्षीणः क्षीणोऽपि**" इत्यादि में) उपमेयभूत यौवन के अस्थिरता को (उपमानभूत चन्द्रमा के अस्थिरता की अपेक्षा) अधिकता है (अर्थात् यौवन की अस्थिरता अधिक काल तक स्थायी है और चन्द्रमा की अस्थिरता कुछ काल तक स्थायी है ।) अत यहाँ पर "**उपमान से उपमेय की अधिकता में अथवा विपर्यय** (न्यूनता में) **व्यतिरेकालङ्कार** होता है ।" ऐसा किन्हीं (**अलङ्कार सर्वस्वकार**) के लक्षण में "**विपर्यये वा**" यह पद निरर्थक है" (क्योंकि उपमान की अधिकता में और उपमेय की न्यूनता में **व्यतिरेकालङ्कार** ही नहीं माना जाता है ।) यह जो कुछ (**अलङ्कारकौस्तुभकर**) कहते हैं । **उत्तरपक्ष**—**तत्रेति**—यहाँ (मत) ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ (**व्यतिरेक** के लक्षण में) अधिकता और न्यूनता (उपमानोपमेय की उत्कर्ष और अपकर्ष में स्थिरता और अस्थिरता (उत्कृष्टता और अपकृष्टता) ही (**अलङ्कार सर्वस्वकार द्वारा**) विवक्षित है । और यहाँ ("**क्षीणक्षीणोऽपि**"—इत्यादि में) चन्द्रमा की अपेक्षा (उपमान की अपेक्षा) यौवन (उपमेय) की अस्थिरता स्पष्ट ही है (क्योंकि यौवन की पुनः वृद्धि नहीं होती है) ।

अस्तु वत्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः ।

'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः ।'

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताथवा' इति ।

अवतरणिका—**प्रश्न**—उक्त उदाहरण में यौवन की अस्थिरता की अधिकता का कथन करना प्रकृतमानभंग का उपकारक है, अतः उसकी ही वैचित्र्याधायकता है, यौवन के अस्थिरता की नहीं ? इस दोष की आशंका करके दूसरी अनुपपत्ति दिखाते है—

अर्थ—अथवा इस ("क्षीणः क्षीणोऽपि"·······इत्यादि) उदाहरण में जिस किसीप्रकार (यौवन की अस्थिरता का रूप उत्कर्ष की विवक्षा से) लक्षण का समन्वय हो जावे, किन्तु "**हनुमदाद्यैः**" इत्यादि (पद्यों) में कैसे लक्षण का समन्वय होगा ? **हनुमदाद्यैरिति**—[नैषध के नवम सर्ग में दमयन्ती के प्रति देवताओं के दूत हुये राजा नल की दूत कार्य में असफल होने से यह विषादोक्ति है ।] हनुमान् प्रभृति (दूतों) ने दूतमार्ग यश से शुभ्र किया था, और मैंने (दूत होकर) शत्रुओं की हंसी से (यश से नहीं) दूतमार्ग शुभ्र किया है । अर्थात् मुझको दूतकार्य में असफल देखकर शत्रु हँसेगें और इसप्रकार उनकी हंसी की श्वेतिमा से मैंने वह मार्ग अलंकृत किया है । **दूतीति**—अतः (लक्षण में) "**न्यूनताऽथवा**" ठीक कहा है । इति ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—इस मार्ग के हनुमान् आदि उपमान की अपेक्षा उपमेयभूत नल की न्यूनता की प्रतीति ही व्यतिरेक से वाच्य है, और उस व्यतिरेक की प्रतीति "**विपर्यये वा**" इसका कथन किये बिना सम्भव नहीं हो सकती है, अतः "**न्यूनताऽथवा**" ठीक ही कहा है ।

(२) प्रकृत उदाहरण में अपने स्वामी के कार्य को निष्पन्न करने के कारण उपमानभूत हनुमानादि की उत्कृष्टता है, और उसके व्यतिरेक से उपमेयभूत नल की अपकृष्टता प्रतीत होती है । यहाँ दूतों के उपमानोपमेय भाव की विवक्षा होने पर भी उपमान की ही अधिकता है, उपमेय की नहीं । अतः "**न्यूनताऽथवा**" ठीक ही कहा है ।

(३) **व्यतिरेकालंकार** के भेदों का सङ्कलन करते हैं—

उपमानादुपमेयस्योत्कर्षे २४

- श्लेषे १२.
  - शाब्दौपम्ये
    - उपमेयगताधिक्यहेतुः उपमानगत न्यूनत्वहेतुश्च अनयोर्द्वयोरोपादाने = १
    - केवल उपमेयगताधिक्य हेत्वनुपादाने = १
    - केवलोपमानगताधिक्य हेत्वनुपादाने = १
    - तयोर्द्वयोरेवानुपाने = १ } ४
  - आर्थौपम्ये — दर्शितदिशा·····················४
  - आक्षिप्तौपम्ये — दर्शितदिशा·····················४
- अश्लेषे १२
  - शाब्दौपम्ये — दर्शित दिशा·············४
  - आर्थौपम्ये — दर्शित दिशा·············४
  - आक्षिप्तौपम्ये — दर्शित दिशा·············४

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ।
सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥५५॥

उपमानादुपमेयस्यन्यूनत्वे २४
- श्लेषे १२.
  - शाब्दौपम्ये
    - उपमानगताधिक्य हेतुरूपमेयगतन्यूनत्व हेतुरनयोर्द्वयोरेवानुपादाने··········१
    - केवलोपमानमताधिक्यहेत्वनुपादाने···१
    - केवलोपमेयगतन्यूनत्व हेत्वनुपादाने···१
    - तयोर्द्वयोरेवानुपादाने·················१
    - } ४
  - आर्थौपम्ये··········दर्शितदिशा···········४
  - आक्षिप्तौम्ये········दर्शितदिशा···········४
- अश्लेषे १२.
  - शाब्दौपम्ये··········दर्शितदिशा···········४
  - आर्थौपम्ये··········दर्शितदिशा···········४
  - आक्षिप्तौपम्ये·········दर्शितदिशा = ·········४

कुल = ४८

अथ सहोक्ति अलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**सहोक्ति अलङ्कार** का लक्षण) **सहार्थस्येति**—जहाँ सह शब्द के अर्थ के सामर्थ्य से (**सह-साकं-सार्धं-समं-सजुः** इत्यादि में से किसी एक के सामर्थ्य से) एक (वस्तु) दो (पदार्थों) की वाचक हो, (तथा) यदि (वहाँ पर) अभेदाध्यवसावमूलातिशयोक्ति अथवा कार्य करण के पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्ति विशेष चमत्कार की प्रयोजिका (मूलभूता) हो, तब वह **सहोक्ति नामक अलङ्कार** होता है ।

टिप्पणी—(१) **सहोक्ति अलङ्कार** का लक्षण हुआ कि—

मूलभूतातिशयोक्तेर्विद्यमानत्वे सति सहार्थक शब्दप्रयोज्यएकपदार्थस्यानेकपदार्थे सम्बन्धः सहोक्तिः इति । इस लक्षण में "**लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ**" इत्यादि में अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये "**सति**" पद का ग्रहण किया है । इसी से "**सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम**" यह **काव्यप्रकाशकृत सहोक्ति** का लक्षण भी अननुमत है, ऐसा ध्वनित होता है । और यदि उक्त स्थल पर चमत्कार विशेष के न होने से अलंकार सामान्य के लक्षण की ही प्रवृति न होने से विशेष लक्षण की प्रवृति असम्भव है, अतः अतिव्याप्ति ही असम्भव है, ऐसा कहा जाये तो स्वरूपमात्र का प्रतिपादन करने के लिये ही "**सति**" पद का उपादान किया है, ऐसा समझना चाहिये । "**कमलमिव मुखं मनोज्ञम्**" यहाँ एक मनोज्ञत्व पदार्थ का कमल और मुख में सन्वन्ध होने पर भी अतिव्याप्ति का निराकरण करने के लिये "**सहार्थक शब्द प्रयोज्यः**" इसका ग्रहण किया है ।

(२) **सहोक्ति** की व्युत्पत्ति—**सह—सहार्थकस्य उक्तिः सहोक्तिः**—सार्थक नाम है ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च। अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान्यथा च।

क्रमेणोदाहरणम्—

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः।'

अत्र रागपदे श्लेषः।

---

(३) **अलङ्कारकौस्तुभकार** का मत है कि—"धर्मों के अभेदाध्यवसाय मूलक स्थलों पर ही सहोक्ति हो सकती है, कार्य-कारण के पौर्वापर्यविपर्यय रूप अतिशयोक्ति में सहोक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ पर "अतिशयोक्तिअलंकार" ही है, सहोक्ति नहीं। **यथा—तव कोपोऽरिनाशश्च जायते युगपन्नृप।** "इस अतिशयोक्ति की अपेक्षा **"तव कोपोऽरिनाशश्च सहैवनृप जायते।"** इस सहोक्ति में चमत्कार विशेष का अनुभव नहीं होता है। और चमत्कार की विशेषता ही पृथक् अलंकार की व्यवस्थापिका होती है।

अवतरणिका—**सहोक्ति** के लक्षण में **अतिशयोक्ति** पद अतिशयोक्ति विशेष का ज्ञान कराने वाला है, सामान्यातिशयोक्ति का नहीं, अतः कहते हैं—

अर्थ—अतिशयोक्ति भी यहाँ अर्थात् **सहोक्ति** के लक्षण में अभेदाध्यवसायमूलक और कार्य–करण के पौर्वापर्यविपर्ययरूपा है। अभेदाध्यवसायमूलक अतिशयोक्ति भी श्लेषमूलक और अश्लेषमूलक होती है।

अर्थ—(१) क्रम से उदाररण—(**श्लेषमूला अभेदाध्यवसाय रूपातिशयोक्ति-मूला सहोक्ति अलंकार** का उदाहरण) **सहाधरेति**—इस (पुरोवर्ति बिम्बोष्ठी कान्ता) के अधरोष्ठ के साथ प्रियतम यौवनकाल में अनुरक्त हुआ है। **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) राग पद में श्लेष है।

टिप्पणी—(१) सह शब्द के योग में **"अधरदलेन"** इसमें तृतीया है, **"रागभाक्"** यह पद अधर और प्रिय के अन्वयी राग अर्थ ज्ञान कराने वाला है। **"यौवने"** इसके अन्दर विद्यमान सप्तमी का समानकालीनता अर्थ है, और इस प्रकार अधर का प्रतियोगी यौवनकाल में साथ होने वाला प्रिय अनुरक्त हुआ है, यह शाब्द बोध होता है। यहाँ पर तृतीयान्त की विशेषण होने के कारण गौणता है, और प्रथमान्त की विशेष्य होने के कारण प्रधानता है, तथा प्रथमान्त में अनुरक्त होना शाब्द है, और तृतीयान्त में सह के अर्थ के सामर्थ्य से आर्थ है।

(२) राग शब्द के श्लिष्ट होने के कारण अधरों की लालिमा और प्रिय का अनुराग—ये दोनो अर्थ प्रतीत होते हैं। अतः लालिमा और अनुराग में भेद होने पर भी अभेदाध्यवसाय होने से **अतिशयोक्ति** है। अतिशयोक्ति के कारण और सह शब्द के अर्थ की सामर्थ्य से एक **"रागभाक्"** पद का अर्थ अधरोष्ठ के साथ और प्रिय के साथ सम्बन्धित होता है। अतः **श्लेषमूलक अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिमूला-सहोक्त्यलंकार** है।

'सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सारयन्तः ।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति ॥'

इदं मम । अत्रोल्लासादीनां संबन्धिभेदादेव भेदः, न तु श्लिष्टतया ।

'सममेव नराधिपेन सा गुरुसंमोहविलुप्तचेतना ।
अगमत् सह तैलबिन्दुना ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥'

अर्थ—(२) (**अश्लेषमूला अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिमूला सहोक्त्यलंकार** का उदाहरण) **सहेति**—[**प्रसङ्ग**—यह चन्द्र वर्णन है।] कुमुदों के समूह के साथ कामदेव को बढ़ाती हुई, प्रगाढ़ अंधकार समूह के साथ (कामीजनों के) धैर्य को नष्ट करती हुई, कमलों के समूह के साथ मन संकुचित करती हुई चन्द्रमा की किरणें प्रत्येक दिशा में फैल रही हैं ।

अर्थ—यह (पद्य) **मेरा** अर्थात् साहित्यदर्पणकार का है । [उक्त पद के अन्दर अभेदाध्यवसाय के मूलभूत भेद का प्रतिपादन करते हैं ।] **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) उल्लासादि पदों का ("आदि" पद से उत्सारण और आमीलन का ग्रहण होता है) सम्बन्धी के भेद से ही (कुमुद कदम्ब और कामादि के भेद से ही) भेद है, श्लेष होने के कारण (भेद) नहीं है ।

टिप्पणी—(१) **कहने का आशय यह है कि** प्रकृत उदाहरण में कुमुद कदम्बों के पक्ष में उल्लास का अर्थ है—खिलाना और काम के पक्ष में है—बढ़ाना । इस प्रकार सम्बन्धी के भेद से उल्लास के भिन्न होने पर भी "**विकास इव वर्धनम्**" इस एक पद से उपस्थाप्य सादृश्य के कारण अभेद का अध्यावसान होने से **अतिशयोक्ति** है । इस अतिशयोक्ति के कारण और **सह** शब्द के अर्थ के कारण एक ही उल्लास पद का अर्थ कुमुद कदम्ब और काम के साथ सम्बन्धित होता है, अतः सम्बन्धी के भेद से **अवगतभेदमूलातिशयोक्तिरुपा सहोक्तिः** है । इसीप्रकार तिमिर समुदाय के साथ उत्सारण का अर्थ है—हटाना और धैर्य के साथ है—नष्ट करना । कमल समूह के पक्ष में आमीलन का अर्थ है—सङ्कोच और मन के पक्ष में है—अन्य विषयों से पृथक् करना । शेष पहले की तरह ही समझ लेना चाहिये ।

अवतणिका—इसप्रकार **अभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिरूपा सहोक्ति** का उदाहरण देकर सम्प्रति **कार्य-कारण के पौर्वापर्यविपर्यय रूपातिशयोक्तिमूला सहोक्ति** का उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(२) (**कार्य-कारण पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूला सहोक्ति** का उदाहरण) **सममिति**—[**प्रसङ्ग**—**रघुवंश** के अष्टमसर्ग में यह पद्य है ।] वह (इन्दुमती) महती मूर्च्छा के कारण विनष्ट हो गयी है चेतना जिसकी ऐसी तैल बिन्दु के साथ क्षीण दीपशिखा के समान राजा (अज) के साथ ही पृथ्वी पर गिर गई।

इयं च मालयापि संभवति । यथोदाहृते 'सह कुमुदकदम्बैः—' इत्यादौ ।

'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ ।'

इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलाभावान्नायमलङ्कारः ।

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥]

टिप्पणी—(१) यहाँ इन्दुमती का गिरना कारण है, और राजा अज का गिरना कार्य है क्योंकि इन्दुमती को गिरता हुआ देखकर ही राजा गिरा है । किन्तु यहाँ पर दोनों के गिरने का समान समय में ही वर्णन किया है, अतः **पौर्वापर्यविपर्यय** है । इसीलिये यहाँ पर **पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्ति** है । इस अतिशयोक्ति के कारण और सह शब्द के अर्थ के कारण एक ही "अगमत्" पद का अर्थ इन्दुमती और राजा दोनों के साथ सम्बन्धित होता है, अतः **सहोक्ति** है ।

अर्थ—और यह (सहोक्ति) मालारूप से भी हो सकती है, यथा—उदाहृत "सह कुमुद कदम्बैः" इत्यादि में ["आदि" पद से **सरस्वतीतीर्थादि** स उक्त निम्न उदाहरण का ग्रहण होता है । यथा—

"उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं

भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम् ।

वैदेह्या मनसा समं तदधुना कृष्टं, ततो भार्गव

प्रौढाहङ्कृति कदिलेन, च समं भग्नं तदैशं धनु ॥ इति] ।

लक्ष्मण के साथ रामचन्द्रजी गहन वन को गये" इत्यादि में मूल में अतिशयोक्ति के न होने से यह (**सहोक्ति**) अलङ्कार नहीं है ।

टिप्पणी—वस्तुतः जहाँ पर वैचित्र्य का अनुभव हो, वहीं पर ही **सहोक्ति** की अलंकारिता माननी चाहिये । अन्यथा **काव्यप्रकाशकार** द्वारा दिया हुआ निम्न उदाहरण असङ्गत हो जावेगा ।

"सह मणि वलयेन बाष्पधारा गलन्ति"

यहाँ अपने स्थान से च्यवन रूप गमन एक ही है ।

अथ विनोक्त्यलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(विनोक्ति का लक्षण) **विनोक्तिरिति**—यदि (यत्) अन्य के बिना अन्य वस्तु अशोभन नहीं होती है, अथवा (अन्य के बिना अन्य वस्तु) अशोभन हो जाती है, (वह) विनोक्त्यलङ्कार होता है ।

टिप्पणी—(१) **विनोक्ति** का लक्षण हुआ—"**एकपदार्थाशोभनत्वाभावादिप्रयोजकापरपदार्थव्यतिरेककथनं विनोक्तिः**" ।

(२) **विनोक्ति** की व्युत्पत्ति—**विनाशब्दार्थस्योक्तिर्विनोक्तिः**—सार्थक नाम है । यद **विनोक्ति** केवल विना शब्द होने पर ही नहीं होती है, अपितु बिना शब्द के अर्थ के वाचकमात्र के होने से होती है । अतएव **नञ्–निर्–वि–अन्तरेण–ऋते–रहित–विकल** इत्यादि प्रयोगों के होने पर भी होती है ।

नासाधु अशोभनं न भवति । एवं च यद्यपि शोभनत्व एव पर्यवसानं तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्याशोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः । तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति । यथा—

'विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः ।
बिना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत ॥'

अर्थ—(कारिकास्थ "नासाधु" पद की व्याख्या करते हैं) **नासाध्विति**—नासाधु अर्थात् अशोभन नहीं होता है । **(भावार्थ यह है कि)** इसप्रकार यद्यपि **"नासाधु"** के अर्थ का) शोभनता में ही पर्यवसान होता है, [अशोभनता में नहीं। क्योंकि—**"अभावस्य तु योऽभावो भाव एवाऽवशिष्यते"** इस न्याय से और **"द्वौ नञौ प्रकृतार्थमवगमयतः"** इस न्याय से] तथापि अशोभनता के अभाव के प्रतिपादन के द्वारा (**"न असाधु किन्तु साधु '** इस असाधुत्व के प्रतिषेध के द्वारा) शोभन कहने का यह तात्पर्य है कि किसी वर्णनीय (प्रस्तुत पदार्थ) की अशोभनता उससे भिन्न (वर्णनीय पदार्थ से भिन्न) अन्य (वस्तु) के संयोग का ही दोष है (किन्तु) उसकी (वर्णनीय वस्तु की) तो पुनः स्वभाव से ही शोभनता है, इति ।

टिप्पणी—आशय यह है—"विना" अर्थ वाले पद का प्रयोग करके जिसकी साधुता कही जाती है, उसकी साधुता स्वाभाविक ही होती है, और जिसकी "बिना" अर्थ वाले पद से सन्निधि का निषेध किया जाता है, उसकी उसके द्वारा की हुई ही असाधुता होती है । इसीलिये—

दुःखदत्वं विना पापमविद्यामोहमन्तरा ।
विना दुःखं च नित्यः साधुः कस्य न सम्मतः ॥

यहाँ दुःखदत्वादि के बिना पाप के ही अनभिप्रेत होने के कारण यह अलङ्कार नहीं है ।

अर्थ—(१) (अशोभनत्वाभाव का उदाहरण) **यथा—विनेति**—वर्षाकाल के बिना चन्द्रमा निर्मल हो गया, ग्रीष्मकालीन गर्मी के बिना वनपंक्ति मनोहारिणी हो गई ।

टिप्पणी—(१) स्वभाव से ही शोभन चन्द्रमा की जो अशोभनता वर्षाकाल ने कर दी थी वह वर्षाकाल के न होने से समाप्त हो गई, अतः चन्द्रमा की शोभनता पुनः वापिस आ गई । इसी प्रकार स्वभाव से ही मनोहारिणी वनपंक्ति को ग्रीष्मकालीन गर्मी ने अमनोहारिणी बना दिया था, वह अब ग्रीष्म ऋतु के न रहने से समाप्त हो गई, अतः वनराजि की भी स्वाभाविक मनोहरता पुनः वापिस आ गई ।

(२) प्रकृत उदाहण में वर्षाकाल और ग्रीष्म ऋतु के न होने पर चन्द्रमा की और वनराजि की अशोभनता का अभाव हो जाने से **विनोक्ति** है । दोनों की उपमानोपमेयभाव की प्रतीति व्यञ्जना से होती है ।

'असाध्वशोभनं' यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनार्केण का निशा शशिना विना ॥'

निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम् ।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येम ॥'

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः । विनाशब्दप्रयोगाभावे विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम् । एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावे सहार्थविवक्षाया भवतीति बोध्यम् ।

अर्थ—(२) **असाधु** अर्थात् अशोभन (का उदाहरण)-**यथा**—**अनुयान्त्येति** [**प्रसङ्ग**—वनवास के समय सीता के प्रति अनसूया का यह वचन है ।] (हे सीते लोकोत्तरचरित्र वाले प्रिय स्वामी (रामचन्द्रजी) का अनुसरण करते हुये तुमने अ किया । (क्योंकि) सूर्य के बिना दिन की शोभा ? (तथा) चन्द्रमा के बिना रात्रि क्या शोभा ? अर्थात् कुछ भी नहीं । (इसीप्रकार पति के बिना स्त्रियों की श कुछ भी नहीं होती है ।)

टिप्पणी—यहाँ सूर्य के बिना दिन की शोभा के और चन्द्रमा के बिना की शोभा के न होने से **विनोक्ति अलंकार** है । तथा दिन की शोभा के साथ रात्रि की शोभा के साथ सीता का भेद न होने से उपमानोपमेयभाव व्यञ्जना प्रतीत होता है ।

अवतरणिका—सम्प्रति "विना" अर्थ वाले नञ् के होने शोभनता के अभा उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—[**प्रसङ्ग**—विह्लण और राजपुत्री की परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति है कमलिनी का जन्म व्यर्थ (ही) चला गया, जिसने (कमलिनी ने) चन्द्रमा के बिम्ब नहीं देखा, [क्योंकि चन्द्रमा के निकलने के समय रात्रि में कमलिनी बन्द हो ज है, और कमलिनी के खिलने के समय दिन में चन्द्रमा नहीं निकलता है ।] चन्द्र की भी उत्पत्ति व्यर्थ ही है, जिस (चन्द्रमा) ने विकसित कमलिनी नहीं देख [क्योंकि कमलिनी के दिन में खिलने के समय चन्द्रमा का उदय नहीं होता, उदय होने के समय रात्रि में कमलिनी खिलती नहीं है ।]

टिप्पणी—उक्त पद्य के अन्दर पूर्वार्ध विह्लण की उक्ति है, और उत्त राजकुमारी की प्रत्युक्ति है ।

अर्थ—["विना" शब्द का ग्रहण न करने पर भी विलक्षणता दिखाते हैं **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में कमलिनी और चन्द्रमा के लिये) परस्पर "वि शब्द का ग्रहण न करने पर भी नञ् का ग्रहण करके उक्ति के कथन से अति चमत्कार हुआ है । [अर्थात् जिसप्रकार चन्द्रमण्डल का दर्शन किये बिना कमि का जन्म व्यर्थ है, उसीप्रकार विकसित कमलिनी का दर्शन किये बिना चन्द्रमा जन्म भी व्यर्थ है—इसप्रकार परस्पर जन्म की निरर्थकता के कथन द्वारा अति चमत्कार है ।] **विनेति**—"विना" शब्द का प्रयोग न होने पर भी "विना" के की विवक्षा में यह **विनोक्त्यलङ्कार** ही है ।

एवमिति—इसीप्रकार **सहोक्त्यलङ्कार** भी सह शब्द का प्रयोग न पर भी सह शब्द के अर्थ की विवक्षा होने के कारण होता है, ऐसा सम चाहिये ।

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः ॥५६॥
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ।

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः ।

यथा—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः ।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः ।

अथसमासोक्त्यलङ्कार निरुपणम्—

अर्थ—(**समासोक्ति** का लक्षण) **समासोक्तिरिति**—जहाँ सम अर्थात् प्रस्तुत और अप्रस्तुत में समान रूप से अन्वित होने वाले कार्य–लिङ्ग (पुल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग और नपुसंकलिङ्ग) और विशेषणों से प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुतवस्तु के व्यवहार का (**व्यवह्रियते—विशेषेण प्रतीयतेऽनेनेति व्यवहारः—अवस्थाविशेषस्तस्य**) सम्यक् रूपेण आरोप (अभेद का ज्ञान) **समासोक्तिः** (**समासेन—संक्षेपेण उक्तिः—अर्थद्वय-कथनं = समासोक्तिः**) **अलङ्कार** होता है ।

टिप्पणी—(१) **भावार्थ**—यह है कि-समान कार्य-लिङ्ग और विशेषण में से किसी एक के द्वारा प्राकरणिक पदार्थ में अप्राकरणिक पदार्थ के व्यवहार का अभेद ज्ञान **समासोक्ति अलङ्कार** कहलाता है।

(२) **समासोक्ति** की दूसरी व्युत्पत्ति—**समस्य कार्यादेः आसेन् उपन्यासेन उक्तिः—अप्रस्तुतावस्थाव्यञ्जनम् इति समासोक्तिः** ।

(३) इसप्रकार यह **समासोक्ति** तीन या चार प्रकार की होती है । तथाहि—(१) **समकार्यमूला** (२) **समलिङ्गमूला** (३) समभेदकधर्ममूला । और यदि **कार्यलिङ्ग-विशेषणैः**" इसके अन्दर "**कार्य च लिङ्गं च विशेषणं चेति कार्यलिङ्ग विशेषणाक्ति तानि च तानि चेति तथौक्तैः**" एक शेष स्वीकार किया जाये तो (४) **कार्यलिङ्ग विशेषणमूल** भी होती है ।

अर्थ—(**समकार्यमूला समासोक्ति** का उदाहरण) **अत्रेति**—इनमें से समान कार्य के द्वारा प्रस्तुत में अप्रस्तुत के व्यवहार का समारोप—**यथा—व्याधूयति** [**प्रसङ्ग**—वायु से उड़ते हुये आञ्चल वाली किसी तरुणी नायिका को देखकर वायु की प्रशंसा करने वाले किसी नायक की उक्ति है ।] (१) मलयानिल ! इस (पुरोदृश्यमान) कमलनयनी (तरुणी) के सुवर्ण के बने हुये कलश के समान शोभा को धारण करने वाले स्तनो के वस्त्र को बलात् दूर करके जो सम्पूर्ण शरीर का आलिङ्गन करते हो, (अतः) तुम ही (अन्य नहीं) धन्य हो अर्थात् इसप्रकार अनुपम सुन्दरी का इसप्रकार आलिङ्गन बड़े पुण्य से ही मिलता है ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) (प्राकरणिक) पवन में (अप्राकरणिक) हठ कामुक के (बलपूर्वक तरुणी का सङ्गम करने वाले पुरुष के) व्यवहार (अवस्था विशेष) का आरोप है । [अतएव **समासोक्ति** है।]

लिङ्गसाम्येन यथा —

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः ॥'

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसन्ध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः ।
विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा ।

टिप्पणी—उक्त उदाहरण में नायिका के स्तन के ऊपर विद्यमान वस्त्र को हटाकर बलात् आलिङ्गन करना ही कार्य है, और यह कार्य प्रकृत वायु का और अप्रकृत नायक का समान है । और यदि नायिका का उसप्रकार आलिङ्गन न कर पा सकने वाले किसी नायक की अपने प्रति अधन्यता सूचित करना प्रयोजन है, तो वायु के अप्रकृत होने से इसके अन्दर **समासोक्ति** नहीं होगी, अपितु **"धन्याः खलु वने वाताः"** इत्यादि उदाहरण के समान वैधर्म्य से **अप्रस्तुतप्रशंसा** होगी क्योंकि **"मैं अधन्य हूँ"** यह प्रस्तुत गम्य है । और इसप्रकार पुनः—

"नवालता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः"

इत्यादि उदाहरण इस **समासोक्ति** का समझना चाहिये । जहाँ वायु वर्णनीय होने के कारण प्रकृत है, वहाँ चुम्बन रूप कार्य के समान होने से शृङ्गारी नायक की अवस्था का आरोप वैचित्र्य उत्पन्न करता है ।

अर्थ—(२) लिङ्ग की समानता से (व्यवहार के आरोप का उदाहरण) **यथा—असमाप्तेति**—[प्रसङ्ग—विल्हण कवि रचित राजतरङ्गिणी में यह पद्य है ।] जिसकी विजयाभिलाषा पूर्ण नहीं हुई ऐसे मनस्वी (नीतिज्ञ) मनुष्य को स्त्री की चिन्ता कैसी ? अर्थात् किसी भी प्रकार की नहीं होती है । **तथाहि**—सूर्य सम्पूर्ण संसार को आक्रान्त किये विना सायं सन्ध्या का सेवन नहीं करता ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग मात्र से [अर्थात् सूर्य के पुल्लिङ्ग होने से और सन्ध्या के स्त्रीलिङ्ग होने से] सूर्य और सन्ध्या में (प्राकरणिक पूर्वार्ध के समर्थक होने से प्राकरणिक) नायक नायिका के (अप्राकरणिक पुरुषविशेष और स्त्रीविशेष के) व्यवहार का (क्रमशः) आरोप है । (अतः **समासोक्ति** है ।)

टिप्पणी—यद्यपि यहाँ विजिगीषु ही प्रस्तुतरूपसे उपमेयभूत सूर्य अप्रस्तुत है, तथापि नायिका के व्यंग्य होने के कारण वाच्य रवि प्रस्तुत है ।

अर्थ—(३) विशेषण की समानता तो तीन प्रकार की होती है—१. श्लिष्ट होने के कारण (विशेषण पद के श्लिष्ट होने के कारण दोनों अर्थों के प्रतिपादक होने से) (२) साधारणता के कारण (विशेषण पद श्लिष्ट न होने पर भी उसके अभिधेय के प्रकृत दोनों में ही विद्यमान होने से) और (३) औपम्यगर्भता के कारण (विशेषण के अन्दर विद्यमान साम्यता के होने से)

तत्र श्लिष्टतया यथा मम—

'विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।
जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः॥'

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता। अत्रैव हि 'तिमिरावृतिम्' इत्यत्र 'तिमिरांशुकाम्' इति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव, नत्वेकदेशविवर्तिरूपकम्।

अर्थ—**तत्रेति**—उनमें से (अर्थात् विशेषण की समानता के तीन प्रकारों में से) श्लिष्ट होने के कारण (समानता में व्यवहार के आरोप का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार कृत **विकसितेति**—[**प्रसङ्ग**—प्रभातकाल का वर्णन है।] बड़े दुःख की बात है कि ! (हन्त !) चन्द्रमा (अपने) सामने लालिमा के **अन्यत्र** अनुराग के आसङ्ग से प्रकाशित हो रहा है एकदेश जिसका ऐसी **अन्यत्र** प्रसन्न मुख वाली (तथा) नष्ट हो रहा है अन्धकाररूपी आवरण जिसका ऐसी **अन्यत्र** दूर हो रहा है अन्धकाररूपी वस्त्र जिसका ऐसी, सूर्य की **अन्यत्र** सूर्य नामक अन्य नायक के किरणो से **अन्यत्र** हाथ से स्पर्श की हुई प्राची दिशा को देखकर पकी हुई लवली के समान पीतवर्ण की कान्ति वाला, अत्यधिक कलङ्क के कारण मलिन मध्य देश वाला **अन्यत्र** ईर्ष्या से कलुषित चित्त वाला पश्चिम दिशा का **अन्यत्र** मृत्यु का आश्रय ले रहा है।

टिप्पणी—जिसप्रकार कोइ अपनी पूर्वानुरक्त कामिनी को अपने सामने अन्य पुरुष में अनुरक्त देखकर मरने को तैयार हो जाता है, उसीप्रकार की अवस्था के सूचक श्लिष्ट शब्दों का यहां सन्निवेश है "ऐन्द्री" कहने से परकीयात्व की प्रतीति होती है। वह पहले तो चन्द्रमा में अनुरक्त थी, परन्तु रात्रि के बीत जाने पर जब उसका वैभव कुछ कम हुआ तब उसने उसे छोड़ दूसरे (सूर्य) से अनुराग कर लिया। इसे देख चन्द्रमा की उक्त दशा हुई। यहाँ श्लिष्ट शब्दों के सामर्थ्य से पूर्व दिशा में परकीया नायिका का व्यवहार और चन्द्रमा में पूर्वानुरक्त पुरुष का व्यवहार एवं सूर्य में अन्तिम अनुरागी का व्यवहार प्रतीत होता है।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मुख रागादि शब्दों की श्लिष्टता है। [**तथाहि**—प्रभात वर्णन यहाँ पर प्राकरणिक है और उसका अङ्ग होने के कारण प्राकरणिक प्राची दिशा में मुखरागादि श्लिष्ट विशेषणो के साम्य से अप्राकरणिक परकीया नायिका के व्यवहार का आरोप है। इसीप्रकार प्राकरणिक सूर्य और चन्द्रमा के श्लिष्ट विशेषणों के साम्य से अप्राकरणिक दो उपनायकों के व्यवहार का आरोप है, अतः **समासोक्ति है**।] **एकदेशविवर्तिरूपक** के साथ इस **समासोक्ति** का विषय विभाग दिखाते हैं। **अत्रैवेति**—यहाँ (**विकसितमुखी**···**इत्यादि** पद्य में ही) "**तिमिरावृत्तिम्**" इसके स्थान पर '**तिमिराशुकाम्**" ऐसा पाठ परिवर्तन कर देने पर एक देश में आरोप की प्रतीति होने पर भी [**अर्थात्** तिमिररूप उपमेय में अंशुक **रूप उपमान** का आरोप होने पर भी] **समासोक्ति** ही होगी, **एकदेशविवर्तिरूपक** नहीं।

तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन स्फुटसादृश्यता परसाचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धिं व्याहन्तुमीशः।

यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव। यथा—

'जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम्।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा॥'
(यस्य रणान्तःपुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाग्रलताम्।
रससम्मुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना॥)

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव।

अर्थ—(क्योंकि) वहाँ पर "**तिमिरांशुकाम्**" इस स्थान पर) तिमिर और अंशुक का रूप्य (आरोप का विषय तिमिर) और रूपक (आरोप्यमाण अंशुक) भाव दोनों (तिमिर और अंशुक रूप रूप्य रूपक) के आच्छादकत्व रूप व्यापक धर्म के कारण सादृश्य के अत्यन्त स्फुट होने से दूसरे की अनुकूलता के बिना भी (प्राची दिशा में नायिका के आरोप के बिना भी) अपने आप में ही (तिमिर और अंशुक के रूप्य-रूपक भाव में ही) प्रकट हो जाता है, अतः **समासोक्त्यलङ्कार** की प्रतीति को बाधित करने में समर्थ नहीं है। **यत्रेति**—(परन्तु) जहाँ तो रूपक (आरोपस्थलीय उपमानोपमेय) का सादृश्य अस्फुट होता है, वहाँ किसी एक भाग में आरोप के बिना वह (अस्फुटसादृश्य) असङ्गत हो जाता है, अतः अशाब्द भी (शब्द से प्रतिपाद्य न होता हुआ भी) किसी एक भाग में आरोप अर्थबल से आक्षिप्त कर ही लिया जाता है, अतः वहाँ **एकदेशविवर्तिरूपक** ही होता है।

(**प्रसङ्ग**—किसी राजा की यह स्तुति है।) रण रूपी अन्तःपुर में हाथ में तलवार को **अन्यत्र** किसी नायिका को लिये हुए जिसके (सामने) युद्धोत्साह से **अन्यत्र** सुरत के अनुराग से अभिमुखगामिनी भी **अन्यत्र** अनुरागवती भी शत्रु की सेना **अन्यत्र** अन्य रमणियाँ नायिकायें सहसा (भय से **अन्यत्र** मान से) पराङ्मुख हो जाती है।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) रण और अन्तःपुर में सादृश्य स्फुट नहीं है। [क्योंकि रण भयप्रद स्थान है और अन्तःपुर भोग विलास का स्थान है, अतः दोनों में महान् अन्तर है।] अतः **एकदेशविवर्तिरूपक** है।

टिप्पणी—उक्त उदाहरण में प्रकृत राजा में अप्रकृत नायक के व्यवहार का आरोप है, तथा प्रकृत तलवार में अप्रकृत रिपुसेना का और नायिका का लिङ्ग के साम्य से व्यवहार का आरोप है, अतः क्या **समासोक्ति** है, अथवा रण में अन्तःपुर का आरोप शाब्द है, राजा में नायक का आरोप तथा तलवार और शत्रुसेना में दो नायिकाओं का आरोप आर्थ है, अतः "**यत्र कस्यचिद् आर्थत्वमेकदेशविवर्ति च**" इस लक्षण के अनुसार **एकदेशविवर्तिरूपक** है, ऐसा संशय होने पर रण और अन्तःपुर में साम्य के स्पष्ट न होने के कारण विचारणीय है कि साम्य की कल्पना से रण में अन्तःपुर आरोप के बिना वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है, अतः उसका आरोप परमावश्यक होने के कारण **एकदेशविवर्तिरूपक** ही है।

क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि वहूनां रूपणं शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । रूपकप्रतीतेर्व्याप्तिया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात् । नान्वस्ति रणान्तःपुरयोरपि सुखसंचारतया स्फुटं सादृश्यमिति चेत् ? सत्यमुक्तम्, अस्त्येव, किन्तु वाक्यार्थपर्यालोचनसापेक्षम्, न खलु निरपेक्षम्। मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्तःपुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात् ।

साधारण्येन यथा—

'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी ।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी ॥'

अर्थ—और जहाँ कहीं सादृश्य के स्फुट होने पर भी बहुतों का आरोप शाब्द हो और एकदेश का आर्थ हो, (तो) वहाँ **एकदेशविवर्तिरूपक** ही होता है, (क्योंकि) रूपक की प्रतीति के व्याप्त होने के कारण **समासोक्ति** की प्रतीति छिप जाती है। [**यथा—लावण्य मधुभिः पूर्णम्**···इत्यादि । आशय यह है कि—**यत्र स्फुटसादृश्यानां शाब्द रूपणाधिवयत्वेऽपि विशेष्यपदार्थस्य न शाब्दं रूपण** तत्र समासोक्तिः, **यत्र च विशेष्य पदाथस्य शाब्दंरूपण तत्रैकदेशान्तर रूपणस्यार्थवशाल्लभ्यत्वेऽपि स्फुट सादृश्यानामन्येषामाधिक्यात् शाब्दत्वेन** रूपकमेव ।] **प्रश्नः**—जिसप्रकार "**विकसितमुखीम्**··· "इत्यादि में "**तिमिराशंकाम्**" यह पाठ परिवर्तन कर देने पर भी सादृश्य के स्पष्ट होने पर **समासोक्ति** मानी है, उसीप्रकार "**जस्स रणन्ते उरए**" इत्यादि में भी सादृश्य स्पष्ट होने पर **समासोक्ति** क्यों नहीं मानी जाती है ? यह **प्रश्न** उठाते हैं । **नन्विति**–**प्रश्न**—रण और अन्तःपुर में भी सुखपूर्वक संचरण होने के कारण (अर्थात् जिसप्रकार अन्तःपुर में भी सुखपूर्वक संचरण करता हैं, वैसे ही रण में भी करता है) सादृश्य ("रणान्ते उरए" यहाँ पर) स्पष्ट है, (अतः यहाँ पर भी **समासोक्ति** ही मान लेनी चाहिये) ऐसा यदि मान ले ? **उत्तर—सत्यमिति**—ठीक कहते हो, (सादृश्य स्पष्ट) है ही, किन्तु वाक्यार्थ की (**जस्स रणन्ते उरए**···इत्यादि समस्त वाक्यार्थ की) पर्यालोचना के अनन्तर ही (सादृश्य की) प्रतीति होती है, (**सापेक्षम्**) निरपेक्ष (सदृश्य) नहीं है ["**तिमिराशंक वत्**" स्पष्ट नहीं है । अर्थात् जहाँ सादृश्य समस्त वाक्यार्थ की पर्यालोचना के पूर्व ही प्रतीत हो जाता है, वह सादृश्य स्फुट कहलाता है ।] क्योंकि, मुख और चन्द्रमादि में मनोहरत्वादि (रूप की समानता) की तरह रण ओर अन्तःपुर में स्वतः सुखपूर्वक सञ्चरण सम्भव नहीं है ।

टिप्पणी—एकदेशविवर्तिरूपक और **समासोक्ति** में विषय **भेद—यत्रारोपस्थलीययोरूपमानोपमेययोः** अस्फुटसादृश्यम्, **यत्र बहूनामारोपा शाब्दः एकदेशस्यारोपश्चार्थः तत्रैकदेशविवर्तिरूपकम् । यत्र तु स्फुटसादृश्यं यत्र वा बहूनामारोपो न तत्र** समाशोक्ति ।

अर्थ—(२) साधारणता के कारण (विशेलण समानता होने पर **समासोक्ति** का उदाहण) **यथा—निसर्गेति**–[प्रसङ्ग—यह प्रभात का वर्णन है ।] स्वभाविक सुगन्ध से विमुग्ध भ्रमरों के संगीत से सुशोभित कमलिनी **अन्यत्र** नायिका सूर्य के **अन्यत्र** अपने प्रियतम के उदित होने पर **अन्यत्र** आ जाने पर विकसित **अन्यत्र** हास्यमुखी हो गई ।

अत्र निसर्गेत्यादिविशेषण साम्यात्सरोजिन्या नायिकाव्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम् । तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसम्भवात् ।

औपम्यगर्भत्वं पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्करगर्भत्वात् । तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा ॥'

अत्र सुवेषत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समासः । अनन्तरं च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषणमाहात्म्याद्धरिणेक्षणायां लताव्यवहारप्रतीतिः ।

अर्थ—यहाँ (उदाहृत पद्य में) "**निसर्ग**" इत्यादि विशेषण के साम्य से [अर्थात् "**निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसङ्गीतशालिनी**" इस विशेषण के प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों ही कमलिनी और नायिका में समान रूप से विद्यमान होने के कारण] कमलिनी में नायिका के व्यवहार की प्रतीति में (क्योंकि जिसके मुख में स्वाभाविक सुगन्धि है, उसके ही व्यवहार का आरोप होता है) स्त्री मात्र में विद्यमान (कमलिनी में न होने के कारण) स्मेरत्वधर्म का आरोप (कमलिनी में नायिका के व्यवहार की प्रतीति के प्रति) सहकारी कारण है, क्योंकि, उसके विना (कमलिनी में स्मेरत्वधर्म के आरोप के बिना) विशेषणमात्र की समानता से (केवल "निसर्ग" इत्यादि रूप विशेषण की समानता से) नायिका के व्यवहार की प्रतीति असम्भव है ।

अर्थ—(३) औपम्यगर्भत्व पुनः तीन प्रकार का हो सकता है—(१) **उपमा गर्भ रूप से** (२) **रूपक गर्भ रूप से** और (३) **संकर गर्भ रूप से** (अर्थात् उपमा और रूपक का सन्देह होने पर "संकर" होता है ।) (१) उनमें से उपमा समास के गर्भ में होने पर (विशेषण के साम्य से **समासोक्ति** का उदाहरण) **यथा—दन्तेति**—पुष्पों के समान दाँतों की शोभा से युक्त **अन्यत्र** दाँतों की शोभा के समान पुष्पों से युक्त (**दन्तप्रभाः ताः पुष्पाणि इव अन्यत्र दन्तप्रभा इव पुष्पाणि तैश्चिता**), किसलय के समान हाथ से सुशोभित **अन्यत्र** हाथ के समान किसलयों से सुशोभित (**पाणिः पल्लवं किसलयमिव**) अन्यत्र **पाणिरिवपल्लव इति तेन शोभते इत्येवंशीला तादृशी**), भ्रमर समूह के समान केशपाश वाली **अन्यत्र** केशपाश के समान भ्रमर समूह से विशिष्ट (**केशपाशः अलिवृन्दं-भ्रमर पुञ्ज इव** अन्यत्र **केशपाशः इव अलिवृन्दं तेन विशिष्टा**) सुन्दर वेश वाली मृग नयनी (सुशोभित होती) है ।

अर्थ—(प्रकृत उदाहरण में **औपम्यगर्भता** दिखाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में सुवेशत्व के कारण (अर्थात् "**सुवेशा**" इस पद के उपमा-प्रतिपादक होने से) पहले "**दन्तप्रभाः पुष्पाणीव**" इस प्रकार (**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे**" २/१/५६ इस सूत्र से उपमित समास होता है ।) उपमा है मध्य में जिसके ऐसा (अर्थात् उपमित) समास होता है । और बाद में "**दन्त प्रभा सादृशैःपुष्पैश्चिता**" इत्यादि अन्य समास का आश्रय लेकर समान विशेषणों की महिमा से मृगनयनी (नायिका) में लता के व्यवहार की प्रतीति होती है ।

रूपकगर्भत्वे यथा—'लावण्यमधुभिः पूर्णम्–' इत्यादि । सङ्करगर्भत्वे यथा–'दन्तप्रभापुष्प–' इत्यादि । 'सुवेषा' इत्यत्र 'परीता' इति पाठे ह्युपमा-रूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम् । समासान्तरं पूर्ववत् । समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः ।

अर्थ—(२) रूपक समास के गर्भ में होने पर (विशेषण के साम्य से **समासोक्ति** का उदाहरण) **यथा**—"लावण्यमधुभिः पूर्वम्"······**इत्यादि** । इस पद्य की पृष्ठ······ पर व्याख्या की जा चुकी है ।

टिप्पणी—(१) **लावण्यमधुभिः पूर्वम्**······इत्यादि में लावण्य और मधु के आह्लादक होने पर लोचन और भ्रमर का श्यामत्वादि के साथ स्पष्ट सादृश्य सम्भव होने से और रूपकों के अधिक न होने से **समासोक्ति** ही है, **एकदेशविवर्तिरूपक** नहीं है । इस पद्य को जो पहले **एकदेशविवर्तिरूपक** का उदाहरण दिया है वह मतों के वैविध्य से ही समझना चाहिए । **प्रश्न**—इस पद्य में मधु आदिको का मुख में बाध होने से प्राथमिक ज्ञान की अनुपपत्ति होती है, ऐसा मान ले तो ? **उत्तर**—नहीं, ऐसा ठीक नहीं है । क्योंकि जिसप्रकार "**मुखचन्डं चुम्बति**" इत्यादि में चुम्बन का चन्द्रमा में बाध होने से मुख में पर्यवसान हो जाता है, उसीप्रकार मुख का सम्बन्ध मधु आपि में असम्भव होने से लावण्यादि मे पर्यवसित हो जाता है । **प्रश्न**—इस-प्रकार इसमें पहले की तरह दो समासों को स्वीकार करने की अपेक्षा इसको "उपमान" ही मान लो "रूपकगर्भ" को अधिक मानने की क्या आवश्यकता ? **उत्तर**—ठीक है, किन्तु इसप्रकार का प्रकार ले "गतानुगतिक" न्याय से ही स्वीकार किया है । अतः इसका खण्डन भी ग्रन्थकार को ही करना अभीष्ट है । (२) उक्त उदाहरण के अन्दर "**लाण्वयति एव मधूनि तैः लोक लोचनान्येष रालेम्बाः भ्रमरास्तेषां कदम्बैः**" इस विग्रह के अनुसार "**मयूर व्यसकादयश्च**" सूत्र से रूपक समास है ।

अर्थ—सङ्कर समास के गर्भ में होने पर (अर्थात् उपमा और रूपक की सन्दिग्धता है मर्म में जिसके ऐसा होने पर विशेषण के साम्य से **समासोक्ति** का उदाहरण) **यथा**—"**दन्तप्रभापुष्पचिता**"—इत्यादि । **प्रश्न**—इस पद्य का उदाहरण तो "**उपमागर्भत्वे**" के अन्दर दिया था, पुनः कैसे **सङ्करगर्भत्व** में उदाहृत किया जा रहा है ? **उत्तर**—**सुवेशेति**—"**सुवेशा**" के स्थान पर "**परीता**" यह पाठ परिवर्तन कर देने पर उपमा और रूपक में से किसी एक के भी निष्पादक न होने से [**अर्थात्**—"**सुवेशा**" के स्थान पर "**परीता**" इस पाठ परिवर्तन के कर देने पर "**उपमितं व्याघ्रादिभिः**" से उपमित समास होता है, और "**मयूरव्यसेकादयश्च**" से रूपक समास होता है—इसप्रकार इन दोनों का प्रतिबन्धक कोई नहीं हैं । और "**केशपाशक्ति वृन्देन**" इसमें "**केशपाशः अलिवृन्दमिव**" इसप्रकार उपमित समास हैं, तथा भ्रमर समूह के समान केशपाश से नायिका की व्याप्ति सम्भव होने से "**केशपाशः अलिवृन्दमिव**" इसप्रकार रूपक समास भी है] सङ्कर की (उपमा और रूपक के सन्देह की) प्रतीति हो जाती है । (यहाँ) दूसरा समास ("**दन्तप्रभा इव पुष्पाणि**" इत्यादि उत्तर पद प्रधान समास) पूर्ववत् समझना चाहिये । दूसरे समास की रूपकानुयोगी समास की महिमा से ही लता की प्रतीति होती है ।

एषु च येषां मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्य-तृतीययोः समासोक्तिः ।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव । पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमैवाङ्गीकर्तुमुचिता ।

अन्यथा—

'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥'

टिप्पणी—इसप्रकार प्रथम तीन चरणों में उपमित समास के द्वारा सादृश्य का कथन होने से और लता के सादृश्य के प्रतीयमान होने से **एकदेशविवर्तिनी उपमा** है ? अथवा दन्तप्रभा आदि में पुष्पत्वादि के आरोप के शाब्द होने से और लतात्व के आरोप के आर्थ होने के कारण **एकदेशविवर्तिरूपक** है ? इस प्रकार उपमा और रूपक का **संदेहासंकर** है । तथा उपमा रूपक सन्देहसङ्करगर्भ वाले **"दन्तप्रभापुष्प-चिता"** इत्यादि विशेषणों के सादृश्य से **समासोक्ति** भी है ।

अवतरणिका—पूर्वोक्त मत असङ्गत है, यह दिखाते हैं ।

अर्थ—और इनमें (**"दन्तप्रभा"**······इत्यादि उदाहृत तीनों विशेषण साम्यों में से) जिनके मत में **उपमा** और **सङ्करालंकार** की एकदेशविवर्ति होना नहीं है, उनके मत में प्रथम (**"दन्तप्रभापुष्पचिता"**······इत्यादि प्रथम उदाहरण) और तृतीय (**"परीता"** इस पाठ से युक्त **दन्तप्रभा······इत्यादि** ही तृतीय उदाहरण) में समासोक्ति है । (परन्तु) दूसरा भेद तो (**रूपकगर्भितत्व** रूप **"लावण्यमधुभिः पूर्णम्······इत्यादि"** रूप भेद तो) **एकदेशविवर्तिरूपक** का विषय ही है [अर्थात् मुख में मधु आदि का **अन्वय असम्भव** होने से पहले ही कमल के अध्याहार से प्रतीति हो जाती है, व्यञ्जना से प्रतीत होने वाली **समासोक्ति** कैसे हो सकती है ? अर्थात् **समासोक्ति** तो उस अवस्था **में** होती जबकि व्यञ्जना वृत्ति से व्यवहार के आरोप की प्रतीति होती ।] **सम्यक्** तथा सिद्धान्त रूप से विवेचन करने पर तो प्रथम प्रकार में (अर्थात् **"दन्तप्रभा"**······ **इत्यादि** में **"सुवेशा"** इस पाठ से युक्त प्रथम प्रकार में) **एकदेशविवर्तिनी उपमा** ही माननी ठीक है । अन्यथा (प्रकृत में **एकदेशविवर्तितोनीउपमा** न मानने पर) **"ऐन्द्र-मिति**—[**प्रसङ्ग**—शरद् समय का यह वर्णन है ।] सम्पूर्ण जल की वर्षा कर देने के कारण शुभ्र **अन्यत्र** दुग्ध से परिपूर्ण होने के कारण शुभ्र और पीतमेघ से **अन्यत्र** स्तन से नवीन नखक्षति की कान्ति वाले इन्द्रधनुष को धारण करती हुई शरद् ऋतु **अन्यत्र** कोई स्वैरिणी नायिका शशचिन्ह से युक्त **अन्यत्र** परस्त्रीगमन से दूषित चन्द्रमा को **अन्यत्र** उपनायक को स्वच्छ करती हुई **अन्यत्र** अपने समागम से आह्लादित करती हुई सूर्य की **अन्यत्र** अपने स्वामी के अत्यन्त तीक्ष्णता को **अन्यत्र** मनस्ताप को कर **दिया** ।

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः । नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभशक्रचापधारणासम्भवात् ।

ननु 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि सञ्चारणीयम् । यथा—'दध्ना जुहोति' इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः ।

टिप्पणी—उक्त उदाहरण में "**पाण्डुपयोधरेण आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्रं धनुर्दधाना**" इस "**उपमा गर्भ विशेषण के सादृश्य से**" शरद् ऋतु में नायिका के व्यवहार का आरोप होने से **समासोक्ति** है—ऐसा कुछ का मत है । **परन्तु** इन्द्र धनु में नखक्षत का औपम्य और मेघ में कुच का औपम्य शाब्द है । शरद् ऋतु में नायिका का औपम्य, चन्द्रमा में उपनायक का औपम्य और सूर्य में स्वामी का औपम्य प्रतीयमान है, अतः "**एकदेशविवर्तिनी उपमा**" है, ऐसा ग्रन्थकार का आशय है ।

अवतरणिका—सम्प्रति अन्य मत का निराकरण करते हैं ।

अर्थ—इसमें ("**ऐन्द्रंधनु**······**इत्यादि उदाहरण** में) शरद् ऋतु के अन्दर नायिका के व्यवहार की प्रतीति कैसे हो सकती है ? (क्योंकि) नायिका के स्तन द्वारा नवीन नखक्षत की कान्ति वाले इन्द्र धनुष का धारण करना असम्भव है ।

टिप्पणी—**कहने का आशय यह है कि**—जहाँ विशेषण सम्भव हो सकता है, वहीं पर व्यवहार का आरोप किया जाना उचित है, अन्यथा चन्द्रमा में भी शृङ्ग के व्यवहार का आरोप हो जावेगा । इसलिये पृथिवी पर विद्यमान नायिका के स्तन द्वारा सुदूर आकाश में विद्यमान नवीन नखक्षत की कान्ति वाले इन्द्रधनुष का धारण करना असम्भव है अतः "**पाण्डुपयोधरेण आर्द्रनखक्षताभम् ऐन्द्रं धनुः दधानाः**" ये विशेषण नायिका के पक्ष में सर्वथा ही असम्भव होने से शरद्ऋतु में उसके व्यवहार का आरोप भी नहीं हो सकता है, अतः यहाँ पर कथमपि **समासोक्ति** नहीं हो सकती है । अतएव "**नायिकामिव शरदम्**" नायिका के समान शरद्ऋतु है—ऐसा मानकर इन्द्रधनुष में नखक्षत का सादृश्य और मेघ में स्तन का सादृश्य शब्द से प्रतिपाद्य हो जाता है । शरद्ऋतु में नायिका का सादृश्य, चन्द्रमा में उपनायक का सादृश्य और सूर्य में स्वामी का सादृश्य प्रतीयमान होता है । इसप्रकार न चाहने की अवस्था में भी **एकदेशविवर्त्तिनी उपमा** स्वीकार कर लेने पर "**दन्तप्रभा पुष्पचिता**" के अन्दर भी **एकदेशविवर्तिनी उपमा** ही स्वीकार करनी चाहिये ।

अर्थ—**प्रश्न**—"**आर्द्रनखक्षताभम्**" यहाँ पर विद्यमान भी उपमानत्व को विषय के अनुशीलन के द्वारा (अभिप्रेत अर्थ के ज्ञान के अनुरोध से) इन्द्रधनुष में ("**याचित मण्डनन्याय**" से) अर्पित कर लेना चाहिये । **यथा**—"**दध्नाजुहोति**"—दही से हवन करना चाहिये—इत्यादि (आगमवाक्य) में हवन के अन्यथा सिद्ध होने से ("**अग्निहोत्रं जुहोति**" इस अन्य आगम की उत्पत्ति की विधि से ही सिद्ध होने से) दधिपद में विधि (अप्राप्त प्रापकत्वरूप विधिशक्ति) सञ्चरित हो जाती है ।

एवञ्चेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत् ? न एवं-विधनिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वात् ।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः । 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः–' इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात् ।

(यहाँकहने का आशय यह है कि—अग्निहोत्र के प्रकरण में "अग्निहोत्रं जुहोति", सायं प्रातर्जुहोति, "दध्नाजुहोति"—इत्यादि अनेक विधियाँ उपलब्ध होती है। उनमें से अग्निहोत्र संज्ञक हवन के "अग्निहोत्रं जुहोति" इस सामान्य विधि से ही प्राप्त होने के कारण "दध्नाजुहोति" इसके द्वारा पुनः उसके अंश का विधान करना ठीक नहीं है, क्योंकि विधि अप्राप्तप्रापकत्वरूप होती है। इसलिये "दध्नाजुहोति" इस विधि में "जुहोति" इसमें उपलब्ध होने वाली विधि दधि में अदग्धदहनन्याय से याचित-मण्डनन्याय के समान सञ्चरित हो जाती है। पार्थसारथिमिश्र ने कहा है कि—इसप्रकार "दध्नाजुहोति" इसका होमानुवादमात्र में पर्यवसान हो जाता है। तथा कुमारिलभट्ट ने भी कहा है—

"सर्वत्राख्यातसम्बन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे ।
विधिः शक्त्युपसङ्क्रान्ते स्याद्धातोरनुवादता ॥"

जिसप्रकार आख्यात में विद्यमान विधि शक्ति धातु के अर्थ के अन्यथासिद्ध होने पर उस विषय में अनुपयोगिनी होती हुई अदग्धदहनन्याय से अन्य पदार्थ की विधेयता में उपयोगिनी होती हुई अन्य पद में सञ्चरित हो जाती है, उसीप्रकार यहाँ पर भी समझना चाहिये। और इसप्रकार "शेषः परार्थत्वात्" ३/१/२ इस जैमिनी सूत्र से "दध्ना क्षग्निहोत्रं जुहोति" यह विधि पर्यवसित होती है।

अर्थ—एवश्चेति इसीप्रकार ["आर्द्रनखक्षताभम्" पद में उपमावाचक "आभा" पद का समास है, तथापि नायिका के पक्ष में योग्यता के अनुसार उसका सम्बन्ध इन्द्रधनुष के साथ "याचितमण्डनन्याय" से किया जा सकता है—इससे] "इन्द्रधनुष की कान्ति के समान नवीन नखक्षत को धारण करती हुई" इस अर्थ की प्रतीति हो जायेगी।

उत्तर—नहीं, (इसप्रकार समाधान नहीं करना चाहिये) क्योंकि; इसप्रकार से (आगम वाक्य के समान काव्य में सम्भव न होने से) निर्वाह अशक्य होने से कष्ट समाधान करने की अपेक्षा एकदेशविवर्तिनी उपमा को स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है। [प्रश्न--"धर्मो की कल्पना से धर्म की कल्पना करना लाघव होता है" इस न्याय के अनुसार उपमेय की उपमान से कल्पना करने की अपेक्षा "एकदेश-विवर्तिनी उपमा की कल्पना करना गुरु है। अतः कहते है—] अस्तुवेति—अथवा यहाँ पर (ऐन्द्रं धनु ···इत्यादि में) जैसे तैसे (अर्थात् आर्द्रनखक्षताभम्" में विद्यमान उपमा वाचक "आभा" शब्द के इन्द्रधनुष में संचरण हो जाने से) "समासोक्ति" हो जावे, (परन्तु) "नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः ।

पदे-पदे विभान्तिस्म चक्रवाकैः स्यनैरिव" ॥

इस (पूर्वोक्त पृष्ठ······के उदाहरण) में ("एकदेशविवर्तिनी उपमा" को स्वीकार किये बिना) अन्य गतिसम्भव नहीं है।

किं चोपमायां व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः ।

यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते ।
तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा ॥'

टिप्पणी—इस प्रकृत '**नेत्रैरिवोत्पलैः**'' इत्यादि उदाहरण में पूर्व समाधान की भाँति उत्पलादि में उपमानता का सञ्चार कर लेना चाहिये—''ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ''**आर्द्रनखक्षताभम्**'' यहाँ उपमा के आर्थी होने से अर्थ के द्वारा ही कल्पना की जा सकती है, परन्तु यहाँ ''**नेत्रैरिवोत्पलैः**'' में तो उपमा श्रौत है, अतः पूर्व प्रकार का समाधान सम्भव हीं नहीं हो सकता है । अतः यहाँ पर **एकदेश-विवर्तिनी उपमा** माननी ही पड़ेगी ।

अवतरणिका—**प्रश्न**—''**उत्पलैरिव नेत्रैः**'' इसप्रकार उपमानोपमेय भाव के वैपरीत्य से यहाँ पर भी ''जलाशय की लक्ष्मी'' के अन्दर नायिका के व्यवहार का आरोप करके ''**दन्तप्रभापुष्पचिता**'' इत्यादि की तरह ही क्यों न ''**समासोक्ति**'' मान ली जावें इसका समाधान करने के लिये कहते हैं—

अर्थ—तथा—उपमा में (इवादि पदों से साक्षात् ही अभिहित उपमा में) व्यवहार की प्रतीति के असम्भव होने से, व्यवहार की प्रतीति से ही उपस्कृत होने वाली (**तदुपजीविकायाः**) **समासोक्ति** का प्रवेश कैसे हो सकता है ? कहा भी है कि—**व्यवहार इति**—औपम्यगर्भविशेषण के साम्य होने पर व्यवहार की (व्यवहारा-रोपात्मक साधर्म्य की) अथवा (अप्रस्तुत का) स्वरूप की (स्वरूपारोपात्मक साधर्म्य की) जो प्रतीति होती है, वह औपम्य (औपम्यगर्भविशेषण के साम्य से उत्थापित) **समासोक्ति** नहीं होती है, (अपितु), सुव्यक्त (सब मनुष्यों से अनुभवसिद्ध) ''**एकदेश-विवर्तिनी उपमा**'' (होती) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर ''**एकदेशोपमा**'' यह पद **एकेदेशरूपक** का भी उप-लक्षण है । इसप्रकार इस मत में भी **लावण्यमधुभिः पूर्णम्**'' ......**इत्यादि में एकदेश-विवर्ति रूपक** ही है ।

(२) **अलङ्कारसर्वस्वकार** ने भी कहा है कि—''**नेत्रैरिवोत्पलैः**'' **इत्यादि** में ''जलाशय की लक्ष्मी'' के अन्दर नायिका की प्रतीति **समासोक्ति** के द्वारा नहीं होती है, क्योंकि विशेषणों की समानता नहीं है, अपितु वहाँ पर नायिका की प्रतीति उपमानत्वेन होती है, सरः श्री के धर्मत्वेन नायिकात्व की प्रतीति नहीं होती है, अतः **एकदेशविवर्तिनी उपमा** ही माननी चाहिये ।

एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्करेऽपि समासोक्तेरप्रवेशो न्यायसिद्ध एव।

तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति। विशेषणसाम्ये श्लिष्टविशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा। कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोक्तिः।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम्। स च क्वचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः, शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप इति चतुर्धा।

---

(३) अतः, जहाँ व्यवहार के समारोप की प्रतीति स्पष्ट होती है, वहीं **समासोक्ति** होती है; कष्ट कल्पना के द्वारा व्यहार की प्रतीति का ग्रहण करने पर नहीं। क्योंकि विशेषणों के सादृश्य की उपलब्धि होने से विशेष्य के भी अध्याहार हो जाने से पहले ही सादृश्य की प्रतीति अनुभव सिद्ध होती है, और उसी से श्रोता की आकांक्षा निवृत्त हो जाती है, अतः व्यवहार की व्यञ्जना नहीं होती है।

अर्थ—और इसप्रकार उपमा और रूपक में **एकदेशविवर्ति होना** स्वीकार कर लेने पर तन्मूलक (एकदेशविवर्तितामूलक) **सङ्कर** में भी समासोक्ति का न होना न्याय सिद्ध ही है (क्योंकि व्यवहार का आरोप नहीं होता है); अतः (उक्त प्रकार से **"दन्तप्रभा" इत्यादि** की तरह तीनों उदाहरणों में **समासोक्ति** के न होने से) औपम्यगर्भ विशेषणों से उत्पन्न होना इस (**समासोक्ति**) का विषय नहीं है; इति। विशेषण के साम्य होने पर (१) श्लिष्ट विशेषणों से उत्थापित और (२) साधारण विशेषणों से उत्थापित—इसप्रकार दो प्रकार की, (१) कार्य और (२) लिङ्ग के तुल्य होने पर दो प्रकार की होती है—इसप्रकार चार प्रकार की **समासोक्ति** होती है।

टिप्पणी———इससे सिद्ध होता है कि **"औपम्यगर्भत्वेन"** यह कहकर पुनः **"औपम्यगर्भत्वम् पुनस्त्रिधा"** इसप्रकार का विभाग और क्रमशः **"दन्तप्रभा...... इत्यादि"** तीनों उदाहरण-अन्यों के मतानुसार ही हैं।

अर्थ—सभी भेदों में यहाँ (इन **समासोक्ति अलङ्कारों** में अप्रस्तुत के) व्यवहार का आरोप (ही) कारण है। (स्वरूप का समारोप अथवा सादृश्य की प्रतीति नहीं) और वह (अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप) (१) कही लौकिक वस्तु में लौकिक वस्तु के व्यवहार का आरोप होता है (२) शास्त्रीय वस्तु होने पर शास्त्रीयवस्तु के व्यवहार का आरोप होता है, (३) अथवा लौकिक वस्तु में शास्त्रीय वस्तु के व्यवहार का आरोप, अथवा (४) शास्त्रीय वस्तु में लौकिक वस्तु के व्यवहार का आरोप होता है—इसप्रकार चार प्रकार की (**समासोक्ति**) होती है। [इस पूर्वोक्त चार भेदों में से प्रत्येक के लौकिक इत्यादि भेदों के समान चार प्रकार के भेद होने से मुख्यतः सोलह प्रकार की **समासोक्ति** हुई।)

तत्र लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदादनेकविधम् । शास्त्रीयमपि तर्कायुर्वेद-ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारा समासोक्तिः । दिङ्‌मात्रं यथा—'व्याधूय यद्वसनम्–' इत्यादौ लौकिके वस्तुनी लौकिकस्य हठकामुकव्यवहारादेः समारोपः ।

'यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां
पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम् ।
लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते—
स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः । एवमन्यत्र ।

अर्थ—**तत्रेति**—उन (चार प्रकार के भेदों) में से लौकिक वस्तु भी रसादि (शृङ्गारादि "आदि" पद से घट् पटादिकों का ग्रहण होता है) के भेद से अनेक प्रकार की होती है; शास्त्रीय (वस्तु) भी तर्क, आयुर्वेद, ज्योतिःशास्त्र में प्रसिद्ध होने के कारण अनेक प्रकार की **समासोक्ति** होती है। **दिङ्मात्रमिति**—यत्किञ्चित् (उदाहरण देते हैं) **यथा—"व्याधूय यद्वसनम्"**······**इत्यादि** में लौकिक वस्तु (वायु) में लौकिक हठ कामुक के व्यवहारादि का ("आदि" पद से "स्वरूप" का ग्रहण होता है) आरोप है।

अवतरणिका—सम्प्रति शास्त्रीय वस्तु में शास्त्रीयवस्तु के व्यवहार के आरोप का उदाहरण देते हैं।

अर्थ—[**प्रसङ्ग**—परमेश्वर के प्रति किसी की उक्ति है। (हे परमात्मन् !) (संसार की) सम्पूर्ण (सृष्टि-स्थिति और प्रलयादि) अवस्थाओं में अथवा वस्तुओं में **अन्यत्र** पद, प्रत्यय, योग समासादि रूप पदार्थान्वयों में एक रूप (अपरिणामी होने से अद्वितीय) **अन्यत्र** विकार से रहित होने के कारण उस अर्थ में संख्या से रहित अविनाशी **अन्यत्र** अव्यय नाम वाले स्वरादिनिपातविशेष, संख्यातीत रूप से विद्यमान **अन्यत्र** संख्या विशेष से प्रतिपादक होने रूप से विद्यमान आपको समझते हुये जिन मनुष्यों ने उत्कर्षशील आपके विभाग का **अन्यत्र** परवर्तिनी सु, औ, जस्, विभक्ति का निश्चित रूपेण लोप कर दिया है, उन्होंने निश्चितरूपेण ही आपका लक्षण (विशिष्ट ज्ञान स्वरूप निश्चिय) **अन्यत्र** सूत्र जान लिया है, ऐसा मैं जानता हूँ।

टिप्पणी—उक्त पद्य के अन्दर अव्यय की प्रतीति श्लिष्ट विशेषणों के सामर्थ्य से होती है।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) आगम शास्त्र (वेद) में प्रसिद्ध वस्तु (ब्रह्म) के अन्दर व्याकरण में प्रसिद्ध वस्तु (अव्यय शब्द) के व्यवहार का आरोप है। **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र (लौकिक में शास्त्रीय के अथवा शास्त्रीय में लौकिक के व्यवहार का आरोप समझना चाहिये।)!!

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति। इह तु स्वावस्थासमारोपेणानवच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति। अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः।

उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणामात्रस्य। अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतस्य गम्यत्वम् ,इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः।

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—(१) व्याकरणशास्त्र में "अव्यय" के विषय में कहा है कि—

सूत्र—"स्वरादिनिपातमव्ययम्" पा० १/१/३७।

आथर्वण श्रुति कहती है कि—

सदृशं त्रिषुलिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्नव्येति तदव्ययम् ॥

अवतरणिका—**समासोक्ति** अलङ्कार का **एकदेशविवर्तिरूपक-उपमाध्वनि-श्लेष** और **अप्रस्तुतप्रशंसा** से भेद दिखाते हैं—

अर्थ—(१) (**एकदेशविवर्तिरूपक** और **समासोक्ति** में भेद) **रूपके इति**—**एकदेशविवर्तिरूपक** में अप्रस्तुत (उपमान रूप वस्तु) अपने स्वरूप के आरोप से प्रस्तुत (उपमेय) के स्वरूप को आच्छादित कर लेती है (अर्थात् उपमेय को आच्छादित करके स्वयमेव क्रियादि में मुख्य रूप से अन्वित हो जाती है।); यहाँ (**समासोक्ति** में) तो (अप्रस्तुत उपमान रूप वस्तु) अपने साधर्म्य के आरोप से अनाच्छादित स्वरूप वाले ही उसको (प्रकृत पदार्थ का) पहली अवस्था से (अप्रस्तुत साधर्म्य के आरोप से पहले होने वाली अवस्था से) उत्कृष्ट बना देती है। अतएव यहाँ (**समासोक्ति** में) व्यवहार का आरोप होता है, स्वरूप का आरोप नहीं—ऐसा कहते हैं। (**उपमाध्वनि** और **श्लेष** का **समासोक्ति** से भेद) **उपमाध्वनाविति**—("**हिममुक्तचन्द्ररुचिरः**"—**इत्यादि** प्रदर्शित) **उपमाध्वनि** और ("**प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीः**"—**इत्यादि** निरूपित होने वाले) **श्लेष** में विशेष्य की भी समानता होती है, ("अपि" शब्द से विशेषण की भी समानता होती है—इसका ग्रहण होता है) यहाँ (**समासोक्ति** में) तो केवल विशेषण की (समानता प्रतीत होती है)। (**अप्रस्तुतप्रशंसा** से **समासोक्ति** का भेद) **अप्रस्तुतप्रशंसायामिति**—**अप्रस्तुतप्रशंसा** में प्रस्तुत (उपमेय) की व्यंग्यता होती है, यहाँ (**समासोक्ति** में) अप्रस्तुत (उपमान) की (व्यंग्यता होती है)—यह (दोनों में) भेद है।

अथ परिकरालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**परिकरालङ्कार** का लक्षण) **उक्तिरिति**—अभिप्राय व्यञ्जक (अर्थात् प्रकृत अर्थ का परिपोषण करने के अभिप्राय से प्रयुक्त) विशेषणों से विषय विशेष का प्रतिपादन करना **परिकर** (**परिकरणं—उपस्करणं**—विशेषण **व्यंग्यार्थेन वाच्यार्थस्योपस्करणात्**=**परिकरः**) **नामक अलङ्कार** (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) कारिका के अन्दर "**विशेषणः**" इसमें बहुवचन विवक्षित है, क्योंकि अनेक विशेषणों के होने से ही चमत्कार की प्रतीति होगी।

(२) **हेत्वलङ्कार** और **परिकर** में भेदः—**हेत्वलङ्कार** में व्यंग्य अनावश्यक होता है, किन्तु यहाँ **परिकरालङ्कार** में प्रकृत अर्थ के उत्पादक व्यंग्य का होना परम आवश्यक है।

(३) **परिकर** की व्युत्पत्तिः—**परिकरोति—प्रकृतार्थमुपकरोतीति परिकरः—साभिप्रायशब्दः सोऽस्मिन्नस्तीति परिकरः** "इति।"

(४) **काव्यप्रकाशकार** का मत इसप्रकार है—यद्यपि '**अपुष्टार्थत्व दोष**" स्वीकार किया है, और उसका निराकरण करने से पुष्टार्थ की स्वीकृति स्वयं हो जाती है, तथापि एक निष्ठ होने से अनेक विशेषणों के होने पर ही वैचित्र्य होता है, इसीलिये इसकी अलङ्कारों के मध्य गणना की है।

(५) **परिकरालङ्कार** के लक्षण में विद्यमान "**विशेषणैः**" शब्द से विशेष्य का भी ग्रहण हो जाता है। अतः **साभिप्रायविशेष्य** के होने पर भी यह अलङ्कार होता है। इसप्रकार **अप्पय दीक्षितकृत परिकराङ्कुरालङ्कुर** का भी इसी **परिकरालंकार** के अन्दर अन्तर्भाव हो जाता है। **कुवलयान** में **परिकराङ्कुरालंकार** का लक्षण इसप्रकार है—

> **साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत्परिकराङ्कुरः।**
> **चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥** इति॥

यहाँ "**चतुर्भुजः**" देवविशेष्य चारों पुरुषार्थों को देने की सामर्थ्य के अभिप्राय वाला है, अतः **परिकर** के अन्दर ही अन्तर्भाव हो जाने से **परिकरांकुरालंकार** को पृथक् न मानने से किसी प्रकार की भी क्षति नहीं होती है। वृक्ष के अङ्कुर के समान यह **परिकरालंकार** से भिन्न नहीं है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति ही **परिकरस्य अंकुर** है। प्रकृत उदाहरण में "**चतुर्भुजः**" के देव विशेष्य स्वीकार कर लेने पर ही महाभारत के शान्तिपर्व में और विष्णु के "**दिव्य सहस्रनाम स्तोत्र**" **चतुरात्मा चतुर्व्यूहश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः** ग्रन्थ में "चतुर्भुज" की (१४०) एक सौ चालीस नामों से गणना की गई है। तथा "चतुर्भुज" शब्द की "**चक्रपाणिश्चतुर्भुजः**" इसप्रकार अमरकोश में और "**वैकुण्ठो जलशायनश्चतुर्भुजः**" इसप्रकार हलायुध कोश में विष्णु के नाम से उपलब्धि होती है।

(६) **काव्यलिङ्ग** और **परिकर** में भेद—**काव्यलिङ्गे पदार्थवाक्यार्थाविव हेतुभावं भजते अत्र** (**परिकरालंकारे**) **तु पदार्थ वाक्यार्थवत्मात् प्रतीयमानोऽर्थो वाच्योपकारतां भजते" इत्यनयोर्भेदः॥**

यथा—

'अङ्गराज सेनापते द्रोणोपहासिन् कर्ण रक्षैनं भीमाद्दुःशासनम्।'

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्।

अर्थ—(परिकरालङ्कार का उदाहरण) **यथा—अङ्गराजेति—[प्रसङ्ग—वेणीसंहार** नामक नाटक में भीम से मारे जाते हुये दुःशासन की रक्षा करने में असमर्थ कर्ण के प्रति अश्वत्थामा की उपहासपूर्वक यह उक्ति है।] (हे) अङ्गराज! [दुर्योधन से दिये हुये अङ्गनामक देश विशेष के राजन्! इससे यह प्रतीत होता है कि आप (कर्ण) असाधारण मनुष्य हैं, साधारण मनुष्य नहीं। तथा अङ्गदेश के राजा होने से महाप्रभावशाली तुम्हारे लिये दुर्बल की रक्षा करना नितान्त समुचित है। क्योंकि कहा भी है कि—

"विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतज्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥"]

(हे) सेनापते! [मेरी अवज्ञा करके दुर्योधन ने तुमको सेनापति पद पर अभिषिक्त किया है, अतः उसके भाई दुःशासन की रक्षा करना नितरां उचित है।] (हे) द्रोण का उपहास करने वाले! [तुमने अपने गर्व से जयद्रथ की अर्जुन से रक्षा करने में असमर्थ मेरे पिता द्रोणाचार्य जी का उपहास किया था?] कर्ण! इस (दुर्योधन के भाई, युवराजपद पर आरूढ़) दुःशासन को भीमसेन के हाथ से बचाओ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में **अङ्गराज! इत्यादि** तीनों विशेषणों के पृथक् पृथक् आशय होने के कारण **परिकरालंकार** है।

अथार्थश्लेषालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**अर्थश्लेषालङ्कार** का लक्षण) **शब्दैरिति**—स्वभाव से (अभिधाशक्ति का आश्रय लेकर) एक अर्थ वाले (अभिधा से एकमात्र अर्थ के वाचक) शब्दों से अनेक अर्थ का कथन करना (अभिधा और लक्षणा से प्रतिपादन करना) **अर्थ श्लेष नामक अलङ्कार** (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१) कारिकास्थ **"स्वाभावात्"** इसके अर्थ से अभिधेय अर्थमात्र की प्रतीति होती है क्योंकि अन्यथा **"एकार्थैः"** इसकी कोई उपयोगिता ही नहीं रहे क्योंकि सभी शब्दों की वाच्य-लक्ष्य-और व्यंग्य रूप अर्थों से नानार्थकता होती है।

(२) कारिका के अन्दर विद्यमान **"शब्दैः"** इस पद में बहुवचन अविवक्षित है; क्योंकि उसप्रकार के एक शब्द का प्रयोग होने पर भी इसप्रकार का वैचित्र्य सम्भव हो सकता है। तथाच **"अर्थभेदेन शब्दभेदः"** इस नियम के अनुसार स्वभाव से ही एक अर्थ के ही अन्वय के ज्ञान में समर्थ शब्दों के जिस अलङ्कार के होने पर रूढ़ि आदि से दूसरा अर्थ प्रकरणादि के अनियम से ज्ञात होता है, वह **अर्थश्लेष** कहलाता है।

'स्वभावादेकार्थैः' इति शब्दश्लेषाद् व्यवच्छेदः। 'वाचनम्' इति च ध्वनेः। उदाहरणम्—

'प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥'

---

(३) **प्रश्न**—एक अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्दों से अनेक अर्थों का कथन कैसे हो सकता है ?

उत्तर—उसप्रकार के आकार वाले अन्य शब्दों के श्लिष्ट होने से अनेक अर्थों का कथन हो सकता है।

प्रश्न—इस प्रकार शब्दालङ्कार होने में क्या प्रतिबन्धकता है।

उत्तर—शब्दों का परिवृत्तिसह होना ही प्रतिबन्धकता है। इसीलिये **प्रदीपकार** कहते हैं कि—**परिवृत्तिसहानामेव शब्दानामेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन यत्रानेकार्थ प्रतिपादकता सोऽर्थश्लेषः॥** इति इसप्रकार अर्थश्लेष का लक्षण हुआ कि—**"परिवृत्ति-सहैरभिधया एकमात्रार्थबोधकश्लिष्टशब्दैः प्रकरणादिनियमाभावादनेकार्थप्रतिपादकत्व-मर्थश्लेषः"** इति।

अर्थ—(**शब्दश्लेष से अर्थश्लेश का भेद**) **स्वभावादिति—"स्वभावादेकार्थैः"** यह कहकर **शब्दश्लेष** से व्यवच्छेद कर दिया है, और "**वाचनम्**" से ध्वनि का (व्यवच्छेद कर दिया है।)।

टिप्पणी—(१) **शब्दश्लेष** के अन्दर स्वभाव से ही शब्दों की भिन्नार्थता होती है, इसीलिये इसकी शब्दालङ्कारता होती है, किन्तु **अर्थश्लेष** में तो शब्दों की अनेकार्थकता नहीं होती है, अपितु अनेक अर्थों का अभिधा और लक्षणा से प्रतिपादन होता है।

(२) एक अर्थ में प्रकरणादि से नियन्त्रित हो जाने पर व्यञ्जना वृत्ति से जहाँ दूसरा अर्थ प्रतीत होता है, वहाँ ध्वनि होती है, यथा—**राजत्युभावल्लभः** इत्यादि में। इसप्रकार दूसरे अर्थ की व्यञ्जना से प्रतीति होने पर **ध्वनि** होती है, और अभिधा से ही प्रतीति होने पर अर्थश्लेष होता है। यही इनमें भेद है।

अर्थ—(अर्थश्लेष का) उदाहरण—**प्रवर्तयन्निति—[प्रसङ्ग**—किसी राजा की स्तुति है।] विभाकर नामक राजा (**विभा—नीत्या राज्यस्य प्रकाशं-ख्यातिम्-उन्नतिं-करोतीति विभाकरः**) अन्यत्र सूर्य (साधारण हितकारी) शोभन (ब्राह्मणादि वर्णों की) क्रियाओं को अर्थात् वैदिक कर्मों को **अन्यत्र** अग्निहोत्रादि सत्कर्मों को (राज्य में) कराता हुआ **अन्यत्र** (अपने उदय से) आरम्भ कराता हुआ, सभी दिशाओं में रहने वाले मनुष्यों की मलिनता को (दारिद्र्य के कारण मलिनता को) **अन्यत्र** सभी दिशाओं के अन्धकार को, दूर करता हुआ (शिक्षादि के प्रसार से **अन्यत्र** अन्धकार के नाश से) अत्यधिक तेज से अथवा शौर्य के प्रभाव से **अन्यत्र** जाज्वल्यमान ज्योति से प्रदीप्त होता हुआ **अन्यत्र** प्रज्वलित होता हुआ सुशोभित हो रहा है **अन्यत्र** आकाश में प्रकाशित हो रहा है।

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ ।

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः ॥५८॥
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम् ।
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) प्रकरणादि ("आदि" पद से संयोगादि का ग्रहण होता है ।) नियम के न होने से ["**प्रवर्तयन्**" इत्यादि वाक्यों में "प्रवर्तयन्" इत्यादि शब्दो की अभिधा के पूर्वोक्त संयोगादि के द्वारा नियन्त्रित न होने से अनेकार्थ के वाच्य होने के कारण और पर्याय परिवृत्त सह होने कारण] दोनों ही राजा और सूर्य वाच्य (अभिधा से प्रतिपाद्य) हैं । (अतः, यहाँ पर **उपमा ध्वनि** की शङ्का नहीं करनी चाहिये ।) !

टिप्पणी—(१) **प्रश्न**—प्रकृत उदाहरण में "**शब्दश्लेष**" ही मानना चाहिये, क्योंकि "विभाकर" पद राजा और सूर्य का वाचक है, तथा परिवृत्तिसह भी नहीं है ।

उत्तर—नहीं, क्योंकि उसके आठ भेद में किसी भी भेद के अन्दर इसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, तथा "विभाकर" आदि पदों के परिवर्तन कर देने पर भी यह "अर्थश्लेष" घटित हो सकता है । तथापि यदि इसको संकीर्ण का ही उदाहरण मानते हो, तो असंकीर्ण उदाहरण निम्न है—

"**स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।**
अहो ! सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेःखलस्य च ॥"

यहाँ उन्नति और अधोगति से उत्कर्ष और अपकर्ष लक्ष्य है ।

अथाप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**अप्रस्तुतप्रशंसा** का लक्षण) **क्वचिदिति**—यदि कहीं (१) अप्रस्तुत सामान्य से प्रस्तुत विशेष व्यंग्य होता है, (२) अथवा (कहीं) अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य व्यंग्य होता है, (३) (अथवा कहीं) अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण व्यंग्य होता है, (४) (और कहीं) अप्रस्तुत कारण से प्रस्तुत कार्य व्यंग्य होता हो, और (५) (कहीं) अप्रस्तुत समान वस्तु से प्रस्तुत समान वस्तु व्यंग्य होती हो, तो ५ प्रकार की **अप्रस्तुतप्रशंसा** होती है ।

टिप्पणी—(१) "**अप्रस्तुतात्**" यह "**सामान्यात्**" इत्यादि पाँच का विशेषण है । "**प्रस्तुतः**" यह क्रमशः लिङ्ग परिवर्तन और अपरिवर्तन के द्वारा "**विशेषः**" इत्यादि पाँच का विशेषण है । "**क्वचित्**" यह पाँचों वाक्यों में अन्वित होता है ।

(२) **अप्रस्तुतप्रशंसा** का सामान्य लक्षण है—"अप्रस्तुत के प्रतिपादन से यदि प्रस्तुत की प्रतीति होती हो, तो **अप्रस्तुतप्रशंसा** कहलाती है ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहित ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ।।'

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

---

(३) अप्रस्तुतप्रशंसा की व्युत्पत्ति—**अप्रस्तुतस्यपदार्थस्य प्रशंसा-प्रकृष्टप्रतिपादनवत् व्यंञ्जनावृत्या स्फुटा वर्णना न तु स्तुतिः सा "अप्रस्तुतप्रशंसा" इति** । प्रशंसा के स्तुतिरूप होने पर—'**धिक् तालस्योन्नलता यस्यच्छायापिनोपकाराय**" इत्यादि में अव्याप्ति का प्रसङ्ग होगा।

(४) **अप्रस्तुतप्रशंसा** की ५ प्रकार से गणना कर देने पर भी पुनः "**पञ्चधा**" का कथन करना अधिक संख्या का व्यवच्छेद करना है । अर्थात् "**पञ्चधा**" से यह प्रतीत होता है ५ प्रकार की से अधिक "अप्रस्तुतप्रशंसा" नहीं होती है । इसी से **कुवलयानन्दकार** द्वारा कहे हुये का निराकरण हो जाता है । उनका कहना है कि—**"अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का पांच प्रकार का ही सम्बन्ध नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अन्य सम्बन्धों की भी प्रतीति होती है ।"** यथा—

**"तापत्रयौषधवरस्य तवस्मितस्य निःश्वासमन्दिमरुतानिवुसीकृतास्तः ।
एतेकडङ्कुरचया इव विप्रकीर्णा जैवातृकस्य किरणाञ्जगति भ्रमन्ति ।।**

(२) काव्यप्रकाशकार ने भी ५ प्रकार की ही **अप्रस्तुतप्रशंसा** मानी है । तथाहि—

**कार्येनिमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुतेसति ।
तदन्यस्यवचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ।।**

इन पांच प्रकारों से भिन्न प्रकारों का इन्हीं में ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

अर्थ—(१) क्रम से उदाहरण (अर्थात् **अप्रस्तुतसामान्य से प्रस्तुत विशेष के व्यंग्य होने पर** उदाहरण) **पादाहतमिति**—[**प्रसंग—माघकाव्य**—में शिशुपाल पर आक्रमण करने के लिये श्रीकृष्णजी के प्रति सभा में बलदेव जी की उक्ति है ।] जो (धूलि) पैरो से मारी हुई (ऊपर) उठकर (मारने वाले के) सिर पर चढ़ जाती है, वह धूलि (अचेतन होती हुई भी) अपमान होने पर भी अविचल (प्रतिकार की इच्छा न करने वाले) मनुष्य से अच्छी है ।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) हमारी अपेक्षा (शिशुपाल के अपमानों को सहन करने वाले हम लोगो की अपेक्षा) धूलि भी श्रेष्ठ है—इस विशेष के प्रस्तुत होने पर सामान्य (देही) का कथन किया है । [अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा** है ।]

'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम् ।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया ॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः । एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः ।

टिप्पणी—(१) शिशुपाल के द्वारा तिरस्कृत होते हुये भी यदुवंशियों द्वारा उस अपमान का प्रतिकार न करना—यह विशेषभूत "**पादाहतम्**"—इत्यादि के कथन से प्रस्तुत है, और सामान्य देही अप्रस्तुत है । तथा च—अप्रस्तुत देही सामान्य से प्रस्तुत देही विशेष भूत-यदुवंशियों का ज्ञान होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** है । इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

(२) इसकी व्याख्या करने वाले **मल्लिनाथ** ने प्रस्तुत देही की अपेक्षा अप्रस्तुत धूलि की श्रेष्ठता का कथन करने से **व्यतिरेकालङ्कार** माना है । इसलिये यह इन दोनों अलङ्कारो का संकीर्ण उदाहरण है ।

अर्थ—(२) (**अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य के व्यङ्ग्य होने पर** उदाहरण) **स्रगियमिति**—[**प्रसङ्ग**—**रघुवंश** के अष्टम सर्ग में नारदीय पारिजात की माला के स्पर्श मात्र से अपनी प्रियतमा उर्वशी की मृत्यु को देखकर राजा अज का यह विलाप है ।] यह पुष्पमाला यदि (इन्दुमती के) जीवन का हरण करने वाली है, (तो मेरे भी) हृदय पर रखी हुई मुझको (अज को) क्यों नहीं मारती है ? (अतः यह पुष्पमाला जीवन हारिणी नही हैं । तो फिर इन्दुमती की मृत्यु कैसे हो गई ? इसलिये कहते हैं कि) **विषमिति**—परमेश्वर की इच्छा से विष भी (अमृत का तो कहना ही क्या ?) अमृत हो जाता है, अथवा अमृत (भी) विष हो जाता है ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—ईश्वर की इच्छा के कारण ही पुष्पमाला के स्पर्श ने भी इन्दुमती के प्राणों का अपहरण कर लिया, पुष्पमाला के अन्दर अपनी स्वाभाविक जीवन को नष्ट करने की शक्ति नहीं है ।

अर्थ—(लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करते हुये लक्ष्य का समर्थन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) ईश्वर की इच्छा से कहीं (मेरे विषय में) अहित करने वाली की भी (इन्दुमती के प्राणों का नाश करने से पुष्पमाला रूप वस्तु की भी) हितकारिता (मेरे प्राणों को हनन करने में अप्रवृत्तता) हो जाती है, (तथा) हितकारिता की भी (मुझ जैसे के प्राणों के नाशक की भी) अहितकारिता (इन्दुमती के प्राणों की नाशकता) हो जाती है—इसप्रकार **सामान्य के प्रस्तुत होने पर विशेष का कथन किया है** । और इसप्रकार (अप्रस्तुत विशेष से प्रस्तुत सामान्य का ज्ञान होने से और **अप्रस्तुतप्रशंसा** के द्वारा सामान्य का प्रतिपादन होने पर) **अप्रस्तुतप्रशंसामूलक अर्थान्तरन्यासालङ्कार** है ।

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते। इह तु विषामृतयोरमृतविषीभावस्याप्रसिद्धेर्न तस्य सद्भावः।

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्ति शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥'

टिप्पणी—(१) अर्थान्तरन्यास को पूर्व वाक्यार्थ से उत्तर वाक्यार्थ का समर्थन करने से तथा सामान्य से विशेष का समर्थनरूप भी समझना चाहिये। इसप्रकार इन दोनों के अङ्गाङ्गिभाव होने से सङ्कीर्ण होने के कारण यह सङ्कर का उदाहरण है। इसप्रकार

मणिर्लुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते।
यथैवास्ति तथैवास्तु काचः काचो मणिर्मणिः॥

यहाँ पर दृष्टान्त के साथ इसका संकीर्ण उदाहरण समझना चाहिये।

प्रसङ्ग-मल्लटशतक में किसी मूर्ख के वृत्तान्त को कहीं से सुनकर आश्चर्य पूर्वक कहते हुये किसी के प्रति किसी की उक्ति है।

यहाँ प्रकृत उदाहरण में जड़विशेष का, वारिकण में मुक्ताधीनत्वरूप अप्रस्तुत विशेष का कथन करने से, जड़ों की अयोग्यस्थान पर ही ममत्व की सम्भावना होती है–इस प्रस्तुत सामान्य का ज्ञान होने से यह अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अवतरणिका—प्रश्न—यहाँ प्रकृत उदाहरण में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्त ही हो सकता है, पुनः अर्थान्तरन्यास से सांकर्य कैसे दिखाया है? अतः कहते हैं।

अर्थ—दृष्टान्तालङ्कार में प्रसिद्ध ही वस्तु (अप्रसिद्ध नहीं) प्रतिबिम्बरूप से (उपमान रूप से) ग्रहण की जाती है, यहाँ ("स्त्रगियं······इत्यादि में) तो विष और अमृत का अमृत और विष होना अप्रसिद्ध है, अतः उस (दृष्टान्तालङ्कार) की प्राप्ति नहीं (हो सकती) है।

अर्थ—(३) (**अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण के व्यंग्य होने पर उदाहरण**) **इन्दुर्लिप्त इति**—[**प्रसङ्ग**—**महानाटक** में सीताजी के सौन्दर्य का वर्णन है।] सीताजी के सन्मुख चन्द्रमा काजल से लिपे हुये के समान (सुन्दर नहीं प्रतीत होता) है, हरिणियों की दृष्टि जड़ीभूत के समान, विद्रुम (मूंगे) की लालिमा अत्यधिक म्लान हो गई है, सोने की कान्ति कृष्णिमा के समान, कोकिलों के गलों में काकली शब्द से मानो कर्कशता एकत्रित हो गई है (अर्थात् कोकिल का शब्द कर्कश प्रतीत होता है), (तथा) मयूरों के पिच्छ निन्दित के समान (प्रतीत होते) है।

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्वादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादिगतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

'गच्छामीति मयोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुषेणैकेन मां चक्षुषा ।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया बध्यता-
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः ॥'

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—सीताजी के मुख के सौन्दर्य के समक्ष चन्द्रमा का सौन्दर्य काजल से लिप्त हुये के समान, सीताजी की दृष्टि की छवि के सन्मुख हरिणियों की दृष्टि चित्रित के समान, सीताजी के अधरों की लालिमा के सामने विद्रुम की लालिमा फीकी सी, सीताजी के शरीर की कान्ति के आगे सुवर्ण की कान्ति कृष्ण वर्ण के समान, वाणी की मधुरिमा की तुलना में कोकिलों की कण्ठ ध्वनि कर्कश के समान, सीताजी के केशपाश की शोभा की प्रतिद्वन्द्विता में, मयूरो के पिच्छ निन्दित के समान प्रतीत होते हैं ।

अर्थ—(प्रकृत उदाहरण में लक्ष्य की योजना करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण में) उत्प्रेक्षणीय इन्दु आदि ("आदि" पद से दृष्टि आदि की जड़तादि का ग्रहण होता है) गत अञ्जन की लिप्तता आदि (अप्रस्तुत) कार्यों से (सीताजी के) मुखादिगत सौन्दर्य विशेषरूप प्रस्तुत कारण की प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—सीताजी के अतिशय सौन्दर्य का आश्रय लेकर ही किसी ने इस श्लोक को कहा है । सीताजी के मुखादिगत अतिशय सौन्दर्य ही यहाँ प्रस्तुत है, और उनके अतिशय सौन्दर्य के कारण ही चन्द्रमा आदिकों में अञ्जन लिप्तत्वादि की उत्प्रेक्षा की गई है अतः उनका कार्य अप्रस्तुत है और सौन्दर्यातिशय का कारण प्रस्तुत है । इसप्रकार यहाँ पर **उत्प्रेक्षामूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है ।**

--**अर्थ** (४) (**अप्रस्तुतकारण से प्रस्तुतकार्य के व्यंग्य होने पर उदाहरण**) **गच्छामीति**—[**प्रसंग**—विदेश जाने के लिये कृत निश्चय मित्र से "क्या विदेश नहीं जा रहे हो ? ऐसा मित्र के द्वारा पूछने पर अपने न जाने के कारणभूत अपनी प्रिया के वृत्तान्त को कह रहा है ।] "(मैं) जा रहा हूँ"—ऐसा मेरे कहने से मृगनयनी (मेरी प्रिया) ने दीर्घ निःश्वास को छोड़कर (सहसैव उत्पन्न) अश्रुओं से मलिन एक आँख मुझको तिरछा देखकर, (हे मृग शिशु!) तुम (इतने समय तक) मुझ पर स्थापित प्रेम को अब प्रिय सखियों के समूह में रखना,—इस प्रकार स्नेह से परिपालित मृग शावक को किञ्चत् मुसकराते हुये कहा ।

टिप्पणी—नायिका के कहने का आशय यह है कि—हे मृग शिशु ! आज तक जो मैंने तेरा लालन पालन किया है, वह मैं अपने प्रिय के विदेश चले जाने पर उसके वियोग को सहन न कर सकने के कारण अपने जीवन को समाप्त कर दूंगी, अतः मेरे पीछे तेरा पालन-पोषण मेरी सखियाँ करेंगी ।

अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च। श्लेषमूलापि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा ।

क्रमेण यथा—

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः ।
समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः ॥'

अर्थ—(लक्ष्यार्थ को दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रस्तुत उदाहरण में) किसी के आगमन रूप कार्य के विषय में (जिज्ञासा करने पर) कारण (मृगशिशु के प्रति) उसप्रकार का कहना अर्थात् नायिका के मृत्यु की सूचना देने वाला वाक्य रूप कारण) कहा है ।

टिप्पणी—तथाहि—विदेश जाने के लिये उद्यत उसके न जाने का कारण उसकी प्रिया के मरने के अभिप्राय की सूचना देने वाला वाक्य है, अतः यहाँ पर अप्रस्तुत गमनाभाव कार्य और अप्रस्तुत उसप्रकार का वाक्य कारण है । इसप्रकार उसप्रकार के वाक्य के कहने से ही "उसके न जाने की" प्रतीति होती है, अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा** समझनी चाहिये ।

अवतरणिका—सम्प्रति **"अप्रस्तुतसमानता से प्रस्तुतसमानता के व्यंग्य होने पर" अप्रस्तुतप्रशंसा** के भेद बताते हैं ।

अर्थ—(५) समान (पदार्थ) के प्रस्तुत होने पर (अप्रस्तुत) समान (पदार्थ) का कथन करने पर दो प्रकार की (अप्रस्तुतप्रशंसा होती) है—(१) **श्लेषमूला** और (२) **सादृश्यमूला । श्लेषमूला अप्रस्तुतप्रशंसा** भी समासोक्ति की तरह केवल **विशेषणों** के श्लिष्ट होने पर (यहाँ पर "मात्र" पद से विशेष्य का व्यवच्छेद होता है) (तथा) श्लेष की तरह विशेष्य के भी (यहाँ "अपि" पद से विशेषण का परिग्रहण होता है) श्लिष्ट होने पर होती है—इसप्रकार दो प्रकार की होती है ।

टिप्पणी—इसप्रकार **समान से समान की प्रतीति होने पर** सादृश्य मात्रमूला होने पर एक प्रकार की और श्लेषमूला होने पर दो प्रकार की इसप्रकार मिलकर **तीन प्रकार** की होती है ।

अर्थ—(१) क्रम से (**विशेषणमात्र के श्लेष होने पर** उदाहरण) **यथा—सहकार इति** [**प्रसङ्ग**—भावी पति के सौन्दर्य को पूछती हुई सखी के प्रति आम्रवृक्ष के वर्णन के बहाने उसकी सखी ने पति के रूप का वर्णन किया है ।] शश्वत् सुगन्धित वाला **अन्यत्र** सर्वदा हर्ष समन्वित, वसन्तकालीन शोभा से (पुष्प-पल्लवादि के उत्पन्न हो जाने से) युक्त **अन्यत्र** वसन्त के समान स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त अथवा वसन्तकालीन उचित वेष को धारण किये हुये सम्यक् कान्ति वाला **अन्यत्र** शृंगार में रुचि रखने वाला, शोभाशाली **अन्यत्र** ऐश्वर्यशाली (तथा) अनेक उत्पन्न कलिकाओं से व्याप्त **अन्यत्र** अत्यधिक नायिका की उत्कण्ठा से व्याकुल आम्र वृक्ष (होता) है ।

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः ।

'पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात् ।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥'

अर्थ—(लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) केवल विशेषणों के श्लेष से (विशेष्य "सहकारः" के श्लेष से नहीं) अप्रस्तुत आम्रवृक्ष से किसी (उक्त विशेषण वाले) प्रस्तुत नायक की प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—इस प्रकृत उदाहरण में **समासोक्ति** घटित नहीं होती है, क्योंकि नायक के व्यंग्य होने पर भी उसके व्यवहार का आरोप नहीं है ।

अर्थ—(२) **(विशेष्य के श्लिष्ट होने पर उदाहरण) पुंस्त्वादिति**—[**प्रसङ्ग**—**मल्लटकविकृत मल्लट शतक** में शत्रुओं के द्वारा अपहृत राज्य को पुनः अपने वश में करने के लिये राजा को उत्तेजित करते हुये उसके मन्त्री की यह उक्ति है ।] यदि पुरुषत्व से भी भ्रष्ट हो जावे अर्थात् पुरुषत्व को छोड़कर यदि स्त्री भी हो जावे [विष्णु ने राक्षसों से मोहिनी स्त्री का रूप धारण करके अमृत का हरण किया था और इसप्रकार संसार की रक्षा की थी], यदि पाताल में भी जाना पड़े [प्रलय कालीन समुद्र से डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये वराहरूप धारण करके विष्णु जी पाताल गये थे ।] याचना करने में यदि महान् भी न रहे अर्थात् छोटा हो जावें [विष्णुजी ने बलि दैत्य से अपहृत राज्य का उद्धार करने के लिये वामन रूप धारण करके तीन पग पृथ्वी की याचना की थी ।] तथापि संसार का उद्धार करे, इसप्रकार की यह नीति किसी (अनिर्वचनीय) पुरुषों में श्रेष्ठ (विष्णुजी) ने बनाई है । [—यह अप्रस्तुत विष्णु के पक्ष में अर्थ है ।] **प्रस्तुत राज्य पक्षे**—यदि पौरुष से भी विनष्ट होना पड़े (तो हो जावे); यदि नीचे (नरक में) भी गिरना पड़े (तो गिर जावे); यदि याचना करने से महिमा शून्य भी होना पड़े (तो हो जावे) (परन्तु) तथापि (शत्रुओं के द्वारा अपहृत) राज्य की रक्षा (अवश्य) करे, यह नीति किसी पुरुषोत्तम नामक राजा ने प्रकट की है ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि संसार का उपकार करने के लिये यदि अपना सर्वस्व भी विनष्ट हो जाने की आशंका हो तो उससे विरत न हो, अतः आप भी उसी भावना से अपने राज्य का उद्धार कीजिये ।

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि श्लिष्टेन प्रचुरप्रसिद्धया प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते। तेन वर्णनीयः कश्चित्पुरुषः प्रतीयते।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

'एकः कपोतपोतः शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति।
अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा॥'

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते। इत्थं च क्वचिद्वैधर्म्येणापि भवति।

अर्थ—(उदाहृत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।) अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पुरुषोत्तम पद विशेष्य के भी श्लिष्ट होने से (अर्थात् केवल पुंस्त्वादि विशेषणों से ही नहीं अपितु "पुरुषोत्तम" इस विशेष्य के भी) अत्यधिक प्रयोग होने के कारण अथवा अत्यधिक प्रसिद्धि होने के कारण पहले (अप्रस्तुत) विष्णु की ही प्रतीति होती है, पुनः वर्णनीय किसी (प्रस्तुत) पुरुष की प्रतीति होती है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में प्रकृत राजा की ही व्यङ्ग्यता है, उपमान की नहीं, अतः **उपमाध्वनि** नहीं है।

(२) **प्रश्न**—प्रकरण से राजा रूप अर्थ की ही पहले प्रतीति होती है, पुनः यहाँ पर **अप्रस्तुतप्रशंसा** कैसे है? क्योंकि पहले अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होने पर ही **अप्रस्तुतप्रशंसा** होती है?

उत्तर—पुरुषोत्तमादि शब्दों के सत्पुरुषादि रूप प्रस्तुत अर्थ में यौगिकी शक्ति है, अतः प्रकरणादि के साथ उसका बाध करके अभिधा शक्ति नारायणादि रूप अप्रस्तुत अर्थ का ही पहले ज्ञान कराती है, अतः अप्रस्तुत से प्रस्तुत के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। जहाँ दोनों ही अर्थों में अभिधा वृत्ति सम्भव होती है, वहाँ प्रकरण आदि नियामक होते हैं और जहाँ एक अर्थ में अभिधा तथा दूसरे अर्थ में यौगिकी शक्ति होती है, वहाँ अभिधा शक्ति ही बलवती होती है और प्रकरणादि सहित दूसरी यौगिकी शक्ति को बधित कर देती है क्योंकि **"अवयवशक्तेः समुदायशक्तिः बलीयसि"** यह न्याय है। इसीलिये यहाँ **श्लेष** भी नहीं है क्योंकि एक तो दोनों अर्थों की अभिधेयता नहीं है और दूसरा प्रकरणादि का नियम भी नहीं है।

अर्थ—(३) **सादृश्यमात्रमूला अप्रस्तुतप्रशंसा** (का उदाहरण) **यथा**—**एक इति**—[**प्रसङ्ग**—अनेक दस्युओं से घिरे हुए एकाकी किसी बालक को देखकर किसी निराश की यह उक्ति है।] अकेला (असहाय) कबूतर का बच्चा है, (और) सैंकड़ों बाज (उसकी ओर) भूख से (खाने के लिये) दौड़ रहे हैं; आकाश आवरण से शून्य है। शिव! शिव! ईश्वर की कृपा रक्षा स्थल है। (विधाता ही इस समय इसकी रक्षा कर सकता है।)!!

(लक्ष्य को घटाते है) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अप्रस्तुत कबूतर से कोई प्रस्तुत (आपद्ग्रस्त–अनेक दस्युओं से घिरा हुआ असहाय बालक) प्रतीत (व्यञ्जना वृत्ति से) होता है।

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः ।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते । वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम् । तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव । असम्भवे यथा—

'कोकिलोऽहं भवान् काकः समानः कालिमावयोः ।
अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः ॥'

अर्थ-और यह (**अप्रस्तुत प्रशंसा**) कहीं वैधर्म्य से भी होती है । यथा—**धन्या इति**— **प्रसङ्ग** वन को भेजे हुये रामचन्द्रजी के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की उक्ति है ।] कह्लार नामक कमलों के जल के स्पर्श से शीतल वन की वायु धन्य है; जो (वायु) बिना रोक टोक के (निरन्तर) नीलकमल के समान श्यामवर्ण वाले रामचन्द्रजी का स्पर्श करती है ।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "वायु धन्य है" (परन्तु) मैं अधन्य हूँ—यह वैधर्म्य से (धन्य होने की अपेक्षा अधन्यता रूप वैधर्म्य का विशिष्ट रूप से कथन करने से) प्रस्तुत की प्रतीति होती है ।

टिप्पणी—इसप्रकार अप्रस्तुत समानता से प्रस्तुत समानता के व्यंग्य होने पर यह **अप्रस्तुतप्रशंसा** समझनी चाहिये ।

अवतरणिका—उक्त सम्पूर्ण प्रकार की अप्रस्तुतप्रशंसा के पुनरपि अन्य भेदों को दिखाते हैं—

अर्थ—अभिधेयार्थ के (१) सम्भव (२) असम्भव और (३) उभय रूप होने से यह (**अप्रस्तुतप्रशंसा**) तीन प्रकार की होती है । उनमें से (वाच्यार्थ के सम्भवादिकों में से) **सम्भव** में (वाक्यार्थ के सम्भव होने पर) उक्त (**पादाहतम्—इत्यादि** पूर्वोक्त) उदाहरण ही है ।

अर्थ—(२) (**वाच्यार्थ के**) **असम्भव होने पर** (उदाहरण) यथा— **कोकिल इति**—[**प्रसङ्ग**—यह किसी निपुण की उसके साथ स्पर्धा करने वाले किसी के प्रति उक्ति है ।] मैं कोकिल हूँ (कोकिल के समान, अपने गुणों से रमणीय हूँ) और आप कौवा हैं (कौवे की तरह अपने दोषों से प्रसिद्ध हो । ऐसा होने पर भी) हम दोनों की कृष्णवर्णता समान (ही) है; किन्तु सूक्ष्म मधुर ध्वनि को जानने वाले (मेरा) अन्तर (अत्यन्तकर्कश शब्द वाले आपके साथ) बतलावेगें ।

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुतस्याध्यारोपणं विनासम्भवि । उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य माभूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥'

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपणं विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुण-भङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसम्भवि । अन्येषां तु सम्भवीत्युभयरूपत्वम् ।

टिप्पणी—कालिमा में समान होने पर भी जो सूक्ष्म मधुर ध्वनि को जानने वाले हैं, वे हम दोनों में कोकिल और काक का भेद बतला देगें । अर्थात् जिसका मधुर सूक्ष्म गान है, वह मैं कोकिल हूँ और जिसका कटु शब्द है, वह तुम हो —यह स्वयं विना कहे जान जावेगें । अतः मेरे साथ तुम्हारी स्पर्धा कैसी ?

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कौवे और कोयल की उक्ति प्रत्युक्ति प्रस्तुत के (इस उक्ति के योग्य पुरुप के) आरोप के बिना (अप्रस्तुत वक्ता कोकिल में अभेदाध्यवसान के बिना) असम्भव है । (क्योंकि केवल कोकिल के अन्दर इसप्रकार की उक्ति की योग्यता नहीं है ।) [अतः अप्रस्तुत कोकिल ओर काक रुप साद्दश्य की दोनों में प्रतीति होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** है ।]

(३) (वाच्यार्थ के) **उभय रूप (सम्भव और असम्भव उभयविद्य होने पर** (उदाहरण) यथा—**अन्तरिति**—[**प्रसङ्ग**—किसी की आपत्ति के कारण का ज्ञान कराने वाली यह उक्ति है ।] मध्य भाग में अनेक छिद्र हैं **अन्यत्र** कुटुम्ब के अन्दर दुश्चरित प्रभृति दोष है, (तथा) वाहर अनेक काँटे हैं **अन्यत्र** क्षुद्र शत्रु है । (अत एव) कमल दण्ड के (अन्तर्गत) सूत्र **अन्यत्र** त्याग-शौर्यादि तथा सत्त्वादि गुणों से उत्पन्न कीर्ति इत्यादि गुण क्यों नष्ट होने वाले न होगें अपितु अवश्य ही होगें ।

अर्थ—(उदाहृत अर्थ का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) किसी (कुटुम्ब के अन्दर विद्यमान दुश्चरितादि दोष वाले) प्रस्तुत (दुर्दैव से मारे हुये पुरुष) के आरोप (कमलनाल में अभेदरूप से अध्वसित) के बिना कमलनाल के मध्यभाग में विद्यमान छिद्रों के तन्तुओं को तोड़ने में कारणता असम्भव है । क्योंकि छिद्रों की केवल शून्य रुप होने से, क्रिया शून्य होने से तन्तुओं को तोड़ने में सामर्थ्य नहीं है ।] अन्यों की (कण्टों की) तो (तन्तुओं को तोड़ने में प्रस्तुत के अध्यारोप के बिना भी कारणता) सम्भव है, अतः **उभयरूपता** है ।

टिप्पणी—(१) **अलङ्कारसर्वस्वकार** कहते हैं कि—"यहाँ वाच्यार्थ में कण्टकों के अन्दर तोड़ने में कारणता सम्भव है, छिद्रों की कारणता असम्भव है, अतः उभयविधता है । प्रस्तुत की तात्पर्य से प्रतीति होने से और उसका आरोप होने से वहाँ संगति उचित है ।" इति ।

अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुध्वनेर्भेदः। उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम्। एवं समासोक्तौ। श्लेषेऽपि द्वयोरपि वाच्यत्वम्।

---

(२) यहाँ प्रकृत उदाहरण में भी अप्रस्तुत समानता वाले कमलनाल से प्रस्तुत किसी समान का ज्ञान होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** है। अतः केवल वाच्यार्थ की सम्भव और असम्भव रूप उभयविधता ही दिखाई है।

अवतरणिका—अप्रस्तुतप्रशंसा से **शब्दशक्तिमूलकवस्तुध्वनि—उपमाध्वनि—समासोक्ति** तथा **श्लेष** की भिन्नता दिखाते हैं।

अर्थ—इसका (अर्थात् **श्लेषमूलसमाप्रस्तुतप्रशंसा** का) समासोक्ति की तरह [अर्थात् जिसप्रकार समासोक्ति में श्लिष्ट शब्दों के प्रयोगमात्र से व्यवहार की प्रतीति नहीं होती है, किन्तु विशेषण के साम्य के अनुसन्धान से भी प्रतीति होती है, उसीप्रकार इसमें भी (**श्लेषमूलासमाप्रस्तुतप्रशंसा** में भी) विशेषण के साम्य के अनुसन्धान की अपेक्षा होती है।] व्यवहार का आरोप रूप स्वरूप होने के कारण **शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि** से भेद है।] [**शब्दशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि** के अन्दर व्यवहार का आरोप अपेक्षित नहीं है।] **उपमाध्वनाविति**—(**अप्रस्तुतप्रशंसा** का **उपमाध्वनि** से भेद) **उपमाध्वनि** में अप्रस्तुत की व्यंग्यता होती है। [अप्रस्तुत "**हिममुक्त चन्द्ररुचिरः इत्यादि**" में वसन्तादि की व्यंग्यता है, यहाँ "**सहकारः सदामोदः—इत्यादि**" में तो अप्रस्तुत की वाच्यता और प्रस्तुत नायकादि की व्यंग्यता है, अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा** की **उपमाध्वनि** में प्रसक्ति नहीं होती है।] **एवमिति—**(**अप्रस्तुतप्रशंसा** का **समासोक्ति** और **श्लेष** से भेद) इसीप्रकार **समासोक्ति** में (प्रस्तुत की वाच्यता और अप्रस्तुत की वाच्यता होती है। **श्लेष** में दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) की ही वाच्यता होती है। (क्योंकि प्रकरणादि का नियम नहीं होता है।)।

टिप्पणी—(१) **समासोक्ति** में भी **उपमा ध्वनि** की तरह प्रस्तुत की वाच्यता और अप्रस्तुत की व्यंग्यता है। **समासोक्ति** के प्रकरण के अन्त में कहा जा चुका है कि—

"अप्रस्तुतप्रशंसायां अप्रस्तुतस्यगम्यत्वम्, इह (समासोक्तौ) तु प्रस्तुतस्य।" इति।

(२) **श्लेष के** अन्दर प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की ही वाच्यता होती है, क्योंकि "**श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने** ऐसा और "**श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्**" ऐसा कहने से अभिधा के द्वारा ही प्रतिपाद्य निश्चिय होता है। और यहाँ **अप्रस्तुतप्रशंसा में** प्रस्तुत की व्यंग्यता होती निश्चित होती है। श्लेष के अन्दर तो व्यवहार की प्रतीति भी स्पष्ट नहीं होती है।

—उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ॥ ६० ॥

---

(३) सुगमता के लिये अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का संकलन करते हैं—

वाच्यस्यसम्भव रूपत्वे—
- अप्रस्तुतात् सामान्यात् प्रस्स्तुतावगम्यत्वे— "पादाहतम्"···१
- अप्रस्तुतात् विशेषात् प्रस्तुतसामान्यावगम्यत्वे—"स्रु गियम्"···१
- अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतकारणावगम्यत्वे—"इन्द्रलिप्त"···१
- अप्रस्तुतात्कारणात् प्रस्तुतकार्यावगम्यत्वे——"गच्छामीति···१
- सादृयमात्रमूलत्वे अप्रस्तुतात् तुल्यात्— प्रस्तुततुल्यावगम्यत्वे— "एकः कपोतः"···१
- विशेषणमात्रश्लेषे अप्रस्तुतात् तुल्यात्— प्रस्तुततुल्यावगम्यत्वे— "सहकरिः"···१
- विशेषणविशेष्योभयश्लेषे अप्रस्तुतात् तुल्यात्— प्रस्तुततुल्यावगम्यत्वे— "पुस्त्वादपि"···१

वाच्यस्यासम्भवरूपत्वे—दर्शितोक्तं प्रकारा एव सप्त—"कोकिलोऽहम्" इत्यादि ७
वाच्यस्य सम्भवासम्भवनोभयरुपत्वे—दर्शितोक्त प्रकारा एव सप्त···"अन्तश्छिद्राणि" ७

———————

कुल = २१

(४) **प्रश्न**—साधर्म्य और वैधर्म्य से सभी के दो प्रकार के होने से वैधर्म्य के भेद का परिगणन क्यों नहीं किया ?

उत्तर—वैधर्म्य का उदाहरण कहीं-कहीं ही होता है ।

प्रश्न—कारिका में "**पञ्चधा**" यह कैसे कह दिया है ।

उत्तर—प्राधान्य के कारण ही ऐसा कथन कर दिया है ।

अथ व्याजस्तुत्यलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**व्याजस्तुत्यलङ्कार** का लक्षण) **उक्तेति**—अभिधेय (आपाततः प्रतीयमान) निन्दा और प्रशंसा से प्रशंसा और निन्दा के (क्रमशः) व्यङ्ग्य होने पर पुनः **व्याजस्तुति नामक अलंकार** कहा जाता है ।

टिप्पणी—**अर्थात्** वाच्य निन्दा से प्रशंसा के व्यंग्य होने पर, वाच्य प्रशंसा से निन्दा के व्यंग्य होने पर **व्याजस्तुत्यलंकार** होता है ।

(२) अथवा **व्याजेन–छलेन प्रकारान्तरेणेति** यावत् **स्तुतिः—प्रशंसनम्** इति **व्याजस्तुतिः, स्तुतेश्च प्रकारान्तरं निन्दा, तस्मात् निन्दारूपेण व्याजस्तुतिः इति ।**

अवतरणिका— प्रश्न—निन्दा के व्याज से स्तुतिः—अतः "व्याजस्तुति" हो सकती है, परन्तु निन्दा के व्याज से तो "व्याज–निन्दा" ही होनी चाहिये । पुनः किस प्रकार उभयथा "व्याज-स्तुति" ही है । इसका समाधान करने के लिये "**व्याजस्तुति**" की दो प्रकार से व्युत्पत्ति करते है ।

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः। स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः।

अर्थ—("व्याजस्तुति" पद की दो प्रकार से व्युत्पत्ति) **निन्दयेति**—निन्दा (के व्याज) से स्तुति के व्यंग्य होने पर "**व्याजेन स्तुतिः**" इस व्युत्पत्ति से **व्याजस्तुति** (होती) है। स्तुति (के व्याज) से निन्दा के व्यंग्य होने पर "**व्याज रूपा स्तुतिः**" (इस व्युत्पत्ति से **व्याजस्तुति** सिद्ध होती) है।

टिप्पणी—(१) **अप्रस्तुतप्रशंसा** का **व्याजस्तुति** से भेदः— **व्याजस्तुति** में स्तुति और निन्दा में सामान्य और विशेष तथा कार्य और कारण की तुल्यता न होने होने से इसका **अप्रस्तुतप्रशंसा** से भेद होता है।

(२) **कुवलयानन्दकार**—"व्याजस्तुति" की तरह "व्याजनिन्दा" को भी अलंकार स्वीकार करते हैं।

(३) **रसगङ्गाधरकार** का कहना है कि—यह **व्याजस्तुति**, जिस ही वस्तु की स्तुति और निन्दा सर्वप्रथम प्रारम्भ होती है, उसकी ही यदि निन्दा और स्तुति का पर्यवसान होता है, तभी होती है। वैयधिकरव्य में नहीं, ऐसा प्राचीन अलंकार शास्त्र के निर्माताओं का मत है। अतएव जहाँ शब्द से कहीं जाती (हुई स्तुति अथवा निन्दा बाधित स्वरूप होकर निन्दा अथवा स्तुति में आतमसमर्णण के द्वारा पर्यवसित हो जाती है, वहीं वहीं ही उन आचार्यों ने अपने अपने ग्रन्थों में उपनिवद्ध कर दिया है। और इसप्रकार—

परोपसर्पणानन्तचिन्तानलशिखाशतैः।
अचुम्बितान्तःकरणाः साधु जीवन्ति पादपाः॥

इत्यादि में सांसारिक मनुष्यों की निन्दा में पर्यवसित होने वाली भी वृक्ष की स्तुति में **व्याजस्तुति** नहीं है, क्योंकि प्रथम प्रतीत होती हुई स्तुति का बाध नहीं होता है। इसीप्रकार निन्दा से स्तुति के व्यंग्य होने पर भी होता है। अर्थात् अन्य की स्तुति से अन्य की स्तुति के अथवा अन्य की निन्दा से अन्य की निन्दा के व्यंग्य होने पर इस **व्याजस्तुति** अलंकार का विषय नहीं होता है। यहाँ पर भी पूर्वोक्त ही हेतु है। यथा—

ये त्वां ध्यायन्ति सततं स एव कृतिनां वराः।
वृथागतं पुराराते! भवदन्यधियां जनुः॥

यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध से ध्याता की स्तुति और निन्दा से ध्येय की स्तुति और निन्दा की प्रतीति होती है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर **कुवलयानन्दकार** ने स्तुति और निन्दा से वैयधिकरण्य के द्वारा निन्दा और स्तुति की अथवा स्तुति और निन्दा की प्रतीति होने पर "व्याजस्तुति" के चार प्रकार जो अधिक कहे है, उनका निराकरण हो जाता है। और यदि प्राचीन आचार्यों के मार्ग का उल्लघन करके अपनी ही इच्छा से मार्ग का अनुसरण किया जाता है तो सम्पूर्ण व्यंग्य के भेदों को अथवा गुणीभूत व्यंग्य के भेदों को अलंकार के अन्दर स्वीकार कर लो अथवा **व्याजस्तुति** को भी **अप्रस्तुतप्रशंसा** के अन्तर्गत ही मान लो।

क्रमेण यथा—

'स्तनयुगामुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥'

इदं मम ।

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद मयोदितेयं
सज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन धर्मराज—
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य ॥'

अर्थ—(१) क्रम से (अर्थात्—**निन्दा से प्रशंसा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति का उदाहरण**) यथा—**स्तनयुगेति**—[**प्रसङ्ग**—किसी राजा की व्याज से स्तुति है ।] (हे) देव ! तुम्हारे क्रोधित होने पर भी **अन्यत्र** ही शत्रुओं की स्त्रियाँ स्तनयुगलों पर मोतियों के आभूषण (हार) वाली (**यह निन्दा है**) **अन्यत्र** स्तनयुगलों से त्यक्त (मुक्त) आभूषण वाली (**यह स्तुति है**); रोमाञ्च से (पति के समागम से उत्पन्न सात्विक भाव विशेष से) व्याप्त शरीर वाली (**यह निन्दा है**) **अन्यत्र** (भागने के समय) काँटो से (कण्टकैः) विद्ध शरीर वाली (**यह स्तुति है**) (अतएव) क्रोध करने से पहले की तरह **अन्यत्र** पति के मरने से पहले ही निःशङ्क (अर्थात् यह हमारा कुछ भी अपकार नहीं कर सकता है । (**यह निन्दा है**) **अन्यत्र** विधवा (विश्वस्ताः)–हो गई हैं (**यह स्तुति है**) । **इदमिति**—यह मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत् है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में शत्रुओं की स्त्रियों के दुःख न पहुँचा सकने के कारण राजा की पहले निन्दा प्रतीत होता हैं, परन्तु समाप्ति में शत्रु का नाश होने से स्तुति की प्रतीति होती है, अतः व्याज से स्तुति करने के कारण **व्याजस्तुति** है ।

अर्थ—प्रशंसा से निन्दा के व्यंग्य होने पर व्याजस्तुति का उदाहरण) **व्याजेति**—(हे) मेघ ! तुम्हारा जल संसार के (मनुष्यो के) जीवन के लिए (है) यह तो मैंने तुम्हारी मिथ्या रूप प्रशंसा की है (अर्थात् इससे भी बढ़कर प्रशंसा की बात होने पर यह स्तुति नहीं रहती है ।) (हे) जलधर ! यह तो तुम्हारी बड़ी भारी प्रशंसा है कि (वियोगी) पथिकों को (विरह व्यथा से) मारकर (धर्मानुसार प्राणियों को नियन्त्रित करने वाले) यमराज की सहायता करते थे ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में यमराज की सहायता करने से पदले प्रतीत होने वाली प्रशंसा से ही निरपराधी वियोगी मनुष्यों को मारने से उत्पन्न निन्दा की प्रतीति होने से व्याजरूप स्तुति होने के कारण **व्याजस्तुति**, है ।

(२) कहीं कहीं यह **व्याजस्तुति समासोक्ति-अप्रस्तुतप्रशंसा और अर्थान्तरन्यास** से संकीर्ण भी मिलता है । यथा—

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।

उदाहरणम्—

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥'

"देव ! त्वां परितः स्तुवन्तु कवयो लोभेन, किं तावता
स्तव्यस्त्वं भवितासि यस्य तरुणश्चापप्रतापोऽधुना ॥
क्रोडन्तः कुरुतेतरां वसुमतीमाशाः समालिङ्गति
धां चुम्बत्यमरावती च सहसा गच्छत्यगम्यामपि ॥

यहाँ चाप के प्रताप के अन्दर समासोक्ति से विद और धौरेय का व्यवहार के आश्रय की प्रतीति होती है । और इस व्यवहार मूलक निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होता है, अतः **समासोक्ति से युक्त व्याजस्तुति** है ।

प्रश्न—इस प्रकृत पद्य में **व्याजस्तुति** कैसे हो सकती है ? क्योंकि वाच्य निन्दा और स्तुति से स्तुति और निन्दा के व्यंग्य होने पर **व्याजस्तुति** होती है । यहाँ पर तो केवल चाप प्रताप का वाच्यभूत वसुमती आदि को आलिङ्गन करना निन्दा की प्रतीति नहीं कराता है । तथा समासोक्ति के अन्दर तो निन्दास्पद भी विट का व्यवहार वाच्य नहीं होता अपितु व्यंग्य होता है ।

उत्तर—कुछ आचार्यों का कहना है कि—"**वाच्यार्थाभ्याम् आमुखे गम्यमानाभ्याम्**" यह अर्थ भी मान लेना चाहिये, और ऐसा अर्थ कर लेने पर उक्त पद्य में **व्याजस्तुति** घटित हो जावेगी । और कुछ आचार्यों का कहना है कि व्यंग्य निन्दा से व्यंग्य प्रशंसा की "व्याजस्तुति" उपकारक ही नहीं है, क्योंकि यहाँ व्याजस्तुति बाच्यार्थी विवक्षित है, प्रतीयमान नहीं ।

अथ पर्यायोक्तालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**पर्यायोक्तालङ्कार** का लक्षण) **पर्यायोक्तमिति**—जब उक्ति वैचित्र्य की विशेषता से (**भङ्ग्या—येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकार भङ्गीतया**) प्रतीयमान (व्यंग्य वस्तु) को ही अभिधेय की तरह स्पष्ट कहा जाता है (कार्य के द्वारा) तब **पर्यायोक्त नामक अलङ्कार** (**पर्यायेण—प्रकारान्तरेण उक्तम्—अभिहितं व्यंग्यं पर्यायोक्तम्**) होता है ।

टिप्पणी—अर्थात्—पर्यायेण-भङ्ग्या व्यंग्यस्य स्फुर प्रतिपादनं **पर्यायोक्तम्** ॥
। इति ।

अर्थ—(**पर्यायोक्त** का) उदाहरण—यथा— **स्पृष्टा इति**—[**प्रसङ्ग**—**भेण्ठकविकृत हयग्रीववध** का यह पद्य है ।] जिस (हयग्रीवनामक दैत्यराज) के सैनिकों ने इन्द्राणी के केशपाशों को अलङ्कृत करने के लिये प्रयत्न पूर्वक संवर्द्धित नन्दन नामक उपवन में पारिजात (वृक्ष) की प्रसिद्ध (ताः) मञ्जरियों को अवज्ञा के साथ स्पर्श किया (उस हयग्रीव की स्तुति करते हैं) ।

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेष-प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूपकार्यद्वारेणाभिहितम् । न चेदं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा, तत्र कार्यस्याप्रस्तुतत्वात्; इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्यमपि कारणवत्प्रस्तुतम् ।
एवञ्च--

'अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु ।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥'

अर्थ–(लक्ष्यार्थ को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "हयग्रीव ने स्वर्ग को जीत लिया" यह प्रस्तुत कारण व्यङ्ग्य है [क्योंकि स्वर्ग को विजय किये बिना सैनिक अवज्ञापूर्वक पारिजात की मञ्जरियों का स्पर्श नहीं कर सकते, तथा स्वर्ग को जीत लेने के उपरान्त ही वैसा किया जा सकता है, अतः अवज्ञा पूर्वक पारिजात की मञ्जरियों को स्पर्श करने के प्रति स्वर्ग को विजय कर लेना कारण है।] (किन्तु) विशेष वैचित्र्य की प्रतीति के लिये (हयग्रीव की) सेना के द्वारा पारिजात की मञ्जरी को अवज्ञापूर्वक स्पर्शरूप कार्य के द्वारा (उसका) कथन किया है।

अवतरणिका—प्रश्न—उक्त उदाहरण में कार्य से कारण की प्रतीति रूप **अप्रस्तुतप्रशंसा** ही मान ली जावे ! इस भिन्न **पर्यायोक्त अलंकार** को मानने की क्या आवश्यकता ? इसका **समाधान** करते है ।

अर्थ—यह (**स्पृष्टारस्ता नन्दने शच्याः**······इत्यादि उदाहरण में कारण का का ज्ञान कराने के लिये कार्य (का कथन करना) कार्य से कारण कीं प्रतीति रूप **अप्रस्तुतप्रशंसा** है; (क्योंकि) उसमें (कार्य से कारण की प्रतीति रूप **अप्रस्तुतप्रशंसा** में) कार्य अप्रस्तुत होता है, यहाँ (**स्पृष्टास्ताः**···**इत्यादि** में) तो वर्णनीय (प्रस्तुत हयग्रीव) का अतिशय प्रभाव का ज्ञान कराने से कार्य भी अवज्ञापूर्वक पारिजात की मञ्जरी का स्पर्श भी) कारण की तरह (स्वर्ग को जीतने की तरह प्रस्तुत है। [अर्थात् स्वर्ण की विजय के विश्वास से ही अवज्ञापूर्वक पारिजातकीं मंजरी के स्पर्श रूप दुराचार की भी प्रतीति होति है ।]

टिप्पणी—इसप्रकार उक्त उदाहरण में प्रस्तुत से ही अन्य प्रस्तुत का ज्ञान से **अप्रस्तुतप्रशंसा** नहीं है, इसीलिये पृथक् **पर्यायोक्तालङ्कार** को स्वीकार किया है ।

अर्थ—और इसीप्रकार (**स्पृष्टास्ताः इत्यादि** में **पर्यायोक्तालंकार** की तरह) **अनेनेति**—[**प्रसङ्ग–रघुवंश** के षष्ठ सर्ग में पति का वरण करने वाली इन्द्रमति के प्रति धात्री की यह उक्ति है ।] इस (अङ्गदेश के राजा) ने शत्रुओं की नारियों के स्तनों पर मोतियों के समान अत्यन्त स्थूल अश्रु बिन्दुओं को गिराते हुये गुम्फन सूत्र के बिना ही हार अर्पण कर दिये हैं अर्थात् अश्रुविन्दुओं को ही हार बना दिया है।

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविधशत्रुस्त्रीक्रन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव ।

'राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यपि किं भुज्यते ।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

अर्थ—(उक्त उदाहरण में **पर्यायोक्ति अलंकार** दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) वर्णनीय (प्रस्तुत) राजा (अङ्गदेश के राजा) के (व्यञ्जना वृत्ति से) प्रतीयमान रूप शत्रुओं को मारने रूप कारण की तरह कार्यभूत उसप्रकार के शत्रु नारियों का विलापाश्रु भी (शत्रुओं को मारने से ही उनकी स्त्रियों के रुदन से अश्रु प्रवाह हुआ, अतः शत्रुओं का मारना कारण है और उसके कारण होने वाला विलापाश्रु कार्य है) (अङ्गदेश के राजा के) अतिशय प्रभाव का बोधक होने से वर्णनीय (प्रस्तुत) है, अतः **पर्यायोक्तालंकार** ही है, (**अप्रस्तुतप्रशंसा** नहीं) ।

टिप्पणी—(१) **अप्रस्तुतप्रशंसा** और **पर्यायोक्तालंकार** में भेद—

"प्रस्तुतादेव प्रस्तुतप्रतीतौ पर्यायोक्तम्, अप्रस्ततादेव च प्रस्तुतप्रतीतौ अप्रस्तुतप्रशंसा"—यही इन दोनों में भेद है ।

अवतरणिका—**काव्यप्रकाशकार** ने अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण रूप **अप्रस्तुतप्रशंसा** था उदाहरण **"राजन् ! राजसुता"**······इत्यादि दिया है, इसमें भी कार्य के प्रस्तुत होने पर **पर्यायोक्त** ही है—यह दिखाते हैं ।

अर्थ—[**प्रसङ्ग**—शत्रुओं को जीतने के लिये तत्पर राजा के प्रति उसके मन्त्री की उक्ति है ।] (हे देव ! आपके आने के भय से खाली किये हुये) आपके शत्रुओं के घर में पथिकों के द्वारा पिञ्जरे से छोड़ा हुआ राजा का शुक (मनुष्यों से) शून्य अटारी (वलभी) में (बैठा हुआ) चित्र में चित्रित (राजादिकों को) देखकर प्रत्येक से इसप्रकार कहता है—कि (हे) राजन् ! राजपुत्री मुझको (शुक को) पढ़ाती नहीं है, रानियाँ भी चुपचाप बैठी हैं (अर्थात् मुझको पढ़ाती नहीं हैं); (हे) कुबजे ! (शुक को भोजन कराने के लिये नियुक्त कोई दासी) मुझको (शुक को) खिला, इस समय (तक) भी राजकुमार के मन्त्री भोजन क्यों नहीं करते हैं ? (क्योंकि उनके भोजन करने पर शुक को भी भोजन की प्राप्ति हो जावेगी) ।

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तुतम् । 'कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्' इति केचित् ।

अन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसैव' इत्याहुः ।

सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि ॥ ६१ ॥
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ॥ ६२ ॥

अर्थ – (प्रकृत उदाहरण में **पर्यायोक्त** और **अप्रस्तुतप्रशंसा** को मतवैविध्य से दिखाते हैं) **अत्रेति**–यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "आक्रमण करने के लिये तत्पर आपको सुनकर सहसैव शत्रु भाग गये" यह (पलायनरूप) कारण प्रस्तुत है, (क्योंकि उनके पलायन रूप कारण से ही शुक का उसप्रकार कहना सम्भव है) । "कार्य भी (शुक का उसप्रकार से कहना) वर्णनीय होने से प्रस्तुत है"—ऐसा कुछ मानते हैं । इस प्रकार इनके मत में शत्रु पलायन रूप कारण प्रस्तुत है, तथा शुक का कथन रूप कार्य भी प्रस्तुत है, अतः, यहाँ पर **पर्यायोक्तालकार** है ।] **अन्येत्विति**—अन्य (**काव्यप्रकाशकार**) तो "राजशुक के वृत्तान्त से (अर्थात् "**राजन्**" इत्यादि शुक के कहने से) कोई प्रस्तुत का प्रभाव प्रतीत होता है, अतः **अप्रस्तुतप्रशंसा** ही है—ऐसा कहते हैं ।

टिप्पणी (१) **तथाहि**—प्रतिपक्षी राजा के पलायन रूप कारण की अप्रस्तुत राज शुक के आभाषण रूप कार्य से प्रतीति होने से **अप्रस्तुतप्रशंसा** ही है—यह **काव्यप्रकाशकार** का आशय है । **काव्यप्रकाश** में "**प्रस्थानोद्यत भवन्तं ज्ञात्वा सहसैव त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणे प्रस्तुते कार्यमुक्तम्** ।

(२) **वस्तुतः**—दोनों ही प्रकार की युक्ति सम्भव हो सकने से यहाँ **पर्यायोक्त** और **अप्रस्तुतप्रशंसा** का **सन्देहसंकर** ही समझना चाहिये ।

अथार्थान्तरन्यासालंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(अर्थान्तरन्यासालंकार का लक्षण) **सामान्यमिति**—साधर्म्य के द्वारा (समान धर्म वाले होने से साधर्म्य प्रकारक ज्ञान द्वारा) अथवा वैधर्म्य के द्वारा (उक्त साधर्म्य से विरुद्धधर्म के ज्ञान द्वारा) यदि (१) विशेष से समान्य का (२) सामान्य से (तेन) विशेष का (३) और कारण से कार्य का (४) कार्य से कारण का (इदम्) समर्थन किया जाता है, तो [इसप्रकार उन चारों प्रकार के समर्थनों के साधर्म्य और वैधर्म्य से दो प्रकार के होने से मिलकर] **अर्थान्तरन्यासालंकार** आठ प्रकार का होता है ।

टिप्पणी (१)

सामान्य का लक्षण— **व्यापकधर्मावच्छिन्नत्वम् सामान्यत्वम्** ।

अथवा

समर्थ्यसमर्थक द्वयगत धर्मवत्वं सामान्यत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा॥'

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्थगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते।

विशेष्य का लक्षण— व्याप्य धर्मावच्छिन्नत्वम् विशेष्यत्वम्।

अथवा

समर्थ्यसमर्थकयोरन्यतरगत धर्मवत्वं विशेष्यत्वम्।

कार्य का लक्षण— ज्ञाप्यनिष्पाद्येतर समर्थ्यरूप साध्यत्वं कार्यत्वम्।

कारण का लक्षण— ज्ञापकनिष्पादकातिरिक्त समर्थकरूपहेतुत्वं कारणत्वम्।

साधर्म्य का लक्षण— समर्थ्यसमर्थकयोः प्रतिपादयिषितसमानधर्मवत्वम् साधर्म्यम्॥

वैधर्म्य का लक्षण— उक्तविध विरुद्ध धर्मवत्वञ्च वैधर्म्यम्॥

(२) अर्थान्तरन्यास की व्युत्पत्ति—अनुपपद्यमानतया प्रस्तुतार्थं समर्थयितुं प्रस्तुतिरिक्तार्थस्य न्यासः—स्थापनमर्थान्तरन्यासः इति।

(३) आठ प्रकार के अर्थान्तरन्यासालंकार का सङ्कलन—(१) सामान्य से विशेष का समर्थन (२) विशेष से सामान्य का समर्थन (३) कार्य से कारण का समर्थन (४) कारण से कार्य का समर्थन—इन चारों भेदों के पुनः (१) साधर्म्य और (२) वैधर्म्य से दोष भेद होने से (४×२=८) ८ भेद होते हैं।

(४) कुवलयानन्द में आठ प्रकार के अर्थान्तरन्यासालंकार से आगे निम्न (१) विकस्वरः (२) प्रौढोक्ति (३) सम्भावना (४) मिथ्याध्यवसिति (५) ललित (६) प्रहर्षण (७) विषादन (८) उल्लास (९) अवज्ञा (१०) अनुज्ञा (११) लेश (१२) मुद्रा और (१३) रत्नावली—इन तेरह अर्थान्तरन्यास अलङ्कारों का वर्णन है।

अर्थ—(१) क्रम से (साधर्म्य के कारण विशेष से सामान्य के समर्थन का) उदाहरण—बृहदिति—[प्रसङ्ग—शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग में विचार विमर्श के के अवसर पर उद्धव की उक्ति है।] अत्यन्त क्षुद्र (मनुष्य) भी बड़ों की सहायता पाकर कार्य की समाप्ति को (महान् कार्य को) कर लेता है, अर्थात् सिद्ध कार्य हो जाता है। तथाहि—पर्वतीय नदी महती (गङ्गादि) नदियों के साथ मिलकर समुद्र को प्राप्त कर लेती है।

अर्थ—(उक्त उदाहरण में लक्षण की योजना करते हैं) अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) द्वितीय वाक्य के अर्थ के साथ सङ्गत विशेष (पर्वतीय नदी आदि रूप) अर्थ से (महानदी से मिलकर समुद्र प्राप्ति रूप महान् कार्य की साधनता के ज्ञान के विषय से) प्रथम वाक्य के अर्थ में विद्यमान सामान्य (अतिशयक्षुद्रादि) अर्थ का समर्थन किया गया है।

'यावदर्थ्यपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांस प्रकृत्या मितभाषिणः ॥'
'पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां-
मार्यः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥'

टिप्पणी—अर्थात्—"क्षोदीयानपि बृहत्सहायः सन् कार्यान्तं गच्छति" ऐसा कहाँ देखा है—इसप्रकार की जिज्ञासा होने पर "नगापगा महानद्यः सम्भूय अम्भोधिमभ्येति"—इस सम्भव के समान प्रतीत होने वाले दृष्टान्त के द्वारा एक स्थल पर देखा है, अतः अन्यत्र भी हो सकता है—इस न्याय से सामान्य के समर्थन द्वारा हमसे अत्यन्त क्षुद्र भी शिशुपाल कालयवनादि दुर्धर्ष राजाओं की सहायता लेकर हमको पराभव करने रूप महान् कार्य को कर सकता है—इसका समर्थन किया है।

अर्थ—(२) (**साधर्म्य के कारण सामान्य से विशेष के समर्थन** का उदाहरण) **यावदिति**—[प्रसंग—शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग का यह पद्य है] श्रीकृष्णजी इसप्रकार (उक्त स्वरूपा) परिमित अर्थ और शब्द वाली वाणी को कहकर चुप हो गये, **तथाहि**—महान् (मनुष्य) स्वभाव से ही स्वल्पभाषी (होते) हैं।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में पूर्वार्ध में विद्यमान श्रीकृष्णजी आदि का अर्थ विशेष है, उत्तरार्ध में विद्यमान महान् पुरुषों से प्रयुक्त अर्थ सामान्य है, अभिधेयमात्र का कथन करके विरत हो जाना और परिमितभाषिता समान धर्म है, अतः साधर्म्य है। इसप्रकार सामान्य साधर्म्य से विशेष का समर्थन रूप **अर्थान्तरन्यासालंकार** है।

अर्थ-(३) (**साधर्म्य के कारण कारण से कार्य के समर्थन** का उदाहरण) **पृथ्वीति**—[प्रसंग—**बालरामायण** नामक महानाटक में श्री रामचन्द्रजी के द्वारा शिवजी के धनुर्भङ्ग के अवसर पर पृथिव्यादिकों की अस्थिरता की कल्पना करते हुये लक्ष्मण की यह उक्ति है।) (हे) पृथिवी। (तुम) दृढ निश्चल हो जावो (जिससे शेषनाग के शिर से गिर न पड़ो) (हे) अनन्त शेषनाग! (तुम) इस (पृथिवी) को (निश्चल रूप से) धारण करो (कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे शिर से यह भूमि गिर जावें); (हे) कच्छपराज! तुम इन दोनों (पृथ्वी और शेषनाग) को (स्थिरता से) धारण करो (अन्यथा ये दोनों गिर जावेगें) (हे ऐरावतादि) दिग्गजो! (तुम सब) तीनों (पृथ्वी शेषनाग और कूर्मराज—इन तीनों) को धारण करने की इच्छा (अर्थात् धारण करने का प्रयत्न) करो (अन्यथा ये सभी अपने स्थान से स्खलित हो जावेगें) क्योंकि, आर्य रामचन्द्रजी शिवजी के धनुष को चढा रहे हैं।

अत्र कारणभूतं हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथिवीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम् । 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादौ सम्पत्करणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् ।

एतानि साधर्म्ये उदाहरणानि ।

टिप्पणी—(१) निम्न दिशाओं के हाथी कहलाते है—

ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः ।
पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ।

(२) **आर्य का लक्षण**—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे सतु आर्य इति स्मृतः ॥

अर्थ—(लक्षण को घटाते है) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कारणभूत शिवजी के धनुष का चढ़ाना पृथ्वी (आदि) के स्थिरतादिक कार्यों का समर्थक है ।

टिप्पणी—उक्त रूप पृथिवी आदि की स्थिरता आदि का पहले कोई प्रश्न ही नहीं, उठता, परन्तु पश्चात् शिवजी के धनुष को चढ़ाने से पृथिवी आदि की स्थिरता का प्रश्न पैदा होता है, अतः शिवजी के धनुष को चढाने में और पृथ्वी आदि के स्थिर होने में परस्पर कार्यकारण भाव उत्पन्न हो जाता है, अतः किसी भी प्रकार की कोई भी विप्रतिपत्ति पैदा नहीं होती है। कार्य और कारण के अन्दर उत्पत्ति और उत्पादनरूप योग्यता का होना साधर्म्य है । चतुर्थ चरण की लक्षण की उक्ति के अभाव में पृथिवी आदि के असावधान होने से अपने स्थान से स्खलन सम्भव हो सकता है, अतः समर्थकता है । इसप्रकार उक्त पद्य के अन्दर **अर्थान्तर-न्यास** है ।

अर्थ—(४) (**साधर्म्य के कारण कार्य के कारण के समर्थन** का उदाहरण) "**सहसेति**—(इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ ··· पर की जा चुकी है ।) "**सहसा विदधीत न क्रियाम्** ······" इत्यादि में सम्पत्ति की प्राप्ति कार्य, सहसा कार्य न करना—विचार पूर्वक कार्य करना रूपकारण का समर्थक है। **एतानीति**—ये (पूर्वोक्त) **साधर्म्य में उदाहरण है** ।

टिप्पणी—(१) **प्रकृत उदारण में सम्पत्ति की प्राप्ति और विचारपूर्वक कार्य करना रूप कार्य-कारण में उत्पत्ति और उत्पादन की योग्यता का होना साधर्म्य है ।**

(२) **आशय** यह है कि—संसार में जो विचारपूर्वक कार्य करता है, उसको अतुल सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, अतः विचारपूर्वक कार्य करना सम्पत्ति का जनक है—यह निश्चित हो जाने से विमृश्यकारिता कारण है और सम्पत्ति की प्राप्ति कार्य है । तथा "वृणुतेति—" इत्यादि उत्तरार्ध वाक्य के अर्थभूत विमृश्यकारित्व रूप कारण का समर्थन करता है ।

वैधर्म्ये यथा--

'इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम् ।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥'

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम् ।

'सहसा विदधीत—' इत्यत्र सहसाविधानाभावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम् । एवमन्यत् ।

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ।

अर्थ—(५) वैधर्म्य के कारण (**सामान्य से विशेष के समर्थन** का उदाहरण) यथा—**इत्थमिति**—[**कुमारसम्भव** के द्वितीय सर्ग में देवताओं के गुरु बृहस्पति तारिकासुर के दुर्व्यवहार का वर्णन ब्रह्मा जी से कर रहे हैं ।] इसप्रकार (उक्त प्रकार से) सेवा किया जाता हुआ भी (उपेक्षा करने पर तो कुछ कहना ही नहीं) तीनों लोकों को (वह तारकासुर) दुःखित कर रहा है--**तथाहि**—दुष्ट मनुष्य प्रत्यपकार से (ही) शान्त होता है, उपकार से (शान्त) नहीं (होता है) ।

(उक्त लक्ष्य में लक्षण की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) सामान्य (उत्तरार्ध के वाक्य का अर्थ तारकादि पूर्वार्ध के वाक्यार्थ का उपपादक होने से व्यापक है अतः सामान्य है ।) विशेष का (तारकादि पूर्व वाक्यार्थ के उत्तरार्ध के वाक्यार्थ से उपपन्न होने के कारण व्याप्य है, अतः विशेष है ।) समर्थक है ।

टिप्पणी—जिसकी सेवा की जाती है, वह सर्वथा सदा अनुकूल व्यवहार वाला होता है, परन्तु यहाँ उसके विपरीत है, अतः वैधर्म्य समझना चाहिये ।

अर्थ—(६) (**वैधर्म्य के कारण कार्य से कारण के समर्थन** का उदाहरण) **सहसेति**—"सहसा विदधीत ...... "**इत्यादि**—यहाँ पर सहसा कार्य को न करने का (विमृश्यकारित्व रूप कारण का) आपत्ति को उत्पन्न करने वाला । विरुद्ध (विमृश्यकारित्व रूप कारण से विपरीत) कार्य का समर्थक है । **एवमिति**—इसीप्रकार अन्यत्र (समझना चाहिये) ।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि—जिसप्रकार—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलञ्च विनश्यति ॥

इसके अनुसार अधर्म का आचरण दुःख को उत्पन्न करने वाला है, इससे इसका समर्थन होता है कि सुख का कारण धर्म है । उसीप्रकार यहाँ प्रकृत उदाहरण में भी बिना विचार पूर्वक काम करने से आपत्ति की प्राप्ति होती है, इससे इसका समर्थन होता है कि विमृश्यकारिता सुख का कारण है । अतः **अर्थान्तरन्यास अलङ्कार** है ।

अथ काव्यलिङ्गालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(काव्यलिङ्गालंकार का लक्षण) **हेतोरिति**—हेतु के वाक्यार्थ के और पदार्थ के (कारण) होने पर (अर्थात् वाक्य और पद में से किसी एक के प्रतिपाद्य होने पर) अथवा वाक्यार्थ और पदार्थ के हेतु होने पर **काव्यलिङ्गालंकार** कहलाता है ।

तत्र वाक्यार्थता यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥'

टिप्पणी—(१) तथाहि— "वाक्यार्थरूपस्यैकपदार्थरूपस्यानेकपदार्थरूपस्य च हेतोरभिधानम् काव्यलिङ्गमभिधीयते।" इसप्रकार अर्थ विशेष के प्रति वाक्यार्थ अथवा पदार्थ यदि हेतु हो, तो यह अलङ्कार होता है।

(२) इसप्रकार हेतु तीन प्रकार का होता है—(१) वाक्यपदार्थरूप, (२) एक पदार्थरूप और (३) अनेक पदार्थरूप।

(३) गोवर्धन ने "हेतु" का लक्षण इसप्रकार किया है—

"न्यायोऽनुमानं हेतुश्च लिङ्गं युक्तिः समर्थकः "इति"। अग्निपुराण में भी—

सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः।
कारको ज्ञापकश्चेति द्विधा सोऽप्युपदिश्यते॥

(४) यह काव्यलिङ्गालंकार ही हेत्वलंकार कहलाता है।

(५) क्रिया के अन्वय की समाप्ति होने पर वाक्यार्थता होती है, अन्यथा पदार्थता समझनी चाहिये।

(६) परिकरालंकार और काव्यलिङ्ग में भेद—"परिकरालंकारे पदार्थवाक्यार्थ-बलात् व्यज्यमानोऽर्थो वाच्योपकारकतां भजते, अत्र (काव्यलिङ्गे) तु पदार्थवाक्यार्थो एव हेतुभावं भजतः—यही इन दोनों में भेद है।

(७) काव्यलिङ्ग की व्युत्पत्ति—काव्यस्य अभिमतं लिङ्गम् = काव्यलिङ्गम्।

अर्थ—(१) उन (दोनों प्रकारों) में से वाक्यार्थगत हेतु (का उदाहरण) यथा—यदिति [प्रसंग—हनुमन्नाटक नामक चम्पूकाव्य में रावण से सीताजी का हरण किये जाने के उपरान्त माल्यवान् पर्वत पर वर्षाकाल में विरही राम की यह उक्ति है] (हे) प्रिये सीते! तुम्हारे नेत्रों के समान कान्ति वाले जो नीलकमल हैं, वे जल में (वर्षा के प्रभाव से) डूब गये [अतः नीलकमलों से भी तुम्हारे नेत्रों के देखने का आनन्द नहीं प्राप्त होता है।] तुम्हारे (सीताजी के) मुख की कान्ति का अनुकरण करने वाला चन्द्रमा बादलों ने आच्छादित कर लिया [अतः, चन्द्रमा को देखकर भी तुम्हारे मुख को देखने का सौभाग्य नहीं होता है।] (तथा) जो भी तुम्हारी गति के समान गति वाले थे, वे राजहंस (भी मानसरोवर को) चले गये [अर्थात्—"जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः" इस न्याय के अनुसार मानसरोवर को चले गये। अतः राजहंसों की गति को देखकर भी तुम्हारी गति को देखने का आनन्द अनुभव नहीं कर सकता हूँ।] (अतःएव) दुर्दैव तुम्हारे सादृश्य से होने वाले मेरे विनोद को भी नही सहन करता है। [अर्थात् विरही मनुष्यों के लिये प्रिया में सादृश्य का दर्शन ही विनोद होता है, किन्तु मेरे लिये वह भी नहीं है।]

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः ।

पदार्थता यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम् ।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः ।

अनेकपदं यथा मम—

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम् ।
देव त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

अर्थ (लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) चतुर्थ चरण के प्रति ("**त्वत्प्रसादृश्येत्यादि**" चतुर्थ चरणात्मक वाक्यार्थ के प्रति) प्रथम तीन चरणों के वाक्य ("**यस्त्वन्नेत्र** ······ से लेकर **गताः**" तक प्रथम तीन चरणात्मक वाक्यार्थ) कारण है। [क्योंकि प्रथम तीन चरणों को छोड़कर चतुर्थ चरण के वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है ।] ।

टिप्पणी—अन्य मत के अनुसार उक्त पद्य में **प्रतियालंकार** है ।

अर्थ—(२) **परार्थगत** (हेतुता का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्य-दर्पणकारकृत्—त्वद्वाजीति—(इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ···पर की जा चुकी है ।) ।

अर्थ—(लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) द्वितीयार्ध के प्रति ("**न धत्ते** ······ **इत्यादि**" उत्तरार्धगत अतिशय भार के प्रति) प्रथमार्ध का एक पद ("**त्वद्वाजि** ······ **इत्यादि**" प्रथमार्धरूप एक पद का अर्थ अर्थात् कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध तथाविध पङ्किलत्वाभिधेय) कारण है ।

अर्थ—(३) **अनेक पदगत** (हेतुता का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्य-दर्पणकारकृत्—"**पश्यन्तीति** (इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ ······ पर की जा चुकी है ।) ।

टिप्पणी—(१) इस प्रकृत उदाहरण में अपने को छिपाने के प्रति असंख्य-पथगा और त्रिपथगा दो पदरूप अनेक पदार्थ कारण हैं । यहाँ पर कविप्रौढ़ोक्ति सिद्ध हेतु है, और सम्भाव्यमान आत्मगोपन कार्य है ।

अवतरणिका—कार्य–कारणभाव में **अर्थान्तरन्यासालंकार** को स्वीकार न करने वाले **काव्यप्रकाशकारादि** के मत का निराकरण करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं—

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते। तदयुक्तम्, तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति–ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्। तथाहि—'यत्त्वन्नेत्र–'इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्, अन्यथा साकाङ्क्षतयासमञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्यं निष्पादकत्वेनापेक्षते। 'सहसा विदधीत–' इत्यादौ तु—

'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥'

अर्थ—**पूर्वपक्ष** यहाँ (**काव्यलिङ्ग** के उदाहरण में) कुछ (**काव्यप्रकाशकारादि**) वाक्यार्थगत (क्योंकि पदार्थगत **काव्यलिङ्ग** से **अर्थान्तरन्यास** नहीं हो सकता है) हेतु वाले **काव्यलिङ्ग** से ही सम्पन्न प्रयोजन होने के कारण ("पृथ्वि! **स्थिराभव**" **इत्यादि** में कारण से कार्य का समर्थन हो जाने से "सहसा विदधीत" इत्यादि में कार्य से कारण का समर्थन हो जाने से दूसरों के प्रति स्वीकृत **अर्थान्तरन्यास** की अपेक्षा तथाविध **काव्यलिङ्ग** से ही सफल प्रयोजन हो जाने से) कार्य-कारण भाव में **अर्थान्तरन्यासालंकार** को स्वीकार नहीं करते हैं। (किन्तु काव्यलिङ्ग ही मानते हैं।) **उत्तरपक्ष तदयुक्तमिति**—यह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ (**अर्थालङ्कार** के उपकरण में **अनुमान**–**काव्यलिङ्ग** और **अर्थान्तरन्यासात्मक** तीन अलङ्कारों में) कारण तीन प्रकार का होता है—(१) ज्ञापक (अनुमितिरूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाला) (२) **निष्पादक** और (३) **समर्थक** इति। **तत्रेति**—उनमें से **ज्ञापक हेतु** अनुमान का विषय (होता) है (क्योंकि अनुमितिरूप ज्ञान को उत्पन्न करता है); **निष्पादक** हेतु काव्यलिङ्ग का विषय (होता) है (क्योंकि अपनी नियत साकांक्षा का उत्पादक होता है); **समर्थक हेतु** अर्थान्तरन्यास का (विषय होता) है (क्योंकि सर्वथा ही अपने से निराकांक्ष असम्भवतादि को दूर करके केवल नियत सम्भवता का पोषक होता है); इसप्रकार पृथक् ही कार्य-कारण भाव में **काव्यलिङ्ग** से **अर्थान्तरन्यास** होता है। **तथाहीति** क्योंकि "**यत्त्वन्नेत्र**—इत्यादि में चतुर्थ चरण के वाक्य का अर्थ अन्यथा (प्रथम तीन चरणों के वाक्य के अर्थ के बिना) कारण की जिज्ञासा होने से (**साकांक्षतया**) असङ्गत हो जाता है। अतः प्रथम तीन चरणों के वाक्य का अर्थ निष्पादक होने से अपेक्षा रखता है। [अतःएव उक्त पद्य में **काव्यलिंग** है।] (**अर्थान्तरन्यास** के उदाहरण "**सहसाविदधीत**" इत्यादि में **काव्यलिंग** नहीं है, यह दिखाते हैं।) **सहसेति**—(परन्तु) **सहसाविदधीत** इत्यादि में तो **परापकारेति**—दूसरों का अपकार करने में तत्पर दुष्ट मनुष्यों के साथ कभी भी संगति नहीं करनी चाहिये, (यह) तत्व (मैं) आपसे कहता हूँ—

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधानाभावं सम्पद्वरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात् ।

'न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ।
त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्किला हि सा ॥'

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्किलत्वादितिवद्धेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः, वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात् ।

अर्थ—इत्यादि की तरह केवल उपदेशरूप से भी कारण निरपेक्ष होने के कारण अपने आप ही (हेतु के कथन के विना ही) गतार्थ (नियत प्रतिपादित अर्थ) सहसा विधानाभाव को (**"सहसाविदधीत न क्रियाम्"**— इस वाक्यार्थभूत को) सम्पत्ति का वरण (**"वृणुतेहि···"** इत्यादि वाक्यार्थभूत सम्पत्ति की प्राप्ति को) युक्तियुक्त ही करता है (किन्तु **"यत्त्वन्नेत्र** की तरह सहसा विधानाभाव को उत्पन्न नहीं करता है)—अतः (कारण भेद से) कार्य-कारण भाव में अर्थान्तरन्यास–काव्यलिङ्ग से पृथक् ही (होता) है ।

टिप्पणी—(१) सारांश यह है कि—**हेत्वाकाङ्क्षया यद्वाक्यं यद्वाक्यसपेक्षते तदर्थस्य तदर्थो निष्पादकः, स एव काव्यलिङ्गस्य विषय; यत्र हेतूपदेशादिना हेतुनिरपेक्षं वाक्यं, तत्र हेतुवाक्यस्यार्थः समर्थक एव, स च अर्थान्तरन्यासस्य विषयः ।** यही इन दोनों में भेद है ।

(२) यदि समर्थक हेतु होने पर **काव्यलिङ्ग** मान लेंगे तो सामान्य-विशेष भाव वाले स्थलों पर भी **काव्यलिङ्ग** से ही काम चल जाने पर **अर्थान्तरन्यास** का कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा ।

अवतरणिका—जहाँ **उत्पादक हेतु** कारणत्वेन उपन्यस्त किया जाता है, वहाँ वैचित्र्य न होने से यह **काव्यलिङ्ग** अलङ्कार नहीं होता है । इसीका प्रतिपादन करने के लिये पूर्वोक्त उदाहृत पद्य को ही पुनः किञ्चित् परिवर्तन से दिखाते हैं—

अर्थ—[प्रसङ्ग—राजा की स्तुति है ।] शिवजी नितान्त भार को वहन करने के भय से शिर पर गङ्गा को धारण नहीं करता है, क्योंकि वह (गङ्गा) तुम्हारे (राजा के) घोड़ों की पंक्तियों से उड़ाई हुई धूलि से पङ्किल है । (अतएव भारी हो गई है ।)

यहाँ (उक्त उदाहरण में हेतु का ज्ञान कराने वाले) '**हि**" शब्द का ग्रहण करने से "पङ्किलत्वादि" की तरह हेतु के स्फुट होने के कारण यह (**काव्यलिङ्ग**) अलंकार नहीं है (क्योंकि) वैचित्र्य ही अलंकार होता है ।

अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात् ॥६३॥

यथा—

'जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः ।
तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे ॥'

अत्र रूपकवशाद्विच्छित्तिः ।

यथा वा—

अथानुमानालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(अनुमानालङ्कार का लक्षण) **अनुमानमिति**—(कविप्रतिभोत्थापित) वैचित्र्य विशेष के द्वारा साधन से (**साध्यते वह्न्यादिरनेनेति साधनम्**—व्याप्त्यादि विशिष्ट हेतु वाले ज्ञान से) साध्य का (**साधयितुं योग्यं—साध्यम् वह्न्यादिः तस्य व्यापकस्य**) ज्ञान (पक्षवृत्तिता का ज्ञान) **अनुमाननामकालङ्कार** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) कारिका में "**तु**" शब्द का प्रयोग "**काव्यलिङ्ग**" से पृथक् करने के लिये है । **काव्यलिङ्ग** में हेतु निष्पादक होता है, और यहाँ (**अनुमान** में) हेतु ज्ञापक होता है ।

(२) **अनुमानालङ्कार** दो प्रकार का होता है—(१) **स्वार्थानुमान** और (२) **परार्थानुमान** । "**यत्र भयावगतोऽर्थ इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः स्यात्तत्स्वार्थम् । यत्र परेणा नवगतस्य वस्तुनः प्रतिपादनात्परप्रत्यायकत्वं तत्परार्थम्** । इसप्रकार यह दो प्रकार का भी अलङ्कार केवल एक प्रकार का ही **अनुमानालङ्कार** होता है ।

(२) **अत्रोद्योतकारस्तु**—"अत्रानुमानमित्यत्र भावे ल्युट्, तेन जायामातानुमितिरत्रालङ्कारः । सा च मन्ये–शङ्के–अदैभि–जाने–इत्यादि वाचकोपादाने वाच्या । यत्र लिङ्गलिङ्गिनोः सत्वं तत्र तेषामनुमितिबोधकत्वम्, यत्र सादृश्यादि निमित्तसद्भावस्तत्र तेषामुत्प्रेक्षा बोधकत्वम् । "व्यक्ति कथयति इत्यादि लक्षकशब्दो पादाने लक्ष्या, उभयानुपादाने साध्य साधनाभ्यां तदाक्षेपे प्रतीयमानतेति बोध्यम्" इत्याहुः ।

अर्थ—(**अनुमानालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—[**प्रसङ्ग**—किसी का विरह वर्णन है ।] इस (पुरः दृश्यमान) कमलनयनी (रमणी) के हृदय में प्रिय (पति) का मुखचन्द्र प्रकाशित हो रहा है—(अर्थात् यह अपने प्रिय पति के मुखचन्द्र का स्मरण कर रही है ।)—ऐसा अनुमान करते हैं; **तथाहि** (सर्वत्र) फैलने वाले उसके (हृदय स्थित प्रिय के मुखचन्द्र के) किरण समूह से उस (कमलनयनी) के अङ्गों में ईषत् पाण्डुवर्णता (तथा) नयनकमलों में मुकुलिता (हो गई) है । [क्योंकि सूर्य की किरणों से कमलों का विकास होता है, और चन्द्रमा की किरणों से संकोच होता है ।]

(वैचित्र्य दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण "**प्रियवक्त्रचन्द्र**" में) **निरङ्ग केवलरूपक—अलङ्कार** (के संसर्ग) से **वैचित्र्यविशेष** है ।

'यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः ।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्तिः । उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में अङ्गों के पाण्डुवर्ण के होने से और नयनकमल के मुकुलित होने रूप लिङ्ग से साध्य हृदय स्थित मुखचन्द्रमा का ज्ञान होता है। क्योंकि--"अनुमान हि **पक्षसत्व—सपक्षसत्व—विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टात् लिङ्गात् लिङ्गिनो ज्ञानम्**" है। **तथाहि**—विरहजन्य पाण्डुवर्णता और नयनकमल का प्रिय की मुखचन्द्र की किरणों से उत्पन्न होने रूप उत्प्रेक्षा कारण है। इसप्रकार **रूपक** और **उत्प्रेक्षा** से परिपुष्ट वैचित्र्य वाला **अनुमानालङ्कार** है।

(२) **प्रश्न**—"**प्रियवक्त्रं चन्द्रइव**" इस उपमित समास के द्वारा **लुप्तोपमा** क्यों नहीं है ?

उत्तर—नहीं, लुप्तोपमा नहीं है—क्योंकि "**विराजते**" इस ज्योत्स्ना प्रसारार्थक क्रिया से **रूपक** की ही प्रतीति होती है।

(३) यहाँ पर "**रूपकवशात्**" से **अपह्नुति** और **उत्प्रेक्षा** का ग्रहण होता है। तथा च—अङ्गों की पाण्डुता के अन्दर **अपह्नुति** है, और वियोगजन्य पाण्डुवर्णता के अन्दर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से उत्पन्न पाण्डुता की, तथा स्मृति से उत्पन्न नयन संकोच के अन्दर चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से उत्पन्न संकोच की—सम्भावना करने से तथा "**जानीमहे**" इस वाचक शब्द के होने से **वाच्योत्प्रेक्षा** है।

अर्थ—अथवा (**कवि प्रौढोक्तिजन्य विच्छित्तिपरिपुष्टवैचित्र्य वाला अनुमानालङ्कार** का उदाहरण) **यत्रेति**—जहाँ (अर्थात् जिस युवक) पर कामिनियों की दृष्टि पड़ती है, वहीं (उसी युवक पर) तीक्ष्ण (कामदेव के) बाण गिरते हैं, अतः कामदेव धनुष पर बाण को आरोपित किये हुये इन (कामिनियों) के आगे दौड़ता है—ऐसा अनुमान करता हूँ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कविप्रौढोक्ति के कारण (हठात् असम्भव का कथन करने से) विशेष चमत्कार है। (**उत्प्रेक्षालङ्कार** और **अनुमानालङ्कार** में भेद) **उत्प्रेक्षायामिति—उत्प्रेक्षालङ्कार** में (सम्भावना की) अनिश्चित रूप से प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ (**अनुमानालङ्कार**) में (सम्भावना की) निश्चित रूप से (प्रतीति होती) है।

टिप्पणी—(१) यहाँ उक्त पद्य में कामिनियों के दृष्टिपात में कामदेव के बाणों के पतन रूप लिङ्ग से कामदेव का धनुष पर बाण चढ़ा कर आगे भागने रूप साध्य का ज्ञान होता है। **तथाहि**—"**अबलाः चापरोपितशरस्मरपुरस्सराः स्वीयदृष्टिपातविशिष्टदिक्पतन्निमित्तशरकत्वात्**" इस ज्ञान से **अनुमानालङ्कार** है।

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ।

यथा मम—'तारुण्यस्य विलासः–' इत्यत्र वशीकरणहेतुर्नायिका वशीकरणत्वेनोक्ता । विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः ।

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत् ।।६४।।

यथा—

'कुपितासि यदा तन्वि निधाय करजक्षतम् ।
बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढं तदा ।।'

---

(२) वस्तुतः जहाँ अन्य किसी अलंकार के बिना भी वैचित्र्य की प्रतीति होती है, वहाँ पर भी यह अलंकार होता है—

"विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः" इति !

यहाँ वर्षाकाल का अनुमान होता है ।

अथ हेत्वलङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(हेत्वलङ्कार का लक्षण) **अभेदेनेति**—कार्य के साथ कारण का अभिन्न रूप से कथन करना **हेत्वलङ्कार** (कहलाता) है । **केचित्तु** कार्य के साथ कारण के अभिन्न रूप आरोप से **अभिधाहेत्वलंकार** (होता) है—(ऐसा मानते हैं) ।

टिप्पणी—अर्थात्—कार्य-कारण के तादात्म्य का प्रतिपादन करना ही **हेतुनामकालंकार** होता है ।

अर्थ—(**हेत्वलंकार** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत्—"**तारूण्यस्येति**—इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।) **इत्यत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरण में) वशीकरण के कारण (भूत) नायिका (प्रकरण प्राप्त सुन्दरी) वशीकरण रूप (कार्य के तादात्म्य) से (कविद्वारा) कही गई है । विलास और हास में अध्यवसायमूलक यह (हेतु) अलंकार है ।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है कि**—नायिका के विलास और हास में कार्य-कारण रूप सम्बन्ध के न होने से कारण लक्षणा भी असम्भव है, अतः अध्यवसाय अवश्य ही मानना पड़ेगा । और उसके साहचर्य से प्रकृत में भी अध्यवसाय की ही प्रतीति है लाक्षणिकी प्रतीति नहीं है ।

अथानुकूलालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**अनुकूलालंकार** का लक्षण) **अनुकूलमिति**—यदि प्रतिकूलता (प्रतिकूल-आचरण करना) अनुकूलता को करने वाली हो, (तो) **अनुकूलनामकालंकार** (कहलाता) है । [**तथाहि—"प्रतिकूलत्वाचरणानुकूलोत्पत्तिप्रतीतिरनुकूलम् इति ।**]

अर्थ—(**अनुकूलालंकार** का उदाहरण) **यथा—कुपितेति—**[**प्रसंग—प्रणयमा**-नवती सखी के प्रति उसकी सहचारिणी की आश्चर्यमयी उक्ति है ।] (हें) कृशाङ्गि ! यदि तुम (वस्तुतः अपने पति के प्रति) कुपित हो (तो इसके शरीर में) नखक्षत करके बाहुपाश से इस (पति) के कण्ठ को दृढ़तया बाँध दे ।

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणात्पृथगलङ्कार त्वमेव न्याय्यम् ।

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ।

निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ॥६५॥

तत्र वक्ष्यमाणविषये क्वचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेध; क्वचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च क्वचिद्वस्तुस्वरूपस्य निषेधः, क्वचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ। इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः।

टिप्पणी—यहाँ यद्यपि नखक्षत और भुजपाश विधायक कण्ठबन्धन दोनों ही स्वभाव से दुख देने वाले होने से विपरीत आचरण वाले हैं, तथापि नायक के प्रति आलिङ्गन के रूप में प्रयुक्त होने के कारण दोनों ही सुख को उत्पन्न करने से अनुकूल व्यवहार वाले हैं, अतः **अनुकूलालंकार** है। इसप्रकार यहाँ अनुकूल पदार्थ की व्यञ्जना ही है कहीं अनुकूल पदार्थ की वाच्यता भी होती है—यथा—

"अतिशमपि मकरकेतुर्मनसो रुजमावहन्नभिमतो मे ।

यदि मदिरायतनयनां तामधिकृत्य प्रहरतीति ॥

यहाँ अभिमत पद की इष्टपदता वाच्य है।

अर्थ—विशेष चमत्कार वाले इस (अलंकार) को सभी अलंकारों से विलक्षण रूप से प्रतीति होने के कारण पृथक् अलंकार मानना ही उचित है।

अथाक्षेपालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**आक्षेपालंकार** का लक्षण) **वस्तुन इति**—(प्राकरणिक रूप से) विवक्षित अथवा अविवक्षित वस्तु (विषय) की विलक्षणता की सूचना के लिये निषेध के समान प्रतीत होने वाला (अर्थात् शब्दशक्ति से निषेध और अर्थशक्ति से विधान) **आक्षेपनामकालंकार** (होता) है, (और वह **आक्षेप**) दो प्रकार का होता है—वक्ष्यमाण विषयक और उक्त विषयक।

टिप्पणी—आक्षेप की व्युत्पत्ति—**"आक्षेपणं—विवक्षितार्थस्य भर्त्सनमाक्षेप"**: इति।

अवतरणिका—आक्षेपालंकार के अन्य भेद दिखाते हैं।

अर्थ—उनमें से (उन दो भेदों में से) वक्ष्यमाण के विषय में (१) कहीं सामान्यतः सूचित की हुई सम्पूर्ण (वस्तु) का ही निषेध (होता) है, (२) (और) कहीं (एक) अंश का कथन करके दूसरे अंश में निषेध (होता) है—इसप्रकार दो भेद होते हैं। और उक्त विषय में (१) कहीं वस्तु के स्वरूप का निषेध होता है, (२) और कहीं वस्तु के कथन का (निषेध होता है)—इसप्रकार दो (भेद होते) है। इसप्रकार आक्षेपालंकार के चार भेद होते हैं।

क्रमेण यथा—

'स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि ।
क्षणमिह विश्रम्य सखे निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा ॥'

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविशेषे निषेधः ।

'तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।
हन्त नितान्तमिदानीम् आः किं हतजल्पितैरथवा ॥'

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोक्तः ।

टिप्पणी—सारांश यह है कि—आक्षेपालंकार के दो भेद—१. **वक्ष्माण विषयक** और २. **उक्त विषयक** । इनमें से **वक्ष्यमाण विषयक आक्षेपालंकार** के पुनः दो भेद होते हैं—१. **सामान्यतः सूचित सम्पूर्ण वस्तु का** निषेध और (२) **एक अंश का कथन करके दूसरे अंश का निषेध** । इसीप्रकार **उक्त विषयक आक्षेपालंकार** के भी दो भेद होते हैं—(२) **वस्तु के स्वरूप का निषेध** और (२) **वस्तु के कथन का निषेध** । इसप्रकार सभी भेद मिलकर **आक्षेपालंकार** के चार भेद हुये ।

अर्थ—क्रमशः (**सामान्यतः सूचित सम्पूर्ण वस्तु का निषेधरूपाक्षेपालंकार** का उदाहरण) **यथा—स्मरेति**—[**प्रसंग**—नायक के प्रति नायिका के द्वारा भेजी हुई उसकी सखी की उक्ति है ।] (हे) सखे ! (सखी के पति होने से यह सम्बोधन किया है) कामदेव के सैकड़ों बाणों के प्रहारों से कातर सखी के निमित्त कुछ कहना चाहती हूँ, (अतः) क्षणभर यहाँ (इस स्थान पर) विश्राम कर लो, अथवा कठोर हृदय वाले (तुमको) को क्या कहूँ ? अर्थात् कुछ भी कहना ठीक नहीं है ।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) सामान्यतः सूचित ("**स्मरशरशत विधुरायाः**" केवल इस विशेषण से ही व्यञ्जित, "**विरहिण्याः**—इस स्पष्ट कथन से नहीं) सखी की वियोगावस्था का वक्ष्यमाण (वस्तु) विशेष में (मृत्यु की अवधि रूप विशेष की सूचना देने के लिये "**किं वदामि**" ऐसा कहकर) निषेध है । (अतः **आक्षेपालंकार** है ।) ।

टिप्पणी—निषेध की प्रतीति होने से ही उसकी मृत्यु रूप विशेष ज्ञान की प्रतीति हो जाती है, अर्थात् तुम्हारे जाने पर भी वह अवश्य ही मर जावेगी, अतः तुमको कुछ कहना व्यर्थ है ।

अर्थ—(२) (**एक अंश का कथन करके दूसरे अंश का निषेधरूपालंकार** का उदाहरण) **तवेति**—[**प्रसंग**—नायक से नायिका की दूती की उक्ति है ।] मृगनयनी (नायिका) तुम्हारे विरह में नवमल्लिका नामक पुष्प को विकसित देखकर, बड़ा कष्ट है ? इस समय नितान्त ही (कामपीड़ा को सह रही है)······आः ! ······ (मृतप्राया है) अथवा अनर्थक वचनों (के कहने) से क्या ? अपितु कुछ भी प्रयोजन नहीं है ।

अर्थ—(उदाहरण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ [प्रकृत उदाहरण में "**विरहे**" इत्यादि अंश स्पष्ट रूप से ही प्रतिपादित कर दिये हैं, परन्तु **अवश्य वक्तव्यादिरूप** विशेष का ज्ञान कराने के लिये] "**मरजावेगी**" यह अंश नहीं कहा है ।

'बालअ णाहं दूती तुअ पिओसि त्तिण मह वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो ॥'
[बालकः ! नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसि इति न मे व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशः एतत् धर्माचरं भणामः ॥]

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

'विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ।
दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ? ॥"

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः । प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते ।

टिप्पणी—तथाहि—"किं हतजाल्पितैः" इससे निषेध की प्रतीति होने से **आक्षेपालंकार है ।**

अर्थ—(३) (**वस्तु के स्वरूप** का निषेधरूपाक्षेपालंकार का उदाहरण) **बालअ इति**—

[प्रसंग—नायक के पास दूतीरूपेण आई हुई नायिका की सखी की उक्ति है ।] (हे) अविदग्ध ! (**बालक** !) मैं दूती (मिथ्यावादिनी) नहीं हूँ [अतः हिताभिलाषिणी मेरी बात माननी ही चाहिये, ऐसी बात नहीं है ।], उस (नायिका) के (तुम) प्रिय हो, इसलिये मेरा (यह) व्यापार (तुमको प्रसन्न करने का परिश्रम करना) नहीं है । तथाहि—वह (तुम्हारी प्रिया यदि असह्य काम पीड़ा से) मर जाती है (तो) तुम्हारी अपकीर्ति (होगी) यह नीति युक्त वचन कहती हूँ ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में सखी के विषय में अपने आप की सत्यवादिता का ज्ञान कराने के लिये) दूतीत्व रूप वस्तु का (अर्थात् "**दूत्यामिथ्यावादित्वम्**" इस प्रसिद्ध दूतीत्व रूप वस्तु का) निषेध ("मैं अन्य दूतियों के समान मिथ्यावादिनी नहीं हूँ" इसप्रकार का निषेध है । [अतः **आक्षेपालंकार** है ।]

(४) (**वस्तु के कथन** का निषेधरूपाक्षेपालंकार का उदाहरण) **विरह इति** [**प्रसंग**-नायक के सामने नायिका की सखी की उक्ति है ।] तुम्हारे विरह में कृशांगी कैसे रात्रि को व्यतीत करे ? (अर्थात् रात्रि का व्यतीत करना असम्भव है ।) **अथवा**—निष्ठुर व्यवहार वाले तुम्हारे सम्मुख कहने से (उसकी स्थिति को कहने से) क्या ? अर्थात् कोई लाभ नहीं हैं ।

यहाँ (प्रकृत उदाहरण में विवक्षित नायिका के वियोग के विषय में अत्यन्त क्लेश रूप विशेष परिस्थिति का ज्ञान कराने के लिये) कथन का ही (पूर्वार्ध का ही) निषेध ("**भणितेन किम्**" इससे) है । [अतएव **आक्षेपालंकार** है ।] (**विशेष**—इस प्रकार **आक्षेपालंकार** के चारों भेदों के उदाहरण देने के उपरान्त क्रमशः उनमें विशेष ज्ञातव्य का प्रतिपादन करते हैं ।) **प्रथमेति**—प्रथम ("**स्मरशरशत**" इत्यादि) उदाहरण में सखी का "अवश्यम्भावी मरना" यह विशेष (अवश्यवक्तव्य) प्रतीत होता है ।

द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि । तृतीये दूतीये यथार्थवादित्वम् चतुर्थे दुःख-स्यातिशयः । न चायं विहितनिषेधः । अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ।

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥'

अर्थ—द्वितीय ("**तव विरह**" इत्यादि उदाहरण) में अशक्यवक्तव्यत्वादि ("**मरिष्यति**" यह वस्तु प्रतीत होती) है। तृतीय ("**बालअ ! णाह**" इत्यादि उदाहरण में)दूती होने पर (भी) यथार्थवादिता (विशेष प्रतीत होती) है । चतुर्थ ("**विरहे तव**" इत्यादि उदाहरण में (वियोगिनी का) अतिशय दुःख (विशेष प्रतीत होता) है। और यह ("**स्मरशरशत**" इत्यादि में प्रतीत होने वाला **आक्षेपालंकार घटक निषेध**) विहित का (कथन का) निषेध नहीं है, (क्योंकि) यहाँ (उक्त उदाहरणों में) निषेध की (("**किं वदामि**" इत्यादि से प्रतीत होने वाले निषेध की) आभासता है । (वास्तविक निषेध नहीं है ।)"

अवतरणिका—प्रकारान्तर से **आक्षेपालंकार** का लक्षण करते हैं ।

अर्थ—(२) (**आक्षेपालंकार** का द्वितीय लक्षण) **अनिष्टस्येति**—अनिष्ट विषय का पूर्ववत् विशेष ज्ञान के लिये विधि का आभास (वास्तविक नहीं—होता) है, (वह) दूसरा (उक्त **आक्षेपालंकार** से) **आक्षेपालंकार** कहा गया है । [कारिकास्थ "**तथा**" पद की व्याख्या करते हैं ।] **तथेति**—तथा = पूर्व की तरह विलक्षणता से ज्ञान कराने के लिये ।

टिप्पणी—(१) "**अस्मिन् कल्पे आक्षेपो निषेध्येऽर्थे विधेः समर्पणम्**" **इति व्युत्पत्तिः** ।

(२) **अलंकारसर्वस्वकार** ने कहा भी है कि—"**यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपन्नः, एवमनिष्टस्य अनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते, तत्क्रियमाण प्रस्खलद्रूपत्वात् विध्याभासे पर्यवस्यति**" इति ।

अर्थ—(**आक्षेपालंकार** का उदाहरण) **यथा**—**गच्छेति**—[**प्रसंग**—प्रवास के लिये अनुमति माँगते हुये प्रिय के प्रति प्रिया की यह उक्ति है ।] (हे) प्रिय ! यदि (तुम विदेश को) जाते हो (तो) जाओ, तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों । (किन्तु) आप जहाँ जा रहे हो, मेरा भी (मुझ मन्दभागिनी का भी) वहीं (अन्यत्र नहीं) जन्म होवे ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—तुम्हारे चले जाने पर विरहव्यथा से मेरी मृत्यु अवश्य हो जायेगी । अतः तदनन्तर—

**यं यं वापिस्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा सद्भावभावितः ॥**

अत्रानिष्टत्वाद् गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति । विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते ।

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ॥ ६६ ॥
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ।

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः । तच्च काणान्तरं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्विधा ।

इसके अनुसार तुम्हारी विरहव्यथा को निवारण करने के लिये मेरा पुनर्जन्म तुम्हारे समीप में ही हो । यह अपने प्रति आशीर्वाद है ।

अर्थ—(प्रकृत उदाहरण में विध्याभास दिखाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अनिष्ट होने के कारण जाने की विधि ("गच्छ" यह गमनविधि) अत्यन्त असम्भव रूप निषेध में ("**भविता कथमपि न गन्तव्यं अन्यथा मरणमवश्यम्भावि**" इस निषेध को प्रकट करने में) परिणमित होती है । विशेष प्रतिपत्ति दिखाते हैं ।) **विशेषश्चेति**—(प्रवास के लिये प्रिय के) जाने का अत्यन्त परिहार-स्वरूप विशेष की प्रतीति होती है । [क्योंकि नायक के चले जाने पर नायिका के जीवन की स्थिति सम्भव नहीं है ।] ।

अथ विभावनालंकरा निरूपणम्—

अर्थ—(विभावनालंकार का लक्षण) **विभावनेति**—प्रसिद्ध कारण के बिना जो कार्य की उत्पत्ति कही जाती है, (वह) **विभावना** (**विभाव्यते—मुख्यकारणं बिना विशेषेण कारणं चिन्त्यते यस्यामिति विभावना**) नामकालंकार (होता) है । वह (**विभावना**) (१) **उक्तनिमित्ता** और (२) **अनुक्तनिमित्ता**—होने से दो प्रकार की कही गई है ।

टिप्पणी—कहा भी है कि - "**इयञ्च विशेषोक्तिवत् उक्तानुक्तनिमित्तभेदात् द्विधैव**" इति ।

अवतरणिका—**प्रश्न**—कारण के न होने पर कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? उस आशंका का निवारण करते हैं ।

अर्थ– कारण के बिना प्रतिपादित की जाती हुई भी कार्य की उत्पत्ति अप्रसिद्ध (किञ्चित्) अन्य कारण की अपेक्षा से ही सम्भव हो सकती है । [अर्थात् यद्यपि कारण के बिना कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता है, तथापि प्रसिद्ध कारण के बिना यदि कवि अपनी प्रतिभा के चमत्कार से कार्य की उत्पत्ति करा दे— तभी यह अलङ्कार होता है—अन्यथा किसी भी कारण के न होने पर कार्य हो ही नहीं सकता है ।] तच्चेति—और वह अप्रसिद्ध कारण कहीं उक्त (होता है) और कहीं अनुक्त (होता है)—इसप्रकार दो प्रकार का (होता) है ।

यथा—

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥'

अत्र वयौरूपनिमित्तमुक्तम् ।
अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृशः' इति पाठेऽनुक्तम् ।

टिप्पणी—(१) **विरोधाभास और विभावना में भेद**—**विरोधाभास में** दोनों (कार्य-कारण) की ही परस्पर बाध्य रूप से प्रतीति होती है, और यहाँ (**विभावना** में) कारण के न होने से कार्य की ही बाध्यरूप से प्रतीति होती है । **अलंकारसर्वस्वकार** ने कहा भी है—

**"कारणस्य विरोधेन बाध्यमानः फलोदयः ।
विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्य बाधनम् ॥" इति**

कारण का अभाव यहाँ (विभावना में) कहीं साक्षात् नञ् आदि से प्रतिपादित होता है, और कहीं कारण के विरोधी के प्रतिपादन से परस्पर प्रतिपादित होता है ।

(२) **विभावना** की व्युत्पत्तिः—**विशिष्टा—कारणनिरपेक्षाभावना—कार्योत्पत्तिर्यत्र इति विभावना ।**

(३) **उपनिषद्** में भी **विभावनालंकार** का उदाहरण मिलता है—

**अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।'
स वेत्ति वेधं न हि तस्यास्ति वेत्तात माहुराभ्रं पुरुषं महान्तम्"**

(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/१९")

अर्थ—(१)(**उक्त कारणा विभावनालंकार** का लक्षण) **यथा—अनायासेति-** [**प्रसङ्ग**— किसी तरुणी को देखकर किसी विदग्ध जन की उक्ति है ।] यौवनकाल में सुन्दर भृकुटि वाली (नायिका) का कटिभाग बिना परिश्रम के ही क्षीण है, दोनों नेत्र बिना-शङ्का के ही चञ्चल हैं, (तथा) शरीर बिना आभूषणों के ही मनोहर है ।

(उक्त कारण को दिखाते हैं :) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) यौवन रूप कारण (कृशत्वादिकों का अमुख्य कारण) कथित है ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में कटिभाग के क्षीण होने में परिश्रम, नेत्रों के चञ्चल होने में आशंका, शरीर के मनोहारी होने में आभूषण मुख्य कारण हैं । इसप्रकार आयासादिकों का कथन न करने पर भी कृशत्वादि कार्यों की उत्पत्ति हो जाने से **विभावनालङ्कार** है । तथा तीनों के कारणों का कथन होने से यह **मालारूपा** है ।

अर्थ—(२) यहाँ (प्रकृत उदाहरण "**अनायासकृशं**······**इत्यादि**" के अन्तिम चरण में) ही "**वपुर्भाति मृगीदृशः**"—"मृगनयनी का शरीर शोभित होता है"—ऐसा पाठ कर देने पर **अनुक्तनिमित्ताविभावनालंकार** (हो जाता) है ।

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ६७ ॥

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥'

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथङ् नोक्तम् ।

टिप्पणी—यहाँ कृशत्वादि कार्य के प्रति यौवन रूप कारण के न कहने पर भी योग्यता से उसकी प्रतीति हो जाती है ।

अथ विशेषोक्त्यलंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(**विशेषोक्त्यलंकार** का लक्षण) **सतीति**—मुख्य हेतु के होने पर (भी) कार्य की उत्पत्ति न होने पर **विशेषोक्त्यलंकार** (होता) है, (और वह विशेषोक्ति) पूर्ववत् ((१) उक्तनिमित्ता और (२) अनुक्तनिमित्ता) दो प्रकार की (होती) है।

टिप्पणी—(१) **आशय यह है** कि—मुख्य कारण के उपलब्ध होने पर भी कार्य का न होना **विशेषोक्ति** कहलाता है ।

(२) **विशेषोक्ति**—की व्युत्पत्ति–**विशेषण**–**निमित्तविशेषण**–अमुरकहेतूपपादनेन उक्तिः—"**कार्योदय प्रतिपादनम्**" इति विशेषोक्तिः ।

अर्थ—(१) (कारिकास्थ "तथा" पद की व्याख्या करते हैं ।) **तथेति**—**तथा**=अर्थात् (१) उक्तनिमित्ता और (२) अनुक्तनिमित्ता होने से । **तत्रेति**—उनमें से (दो प्रकार के भेदों में से) **उक्त निमित्ता विशेषोक्ति** (का उदाहरण) **यथा**—**धनिनः इति**—वे महामहिमाशाली (मनुष्य) धनी होते हुये भी उन्माद रहित, तरुण होते हुये भी चञ्चलप्रकृतिशून्य, (तथा) प्रभुता-युक्त होते हुये भी प्रमाद रहित (होते) हैं।

टिप्पणी—यहाँ पर उन्माद के मुख्य कारण धनागम के, चञ्चलता के, मुख्य कारण यौवन के और प्रमाद के मुख्य कारण प्रभुता के होने पर भी उन्मादादि कार्यों की उत्पत्ति न होने से **विशेषोक्ति** है । यहाँ कारण कार्य के न होने का प्रयोजक है ।

अर्थ—(लक्षण घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) महामहिमशालिता निमित्त का कथन है । [क्योंकि महामहिमशालिस्वरूप कारण होने से ही उन्मादादि उत्पन्न नहीं हुये हैं ।] (२) (**अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति** का उदाहरण) **अत्रेवेति**—यहीं (अर्थात् "**धनिनोऽपि**"—इस उदाहरण में ही) चतुर्थ चरण में "**कियन्तः सन्ति भूतले**"—यह पाठ (परिवर्तन) कर देने पर **अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति** है । [क्योंकि यहाँ पर भी उस प्रकार के निमित्त की कल्पना योग्यता से कर ली जाती है ।] । **अचिन्त्यनिमित्तत्वमिति**—**अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति अनुक्तनिमित्ता-विशेषोक्ति** का ही भेद है—अतः पृथक् नहीं कहा है ।

टिप्पणी—**अर्थात् अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति** में ही "अचिन्त्यनिमित्ता **विशेषोक्ति**" का अन्तर्भाव हो जाता है, अतः तीन प्रकार की साहित्यदर्पणकार ने पृथक् नहीं दिखाई है ।

यथा—

'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥'

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम् । इह च कार्याभावः कार्यं विरुद्धसद्भावमुखेनापि निबद्धयते । विभावानायामपि कारणभावः कारण-विरुद्धसद्भावमुखेन ।

एवञ्च 'यः कौमारहरः' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्वि-भावना । 'यः कौमार–' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषक्तिः । एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्त्योः सङ्करः । शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम् ।

अवतरणिका—काव्यप्रकाशकार प्रदत्त **अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति** का उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—(**अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्ति** का उदाहरण) **यथा—स इति**—वह कामदेव अकेला (एकः) तीनों भुवनों को (अर्थात् स्वर्ग--मृत्य और पाताल—इन तीनों को) जीत लेता है, जिस (कामदेव) के शरीर को भस्म करते हुये शिवजी ने बल का (हरण) नष्ट नहीं किया ।

(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शरीर का हरण करने पर भी (अर्थात् बल के नष्ट होने के प्रति देह के विनाश रूप कारण के होने पर भी) बल के नष्ट न होने के विषय में (अनुक्त) कारण अचिन्त्य है [विचारने पर भी अप्राप्य है इसीलिये इस भेद के **अनुक्तनिमित्त** के अन्दर ही अन्तर्भाव होने से इस अलंकार की त्रिविधता नहीं मानी है ।] **इह चेति**—और यहाँ (**विशेषोक्ति में**) कार्य के विरुद्ध (कारण) की सत्ता के द्वारा भी कार्य के अभाव का वर्णन किया जाता है, (तथा) **विभावनालंकार** में भी कारण का अभाव (**"विभावनाविना हेतुम्"** इसके अनुसार) कारण के विरुद्ध (कार्य) की सत्ता के द्वारा (भी वर्णित किया जाता है ।) ।

अर्थ—और इसप्रकार "**यः कौमारहरः स एव हि वरः**" इत्यादि में उत्कण्ठा के कारण (पति का अभाव) के विरुद्ध (कार्य-पति के होने) का प्रतिपादन होने से **विभावनालंकार** (हो सकता) है । और "**यः कौमारहरः**" इत्यादि में कारण के (उत्कण्ठा आदि के अभाव के कारण पति का पास में विद्यमान होना) कार्य के (उत्कण्ठा का अभाव) विरुद्ध उत्कण्ठा का प्रतिपादन होने से (**"चेतः समुत्कण्ठते"** इस प्रकार कवि के द्वारा वर्णित होने से) **विशेषोक्ति** (हो सकती) है । और इसप्रकार (**विभावना** और **विशेषोक्ति** दोनों के ही समान होने पर) यहाँ (**"यः कौमारहरः"** इत्यादि पद्य में) **विभावना** और **विशेषोक्ति** का सङ्कर है । [अतएव प्रथम परिच्छेद में उक्त उदाहरण में स्पष्ट **सन्देह सङ्करालंकार** के होने से प्राचीन आचार्यों का यह कहना कि यहाँ अस्फुट अलङ्कार है—यह ठीक नहीं है ।] **शुद्धोदाहरणमिति**—(इन विभावना और **विशेषोक्ति** का) शुद्ध उदाहरण खोज लेना चाहिये ।

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ॥ ६८ ॥
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ।

क्रमेण यथा—

'तव विरहे मलयमरुद्दवानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माणः ।
हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः ॥'

टिप्पणी (१) विशेषोक्त्यलंकार का शुद्ध उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् योजते जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥

यहाँ "दाह" कार्य के होने के कारण शक्ति का अभाव अशक्ति से विपरीत शक्ति के प्रतिपादन द्वारा कहा गया है, अतः विशेषोक्ति है ।

(२) इसीप्रकार विभावनालंकार का भी शुद्ध उदाहरण खोज लेना चाहिये ।

अथविरोधाभासालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**विरोधाभासालंकार** का लक्षण) **जातिरिति**—जाति (गोत्वादि जाति) चार जाति आदिकों के साथ ("आदि" पद से गुण-क्रिया और द्रव्य का ग्रहण होता है—अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य इन चार के साथ), गुण (शुक्लादि गुण) तीन गुण आदिकों के साथ ("आदि" पद से क्रिया और द्रव्य का ग्रहण होता है—अर्थात् गुण-क्रिया और द्रव्य इन तीन के साथ), क्रिया (पाकादि क्रिया), क्रिया और द्रव्य के साथ तथा द्रव्य (एक व्यक्तिवाचक शब्द) द्रव्य के साथ परस्पर यदि विरुद्ध के समान (कहीं आरोप से, कहीं कवि प्रौढोक्ति से, कहीं कालभेद से और कहीं ईश्वरादि की अतिशय महिमा से) आभासित हों, (तो) वह **विरोधालंकार** दस प्रकार का (उक्त रीति से) होता है ।

टिप्पणी (१)—विरोधाभास का सामान्य लक्षण—"**क्वचित् आरोपेण क्वचित् कविप्रौढोक्त्या क्वचित् कालभेदेन क्वचिदीश्वरादि महिमातिशयेन समावेशं लभमानैः जात्यादिभिः सह जात्यदेर्यदापाततो विरोधमानं स विरोधालंकारः । इति ।**

(२) यह **विरोधालंकार** ही **विरोधाभासालंकार** कहलाता है ।

अर्थ—(१) क्रमशः (**जात्यादि के साथ चारों जाति आदि का विरोध होने पर विरोधाभासालंकार** का उदाहरण) **यथा—तवेति** [**प्रसङ्ग**—नायक से विरहिणी नायिका की दूती की उक्ति है ।] (हे नायक ?) तुम्हारा विरह होने पर इस (नायिका) के लिये मलयाचल से उत्पन्न होने वाला बायु (अर्थात् चन्दन राशि के साथ सम्पर्क होने से सुगन्धित और शीतल भी वायु) दावाग्नि (के समान सन्ताप को उत्पन्न करने वाला) है, (स्वाभाविक शीतल) चन्द्रमा की किरणें भी (सन्ताप देने से) उष्ण है; भ्रमरों की मधुर झङ्कार भी हृदय को (अत्यन्त उद्दीपक होने से) विदीर्ण करती है, (सुशीतल) कमलिनी का पत्ता भी ग्रीष्मकालीय सूर्य (के समान सन्तापक) है ।

'सन्ततमुसलासङ्गाद्बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥'
'अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥'
'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।
राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥'

अर्थ—(२) (**गुण का गुण से विरोध** होने पर उदाहरण) **सन्ततेति**–[**प्रसङ्ग**—किसी राजा की स्तुति है ।] (हे) राजन् ! आपके (राजा) होने पर निरन्तर (चावलादि को स्वच्छ करने के लिये) मूसल के सम्पर्क से (तथा) अनेक घर के कार्यों को करने से कठोर ब्राह्मण पत्नियों के हाथ कमल के समान सुकोमल (हो गये) हैं ।

टिप्पणी—(१) पद्य का आशय यह है कि—आपने ब्राह्मणों को इतना अधिक दान दिया है कि अब ब्राह्मणों की पत्नियाँ स्वयं गृहकार्य नहीं करती हैं, अपितु उनकी दासियाँ ही सम्पूर्ण घर का कार्य कर देती हैं, अतः अब उनके हाथ काम न करने से सुकोमल हो गये हैं ।

(२) उक्त उदाहरण में काठिन्य गुण है, उसका सुकुमारता के साथ विरोध आपाततः प्रतीत होता है, परन्तु राजा की दानशक्ति के कारण कालभेद से उस विरोध का परिहार हो जाता है ।

अर्थ—(**गुण का क्रिया के साथ विरोध** होने पर उदाहरण) **अजस्येति**—[**प्रसङ्ग—रघुवंशमहाकाव्य** के दशम सर्ग में ईश्वर के प्रति देवताओं की स्तुति है ।] (हे देव !) कौन मनुष्य जन्मरहित होते हुये भी (स्वेच्छा से) जन्म को धारण करने वाले (आप) के, (कर्मशून्य होने के कारण) निश्चेष्ट होते हुये भी शत्रुओं को नष्ट करने वाले (आप) के; (तथा) सोते हुये भी जागरूक आपके यथार्थ स्वरूप को जान सकता है? अर्थात् कोई भी नहीं जान सकता है ।

अर्थ—(**गुण का द्रव्य के साथ विरोध** होने पर उदाहरण) **वल्लभेति**—[**प्रसङ्ग**—किसी वियोगिनी का वर्णन है ।] प्रियतम के अङ्क के सम्पर्क के बिना (अर्थात् प्रियतम के विरह से) मृगनयनी (नायिका) के लिये पूर्णचन्द्र (**राका—पूर्णचन्द्रसमन्विता निशा जाया पत्नी यस्य सः पौर्णमासी निशाचन्द्रः**) विष की ज्वालाओं से व्याप्त हो गया ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में पूर्णचन्द्र द्रव्य के साथ दाह को उत्पन्न करने वाले गुण का तादात्म्य होने से आपाततः विरोध प्रतीत होता है, परन्तु विरह की अवस्था में विशिष्ट दशा का वर्णन होने से उस विरोध का परिहार हो जाता है। यहाँ गुण का द्रव्य से विरोध है ।

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

'त्वद्वाजि' इत्यादि ।

'वल्लभोत्सङ्ग'—इत्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यन्दिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः ।

अत्र 'तव विरह–' इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वात् जातिशब्दानां दवानलोष्महृदयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत आभासते, विरहहेतुकत्वात्समाधानम् ।

अर्थ—(**क्रिया के साथ क्रिया का विरोध** होने पर उदाहरण) **नयनेति**—[**प्रसङ्ग**—किसी परम सुन्दरी कामिनी को देखकर उसकी कामना करने वाले किसी कामी पुरुष की अपने प्रति उक्ति है ।] इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ···पर की जा चुकी है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में "**मदयति–दुनोति**" इस सुख को उत्पन्न करने वाली क्रिया के साथ दुःख को उत्पन्न करने वाली क्रिया का विरोध है, किन्तु दर्शन से प्रसन्न करती है और अप्राप्य होने से दुःखी करती है— इसप्रकार कारण का भेद होने होने से विरोध का परिहार हो जाता है ।

अर्थ—(**क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध** होने पर उदाहरण) "**त्वद्वाजीति**—(इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ···पर की जा चुकी है ।) ।

(**द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होने पर उदाहरण**) **बल्लभेति**—'**बल्लभोत्सङ्ग**" इत्यादि श्लोक के चतुर्थ चरण में "**मध्यन्दिन दिनाधिपः**— अर्थात् मध्याह्न कालीन सूर्य के समान (सन्ताप देने वाला होने से) राजा"— ऐसा पाठ (परिवर्तन) कर देने पर दो द्रव्यों का विरोध (हो जाता) है ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में चन्द्रमा और सूर्य अनेक व्यक्तिवाची न होने से द्रव्य है, तथा भिन्न द्रव्य होने से ही दोनों में अभेद का प्रतिपादन करने से विरोध प्रतीत होता है । परन्तु वियोग में चन्द्रमा के सन्ताप देने वाले के रूप में प्रतीत होना ठीक ही है— अतः विरोध का परिहार हो जाता है ।

अवतरणिका—सम्प्रति पूर्वोक्त उदाहरणों में यथासम्भव विरोध और परिहार का क्रमशः प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—यहाँ (उदाहृत उदाहरणों में से) "**तवविरहे**···" इत्यादि (उदाहरण) में वायु आदि वाचक ("आदि" पद से **शशिरुचि—अलिरुत**— और **नलिनीदल**— पदों का ग्रहण होता है । अनेक व्यक्तिवाचक होने के कारण ("**नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्**" इस लक्षण के घटित होने से) जाति विशिष्ट ग्राहक पदों का दावानल–ऊष्म–हृदयभेदन और सूर्य रूप (क्रमशः) जाति-गुण-क्रिया और द्रव्य रूपों के साथ परस्पर आपाततः विरोध की प्रतीति होती है, (परन्तु) विरह का हेतु होने से समाधान (हो जाता) है ।

अत्र 'अजस्य—' इत्यादावत्रजत्वादिगुणस्य जन्मग्रहणादिक्रियया विरोधः। भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वात्तु समाधानम्।

'त्वद्वाजि–' इत्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्गां न धत्ते' इति विरोधः, 'त्वद्वाजि–' इत्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम्। स्पष्टमन्यत्।

टिप्पणी—दावानलत्व और मलयानलत्व इन दोनों जातियों में विरोध है। यहाँ पर इस प्रकार की शंका नहीं उठानी चाहिये कि यहाँ **रूपकालङ्कार** है, क्योंकि दाहकत्व और शीतलत्व धर्म से व्याप्य जातियों के विरोध की ही सर्वप्रथम प्रतीति होती है। इसीप्रकार शशिरुचित्व जाति का उष्णत्व गुण के साथ विरोध है। यहाँ **अतिशयोक्ति** नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि वियोगी मनुष्यों को चन्द्रमा की किरणों में उष्णतादि की प्रतीति वास्तविक रूप से ही होती है। "**हृदयम्**" यहाँ अलिरूतत्व जाति के भेद से क्रिया के साथ विरोध है। इसीप्रकार "**नलिनीदलमपि**" यहाँ कमलिनीदलत्व जाति का ग्रीष्मकालीन सूर्य द्रव्य के साथ तादात्म्य होने से विरोध है।

अर्थ—यहाँ (उदाहृत उदाहरण) "अजस्य" इत्यादि में अजत्वादि (आदि पद से निरीहत्व और जागरूकत्व का ग्रहण होता है।) गुण का जन्म ग्रहण आदि ("आदि" पद से शत्रुहनन और स्वपन का ग्रहण होता है।) क्रिया के साथ विरोध (की प्रतीति होती) है, परन्तु भगवान् के अतिशय माहात्म्य के कारण (विरोध का) परिहार (हो जाता) है।

टिप्पणी (१) **प्रश्न**—परमेश्वर के अजन्मा होने से उसके तो जन्म का ही अभाव होता है, पुनः उसके अन्दर गुणत्व की प्रतीति कैसे हो सकती है?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जाति और क्रिया से भिन्न विशेषणों को भी गुण मान लिया जाता है।

(२) पूर्वोक्त व्याख्या का **आशय** यह है कि— हम जिस विषय की सम्भावना भी नहीं करते हैं, वह भी भगवान् की अतिशय महिमा के कारण उसमें सम्भव हो जाती है। अतः उस परब्रह्म में विरुद्धधर्मों का भी समावेश हो जाता है।

अर्थ—"**त्वद्वाजि**" **इत्यादि** (उदाहरण) में "शिवजी भी शिर पर गङ्गा को धारण नहीं करते हैं" यह विरोध है; [अनेक व्यक्तिवाची न होने से शिवजी द्रव्य हैं, और उनका गङ्गा को शिर पर धारण करना भी निश्चित है परन्तु गङ्गा को शिर पर धारण के अभाव का प्रतिपादन करने से शिवजी के विषय में गङ्गा को धारण न करने की प्रतीति होती है, अतः क्रिया का द्रव्य के साथ विरोध प्रतीत होता है।] परन्तु "**त्वद्वाजि**" इत्यादि कवि की प्रौढोक्ति से (विरोध का) समाधान (हो जाता) है। **अन्यदिति**—अन्य (अर्थात् गुण का गुण के साथ विरोध के उदाहरण "**सन्तत-मुसलासङ्गात्**" इत्यादि में तथा गुण का द्रव्य के साथ विरोध के उदाहरण "**बल्ल-भोत्सङ्गसङ्गेन**" इत्यादि में विरोध और परिहार) स्पष्ट (ही) है, (अतः यहाँ वर्णन नहीं किया है)।

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव; इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः।

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः ॥६९॥

अवतरणिका—विभावना-विशेषोक्ति और विरोधाभास में परस्पर भेद दिखाते हैं—

अर्थ—विभावनालङ्कार में कारण के अभाव का प्रतिपादन होने से कार्य ही (कारण नहीं) विरुद्ध रूप से प्रतीत होता है, और विशेषोक्त्यलङ्कार में कार्य का अभाव होने से कारण ही (कार्य नहीं–विरुद्ध रूप से प्रतीत होता है); (तथा) यहाँ (विरोधाभासालङ्कार में) परस्पर दोनों (कारण और कार्य) ही की बाध्यता (विरुद्धता प्रतीत होती) है— यह (तीनों में) भेद है।

टिप्पणी—सम्प्रति सरलता के लिये विरोधाभासालङ्कार के उदाहरण सहित भेदों का परिगणन करते हैं—

विरोधाभास के भेद	उदाहरण
१. जाति के साथ जाति का विरोध	"तवविरहे" यहाँ "मलयमरुद्दवानलः"।
२. जाति के साथ गुण का विरोध	,, ,, "शशिरुचोऽपि सोष्माणः"।
३. जाति के साथ क्रिया का विरोध	,, ,, "हृदयमलिरुतमपिभिन्ते"।
४. जाति के साथ द्रव्य का विरोध	,, ,, "नलिनीदलमपि निदाघरविः"।
५. गुण के साथ गुण का विरोध	"सन्ततः" यहाँ "कठिनकराः सुकुमाराः।"
६. गुण के साथ क्रिया का विरोध	"अजस्य गृह्णतो जन्म"।
७. गुण के साथ दव्य का विरोध	"बल्लभोत्सङ्ग" यहाँ "राकाविभावरी जातिर्विषज्वालाकुलः"।
८. क्रिया के साथ क्रिया का विरोध	"नयन युग" यहाँ "रूपमिदं हृदयं मदयति दुनोति च"।
९. क्रिया के साथ द्रव्य का विरोध	"त्वद्वाजिराजि" यहाँ "हरोऽपि शिरसा गङ्गां नद्यत्तेः"।
१०. द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध	""बल्लभोत्सङ्ग" यहाँ "राकाविभावरीजानिमध्यदिन न्दिनाधिपः"।

अथासङ्गत्यलंकार निरूपणम्—

अर्थ—(असङ्गत्यलङ्कार का लक्षण) **कार्येति**—कार्य-कारण के भिन्न अधिकरण में होने पर असङ्गतिनामकालङ्कार (होता) है।

टिप्पणी—(१) कार्य और कारण सर्वदा समान अधिकरण वाले होते हैं। यथा—"पर्वत के अन्दर विद्यमान अग्नि पर्वतस्थ धूम का ही ज्ञान कराती है। ऐसा नहीं होता है कि महानसीय वह्नि पर्वतस्थ धूम का ज्ञान करा दे।" परन्तु यहाँ कार्य कारण के वैयाधिकरण्य में ही होने से असङ्गति के कारण **असंगति अलंकार** कहलाता है।

यथा—

'सा बाला, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम् ।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥'
अस्याश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोर्विरोधे विरोधालङ्कारः ।

प्रश्न—यदि कार्य-कारण के अत्यन्त वैयधिकरण्य में ही यह अलङ्कार होता है, तो "**दण्डो ह्यरण्येऽस्ति गृहे घटश्च**" इत्यादि में भी यह अलङ्कार होना चाहिये ।

उत्तर—नहीं, यहाँ "असङ्गति" अलंकार नहीं हो सकता है क्योंकि यहाँ पर किसीप्रकार का वैचित्र्य नहीं है ।

(२) **अतिशयोक्ति और असंगति में भेद—अतिशयोक्तौ कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-विपर्ययः, अत्र तु कार्य कारणयो वैयाधिकरण्यम्**" इति भेद ॥

अर्थ—(असंगत्यलंकार का उदाहरण) **यथा—सेति—[प्रसंग—अमरूकशतक** में किसी रमणी को देखकर उसकी कामना करते हुये दुःख पूर्वक किसी कामी व्यक्ति की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है ।] (हे मित्र !) वह (रमणी) मुग्धा है (किन्तु) मैं कार्य और अकार्य का निर्णय करने में असमर्थ मन वाला हूँ (उस समय कुछ भी कहने में समर्थ न होने के कारण); वह स्त्री है (किन्तु) मैं कातर हो रहा हूँ (स्त्रियों का कातर होना स्वभाव होता है, पुरुषों का नहीं); वह (रमणी) पीन और उन्नत कुचयुगलों को धारण करती है (किन्तु) मैं खिन्न हूँ (उसके प्राप्त न होने से), वह (रमणी) विशाल नितम्ब के भार से अभिभूत है (किन्तु) चलने में मैं समर्थ नहीं हूँ (काम पीड़ा से कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हूँ ।); (अतएव) अन्य (कान्तारूप) मनुष्यों के दोषों से मैं अकर्मण्य (अपटवः) हो गया हूँ, यह परम आश्चार्य (की बात) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में अप्रगल्भमनस्त्वादि कार्य नायक निष्ठ हैं, और बालात्वादिक कारण नायिका निष्ठ है, अतः कार्य-कारणों के भिन्न अधिकरण में होने से **असंगत्यलंकार** है ।

अवतरणिका—प्रश्न—उक्त उदाहरण में कार्य और कारण की एकत्र स्थिति न होने से **विरोधालङ्कार** है, अतः इसीका उदाहरण मान लेना चाहिये । एक नये **असंगत्यलङ्कार** को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—(कार्य-कारण वैयाधिकरण्य रूप **असंगति**) के अपवाद स्वरूप होने से (विलक्षण वैचित्र्य का आधायक होने से विशेष होने के कारण) **समानाधिकरण में** (कार्य-कारण के) विरोध होने से **विरोधालङ्कार** (होता) है, [भिन्न अधिकरण में कार्य-कारण के विरोध होने पर तो **असंगत्यलङ्कार** ही होता है ।] !

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ॥ ७०॥
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ।

क्रमेण यथा—

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तामलनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥'

टिप्पणी—विरोधालङ्कार और असंगत्यलङ्कार में भेद— **व्याधिकरणयोर्यत्रैकाधिकरण्येन विरोध प्रतिसन्धानं स** विरोधालङ्कारः, **यत्र तु समानाधिकरणयोर्वैयाधिकरण्येन विरोधप्रतिसन्धानं सा** सङ्गतिरलङ्कारः । **विरोधालंकार** का विषय समानाधिकरण में विरोध होता है और **असंगत्यलंकार** का विषय केवल वैयाधिकरण में प्रयुक्त कार्य-कारण का विरोध विशेष होता है ।

अथविषमालंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(**विषमालंकार** का लक्षण) **गुणाविति**—कारण और कार्य के गुण (यदि विरुद्ध हों) अथवा क्रियाये यदि विरुद्ध हों, अथवा प्रारम्भ किये हुये (काम) की निष्फलता (अभिमत फल की अप्राप्ति) और अनिष्ठ फल की उत्पत्ति हो, तथा विरुद्ध (पदार्थों) का (एक पदार्थ में अत्यन्त असम्भव पदार्थों का) सम्मिलन हो (तो) वह **विषमालंकार** माना गया है ।

टिप्पणी—(१) विषमालङ्कार चार प्रकार का होता है—

(१) यदि कार्य-कारण के गुण विरुद्ध हों, (२) यदि कार्य-कारण की क्रियायें विरुद्ध हों, (३) यदि आरम्भ किये हुये कार्य के अन्दर अभिमत फल की प्राप्ति तो न हो अपितु अनिष्ठ की उत्पत्ति हो जावे और (४) विरुद्ध पदार्थों की एकत्र स्थिति हो जावे ।

(२) गुणादिकों का वैषम्य होने से ही इसका नाम **विषमालंकार** है ।

(३) कार्य-कारणों के भिन्न अधिकरणों में विरोध होने पर ही यह **विषमालंकार** होता है, अतः यह **विरोधाभासालंकार** से भिन्न है, क्योंकि विरोधाभास में समानाधिकरण में ही माना गया है ।

अर्थ—(१) क्रमशः (**कारण-कार्य के गुणों में विरोध होने पर विषमालंकार** का उदाहरण) **यथा—सद्य इति—[प्रसंग—पद्मगुप्त निर्मित नवसाहसाङ्कचरित में यह पद्य है ।]** प्रत्येक युद्ध में तमाल वृक्ष के समान नीलवर्ण वाली तलवार (तद्रूपानायिका) जिस (राजा) के हाथ का स्पर्श पाकर शरद् कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्र तीनों लोकों में आभूषण स्वरुप यश को (तद्रूप पुत्र को) शीघ्र उत्पन्न करती है, (यह बड़ा) आश्चर्य है ।

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थिते-विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥'

अत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

अर्थ—(लक्ष्य में लक्षण को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) कारण रूप तलवार से "**कारण के गुण ही कार्यों के गुणों को उत्पन्न करते है**" इस नियम के विरुद्ध शुक्ल यश की उत्पत्ति (हुई) है ।

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि तलवार से ही यश की उत्पत्ति हुई है अतः कारणरूप तलवार के नीलवर्ण के होने से कार्य रूप यश में भी "**कारण गुणा हि कार्य-गुणानारभन्ते**" इस न्याय से नील वर्ण की ही उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु इसके विपरीत शुक्ल गुण की उत्पत्ति हुई है, अतः कारण और कार्यगत गुणों में विरोध स्पष्ट होने से पुक्त उदाहरण में **विषमालङ्कार** है ।

(२) **यद्यपि "कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते"** यह नियम समवायिकारण-कार्य में ही घटित होता है, तथापि इसीके आधार पर कवि ने अन्यत्र भी वर्णन कर कर दिया है—अतः यह ठीक ही है ।

अर्थ—(२) (**कारण-कार्य की क्रिया में विरोध होने पर विषमालङ्कार** का उदाहरण) **आनन्दमिति**—[**प्रसङ्ग—रूद्रटालङ्कार** में नायक की नायिका के प्रति उक्ति है ।] हे नीलकमल के पत्तों के समान नयनों वाली ? तुम इस (मुझसे अनुभव किये जाते हुये) महान् (आलिङ्गनादि से) आनन्द को देती हो, (किन्तु) तुम्हारे द्वारा ही (पिता के घर जाने से) उत्पन्न विरह मेरे शरीर को अत्यन्त सन्तप्त करता है । (यह महत् आश्चर्य का विषय है ।)

(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) आनन्द को उत्पन्न करने वाले स्त्री रूप कारण से सन्तापदायक (कार्य) विरह की उत्पत्ति (हुई) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में कारण नायिका की क्रिया आनन्द देना-नायिका के कार्य विरह की क्रिया शरीर को सन्ताप देना विरुद्ध है, क्योंकि "**कारण गुणाः**"—इत्यादि यह न्याय आवश्यक है । अतः कारण और कार्य की विरुद्ध क्रियायें होने से **विषमालंकार** है ।

(२) **विरोधाभास-असङ्गति और विषमालङ्कार में भेदः—विरोधे विरोधिनोः समानाधिकरण्यस्य, असङ्गतौ कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्यस्य चमत्कार प्रयोजकता, अत्र तु कार्यकारणवृत्तिविजातीयक्रियागुणयोगस्य चमत्कारिता" इति ॥**

'अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥'

अत्र केवलं कांक्षितधनलाभो नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणम् ।

'क्व वनं तरुवल्कभूषणं नृपलक्ष्मीः क्व महेन्द्रवन्दिता ।
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत धातुश्चरितं सुदुःसहम् ॥'

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं मम ।

यथा वा—

'विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥'

अर्थ—(३) (**तृतीय प्रकार के विषमालङ्कार** का उदाहरण) **अयमिति**—[**प्रसंग**—किसी निष्फल व्यक्ति की उक्ति है ।] यह समुद्र रत्नों का भण्डार है—अतः धन प्राप्ति की इच्छा से (मैंने इसकी) सेवा की थी, (किन्तु) धन प्राप्ति तो दूर रही (प्रत्युत) खारे पानी से मुख भर गया ।

(उदाहृत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं ।) **अत्रेति**-यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) केवल आकांक्षित धन की प्राप्ति (भी) नहीं हुई अपितु खारे पानी से मुख भी भर गया ।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि यहाँ धन प्राप्ति की इच्छा से समुद्र की सेवा करना शुरू किया था । किन्तु दुर्दैववश अभिमत फल की प्राप्ति ही निष्फल नहीं हुई अपितु खारे पानी के मुख में भर जाने से अनिष्ट भी हो गया अतः प्रारम्भ किये हुये कार्य के विफल हो जाने से और अनर्थ के आ जाने से तृतीय प्रकार का **विषमालङ्कार** है ।

अर्थ—(४) (**चतुर्थ प्रकार के विषमालंकार** का उदाहरण) **क्वेति**—[**प्रसङ्ग**—श्रीरामचन्द्रजी के वन में चले जाने पर दशरथजी का अथवा कौशल्या का यह विलाप है ।] वृक्षों के वल्कल ही हैं आभूषण जिसमें ऐसा वन कहाँ ? (तथा) इन्द्र से भी पूजित राज्य श्री कहाँ ? बड़े दुःख की बात है कि प्रतिकूलगामी दैव का चरित्र निश्चित ही अत्यन्त दुःसह है ।

(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) वन और राज्य श्री विरुद्ध (पदार्थों) की (एक ही रामचन्द्रजी में) योजना है । **इदमिति**—यह (उदाहृतपद्य) मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार का है ।

अथवा—**विपुलेनेति**—[**प्रसंग**—**माघकाव्य** के तेरहवें सर्ग में यह पद्य है ।] प्रलयकाल में समुद्रशायी जिस श्रीकृष्णजी के विशाल उदर ने (चौदह) भुवनों को पी लिया था, वही (श्रीकृष्णजी) किसी एक नगर निवासिनी स्त्री के कामदेव के मद से उत्पन्न हवि विशेष वाले असम्पूर्ण (कटाक्ष रूप) एक नेत्र से पी लिये गये अर्थात् आदर सहित देखे गये ।

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ॥७१॥

यथा—

'शशिनमुगपतेयं कौमुदी मेघमुक्तं
जलनिधिमनुरूपं जह्नु कन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः ॥'

टिप्पणी—(१) चौदह भुवनों का परिगणन इसप्रकार है—(१) भूः (२) भुवः (३) स्वः (४) महः (५) जनः (६) तपः (७) सत्यम्—ये सात ऊपर के भुवन है। (८) अतल (९) वितल (१०) सुतल (११) तलातल (१२) महातल (१३) रसातल (१४) पाताल—ये सात अधःलोक है।

(२) इस प्रकृत उक्त उदाहरण में जहाँ शरीर के एक अवयवभूत कुक्षि में सम्पूर्ण संसार के समा जाने से भगवान् श्रीकृष्ण की महान् विपुलता प्रतीत होती है, वहाँ उन्हीं के नगर निवासिनी किसी एक स्त्री के कटाक्ष मात्र में आ जाने से अति क्षुद्रता की प्रतीति होने से **विषमालंकार** है।

अथसमालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(समालंकार का लक्षण) **सममिति**—अनुरूपता से (परस्पर समान रूप वाले कारण से) योग्य वस्तु की (अर्थात् उचित पदार्थ के साथ उचित अन्य पदार्थ के सम्बन्ध की) प्रशंसा सम (**समा = मा-मानं-ज्ञानं यत्र तत् समम्**) **नामकालंकार** होता है।

टिप्पणी—यह **समालंकार** सद्योग और असद्योग के होने पर होता है, अतः दो प्रकार का है। उनमें से प्रथम प्रकार के समालंकार का उदाहरण देते हैं।

अर्थ—(**सद्योग में** समालंकार का उदाहरण) **यथा—शशिनमिति**—[**प्रसंग—रघुवंश** के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के द्वारा अज का स्वयंवर कर लेने पर नागरिकों की उक्ति है।] यह ज्योत्सना (इन्दुमती) अपने योग्य मेघ के आवरण से मुक्त चन्द्रमा को (अज को) प्राप्त हो गई है, जाह्नवी (इन्दुमती) अपने समान समुद्र में (अज में) प्रविष्ट हो गई है, इसप्रकार समानगुण वालों (अज और इन्दुमती के मिलन से प्रसन्न नगरनिवासी वहाँ पर (स्वयंवर स्थल पर) राजाओं के लिये (इन्दुमती को प्राप्त करने की इच्छा से आये हुये अज से अतिरिक्त अन्य राजाओं के लिये) श्रवण कटु (अपने मनोरथ से प्रतिकूल) एक वाक्य को कहने लगे।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में परस्पर समान रूप गुण वाले कारण से अज के साथ इन्दुमती की प्रशंसा करने से **समालंकार** है।

(२) **असद्योग में समालंकार** का उदाहरण—**यथा—काव्यप्रकाश** मे—

चित्रं चित्रं वत वत महच्चित्रमेतद्विचित्रम्
जातो दैवादुचितरचना संविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिशस्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकला-कोविदः काकलोकः ॥

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ।

यथा—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ॥'

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ॥७२॥

यहाँ काक के योग्य बिम्ब फल में काक का ही सम्बन्ध है—अतः इस सम्बन्ध की प्रशंसा होने से **विषमालंकार** है ।

अथविचित्रालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**विचित्रालंकार** का लक्षण) **विचित्रमिति**—यदि अभीष्ट फल की सिद्धि के लिये (अभीष्ट के) विपरीत (फल वाले कार्य) का विधान किया जाये (तो) वह **विचित्रालंकार** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) काव्यप्रकाशकार ने इस अलंकार का अन्तर्भाव **विषमालंकार** में ही किया है । अतः उन्होंने इसे पृथक् अलंकार नहीं माना है ।

(२) **विषमालंकार और विचित्रालंकार** में भेद— **विषये विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिः, इह च तन्निष्पत्तये कृति**—यही इन दोनों में भेद है ।

अर्थ—(**विचित्रालकार** का उदाहरण) **यथा—प्रणमतीति**—उन्नति के लिये (स्वामी के सम्मुख प्रणाम करता है, (वेतन प्राप्ति के द्वारा) जीने के लिये (युद्धादि में अपने प्राणों को छोड़ता है (तथा) सुख के लिये दुःख को चाहता है; (इसीलिये) सेवक से (अधिक) दूसरा कौन मूर्ख है ? अर्थात् कोई भी नहीं है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में अभ्युदयादि अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये उसके विपरीत अवनतादि कार्य करने से **विचित्रालंकार** है ।

अथाधिकालंकार निरूपणम—

अर्थ—(**अधिकालंकार** का लक्षण) आश्रयेति—आधार और आधेय में से एक (आधार अथवा आधेय) के अधिक होने पर **अधिकालंकार** कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार (१) आश्रय की अधिकता का आश्रय लेकर और (२) आश्रयी की अधिकता का आधार लेकर—दो प्रकार का **अधिकालंकार** होता है ।

(२) **केचित्**—कुछ आचार्य निम्न प्रकार से इसका लक्ष्य करते हैं—

"**वस्तुतः तनुत्वेऽपि यदेकस्याधिक्यं तदधिकमुच्यते**" इति।

(३) **कुवलयानन्द में अल्पनामकालंकार** को भी स्वीकार किया है । **अल्पालङ्कार** का लक्षणोदाहरण—'**अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यत्ताराधास्य सूक्ष्मता ।**

मणि मालोर्मिका तेऽध करे जयवरीयते ।"

आश्रयाधिक्ये यथा—

'किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।
अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ॥'

आश्रिताधिक्ये यथा—

'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥'

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः कारणं मिथः ।

अर्थ—(१) आश्रय की अधिकता होने पर (**अधिकालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—**किमधिकामिति**—इस क्षीरसागर की महिमा का क्या वर्णन करें; जहाँ (क्षीरसागर में) विष्णु (अपने) उदर में (चौदह) भुवनों को रखकर अज्ञात ही (अर्थात् समुद्र के एक कोने में सोने से जलचर प्राणियों को उनका मालूम ही नहीं पड़ता है ।) सोते हैं ।

टिप्पणी—(१) आश्रय की अधिकता होने पर **अधिकालङ्कार** है ।

अर्थ—आश्रित की अधिकता होने पर (**अधिकालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—**युगन्तेति**—[**प्रसङ्ग**—**माघकाव्य** के प्रथम सर्ग में नारदजी के आने पर श्रीकृष्णजी की प्रसन्नता का वर्णन है ।] प्रलयकाल में अपने उदर में प्रविष्ट कर लिया है समस्त प्राणियों को जिसने ऐसे **अथवा** सूक्ष्म कर लिया है शरीर को जिसने ऐसे श्रीकृष्णजी के जिस शरीर में (सम्पूर्ण) भुवन विस्तार के साथ आ जाते हैं, उसी (श्रीकृष्णजी के शरीर) में तपस्वी (नारद) के आनन्द से उत्पन्न होने वाला हर्ष नहीं आ पाया (अर्थात् बाहर प्रवाहित होने लगा ।] ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में आश्रयीभूत श्रीकृष्णजी के शरीर की अपेक्षा आश्रयभूत हर्ष के अधिक होने से **अधिकालङ्कार** है ।

(२) उक्तपद्य की व्याख्या करने वाले **श्रीमल्लिनाथ** ने उक्तपद्य में **सम्बन्धासम्बन्ध रूपातिशयोक्ति** मानी है । अतः कुछ आचार्यों के अनुसार इसमें अतिशयोक्ति से उत्थापित **अधिकालंकार** है—इसप्रकार परस्पर अङ्गाङ्गि भाव होने से सङ्करालङ्कार मानना चाहिये ।

अथान्योन्यालंकारनिरूपणम्:—

अर्थ—(**अन्योन्यालंकार** का लक्षण) **अन्योन्यमिति**—(यदि) दोनों (कर्तृभूत दोनों वस्तुओं) का परस्पर एक क्रिया से सम्पादन हो (तो) **अन्योन्यनामकालंकार** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) अन्योन्यालंकार का लक्षण अन्यत्र इस प्रकार है—

"**तदन्योऽन्यंमिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत्**" इति ।

(२) कारिकास्थ "**मिथः**" पद से "**दुदाहे गां स यज्ञाय शस्याय मघवाविवम्**" का निराकरण किया है, क्योंकि यहाँ परस्पर कारण का अभाव है ।

'त्वया सा शोभते तन्वी तया त्वमपि शोभसे ।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥'

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ॥७३॥
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ।
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ॥७४॥

---

(३) जहाँ क्रिया पद नहीं होता है, वहाँ अध्याहार करने से ही कार्य हो जाता है, अतः वहाँ पर "अव्याप्ति" नहीं होती है। यथा—

"क्षपयारुचिरश्चन्द्रश्चन्द्रेण रुचिरा क्षपा"

यहाँ सुन्दर होने की क्रिया की परस्पर कारणता है।

(४) केचित्तु—कुछ आचार्यों का कहना है कि—"**जब परस्पर अन्वित कोई एक ही क्रिया अन्य के साथ भी अन्वित होती है, तब भी यही अन्योन्यालंकार होता है**"।

उदाहरण—शशिना चनिशा निशयाच शशीशशिना निशया च विभाति नभः।" पयसा कमलं कमलेन पयः पयसा कमलेन विभाति सरः ॥ "इत्यादि"

अर्थ—(अन्योन्यलंकार का उदाहरण) **यथा—त्वयेति—[प्रसंग—**दम्पती के गुणों का वर्णन है।] (हे सखे !) वह कृशाङ्गी तुम (प्रिय) से शोभित होती है, तुम भी उस (कृशाङ्गी) से शोभित होते हो; चन्द्रमा रात्रि से शोभित होता है, (तथा) रात्रि चन्द्रमा से सुशोभित होती है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में दम्पती का तथा चन्द्रमा और रात्रि की एक शोभा की क्रिया का परस्पर कारण होने से अन्योन्यालंकार है।

(२) इस प्रकृत अलंकार में कारणों और क्रियाओं की शब्दों की एकता वैचित्र्य की पोषक है, नियामक नहीं। इसीलिये—

नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव"

इत्यादि में शब्द भेद होने पर भी यह अलंकार होता है।

अथविशेषालंकारनिरूपणम्—

अर्थ—(विशेषालंकार का लक्षण) **यदिति—**(१) यदि आधार से रहित आधेय हो, (२) और एक (वस्तु युगपत्) अनेक विषयक हो, (तथा) (३) किसी भी (अनिदिष्ट) कार्य को करते हुये (मनुष्य की) अशक्य अथवा शक्य (अप्रक्रान्त) कार्य की दैववश उत्पत्ति हो (जावे) तो (उक्त प्रकार से) तीन प्रकार का **विशेषालङ्कार (कहलाता) है।**

टिप्पणी— विशेषालङ्कार तीन प्रकार का होता है—

(१) प्रसिद्धं आधारं विनाऽऽधेयस्य सत्वे आद्योविशेषः।

(२) एकस्यपरिमितस्य वस्तुनः युगपत् अनेकत्रसत्वे द्वितीयोविशेषः।

(३) एकस्मिन् कार्ये आरब्धे सुकरस्य दुष्करस्य वा अन्यस्य कार्यस्यकरणे तृतीयो विशेषः।

क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥'

'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे ।
पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः परः ॥'

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥'

---

(२) **पर्यायालङ्कार** के लक्षण में "**क्रमात्**" का ग्रहण किया गया है, अतः पारिशेष्यात् यहाँ **विशेषालङ्कार** के लक्षण में "**युगपत्**" का सम्बन्ध समझना चाहिये।

(३) **विशेष** की व्युत्पत्तिः-"**विशेषोऽलंकारान्तरेभ्यो विलक्षण इति विशेषः**।"

अर्थ—(१) क्रमशः (**आधार शून्य आधेय के होने पर विशेषालंकार का उदाहरण**) **यथा—दिवमिति**—स्वर्ग गये हुये भी अर्थात् मृत्यु को प्राप्त हुये भी जिन (कवियों) की अनेक (माधुर्यादि) गुणों से युक्त (काव्य रूप) वाणी प्रलयकाल तक संसार को सन्तुष्ट करती हैं, वे कवि क्यों वन्दनीय नहीं है ? अर्थात् वन्दनीय ही हैं।

टिप्पणी—यहाँ निर्मातृत्वेन आधारभूत कवियों के न होने पर भी आधेयभूत उनकी वाणियों की स्थिति का वर्णन होने से प्रथम प्रकार का **विशेषालंकार** है।

अर्थ—(२) (**एक वस्तु के युगपत् अनेक विषयक होने पर विशेषालंकार** का उदाहरण) **कानन इति**—[प्रसंग—किसी राजा की स्तुति है।) शत्रु वन में, नदियों के स्थानों में, पर्वतों की गुफाओं में भी सन्मुख यमराज के समान एक ही तुमको देखते हैं।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि आपके शत्रु इतने अधिक भयभीत हो गये हैं कि उन उन स्थानों पर रहते हुये भी आशङ्का के कारण अपने पास में ही और एक समय में ही यमराज के समान आपको देखते हैं।

(२) यहाँ प्रकृत उदाहरण में एक राजा की एक समय में ही काननादि अनेक स्थानों में स्थिति होने से द्वितीय प्रकार का **विशेषालंकार** है।

अर्थ—(३) (**अशक्य कार्य के दैववश सम्पन्न हो जाने पर विशेषालंकार** का उदाहरण) **गृहिणीति**—[**प्रसंग**—रघुवंश के अष्टम सर्ग में इन्दुमती की मृत्यु हो जाने पर उसका ध्यान करते हुये राजा अज का विलाप है।] (हे प्रिये इन्दुमते ! तुम मेरी) पत्नी, (तुम्हीं) मंत्री (हितकारी उपदेश देने के कारण); (तुम्हीं) एकान्त में सखी (अभीष्ट कार्य की साधिका होने से); (तथा तुम्हीं) ललित नृत्य गीतादि कलाओं के अनुष्ठान में अथवा सुरत में प्रिय शिष्या थीं (अतः इसप्रकार समुदित स्वरूप वाली) तुम्हारा हरण करते हुये (अतएव) करूणा रहित मृत्यु ने मेरा क्या नहीं हरण कर लिया ? (यह तुम) बताओ ? अपितु एक ही प्रयत्न से मेरा सर्वस्व हरण कर लिया।

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ॥७५॥

यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजम्–' इत्यादि ।

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ॥

व्याघात इत्येव ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में इन्दुमती की मृत्यु रूप एक कार्य को करते हुये यमराज ने उसी से ही एक वार में ही गृहिणी अदिक सभी कुछ भाग्य के कारण से हरण कर लिया, अतः यहाँ दुःसाध्य अन्य कार्य का सम्पादन होने से तृतीय प्रकार का **विशेषालंकार** है ।

अथ व्याघातालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(१) (व्याघातालंकार का लक्षण) **व्याघात इति**—किसी (व्यक्ति) ने भी जिस (उपाय) से (जो) वस्तु जिसप्रकार से की है, दूसरा (व्यक्ति) यदि उसी (प्रकार के) उपाय से उस (वस्तु) को उससे भिन्न प्रकार की कर देता है (तो) वह (परकरणेन पूर्वकरणस्य व्याघातात्) **व्याघातनामकालंकार** (कहलाता) है ।

(व्याघातालंकार का उदाहरण) यथा—**दृशेति**—(इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ ''…पर की जा चुकी है ।)

टिप्पणी—(१) यहाँ शिवजी के द्वारा तृतीय नेत्र की वह्नि से भस्म किये हुये कामदेव को कामिनियों ने अपने नेत्रों से ही पुनः जीवित कर दिया है अतः **व्याघातालंकार** है ।

(२) **व्याघातालंकार** का सामान्यतया लक्षण—"**यं कंचिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिद्यन्निष्पादितं तत्ततोऽन्येन केनचित्तत्प्रतिद्वन्द्विता तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादितवस्तुव्याहतिहेतुत्वात् व्याघातः ।**" इति ।

अवतरणिका—**व्याघातालंकार** का प्रकारान्तर से पुनः लक्षण करते हैं—

अर्थ—(**व्याघातालंकार** का प्रकारान्तर से लक्षण) **सौकर्येणेति**—(वक्ता के अभिमत अर्थ की अपेक्षा) सुगमता से यदि कार्य के प्रतिकूल कह दिया जाता है (क्रियते) (तब भी) **व्याघातालंकार** ही (कहलाता) है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—कोई व्यक्ति जिस उपाय से जिस कार्य का कथन करता है **यदि** उससे भिन्न कोई अन्य व्यक्ति उसी उपाय से ही सुगमता से उसके विपरीत कथन कर देता है, तब भी **व्याघातालंकार** कहलाता है ।

'इहैव त्वं तिष्ठ द्रुतमहमहोभिः कतिपयैः
समागन्ता कान्ते मृदुरसि न चायाससहना ।
मृदुत्वं मे हेतुः सुभग भवता गन्तुमधिकं
न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम् ॥'

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम् । नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम् ।

परं परं प्रति यदा पूर्वंपूर्वस्य हेतुता ॥७६॥

तदा कारणमाला स्यात्—

अर्थ—(व्याघातालंकार का उदाहरण) **इहैवेति**—[**प्रसङ्ग**—विदेश को जाने वाले पति के साथ जाने की इच्छा वाली पत्नी की उक्ति-प्रत्युक्ति है ।] हे प्रिये ! तुम यहाँ (घर में) ही रहो (मेरे साथ मत चलो), मैं थोड़े ही दिनों में लौट आऊँगा । (क्योंकि तुम) कोमलाङ्गी हो और (विदेश में जाने से होने वाले) कष्टों को सहन करने में असमर्थ हो (**यह प्रवास करते हुये नायक की उक्ति है**); हे भार्याप्रिय ! मेरी कोमलता आपके साथ जाने में (ही) अधिक कारण है; क्योंकि कोमलाङ्गी (मैं आपके) वियोग से जनित दुःसह कष्ट को नहीं सह सकती हूँ ।

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं, **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) नायक ने नायिका की कोमलता को ;साथ न चलने में हेतुत्वेन कहा है, और नायिका ने विपरीत रूप से साथ चलने में उससे भी (अर्थात् साथ न चलने से घर में रहने से भी) अधिक सुगमता से (अर्थात् वियोग जनित कष्ट को सहने की अपेक्षा वन में साथ जाने के कष्ट को सहना आसान है) हेतुत्वेन (कोमलता का) कथन कर दिया है । [अतः **व्याघातालंकार** स्पष्ट ही है ।]

अथ कारणमालालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**कारणमालालंकार** का लक्षण) **परमिति**—जब उत्तर उत्तर (पदार्थ) के प्रति पूर्व पूर्व (पदार्थ) की कारणता (होती) है, तब (**कारणानां माला-पंक्तिः**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार) **कारणमालानामकालंकार** होता है ।

टिप्पणी—(१) इसीप्रकार पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति जब उत्तर उत्तर पदार्थ की कारणता होती है, तब भी यही अलंकार होता है । **यथा**—

भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसम्भवम् ।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद्दानपरो भव ॥ इति ॥

(२) **प्रश्न**—**कारणमालालंकार** में कार्यों की भी माला होती है, पुनः इसका नाम "कार्यमाला" क्यों नहीं रखा ?

उत्तर—"**विवक्षापूर्विका हि शब्दार्थ** प्रतिपत्तिः" इस न्याय के अनुसार कवि को कारण गुणों का वर्णन करना ही अभीष्ट होता है, अतः कारणमाला नाम ही उचित है ।

यथा—

'श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात् ।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥

—तन्मालादीपकं पुनः ।
धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—(कारणमालालंकार का उदाहरण) **यथा—श्रुतमिति**—विद्वानों के संसर्ग से शास्त्रज्ञान (अध्ययन) होता है, शास्त्रज्ञान से विनय (शिष्टाचार आता है), विनय से लोकप्रियता (होती है, और) लोकप्रियता से क्या नहीं होता है ? अर्थात् धनादिक सभी की प्राप्ति हो जाती है।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में उत्तर उत्तर काल में होने वाले विनयादिक के प्रति पूर्व पूर्व काल में होने वाले श्रुतादि की कारणता है, अतः **कारण-मालालंकार** है।

(२) **अथवा**—अन्य उदाहरण—

विद्या ददाति विनयं विनयात् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद्धनमाप्नेति धनाद्धर्मं ततः सुखम् ॥

अथवा—**दारिद्र्याद्ह्रियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो ।**
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ॥
निर्विण्णः शुचिमेति शोकविहतो बुद्ध्या परिभ्रश्यते ।
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामापदाम् ॥

यहाँ दारिद्र्य लज्जा के प्रति, लज्जा तेजःनाश के प्रति, तेजःनाश तिरस्कार के प्रति कारण है, अतः माला होने से **कारणमालालंकार** है।

अथ मालादीपकालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(मालादीपकालङ्कार का लक्षण) तदिति—(अनेक) धर्मियों का एक धर्म के साथ (गुणरूप अथवा क्रियारूप के साथ) जो उत्तरोत्तर (वस्तु) के प्रति सम्बन्ध है, वह पुनः **मालादीपक (मालायां यथा बहूनां कुसुमानामवस्थानं, तथा बहूनां धर्मिणां अवस्थानं माला तस्या दीप इव धर्मैक्येन प्रकाशनमिति तादृशम्) नामक अलंकार (होता) है।**

टिप्पणी—(१) जिसप्रकार माला के अन्दर पूर्व पूर्व ग्रथित पुष्प उत्तरोत्तर आने वाले पुष्पों का अवलम्बन करने से सहायक होते हैं, उसीप्रकार यहाँ **माला-दीपकालङ्कार** में भी मालारूपता समझनी चाहिये।

यथा—

'त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः ।
शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः ॥'

अत्रासादनक्रिया धर्मः ।

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम् ।
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा ॥ ७८ ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम् ।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः सङ्गीतं सस्मरोदयम् ॥'

अर्थ—(अनेक धर्मियों का क्रियारूप एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर **मालादीपकालङ्कार** का उदाहरण) यथा—**त्वयीति**--[**प्रसङ्ग**—किसी राजा की स्तुति है ।] (हे राजन् !) तुम्हरे युद्ध में आने पर (तुम्हारे) धनुष ने बाणों को प्राप्त किया, बाणों ने शत्रुओं का शिर, (प्राप्त किया), उसने (शत्रुओं के शिर ने) पृथ्वी (प्राप्त की), उसने (पृथ्वी ने) आपको (प्राप्त किया) (और) आपने यशः (प्राप्त किया) ।

(लक्ष्य का समर्थन करते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) आसादन रूप क्रिया धर्म है ।

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में एक ही आसादनरूप क्रिया के साथ उत्तरोत्तर अनेक धर्मी धनुरादिकों का सम्बन्ध होने से **मालादीपकालङ्कार** है ।

(२) यह साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कवि विरचित पद्य है ।

अथैकावल्यलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ--(एकावल्यलङ्कार का लक्षण) **पूर्वमिति**—यदि पूर्व पूर्व (विशेष्य) के प्रति उत्तरोत्तर विशेषण रूप से (विशेष्य) स्थापित किया जाता है अथवा निषिद्ध किया जाता है, तब (स्थापन और निराकरण रूप से) दो प्रकार की **एकावली (एकरूपेण–विशेषणत्वेन विशेष्यत्वेन विहितानामपोहितानां वाऽऽवली–श्रेणिः तादृशी) नामकालङ्कार होता है ।**

टिप्पणी—यहाँ "**विशेषणत्वेन**" यह उपलक्षण है—इससे **विशेष्यतया** इसका भी ग्रहण समझना चाहिये । ग्रन्थकार स्वयं उदाहरण देंगे कि—

धर्मेण बुद्धिस्तव देव ! शुद्धाबुध्या निबद्धा सहत्वेव लक्ष्मीः ।
लक्ष्म्या च तुष्टा भुवि सर्वलोका लोकेषुनीता भुवनेषु कीर्तिः ॥

यहाँ उत्तरोत्तर विशेषण पूर्व-पूर्व के प्रति विशेष्य हैं ।

अर्थ—(१) क्रमशः (**स्थापित होने पर एकावल्यलङ्कार का**) उदाहरण—**सर इति**—[**प्रसङ्ग**—यह शरद् समय का वर्णन है ।] जिस (शरद् समय) में सरोवर विकसित कमल वाले हैं, कमल भ्रमरों से युक्त हैं, भ्रमर गुञ्जार करने वाले हैं, (तथा) संगीत (भ्रमरों की गुञ्जार) काम को उद्दीप्त करने वाला है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में कमल-भ्रमर और संगीत उत्तरोत्तर विशेष्य रूप से हैं, तथा पूर्व-पूर्व सरोवर-कमल और भ्रमरों में विशेषण रूप से उपन्यस्त हैं, अतः **एकावल्यलङ्कार** है ।

'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥'

क्वचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते । यथा—

'वाप्यो भवन्ति विमलाः स्फुटन्ति कमलानि वापीषु ।
कमलेषु पतन्त्यलयः करोति सङ्गीतमलिषु पदम् ॥'

एवमपोहनेऽपि ।

अर्थ--(२) (**निषिद्ध होने पर एकावल्यलङ्कार** का उदाहरण) नेति–[**प्रसङ्ग**–**भट्टिकाव्य** के द्वितीय सर्ग में यह पद्य है ।] जहाँ (यत्) अत्यन्त रमणीय कमल नहीं है, वह (प्रशस्त) जल अर्थात् जलाशय नहीं है, जहाँ मधुपान करने के लिये बैठे हुये भ्रमर नहीं हैं वह कमल नहीं है, जो सुन्दर गुञ्जार नहीं करता वह भ्रमर नहीं है (तथा) जो मन को आकर्षित नहीं करती, वह मधुर गुञ्जार नहीं है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में कमल, भ्रमर और गुञ्जार उत्तरोत्तर विशेष्य हैं तथा पूर्व-पूर्व जल-पङ्कज और भ्रमर विशेष्य पदों में विशेषण रूप से निषिद्ध हुये हैं, अतः **एकावल्यलङ्कार** है ।

अवतरणिका—प्रकारान्तर से भी **एकावल्यलंकार** का भी प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—कहीं विशेष्य भी (पूर्व पूर्व) उत्तरोत्तर के प्रति विशेषण रूप से स्थापित और निषिद्ध दिखाई देता है ।

टिप्पणी--इसप्रकार की **एकावली** का उदाहरण अत्यन्त विरल होता है ।

अर्थ--(एकावल्यलंकार का उदाहरण) **यथा**—**वाप्य इति**—[**प्रसङ्ग**--शरद समय का यह वर्णन है ।] (इस शरद् समय में) वापियाँ निर्मल (जल वाली) होती हैं, वापियों में कमल विकसित होते है, कमलों पर भ्रमर गिरते हैं और (भ्रमरों में संगीत (अपना) स्थान करता है अर्थात् भ्रमर गुञ्जार करते हैं । **एवमिति**--इसीप्रकार निषिद्ध होने में भी (उदाहरण समझ लेना चाहिये) ।

टिप्पणी--(१) प्रकृत उदाहरण में कमलादि उत्तरोत्तर विशेष्य के प्रति पूर्व-पूर्व विशेष्य विशेषण रूप से उपन्यस्त होने के कारण **एकावल्यलङ्कार** है ।

(२) **निषिद्ध होने पर एकावल्यलंकार** का उदाहरण—यथा—

पुण्य क्षेत्रं न सर्वत्र पुण्यक्षेत्रे न नास्तिकाः ।
नास्तिकेषु नधर्मोऽस्ति न धर्मे दुःखहेतुता ॥

यहाँ उत्तरोत्तर के प्रति विशेषणभूत पूर्व पूर्व पुण्यक्षेत्रादि विशेष्य रूप से निषिद्ध हैं ।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते ।

यथा—

'राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

अथ सारालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(सारालंकार का लक्षण) **उत्तरोत्तरमिति**—उत्तरोत्तर (विशेष्य) वस्तु का उत्कर्ष **सारालंकार** (**सारत्वयुक्तत्वात् सारः**) कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) **अलंकारसर्वस्वकार** इसी अलङ्कार को **उदार** नाम से व्यवहृत करते हैं ।

(२) **मालादीपकालंकार और सारालंकार में भेद**—"**मालादीपकालंकारे यस्य कस्यचित् गुणरूपस्य क्रियारूपस्य वा धर्मस्य परं परमन्वयः, अत्रतूत्कर्ष रूप मात्रस्येति**"—यही विशेष रूप से भेद है । इस अलङ्कार में श्लाघ्य और अश्लाघ्य दोनों प्रकार के गुणों के उत्कर्ष से तात्पर्य है ।

(३) **केचित्तु-पूर्वपक्ष**—कुछ आचार्यों का मत है कि **श्लोक की समाप्ति तक उत्तरोत्तर उत्कर्ष होने से यह अलंकार** होता है, **क्योंकि वैसा होने पर ही विशेष चमत्कार की प्रतीति होती है ।**

उत्तरपक्ष—यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि—

लोकसजि द्यौर्दिवि चादितेया आप्यादितेयेषु महान् विभेदः ।
किं कर्तुमर्थीयति सोऽपि रागाज्जागर्तिकक्षा किमतः पराते ॥

इत्यादि में आधे श्लोक की समाप्ति तक ही उत्कर्ष है, तथापि इसके अन्दर **सारालंकार** स्वीकार किया जाता है ।

अर्थ—(सारालंकार का उदाहरण) **यथा—राज्य इति**—[**रुद्रटालंकार** में यह पद्य है ।] राज्य में पृथिवी श्रेष्ठ है, पृथिवी में नगर (श्रेष्ठ है), नगर में राजमहल (अनेक प्रकार के सुन्दर मणियों से सज्जित कलई से धवल; सुन्दर तथा ऊँचा महल श्रेष्ठ है); महल में शय्या (सार है) । शय्या में कामदेव की सर्वस्व कामिनी (सारभूत) है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में पूर्व पूर्व की अपेक्षा वसुधादि वस्तुओं की उत्तरोत्तर उत्कर्षता होने से **सारालंकार** है ।

(२) **कठवल्ली** के अन्दर भी यह अलङ्कार आता है । यथा—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिरात्मा बुद्धेर्महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

(३) **बृहत्संहिता** में उदाहृत पद्य के अनुरूप ही श्लोक आता है । यथा—

"जये धरित्र्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सरनति चैकदेशः ।
तत्रापि शय्या शयने वरास्त्री रत्नोज्वला राज्यसुखस्य सारः ॥ इति ।

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ॥ ७९ ॥

यथा—

'उन्मीलन्ति नखैर्लुनीहि वहति क्षौमाञ्चलेनावृणु
क्रीडाकाननमाविशन्ति वलयक्वाणैः समुत्त्रासय ।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु साङ्केतिक-
व्यवहाराः सुभग त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः ॥'

---

(४) **केचित्तु**—कुछ आचार्य—'**अवस्था भेद से एक के ही उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन करने पर भी सारालङ्कार होता है**"—ऐसा मानते हैं ।

अथ यथासंख्यालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**यथा संख्यालङ्कार** का लक्षण) **यथा संख्यमिति**—उद्दिष्ट (पदार्थों) का क्रम से (उद्देश्य के क्रम से) जो पश्चात् निर्देश है, (वह) **यथासंख्यालङ्कार** (**संख्यामनतिक्रम्य स्थितम् इति यथासंख्यम्**) (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है कि जिस क्रम से जितनी संख्या वाले जो पहले कहे गये हैं, उसी क्रम से बाद में भी उनका उतनी ही संख्याओं वाले पदार्थों से सम्बन्ध **यथासंख्यनामकालंकार** कहलाता है ।

(२) कारिकास्थ "**बहूनाम्**" में बहुवचन अविवक्षित है । अतः—

ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बु रुहेक्षणौ ॥

इत्यादि में भी यह **यथासंख्यालंकार** है ।

(३) **उत्—ऊर्ध्वम् दिष्टाः-निर्दिष्टाः उद्दिष्टाः, अनु-पश्चात् उद्देशः-निर्देशः अनुद्देशः, प्रथमं प्रतिपादितानामर्थानां पश्चात् प्रतिपादितैः रर्थैः क्रमेण सम्बन्धः यथा-संख्यम् ।**

(४) **वामनादि** प्राचीन आचार्य इसी को ही **क्रमालंकार** कहते हैं । इसका लक्षण—

उपमेयपोपमानानां क्रमसम्बन्धः क्रमः ॥ इति ।

अर्थ—(**यथासंख्यालंकार** का उदाहरण) **यथा—उन्मीलन्तीति**—[**प्रसङ्ग**—नायक से नायिका की सखियों के सांकेतिक व्यवहारों को कहती हुई नायिका की दूती की उक्ति है ।] हे भार्या प्रिय ! तुम्हारे विरह में उस (हतभाग्यवती तुम्हारी प्रियतमा) की सखियों के परस्पर वकुल (अशोक के मुकुल)–मलयपवन (और) कोकिलों के विषय में इसप्रकार सांकेतिक व्यवहार (होते) हैं, **यथा**—विकसित होते हैं, [इसप्रकार वकुल के प्रति एक सखी ने कहा] नाखूनों से (उन वकुल के पुष्पों को) तोड़ डाल (ऐसा दूसरी सखी ने कहा); (मलयपवन) बह रहा है (ऐसा एक सखी के कहने पर दूसरी सखी ने) रेशमी वस्त्र के आँचल से (उसको) ढक दो (ऐसा कहा—जिससे सखी के शरीर का स्पर्श न हो], (कोयल) क्रीडोपवन में प्रविष्ट हो रही है (ऐसा एक सखी के कोकिलों के प्रति कहने पर दूसरी सखी ने) कङ्कण की ध्वनि से (उन कोकिलों को) डराकर भगा दो (ऐसा कहा—जिससे वे शब्द न करें अन्यथा बड़ी परेशानी होगी) ।

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् ।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ॥ ८० ॥

क्रमेण यथा—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभि प्रथमोदबिन्दवः ॥'

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि वञ्जुलादिकों का नाम लेने से नायिका को अतिशय विरहवेदना होती है, अतः उसकी सखियों ने उनके लिये इसप्रकार का सांकेतिक व्यवहार कर रखा है ।

(२) यहाँ प्रकृत उदारण में "उन्मीलन्ति" इत्यादि उद्दिष्ट वस्तुओं के पश्चात् क्रमशः ही "तुवीहि" इत्यादिकों का कथन करने से **यथासंख्यालङ्कार** है ।

अथ पर्यायालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**पर्यायालङ्कार** का लक्षण) **क्वचिदिति**—कहीं (भी) एक (वस्तु) क्रम से (युगपत् नहीं) अनेक (स्थानों) में यदि (स्वयमेव) होती है अथवा (किसी दूसरे से) की जाती हैं, और कही अनेक (वस्तु) क्रम से एक (स्थान) में (स्थित) यदि होती है अथवा (किसी दूसरे से) की जाती है, तब **पर्यायालंकार (पर्यायः—क्रम एव तद्युक्तत्वात्)** स्वीकार किया जाता है ।

टिप्पणी (१) उक्त लक्षण के अनुसार **पर्यायालंकार** चार प्रकार का होता है—(१) **एक वस्तु के अनेक स्थानों में स्वमेव अवस्थित होने पर** (२) **अनेक वस्तुओं के स्वयमेव एक स्थान में अवस्थित होने पर** (३) **एक वस्तु के अनेक स्थानों में करने पर तथा** (४) **अनेक वस्तुओं के एक स्थान में करने पर ।**

अर्थ—क्रमशः (**एक वस्तु के अनेक स्थानों में स्वयमेव अवस्थित होने पर पर्यायालंकार** का उदाहरण) **यथा**—"**स्थिता इति**—[**प्रसङ्ग—कुमारसम्भव** के पञ्चम सर्ग में समाधि की अवस्था में पार्वतीजी के शरीर के ऊपर गिरी हुई वर्षा की बूंद के स्वभाव का यह वर्णन है ।] पहले गिरे हुये वर्षा के जलकण उस (पार्वती) के पलकों पर क्षणभर रुके, ["**स्थिताः**" इससे पलकों की सघनता तथा "**क्षणम्**" इससे स्निग्धता प्रतीत होती है ।] (तदनन्तर) गिरने से पीड़ित किया है अधरों को जिन्होंने ऐसी हुईं अर्थात् अधरों पर गिरीं (इससे अधरों की कोमलता प्रतीत होती है ।); (तदनन्तर) स्तनों के उभार पर गिरने स टुकड़े-टुकड़े हुईं (इससे स्तनों की कठोरता ध्वनित होती है।); (तदनन्तर) त्रिवली में गिरी हुई (निम्नोन्नत होने से) क्रमशः नाभि में पहुँची; (इससे नाभि की गम्भीरता प्रतीत होती है ।) !

टिप्पणी (१) इस प्रकृत उदाहरण में वर्षा की बिन्दु रूप एक वस्तु **क्रमशः** पक्ष्मादि अनेक स्थानों में स्वयमेव स्थित होने के कारण **पर्यायालंकार** है ।

(२) यद्यपि "**प्रतिपदमर्थवत्वात्**" परिकरालङ्कार भी है तथापि दोनों अलंकारों की एकत्र स्थिति होने से **संकरालंकार** समझ लेना चाहिये ।

'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः ।
वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव ॥'
'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥'
'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥'

अर्थ—(२) (**अनेक वस्तुओं के एक स्थान में होने पर पर्यायालंकार** का उदाहरण) **विचरन्ति इति**—[**प्रसंग**—राजा की प्रशंसा का वर्णन है ।] (हे राजन् !) जहाँ तुम्हारे शत्रु के नगर में नितम्ब भार से मन्दगामिनी कामनियाँ विचरण करती थीं, वहाँ (शत्रु नगर में) अब व्याघ्र-कौवे तथा गीदड़ दौड़ लगाते हैं । [भावः यह है कि आपके द्वारा शत्रुओं के मारे जाने पर उनका नगर इस समय वन के समान हो रहा है ।]

टिप्पणी (१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में अनेक शत्रु नारियों और वृकादिकों की एक ही शत्रु नगर में क्रमशः अवस्थिति होने से **पर्यायालंकार** है ।

अर्थ (३) (**एक वस्तु के अनेक स्थान में वर्णन करने पर पर्यायालंकार** का उदाहरण) **विसृष्टेति**—[**प्रसङ्ग**—**कुमारसम्भव** के पञ्चम सर्ग में पार्वतीजी की तपस्या के आरम्भ का वर्णन है ।] उस (पार्वतीजी) ने (तपस्या के प्रतिकूल होने से) छोड़ दिया है (ताम्बूलादि के भक्षण आदि से) राग जिसका ऐसे अधरोष्ठ से हटाये हुये और स्तनों के अङ्गराग से (कुङ्कुमादि शरीर पर लगाने वाले द्रव्यों के लेप से) लाल किये हुये कन्दुक से (हटाये हुये) हाथ को (सम्प्रति) कुशदर्भ के अंकुरों के चयन से क्षत हो गई है अंगुलियाँ जिसकी ऐसा (तथा) रुद्राक्षमाला के सूत्रों का प्रणमी बना दिया ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत्त उदाहरण में एक ही हाथ तपस्या से पहले लालिमा लगाने के लिये अधरोष्ठ में और खेलने के लिये कन्दुक में लगा करता था वही हाथ तपस्या प्रारम्भ करने के पश्चात् कुशाङ्कुरों को सञ्चय करने में और रुद्राक्षमाला में लगता है—इस प्रकार के क्रम के होने से इसमें **पर्यायालङ्कार है** ।

अर्थ—(४) (**अनेक वस्तुओं के एक स्थान में करने पर पर्यायालङ्कार** का उदाहरण) **ययोरिति**—[**प्रसङ्ग**—राजा की स्तुति का वर्णन है ।] (हे राजन्) तुम्हारी शत्रुनारियों ने (पतियों के होने पर) जिन (स्तनों) पर शुद्ध मोतियों से बना हुआ हार धारण किया था, (सम्प्रति) उन स्तनों पर (पतियों की मृत्यु के शोक से उत्पन्न अत्यन्त) स्थूल, अश्रु बिन्दुओं को धारण करती हैं । (क्योंकि उनके पतियों को आपने युद्ध में मार दिया है ।) !!

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत्त उदाहरण में एक स्तन-युगल पर हारादि अनेक वस्तुओं के करने से **पर्यायालङ्कार** है ।

एषु च क्वचिदाधाराः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च। क्वचिदाधेयमपि। यथा—'स्थिताः क्षणम्–' इत्यत्रोदविन्दवः पक्ष्मादावसंहतरूप आधरे क्रमेणाभवन्। 'विचरन्ति–' इत्यत्राधेयभूता वृकादयः संहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन्। एवमन्यत्।

अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्कारात् भेदः। विनिमयाभावात्परिवृत्तेः।

अवतरणिका—प्रश्न—"**एकमनेस्मिन्**" इस लक्षण की तथा "**अनेकञ्चैकगम्**" इस लक्षण की क्रमानुसार उदाहृत "**स्थिताः क्षणम्**" इत्यादि में वर्षा-कालीन बिन्दुओं के अनेक होने से, "**विचरन्ति**" इत्यादि में वाटिका-सरोवरादि भेद से शत्रुनगर के अनेक होने से "**ययोः**" इत्यादि में स्तनों के युगल होने से—बहुत होने के कारण संगति कैसे हो सकती है ? इसका **समाधान** करते हैं।

अर्थ—और इन (उदाहृत पद्यों) में से कहीं आधार संहत (मिलित) रूप है, और (कहीं) असंहत (अमिलित) रूप है। कहीं आधेय भी (संहत और असंहत रूप से दो प्रकार का) होता है। **यथा**—"**स्थताःक्षणम्**" इत्यादि (उदाहृत पद्य) में जल बिन्दु (संहत रूप आधेय) पक्ष्मादि असंहत रूप आधार में क्रम से स्थित हुये है। [इससे आधेयभूत जल बिन्दुओं की संयुक्तरूपेण एकता और पक्ष्मादि आधारों की अनेकता व्यञ्जित होती है। इसप्रकार "**एकमनेकस्मिन्**" यह लक्षण "**स्थिताःक्षणम्**" इत्यादि में संहत ही समझना चाहिये।] "**विचरन्ति**······" यहाँ आधेयभूत (असंहत रूप अतएव अनेक) वृकादि संहत रूप शत्रुनगर में (वाटिका—सरोवरादि के कारण भिन्न होने पर भी संहतरूपत्वेन अभिन्न हैं।) क्रमशः स्थित हुये हैं। [इसप्रकार "**अनेकञ्चैकगम्**" यह लक्षण '**विचरन्ति**" इत्यादि में घटित हो जाता है।] "**एवामिति**—इसीप्रकार अन्यत्र (भी समझना चाहिये।) [**अर्थात्**—"**ययोरारोपित**" ······इत्यादि में असंयुक्त रूप नेत्र बिन्दु आधेयभूत हैं तथा अनेक प्रकार के हैं। तथा दोनों स्तन आधारभूत है तथा परस्पर संयुक्तरूपत्वेन एक रूप ही हैं। अतः यहाँ पर भी "**अनेकञ्चैकगम्**" यह लक्षण घटित हो ही जाता है। "**विसृष्टराग**"······ इत्यादि में तो प्रथम लक्षण का समन्वय समझना चाहिये।]

अवतरणिका—सम्प्रति **विशेषालंकार** तथा **परिवृत्यलंकार** से **पर्यायालंकार** का भेद दिखाते है।

अर्थ—यहाँ (**पर्यायालंकार** के प्रथम भेद में) एक (वस्तु) के अनेक स्थानों में क्रम से ही विद्यमान होने से (युगपद् एक वस्तु के अनेक स्थानों में होने रूप) **विशेष नामक अलंकार** से भेद है। **विनिमयेति**—विनिमय के न होने से **परिवृत्ति-नामकालंकार** से (भेद) है।

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ॥'

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात्क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥'

अत्राधिक्येन ।

अर्थपरिवृत्यलंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**परिवृत्यलंकार** का लक्षण) **परिवृत्तिरिति**—समान-न्यून और अधिक (वस्तुओं) के साथ विनिमय (कुछ छोड़कर किसी का ग्रहण करना) **परिवृत्ति** (**समं-परित्यज्य समोपादानरूपः, अधिकं परित्यज्य न्यूनोपादानरूपः,—न्यूनंपरित्यज्य अधिकोपादानरूपश्च विनिमयः— परिवर्तनम् परिवृतिः**) नामकालंकार होता है ।

टिप्पणी—(१) **विनिमय** का लक्षण—**एक वस्तुत्यागोपाधिकान्य वस्तु ग्रहणं विनिमयः** ॥ (२) विनिमय के तीन प्रकार के होने से यह **परित्यवृत्यलंकार** भी तीन प्रकार का होता है ।

अर्थ (१, २) क्रमशः (**समान से और न्यून से विनिमय होने पर परिवृत्य-लंकार का**) उदाहरण—**दत्त्वेति**—[प्रसंग—किसी रमणी को देखकर मित्र के प्रति किसी की उक्ति है ।] (उस) मृगनयनी (नायिका) ने कटाक्ष देकर मेरे हृदय को ले लिया है । किन्तु मैंने हृदय देकर कामजनित ज्वर ले लिया ।

(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पूर्वार्द्ध में समान के साथ [तुल्य पदार्थों के ग्रहण से विनिमय है । क्योंकि कटाक्ष और हृदय—दोनों के इन्द्रियगतत्वेन समानता है ।] उत्तरार्द्ध में न्यून (पदार्थ) के साथ (विनिमय) है । [क्योंकि हृदय की अपेक्षा कामज्वर कष्ट कारक होने से न्यून हैं ।]

अर्थ—(३) (**अधिक के साथ न्यून का विनिमय होने पर परिवृत्यलकार, का उदाहरण**) **तस्येति**—[**प्रसंग**—श्रीरामचन्द्रजी की उक्ति है—] उस अतिवृद्ध स्वर्ग गये हुये जटायु के विपय में सम्प्रति क्यो शोक करते हो ? अर्थात् अब वह शोचनीय नहीं है । (क्योंकि) जिस (जटायु) ने जर्जर शरीर को (सीताजी की रक्षा के लिये) देकर चन्द्रमा की किरणों के समान उज्वल यश को खरीद लिया । (लक्ष्य को घटाते है ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) अधिक (पदार्थ के विनिमय) से (विनिमय) है ।

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ॥ ८१ ॥
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ।
परिसंख्या—

क्रमेणोदाहरणम्—

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।

टिप्पणी–(१) **सारांश** यह है कि शरीर स्वभाव से विनष्ट होने वाला होता है, और फिर उसके जराग्रस्त होने पर तो कुछ कहना ही नहीं ? अतः जरा से जीर्ण अतएव नितान्त क्षीण तथा विनष्ट होने वाले शरीर की अपेक्षा जिस जटायु ने शुभ्र तथा शाश्वत् यशः को खरीद किया है—उसके लिये अब शोक क्या करना ?

(२) यहाँ पर अधिक वस्तु यश के साथ न्यून वस्तु जराजीर्ण शरीर का विनिमय होने से **परिवृत्यलंकार** है ।

अर्थ परिसंख्यालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(**परिसंख्यालंकार** का लक्षण) **प्रश्नादिति**—प्रश्नपूर्वक अथवा बिना प्रश्न के ही (किसी से विचार कर) कही हुई वस्तु से यदि शाब्द (शब्द से प्रतिपाद्य) अथवा आर्थ (अर्थबल से प्राप्य) उस प्रकार की (कही हुई के समान) अन्य वस्तु का निषेध हो, तब **परिसंख्या**—("परि" शब्द का अर्थ वर्जन है और "**संख्या**" का अर्थ बुद्धि अर्थात् परित्यागबुद्धि· परिसंख्या) नामक अलंकार (होता) है ।

टिप्पणी—(१) इसप्रकार **परिसंख्यालंकार** दो प्रकार का सबसे पहले होता है—(१) **प्रश्नपूर्वक** प्रतिपादन करने से तथा (२) **अप्रश्नपूर्वक** प्रतिपादन करने से । तदनन्तर इनमें से प्रत्येक के पुनः दो भेद होते हैं । (१) **शाब्द** और (२) **आर्थ** । इसप्रकार मिलकर **परिसंख्यालंकार** के चार भेद हुये ।

(२)जहाँ विशेष चमत्कार होता है वहीं यह **परिसंख्यालंकार** होता है । इसीलिये—

पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः ।
गोधा कूर्मः शशः खड्गी शशकश्चेति ते स्मृताः ॥

इत्यादि शास्त्रीय निषेध में अलङ्कार नहीं होता है ।

अर्थ—(१) (प्रश्न **पूर्वक प्रतिपादन करने पर शाब्दी परिसंख्यालंकार** का) उदाहरण—**किमिति**—[प्रसंग—उक्ति प्रत्युक्ति है ।] इस (संसार) में स्थिरतर अर्थात् अविनाशी अलंकार क्या है ? (**यह प्रश्न है**) यश (ही अविनाशी आभूषण है—**यह उत्तर है**) (माणिक्यादि) रत्न (आभूषण) नहीं (हैं ।—**यह निषेध है**); कर्त्तव्य कर्म क्या है ? (**यह प्रश्न है**) (मनु आदि) आर्यों से आचरित पुण्य कर्म (अर्थात् पुण्यजनक तपस्यादि—**यह उत्तर है**) दोष (कर्त्तव्य कर्म) नहीं (है—अर्थात् पाप को उत्पन्न करने वाला परस्त्री गमनादि रूपदोष—**यह निषेध है** ।);

किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दम् ।

'किमाराध्यं सदा पुण्यं कश्च सेव्यः सदागमः ।
को ध्येयो भगवान् विष्णुः किं काम्यं परमं पदम् ॥'

अर्थ—अप्रतिहत (दिव्य) नेत्र (उत्कृष्ट ज्ञान के साधन) क्या हैं ? (यह प्रश्न है) बुद्धि (अप्रतिहत नेत्र है—यह उत्तर है) नेत्र नहीं (यह निषेध है—क्योंकि कुड्यादि से प्रतिहत हो जाते है। [इस प्रकार उत्तरों को सुनकर प्रसन्न होकर उत्तर देने वाले की प्रशंसा करता है।] जनातीति—तुम से भिन्न दूसरा कौन सद् और असद् का यथार्थ निर्णय जानता है अर्थात् कोई भी नहीं जानता हैं।

टिप्पणी—(१) नेत्रों की अप्रतिहतता के विषय में कहा गया है कि—

"गावो घ्राणेन पश्यन्ति शास्त्रैः पश्यन्ति पण्डिताः ।
चारैः पश्यन्ति राजनश्चक्षुर्भ्यामितरे जने ॥ इति ॥

नैषधचरित में भी आता है कि—

"सविधेऽपि न सूक्ष्म साक्षिणी वदनालंति मात्रमक्षिणी" इति ॥

अर्थ—(लक्ष्य को घटाते हैं।) अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) निषेध्य रत्नादि ("न रत्नम्" इति) शब्द से प्रतिपाद्य है। [इसीलिये यहाँ प्रश्नपूर्वक प्रतिपादन में शाब्दी परिसंख्यालंकार है।]

अर्थ—(२) (प्रश्न पूर्वक प्रतिपादन में आर्थी परिसंख्यालंकार का उदाहरण) किमिति—[प्रसङ्ग—किन्हीं विवेकी व्यक्तियों का प्रश्नोत्तर है।] सर्वदा (कायेन–वाचा–और मनसा सम्यक् रूपेण) क्या अनुष्ठेय (कर्म) है ? (यह प्रश्न है।) पुण्य (अनुष्ठेय है—यह उत्तर है।, नरक का साधन होने से पाप अनुष्ठेय नहीं है—यह निषेध है।), सेवा करने योग्य कौन है ? (प्रश्न है) सच्छास्त्र अथवा सज्जनों का समागम (सेवा है—यह उत्तर है।; पाप का साधन होने से असज्जनों का समागम सेवा नहीं है।—यह निषेध है।); ध्यान करने योग्य कौन है ? (प्रश्न) भगवान् विष्णु (ध्येय हैं—यह उत्तर है।—भय और प्रमादादि के साधन होने से धन ध्येय नहीं है।—यह निषेध है।) कामना किसकी करनी चाहिये ? (यह प्रश्न है) मुक्तिपद (काम्य है—यह उत्तर है।—पुण्य के क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से च्युत होने के कारण स्वर्गादिक काम्य नहीं है—यह निषेध है)।

टिप्पणी—(१) भगवान् शब्द की व्याख्या—

वदन्ति तत्तत्वविदो तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥ इति ।

(२) मुक्तिपद के विषय में कहा है—

"तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इति ॥

अत्र व्यवच्छेद्यं पापाद्यार्थम् । अनयोः प्रश्नपूर्वकत्वम् ।
अप्रश्नपूर्वकत्वे यथा—

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम्॥'
'बलमार्तभयोपशान्तये विदुषां संमतये बहु श्रुतम् ।
वसु तस्य न केवलं विभागुंणवत्तापि परप्रयोजनम् ॥'

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) अत्रेति—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) निषेध्य पापादि ("आदि" पद से दुःसङ्ग—परस्त्री और क्षुद्र सुखादिकों का ग्रहण होता है ।) आर्थ है अर्थात् अर्थ बल से लभ्य है । इन दोनों की प्रश्नपूर्वकता है । [इसीलिये यहाँ प्रश्नपूर्वक प्रतिपादन में **आर्थी परिसंख्याअलङ्कार** है ।]

अर्थ—(३) अप्रश्नपूर्वक (प्रतिपादन करने पर **शाब्दी परिसंख्यालङ्कार** का उदाहरण) **यथा—भक्तिरिति**—प्रायः महान् (व्यक्तियों) की शिवजी में भक्ति दिखाई देती हैं सम्पत्ति में नहीं, (वेद आदि) शास्त्राभ्यास में आसक्ति (अनुशीलन—दिखाई देती) है, स्त्रियों के कामास्त्र में नहीं, (तथा) यश के विषय में चिन्ता (दिखाई देती) है शरीर (की रक्षा करने के विषय) में नहीं ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में "**महतां कुत्र भक्तिर्दृश्यते**" इत्यादि प्रश्नों का अभाव है, तथा विभवादिकों का निषेध शाब्द है, **शाब्दी परिसंख्यालङ्कार** है ।

(२) **अथवा**—अन्य उदाहरण—

**"दानेन पाणि र्नतु कङ्कणेन श्रोतं श्रुते नैव च कुण्डलेन ।
विभाति कायः करूणापराणां परोपकारेण न चन्दनेन ॥" इति ।**

अर्थ—(४) (अप्रश्नपूर्वक प्रतिपादन करने पर **आर्थी परिसंख्याअलङ्कार** का उदाहरण) **बलमिति**—[प्रसङ्ग—रघुवंश के अष्टम सर्ग में यह पद्य है ।] उस राजा (दशरथ) का बल (सेना) पीडितों के भय को शान्त करने के लिये था । (दूसरों को पीड़ा देने के लिये नहीं था ।), शास्त्र-ज्ञान पण्डितों का सम्मान करने के लिये था । (विवाद करने के लिये नहीं); केवल धन (ही) दूसरों के प्रयोजन के लिये नहीं (था) अपितु (उसकी) दयादाक्षिण्यादि गुणशालिता भी (दूसरों के प्रयोजन के लिये) थी (स्वार्थपरक नहीं थी)।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में "**किमर्थं तस्य बलम्**" इत्यादिक प्रश्नों का अभाव है, तथा "**नतु परपीड़नाय बलम्**" इत्यादि रूप अन्य अर्थ का निषेध अर्थ से प्रतीत होता है । अतः **आर्थीपरिसंख्यालङ्कार** है ।

श्लेषमूलत्वे चास्या वैचित्र्यविशेषो यथा—

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराश्चापेषु गुणच्छेदाः–' इत्यादि ।

—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि ॥८२॥
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ।

यथा मम—

'वीक्षितुं न क्षमा श्वश्रूः स्वामी दूरतरं गतः ।
अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः ॥'

अर्थ—इस (परिसंख्यालङ्कार) के श्लेषमूलक होने पर विशेष चमत्कार होता है । **यथा—यस्मिंश्चेति—**[**प्रसङ्ग—बाणभट्ट विरचित कादम्बरी** के पूर्वभाग में राजा शूद्रक का वर्णन है ।] जीत लिया है संसार को जिसने ऐसे जिस राजा (शूद्रक) के पृथ्वी का पालन करने पर चित्रों के निर्माण में (रक्त-पीतादि) वर्णों का सङ्कर (परस्पर मिलाना) होता था (किन्तु **वर्णानाम्**—ब्राह्मणादि वर्णों में **सङ्कराः**—सङ्करोत्पत्ति नहीं होती थी) धनुषों के विषय में मौर्वी का टूटना होता था (किन्तु मनुष्यों के **गुणानाम्**—दयादाक्षिण्यादि गुणों का विच्छेद नहीं होता था ।) इत्यादि ।

टिप्पणी—(१) यहाँ पर उक्त प्रकार से अन्य अर्थ का निषेध अर्थ से प्रतीत होता है अतः **आर्थीपरिसंख्यालङ्कार** हैं ।

अथोत्तरालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**उत्तरालङ्कार** का लक्षण) **उत्तरमिति**—(प्रश्न के न होने पर भी) उत्तर से यदि प्रश्न का अनुमान से ज्ञान हो **अथवा** (अनेक) प्रश्नों के होने पर भी जो असम्भव अनेक बार उत्तर होता है । (वह) **उत्तरनामकालङ्कार** (होता) है ।

टिप्पणी—(१) उत्तरार्द्ध में "प्रश्नेसत्यपि" कहा है, अतः पूर्वार्द्ध में "**प्रश्ने असत्यपि**" इसकी कल्पना कर लेनी चाहिये । इसीप्रकार उत्तरार्द्ध में एक प्रश्न में चमत्कार वैशिष्टय के न होने से "**अनेकतर प्रश्ने सति**" यह भी समझ लेना चाहिये । (२) **आशय** यह है कि—**उत्तरालङ्कार** दो प्रकार का होता है ।— (१) **प्रश्न के न होने पर उत्तर से प्रश्न की कल्पना कर लेने पर** और (२) **अनेक प्रश्नों के होने पर असम्भव अनेक उत्तर होने पर** । पुनश्च—इसप्रकार इन दो प्रकार के **उत्तरालङ्कार** में से प्रत्येक पुनः दो प्रकार का होता है ।—

(१) प्रश्न और उत्तर में से एक के अथवा दोनों के सप्रयोजन होने से अथवा (२) निष्प्रयोजन होने से । इसप्रकार **उत्तरालङ्कार** चार प्रकार का हुआ । इसप्रकार सभी मिलाकर "**आठ प्रकार का उत्तरालङ्कार हुआ** ।"

अर्थ—(१) (**प्रथम प्रकार के उत्तरालंकार** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार कृत्–**वीक्षितुमिति**—[**प्रसङ्ग**—उपभोग की इच्छावाली किसी नायिका की उक्ति है ।] सास देखने में समर्थ नहीं है अर्थात् अन्धी है । (अतः उसका कुछ भय नहीं है ।) (मेरा) पति अत्यन्त दूर (देश) गया हुआ हैं । (अतः उसकी भी अकस्मात् लौट आने की सम्भावना नहीं है ।) (और) मैं अकेली बाला हूँ । (अतः) यहाँ (मेरे घर में) तुम्हारा (पथिक का) रहना कैसे (हो सकता है) ? अर्थात् कैसे भी नहीं हो सकता है ।

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

'का विसमा देव्वगई, किं लद्धव्वं जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं सुकलत्तं, किं दुग्गेज्झं खलो लोओ ॥'
(का विषमा 'दैवगतिः' किं लब्धव्यं जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं ! सुकलत्रं, किं दुर्ग्राह्यं ! खलो लोकः ॥)

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः । न चेदमनुमानम् । साध्यसाधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात् । न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात् ।

[यहाँ यह ध्वनित होता है कि यहाँ मेरे घर रहकर स्वच्छन्दतापूर्वक रमण करो]

अर्थ–(प्रकृत उदाहरण में प्रश्न का अनुमान दिखाते हैं।) **अनेनेति**–इस ("**वीक्षितुम्**"—इत्यादि उत्तर) से पथिक की ("मैं यहाँ रहना चाहता हूँ" अतः) रहने के लिये (स्थान की) प्रार्थना (वाले प्रश्न की) प्रतीति होती है। [अतः इसमें **उत्तरालंकार है ।**]

अर्थ—(२) (**द्वितीय प्रकार के उत्तरालंकार** का उदाहरण) **का विसमा इति**—विषय (वस्तु) क्या है ? प्रारब्धयोग; क्या (वस्तु प्रयत्न से) प्राप्त है ? गुणग्राही मनुष्य (प्राप्तव्य है); सुख का साधन क्या है ? साध्वी स्त्री; वश में करने में अशक्य क्या है ? दुष्ट मनुष्य ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में अनेक प्रश्नों में सामान्य मनुष्य के लिये अविचारणीय अनेक उत्तरों के देने से **उत्तरालंकार** है ।

(२) **खल** शब्द की व्युत्पत्ति:—**खं—छिद्रं लाति—आदत्ते गृह्णाति इति खलः ।**

अवतरणिका—परिसंख्या—अनुमान और **काव्यलिङ्ग** अलंकारों से **उत्तरालंकार** का भेद दिखाते हैं ।

अर्थ—यहाँ (**उत्तरालंकार में**) अन्य वस्तु के निराकरण में (उत्तर देने वाले के) तात्पर्य के न होने से **परिसंख्यालंकार** से भेद है । [**प्रश्न—'वीक्षितुनंक्षमा"** इत्यादि में उत्तर से प्रश्न का अनुमान होता है, अतः **अनुमानालंकार** ही मान लेना चाहिये, **उत्तरालंकार** के प्रथम भेद को मानने की क्या आवश्यकता है ? अतः कहते हैं कि] **न चेदमिति**—यह (**उत्तरालंकार**) **अनुमानालंकार** नहीं है । (क्योंकि) साध्य (**लिङ्गी**) और साधन (**लिङ्ग**) दोनों के कथन करने पर ही उसको स्वीकार किया जाता है । [अतः उक्त उदाहरण में उसप्रकार के पथिक के प्रश्न के अभिहित न होने से **अनुमानालंकार नहीं है** ।] [**प्रश्न**—यदि उत्तर से प्रश्न की कल्पना करनी है तो कारण के उत्तरवाक्य में व्यंग्य होने से **काव्यलिङ्ग अलंकार** ही मान लेना चाहिए; **उत्तरालंकार** को मानने की क्या आवश्यकता है ? अतः कहते हैं कि] **न चेति**—और नहीं **काव्यलिङ्गालंकार** है, (क्योंकि) उत्तर प्रश्न के प्रति उत्पादक कारण नहीं है ।

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते ॥८३॥

'मूषिकेण दण्डो भक्षित' इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका।

टिप्पणी—आशय यह है कि—उसप्रकार के प्रश्नों की प्रतीति के प्रति ही "**वीक्षितुम्**" इत्यादि वाक्यार्थ कारण है, उसप्रकार के प्रश्नों के प्रति नहीं, अतः **काव्यलिंगालंकार** है। तथा निष्पाद्य का यहाँ कथन भी नहीं है। इसलिये भी **काव्यलिंग** नहीं है, क्योंकि उसमें निष्पाद्य और निष्पादक दोनों का ही कथन होता है।

अथार्थापत्त्यलंकार निरूपणम्—

अर्थ (अर्थापत्यलंकार का लक्षण) दण्डेति—दण्डापूपिका न्याय से अन्य अर्थ की प्रतीति **अर्थापत्ति** (**अर्थस्य आपत्तिः—आपतनमुपस्थितिरिति यावत् अर्थापत्तिः**) **नामकालंकार** कहा जाता है।

टिप्पणी—"**दण्डापूपिका**" शब्द की व्याख्या—

(१) **दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका**। इसमें "ठन्" प्रत्यय।

(२) **दण्डापूपाविव दण्डापूपिका**। इसमें "कन्" प्रत्यय।

(३) **दण्डापूपयोर्भावः दण्डापूपिका**। इसमें वुञ् प्रत्यय।

अर्थ—(**दण्डापूपिका न्याय** की व्याख्या) **मूषिकेणेति**—"चूहे ने डण्डा खा लिया" इसप्रकार इस (वाक्य) से उस (डण्डे के खाने) के साथ (चूहे के द्वारा) मालपुये (अपूप) का (भी) खाया जाना तात्पर्य से ज्ञात हो जाता है, इस निश्चित समानन्याय से अन्य अर्थ का अर्थतः (शब्द से नहीं) ज्ञान हो जाता है—अतः यह न्याय **दण्डापूपिका** (कहलाता) है।

टिप्पणी—(१)**सारांश** यह है कि—चूहे के द्वारा डण्डे का खाया जाना अत्यन्त ही दुष्कर है, परन्तु जब उसने डण्डे को खा ही लिया तो उससे बँधे हुये मालपुओं का खाया जाना तो और भी सुगम है, अतः इसीप्रकार जहाँ किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा सुगम कार्य की सुगमसिद्धि प्रतीत होती है। वहीं यह **दण्डापूपिका न्याय** होता है।

(२) "**मूषिकेण दण्डो भक्षितः**" इसका प्राकरणिक वृत्तान्त इसप्रकार है—किसी घर में कोई रात्रि को अपने स्वामी को भोजन कराने के उपरान्त और स्वयं भी भोजन से अवशिष्ट मालपुओं को पति के पास ही दण्ड के ऊपर रखकर सो गई, उसका पति भी सोगया। प्रातःकाल मालपुओं से रहित तथा खाने से यत्किञ्चित् बचे हुए डण्डे को देखकर पति ने अपनी पत्नी से पूछा। पत्नी ने कहा कि—"**मूषिकेण दण्डो भक्षितः**"—अर्थात् चूहे ने डण्डा खा लिया। इसको सुनकर पति ने सोचा कि ठीक है "जिस चूहे ने डण्डे को खा लिया उसी ने मालपुये भी खा लिये" "क्योंकि वे दोनों साथ ही थे तथा डण्डे के खाने की अपेक्षा मालपुओं का खाना और भी आसान था। अतएव एक दुष्कर कार्य की सिद्धि हो जाने पर उसके समान किसी अन्य सुगम कार्य की सिद्धि का होजाना **दण्डापूपिकान्याय** कहलाता है।

अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिद-प्राकरणिकार्थात् । प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले ।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः ॥'

'विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम् ।
अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम् ॥'

अर्थ—(अर्थापत्यलंकार के भेद) **अत्रेति**—और इसमें (**अर्थापत्यलंकार में**) (१) कहीं प्राकरणिक अर्थ (वस्तु) से अप्राकरणिक अर्थ की उपस्थिति होती है। (और) (२) कहीं अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की (प्रतीति होती है।) इसप्रकार (इस **अर्थापत्ति** के) दो भेद (होते) हैं।

अर्थ—(१) क्रमशः (**प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होने पर अर्थापत्यलंकार का**) उदाहरण—**हार इति**—[**प्रसंग**—अपने दोष को छिपाने के लिये अपने मित्र से तरुणी का आलिङ्गन करने में तत्पर किसी कामी की उक्ति है।] यह हार मृगनयनियों के स्तनमण्डल पर लोट रहा है; मोतियों की (मुक्तानाम्) **अथवा** सांसारिक दुःख से निवृत्त मुक्तिपथ का अवलम्बन करने वाले मनुष्यों की (मुक्तानाम्) भी (यदि) यह अवस्था है। (तो) कामदेव के अधीन हम कौन (होते) हैं? अर्थात् कोई भी नहीं।

टिप्पणी—(१) यहाँ वर्णनीय होने से मुक्तपुरुष प्राकरणिक है, और अवर्णनीय होने से "हम" पद वाच्य अमुक्त पुरुष अप्राकरणिक है। इसप्रकार निर्वाणपद को प्राप्त, सांसारिक दुःखों से निवृत्त मनुष्यों का स्त्रियों के स्तनों पर अवलुण्ठन अत्यन्त ही दुर्घट है, और यदि ऐसा हो जाये तो सांसारिक व्यसनी भोगविलास में निरत हम जैसों का स्त्रियों के स्तनों पर अवलुण्ठन और भी अधिक सुघट है, अतः प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो जाने से लक्षण की संगति हो जाती है। यहाँ पर मुक्त और अमुक्तों की समानता पुरुषत्व रूप साधारण धर्म के कारण समझनी चाहिये।

अर्थ (**अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होने पर अर्थापत्य-लंकार** का उदाहरण) विललापेति—[**प्रसङ्ग**—**रघुवंशकाव्य** के अष्टम सर्ग में यह पद्य है] वह (अजनामक राजा) स्वाभाविक भी धीरता को छोड़कर आँसुओं से गद्गद् होकर विलाप करने लगे। **तथा च**—सर्वतः सन्तप्त किया हुआ लोहा भी मृदु हो जाता है (तो स्वभाव से ही कोमल) प्राणियों के विषय में क्या कहना? अर्थात् कुछ भी नहीं।

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते–'हारोऽयम्' इत्यादौ। न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्।

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयुतः।

यथा—

'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा।'

टिप्पणी (१) **आशय यह** है कि यदि सन्तप्त होकर लोहा भी द्रवित हो जाता है, तो इन्दुमती के वियोग में अज के भी उसीप्रकार से सन्तप्त हो जाने पर क्या आश्चर्य ?

(२) यहाँ प्रकृत उदाहरण में प्राणियों का द्रवित हो जाना प्राकरणिक है। तथा लोहे का द्रवित हो जाना वर्णनीय न होने से अप्राकरणिक हैं। अतः अप्राकरणिक होने से लोहे के मृदु होने रूप तात्पर्य से प्राकरणिक प्राणियों के मृदु हो जाने रूप अर्थ की प्रतीति होने से **अर्थापत्त्यलङ्कार** है। यहाँ पर लोहे और प्राणियों में समानता सन्तप्त रूप साधारणधर्म से समझनी चाहिये।

अर्थ—(निष्कर्ष दिखाते हैं।) **अत्रेति**—और यहाँ (**अर्थापत्त्यलङ्कार** के स्थलों में) समानन्याय के (**दण्डापूपिकान्याय के**) श्लेषमूलक होने पर विशेषवैचित्र्य होता है। यथा—उदाहृत "**हारोऽयम्**" इत्यादि ("**मुक्तानाम्**" में श्लेष है) में। **न चेति**—तथा यह (अर्थापत्त्यलङ्कार) अनुमानालङ्कार (अनुमान से साध्य ज्ञान) नहीं है; (क्योंकि) समानन्याय के अन्दर व्याप्ति का अभाव है।

टिप्पणी (१) **सारांश** यह है कि—एक के सिद्ध होने पर उसके समान अन्य की सिद्धि का ज्ञान हो जाना समानन्याय कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृत में कारण और साध्य के अन्दर समानाधिकरण्य रूप व्याप्ति के न होने से **अनुमानालङ्कार नहीं है।**

अथविकल्पालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**विकल्पालङ्कार** का लक्षण) **विकल्प इति**—(**कवि की**) **चतुरता** (**वैचित्र्य**) से युक्त समान बलवाली (वस्तुओं) का विरोध (विप्रतिपत्ति) **विकल्प** (**विरुद्धौकल्पौ–पक्षौ यत्रेति विकल्पः**) **नामकालङ्कार** (होता) है।

(**विकल्पालङ्कार का उदाहरण**) **यथा—नम्यन्तमिति**—[**प्रसङ्ग**—**किसी शत्रु के प्रति राजदूत की यह उक्ति है।**] (अपनी पराजय को स्वीकार करके हमारे राजा के सामने) सिर झुकाओ अथवा (यदि शक्ति है, तो युद्ध के लिये धनुष को झुकाओ; (हमारे राजा की) आज्ञाओं को (पराजय मानकर) कर्ण के आभूषण के समान बनाओ अथवा (यदि शक्ति है तो) धनुष की प्रत्यञ्चा को (युद्ध के लिये) कानों तक खींचो।

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोःसन्धिविग्रहोपलक्षणत्वात्, सन्धिविग्रहयोश्चैकदा कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः, स चैकपक्षाश्रयणपर्यवसानः।

तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात्। चातुर्यं चात्रौपम्यागर्भत्वेन। एवं 'कर्णपूरीक्रियन्ताम्' इत्यत्रापि।

एवं—

'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।'

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम्।

अवतरणिका प्रश्न—असमर्थ का शिर झुकना और समर्थ का धनुष झुकाना समान बल वाले कैसे हुये ? इसका **समाधान** करते हैं।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शिर का और धनुष का झुकाना सन्धि और विग्रह का परिचायक (अर्थात् सिर झुकाना सन्धि का और धनुष झुकाना विग्रह का परिचायक) है। तथा सन्धि और विग्रह के युगपत् न हो सकने से विरोध (आता) है और वह (विरोध) एक पक्ष का (शिरोनमन तथा धनुर्नमन में से किसी एक पक्ष का अर्थात् सन्धि और विग्रह में से किसी एक पक्ष का) आश्रय लेने से समाप्त हो जाता है।

(शिरोनमन और धनुर्नमन की तुल्यबलता का प्रतिपादन करते हैं।) तुल्येति—और यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) धनुर्नमन और शिरोनमन दोनों की ही (वक्ता की) स्पर्धा से सम्भावना है, अतः तुल्यबलता है। [अर्थात् अपनी शक्ति के ज्ञान से शत्रुओं का शिरोनमन और अपनी अधिक शक्ति के ज्ञान से धनुर्नमन—ये दोनों ही वक्ता के अहंकार से सम्भव हो सकते हैं, अतएव इन दोनों की सम्भावना का होना ही समानबलता है।] और यहाँ उपमा के सादृश्य से ही (**अर्थात्—"धनुंषीव शिरांसि नम्यन्ताम्" इति** (कवि प्रतिमोत्थितो) विशेष वैचित्र्य है। **[अर्थात्**—शिरोनमन गर्व से प्रस्तूयमान होने से उपमेय है और धनुर्नमन उपमान है। अतः जिसप्रकार शक्तिशाली धनुष को झुकाते हैं, उसीप्रकार से ही क्षीणशक्ति आप शिरों को झुकाइये—इस उपमा सादृश्य से विशेष चमत्कार है।] **एवमिति**—इसीप्रकार **"कर्णपूरीक्रियन्ताम्"** इसमें भी (समझ लेना चाहिये।)।

एवमिति—इसीप्रकार "**श्रीकृष्णजी के दोनों नेत्र अथवा शरीर तुम्हारे (भक्तों का) सांसारिक दुःखों की समाप्ति करें**(—"**कुरुताम्**" इसका "**नेत्रे**" के साथ अन्वय होने पर यह लोट्लकार परस्मैपद के प्रथम पुरुष के द्विवचन का रूप है, तथा "**तनु**" के साथ अन्वय होने पर लोट्लकार आत्मनेपद के प्रथम पुरुष का एक वचन का रूप है।) यहाँ श्लेष के कारण चमत्कारिता है। [**तथाहि**—नेत्र और शरीर दोनों के अन्दर सांसारिक दुःखों को विनष्ट करने की शक्ति होने के कारण तुल्यबलता है। उन दोनों में से किसी एक से भी दुःखों की समाप्ति हो जाने से दूसरे की कोई आवश्यकता नहीं रहती है; अतः विरोध है—इन दोनों में से किसी एक का आश्रय ले लेने से विरोध का परिहार हो जाता है। अतः यहाँ पर भी **विकल्पालङ्कार** है।]

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा।'

इत्यत्र चासुर्याभावान्नायमलङ्कारः।

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके ॥८४॥

खलेकपोतिकान्यायात्तत्कारः स्यात्परोऽपि चेत्।

गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये ॥८५॥

अर्थ—दीयतामिति—"(अपना) अर्जित किया हुआ धन देवताओं को **अथवा ब्राह्मणों को दे दीजिये**"—यहाँ चमत्कार के न होने से यह (विकल्प) अलंकार नहीं है। [यहाँ देवताओं और (ब्राह्मणों—दोनों के श्रेष्ठ होने से तुल्यबलता है। एक को दान दे देने पर अन्य को दे सकना असम्भव है—अतः विरोध है, एक को ही दान देना अभिमत है—अतः विरोध का परिहार हो जाता है।

टिप्पणी—(१) **युष्माकं कुरुताम्**—यह सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

भक्तिप्रह्वविलोकन प्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्द्धिनी,
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेति तत्प्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती,
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वि हरेः॥

अथ समुच्चयालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**समुच्चयालङ्कार** का लक्षण) **समुच्चय इति**—कार्य को (सिद्ध करने में) एक कारण के होने पर यदि **खलकपोत न्याय** से (**खले—धान्यादिमर्दनस्थान विशेषे कपोतिकान्यायात्—कपोता इवेति कपोतिका सैव न्यायो-नीति स्तस्यात्**) दूसरा भी (कारण) उस कार्य को सम्पन्न करने वाला हो, (तो) यह **समुच्चय (अभिहितानां कारणादीनां परस्परान्वये-परस्परानुकर्षः इति) नामकालंकार** होता है। अथवा एक साथ (कोई) दोगुण अथवा (कोई) दो क्रियायें हों अथवा एक गुण और एक क्रिया (यदि युगपत्) हों (तब भी यह **समुच्चयालंकार** होता है।)।

टिप्पणी—(१) **खलकपोतिका न्याय की व्याख्या**—खलिहान में जिस प्रकार वृद्ध-युवक और शिशु सभीप्रकार के कबूतर खाने के लिये एकसाथ ही एकत्रित हो जाते हैं, उसीप्रकार एक कार्य को सम्पन्न करने के लिये जहाँ एक समय में ही अनेक कारण उपस्थित हो जावें—तो उस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये वह "**खल-कपोतिकान्याय**" कहलाता है। इस न्याय की व्याख्या **जगदीशभट्टाचार्य** ने इस-प्रकार की है।

यथा मम—

'हंहो धीरसमीर हन्त जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं परिचयो गोदावरीवारिभिः ।
प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निव-
न्मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः ॥'

अत्र दाहे एकस्मिश्चन्दनक्ष्माभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां हेत्वन्तराणामुपादानम् ।

**"वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथाऽमी युगपत्पतन्ति ।
तथैवसर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणान्वयिनो भवन्ति ॥'**

(२) **"खलकपोतन्याय"** के अनुसार जहाँ दोगुणों' दो क्रियाओं अथवा एकगुण और एक क्रिया की युगपत् उपस्थिति होती है, वहाँ **समुच्चयालङ्कार** होता है। और यह **समुच्चयालङ्कार** उक्त रीति से चार प्रकार का होता है। पुनश्च यही अलंकार (१) सद् (२) असद् और (३) सदसद् का योग होने पर तीन प्रकार का होता है। इसप्रकार इसके **बारह भेद** हुये।

(३) **काव्यलिङ्ग—समाधि** का **समुच्चयालङ्कार** से भेद—**काव्यलिङ्ग** में कारण मात्र की विवक्षा होती है। **समाध्यलङ्कार** में एक कारण से कार्य के सम्पन्न होने पर आने वाले दूसरे कारण से कार्य की सुगमता विवक्षित होती है, और यहाँ **समुच्चयालङ्कार** में कार्य को सिद्ध करने में अनेक कारणों की एक साथ कारणता विवक्षित होती है। यही इनमें परस्पर भेद है।

अर्थ—(**प्रथम प्रकार के समुच्चयालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार कृत—**हंहो इति**--[**प्रसङ्ग**—कोयल के शब्द को सुनकर अत्यन्त सन्तप्त किसी विरही की दक्षिण पवन के प्रति उक्ति है।] हे धीरवायो ? तुम्हारी मलयपर्वत से उत्पत्ति है, सरलता और दक्षिण दिशा में होना (दाक्षिण्यम्) संसार में (तुम्हारी) विलक्षणता है; गोदावरी नदी के जल के साथ (तुम्हारा) पारिचय है; इसप्रकार के भी तुम यदि प्रचण्ड दावाग्नि के समान मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग को जलाते हो, (तो) गर्वित मलिन स्वभाव वाली और कृष्णवर्णवाली निरन्तर वन में भ्रमण करने वाली और असभ्य इस कोयल को (मैं) क्या कहूँ ? अर्थात् कुछ भी नहीं कह सकता हूँ।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि यदि आप जैसे उत्तम मनुष्य भी दूसरों को पीडित करते हैं, तो दुष्ट मनुष्य यदि दूसरों को दुःख दें तो उनसे हम का क्या कहें ?

(२) यह अलङ्कार अर्थापत्यलङ्कार से सङ्कीर्ण है।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः। अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीनामशोभनानां योगादसद्योगः।

सदसद्योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहुः—'शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वं चेति सदसद्योगः' इति । अन्ये तु—'शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः।'

अर्थ—(प्रथम लक्षण की योजना करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) जलाने में एक मलयपर्वत से उत्पन्न होने रूप कारण के होने पर भी दाक्षिण्यादि ("आदि" पद से गोदावरी के जल के साथ परिचय और धीरता का ग्रहण होता है।) अन्य (जलाने वाले) कारणों का उपादान है। [**यहाँ विषमादि अलङ्कार भी है।**] **अत्रेति**—यहाँ (पूर्वार्द्ध में) सभी (मलयपर्वत से उत्पत्ति आदि) कारणों के शोभन होने से सद्योग (**सतां—उपादेयानां कारणानां केवलानां योगःसदयोगः**) है। यही चतुर्थ चरण में (सभी) मत्तादि अशोभन (कारणों) के योग से असद्योग (**असतां—अनुपादेयानां कारणानां केवलानां योगः असद्योगः**) है।

अर्थ—सदसद्योग (**समुच्चयालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—**शशीति**—**प्रसङ्ग— भर्तृहरि कृत नीतिशतक** में यह पद्य है।] (१) दिन की प्रभा से निस्तेज चन्द्रमा (२) विगतयौवनातरुणी (३) कमलशून्य सरोवर (४) सुन्दर आकृति वाले (मनुष्य) का विद्याहीन मुख (५) धन का लोभी (अतिलोभ से सदसद् विवेकशून्य) राजा (६) निरन्तर दुखस्थावाला सज्जन (और) (७) राजसभा में विद्यमान दुष्ट (ये) सात मेरे मन में (दुःखदायक होने से) शल्य (चुभे हुये) हैं।

टिप्पणी—यहाँ दिन की प्रभा से मलिन चन्द्रमा रूप मानसिक दुःख के कारण के होने पर भी गलितयौवनादि विशिष्ट कामिनी आदि को मानसिक दुःख के कारण के रूप में ग्रहण किया है। अतः **समुच्चयालङ्कार** है।

अर्थ—(**सदसद्योग** का प्रतिपादन करते हैं।) **इहेति**—इस (प्रकृत उदाहरण में) विषय में कुछ (आचार्य कहते हैं कि—"चन्द्रमा प्रभृति की शोभनता (और) खल की अशोभनता—यह सदसद्योग (अर्थात् शोभन और अशोभन का योग) है" इति। **अन्येत्विति**—दूसरे (**अलङ्कारसर्वस्वकार** मानते हैं कि) तो—"चन्द्रमाप्रभृति (से सज्जन पर्यन्त) की स्वतः शोभनता है (और) धूसरता (से दुर्गततापर्यन्त) आदिकों की अशोभनता है—अतः (शोभन अशोभन कारणों के योग से) सदसद्योग है।"

अत्रहि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्ति-विशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम् । 'मनसि सप्त शल्यानि मे' इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसंहारश्च । 'नृपाङ्गनगतः खल' इति तु क्रमभेदाद् दुष्टत्वमावहति सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति ।

अर्थ — [**प्रश्न**–चन्द्रमा प्रभृति की शोभनता और दुष्ट की अशोभनता इनके योग से सदसद्-योग को स्वीकार नहीं करते हो ? इसका **उत्तर**–देते हैं ।] **अत्रहीति–**क्योंकि यहाँ चन्द्रमा प्रभृति में धूसरत्वादि की ("आदि" पद से गलितयौवनत्व–विगतकमलत्व–विद्याशून्यत्व-धनपरायणत्व और सतत् दुर्गतत्व रूप विशेष धर्मों का ग्रहण होता है ।) अत्यन्त ही अनुचितता है, इसप्रकार (यह) वैचित्र्य विशेष ही चमत्कार का जनक है । ("**केचित्**"– इत्यादि से अभिहित सदसद्योग की चमत्कार जनकता नहीं है ।) [**सारांश यह** है कि उज्वल आकृति वाले चन्द्रमा की दिन के कारण मलिनता अनुचित है । इसीप्रकार विगत यौवन वाली कामिनी का विगत यौवन होना अनुचित है । इसीप्रकार सरोवर का कमल शून्य होना, सुन्दर आकृति वाले मनुष्य का विद्या से शून्य होना, राजा का धन-परायण होना अथवा धनपरायण मनुष्य का राजा होना, सज्जन की दुर्गति होना अथवा दुरावस्थावाले का सज्जन होना; राजा की सभा में दुष्ट का होना अथवा दुष्ट का राजा की सभा में पहुँच जाना-ये सभी अत्यन्त अनुचित है । और यही वैचित्र्यविशेष चमत्कार को उत्पन्न करने वाला है । [**मनसीति**— और "**मनसि सप्तशल्यानि मे**" इससे–सातों का शल्य रूप से उपसंहार हुआ है । "**नृपाङ्गनगतः खलः**" यहाँ (प्रस्तुत) क्रम की (अर्थात् अन्यत्र सब जगह विशेष्य शोभन है और विशेषण अशोभन है–इस प्रस्तुत क्रम की) भिन्नता होने से **भग्नप्रक्रमत्वदोष** आता है, [**तथाच**—"**नृपाङ्गनगतः खलः**" यहाँ नृपाङ्गनगतत्वेन शोभनता है और खलत्वेन अशोभनता है । क्योंकि सर्वत्र ("**शशीदिवसधूसरः**" इत्यादि में) विशेष्य के ही (धूसरत्वादि विशेषण की नहीं) शोभन होने में क्रम है ।

टिप्पणी—(१) आशय यह है कि विशेष और विशेषण में ही सद् और असद् का योग होने से सदसद्योग होता है, यह मानने से धूसरत्वादि विशेषणों के भी विचाराधीन होने से शशि आदि में धूसरत्वादि अयुक्त विशेषणों के ही प्रस्तुत खल में "**नृपाङ्गनगतः**" इस अयुक्त विशेषण से ही समाप्त होने के कारण किसी प्रकार भी **भग्नप्रक्रमत्वदोष** नहीं आता है ।

(२) यहाँ पर "**केचित्**" से पूर्वपक्ष की स्थापना की है और "**अन्येतु**" से खण्डन किया है ।

इह च खलेकपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः। समाध्यलङ्कारे त्वेककार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः।

'अरुणे च तरुणि नयने तव मलिनं च प्रियस्य मुखम् ।
मुखमानतं च सखि ते ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः ॥'

अत्राद्येऽर्थे गुणयोर्यौगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः।

उभयोर्यौगपद्ये यथा—

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः।"

अवतरणिका—समाध्यलङ्कार से समुच्चयालंकार का भेदः—

अर्थ—यहाँ (**समुच्चयालंकार में**) खलिहान में कबूतरों की तरह सभी कारणों की युगपत् उपस्थिति होती है। और **समाध्यलंकार** में एक कार्य के प्रति कारण के पर्याप्त होने पर भी दूसरे (कारण) की **काकतालीय न्याय** से उपस्थिति होती है—यही (इन दोनों में) भेद है।

टिप्पणी—(१) **काकतालीयन्याय** की व्याख्या—जिसप्रकार कौये के उड़ने से ताल का फल भी गिर पड़ता है; उसीप्रकार अकस्मात् जहाँ अन्य कारण की उपस्थिति हो जाती है, वहाँ **काकतालीय न्याय** कहलाता है।

(२) आशय यह है कि—**यत्र कार्यविशेषं मिलितान्येव कारणानि जनयन्ति स समुच्चयस्य विषयः, यत्र तु एकस्मिन् कारणे फलसाधनायानुष्ठीयमाने दैवादुत्पन्नेन कारणान्तरेण तत्फलस्य सुकरत्वं स समाधिः इति।**

अवतरणिका—दो गुण और दो क्रियाओं के युगपत् होने पर **समुच्चयालंकार का** उदाहरण देते हैं।

अर्थ—[**प्रसंग**—प्रणयमान करती हुई नायिका के प्रति उसकी सखी की उक्ति है।] हे तरुणी ? तुम्हारे दोनों नेत्र लाल (हो गये), और (तुम्हारे) प्रिय का मुख मलिन (हो गया) (तथा) हे सखी ! तुम्हारा मुख (कोप शान्ति से) नीचा हुआ और इस (तुम्हारे प्रिय) के हृदय में कामाग्नि प्रज्वलित हो गई।

टिप्पणी—उक्त पद्य में युगपत् की सूचना के लिये चारों "चकार" का प्रयोग हुआ है।

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) पूर्वार्द्ध में (अरुणिमा और मलिनता) गुणों का योगपद्य है, द्वितीयार्द्ध में (आनमन और ज्वलन) क्रियाओं का (योगपद्य) है। [अतएव यहाँ पूर्वार्द्ध में **गुणसमुच्चय**—है, और उत्तरार्द्ध में **क्रियासमुच्चय** है।]

टिप्पणी—गुण और क्रियाओं में द्विवचन अविवक्षित है।

अर्थ—दोनों (गुण और क्रियाओं की एक कालिकता का (उदाहरण) यथा—

कलुषमिति—[**प्रसंग**—राजा की स्तुति है।] हे नृपश्रेष्ठ, तुम्हारे शुभ्रकमल के समान शोभा वाले नेत्र अकस्मात् (जैसे ही) शत्रुओं के ऊपर कलुषित हुये (वैसे ही) उन (शत्रुओं) के शरीरों पर स्पष्टरूपेण आपत्तियों के कटाक्ष गिरने लगे।

'धुनोति चासिं तनुते च कीर्त्तिम् ।'
इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते ।

न चात्र दीपकम्, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकारानियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः । दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः ।

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में कलुषता गुण और पतन क्रिया—इन दोनों का योगपद्य दोनों चकारों से प्रतीत होता है, अतः **समुच्चयालंकार** है ।

(२) इस अलंकार का वैय्यधिकरण्य में ही अधिक प्रयोग होता है, और वही विषेष चमत्कार को उत्पन्न करने वाला होता है ।

अवतरणिका—रूद्रट वैय्यधिकरण्य में ही **समुच्चयालंकार** मानते हैं, अतः उनके मत का निराकरण करते हैं ।

अर्थ--[प्रसंग—राजा की स्तुति है ।] धुनोतीति—"(यह राजा) तलवार को हिलाता है और यश का विस्तार करता है"—इत्यादि में एक अधिकरण में भी यह (गुण और क्रियारूप **समुच्चयालंकार**) होता है । [अतः **रूद्रट** का मत ठीक नहीं है ।] ॥

टिप्पणी--इससे यह ध्वनित होता है कि गुण और क्रियाओं का समुच्चय वैय्यधिकरण्य में ही अधिक होता है, समानाधिकरण्य में तो कहीं कहीं ही होता है ।

अवतरणिका--प्रश्न--"**धुनोति चासिम्**"--इस उदाहरण में एककर्ता में अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध होने से "**अनेक क्रियाओं में एक कारकरूप दीपकालंकार** क्यों नहीं मानते हो ? इसका **समाधन** करते हैं---

अर्थ--यहाँ ("**धुनोतिचासिम्**"···इत्यादि में) **दीपकालंकार** नहीं है । क्योंकि गुण और क्रिया के यौगपद्य में ये (उदाहृत स्वरूप) **समुच्चय** के भेद नियम से कार्य-कारण के पौर्वापर्य (कारण की पूर्ववर्तिता और कार्य की पश्चात्वर्तिता) के विपर्यय रूप अतिशयोक्तिमूलक होते हैं । और **दीपकालङ्कार** अतिशयोक्ति मूलक नहीं होता है ।

टिप्पणी—(१) भाव यह है कि "**धुनोति चासिम्**" इत्यादि में कीर्ति-विस्तार के प्रति तलवार कारण है । इन दोनों में पौर्वापर्यभाव के विद्यमान होने पर भी युगपद् की विवक्षा होने से और अतिशयोक्ति के मूल में होने से **क्रियासमुच्चयालङ्कार**" ही है ।

(२) इसप्रकार **उक्तरुपातिशयोक्त्युपलम्भेक्रियासमुच्चयः, तदनुपलम्भे तु दीपकम्**" ।।**इति**।।

अथ समाध्यलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**समाध्यलङ्कार** का लक्षण) **समाधिरिति**—अकस्मात् अन्य वस्तु (कारण) के आ जाने से कार्य के सुगम हो जाने पर समाधि (**समाधीयते कार्यमनेन इति समाधिः** अथवा **सम्यक्** आधिः—आधानं—**उत्पादनमिति समाधिः**) **नामकालङ्कार** (होता) है ।

यथा--

'मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्टयेदमुदीर्णं घनगर्जितम् ।।'

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।।८६।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ।

तस्यैवेति रिपोरेव ।

टिप्पणी—अर्थात्—"**चिकीर्षितस्य कार्यस्य सिद्धयर्थमभिमतो यो हेतुः, तदतिरिक्त हेतुना कार्यस्य सौकर्यं समाधिः ।।इति।।**

अर्थ—(**समाध्यलङ्कार** का उदाहरण) यथा--मानमिति--[**प्रसंग**—**काव्यादर्श** के द्वितीय परिच्छेद में **दण्डी** ने इस पद्य को रखा है । इसमें कोई नायक अपनी नायिका के मानभङ्ग करने के प्रकार का अपने मित्र से वर्णन कर रहा है ।] इस (मानिनीप्रिया) के मान को दूर करने के लिये (उसके) चरणों में गिरते हुये मेरे उपकार के लिये भाग्य से यह मेघ की गर्जना उत्पन्न हो गई ।

टिप्पणी—(१) मानिनी नायिकाओं के चरणों में गिरना भी मान भङ्ग का कारण होता है क्योंकि कहा भी है कि—

"**साम भेदं चदानं च नृत्युपेक्षे रसान्तरम् ।**
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानितिक्रमात् ।। इति ।।

इसप्रकार केवल चरणों में गिरने से उसका मानभङ्ग होना अत्यन्त ही असम्भव था, किन्तु बादलों के गर्जन को सुनकर उसके कामवश हो जाने से वह आसान हो गया । अतएव यहाँ प्रकृत उदाहरण में चरणों में गिरने रूप कारण से प्रारम्भ किये हुये मान भङ्गरूप कार्य के आकस्मिक मेघ गर्जना रूप अन्य कारण के उपस्थित हो जाने के कारण सुगम हो जाने से **समाध्यलङ्कार** है ।

अथ प्रत्यनीकालङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—(**प्रत्यनीकालङ्कार** का लक्षण) **प्रत्यनीकमिति**—शत्रु का तिरस्कार करने में अशक्त (मनुष्य) के द्वारा (किया हुआ) उस शत्रु के सम्बन्धी का तिरस्कार यदि उस (शत्रु) के ही उत्कर्ष का साधक हो (तो) **प्रत्यनीक** (**प्रतिकूलमनीकमित्यर्थः अथवा अनीकेन सदृशं प्रत्यनीकम्**) नामकालङ्कार (होता) है । [कारिकास्थ "**तस्यैव**" पद की व्याख्या करते हैं ।] **तस्यैवेति**—**तस्यैव**—अर्थात् शत्रु का ही ।

टिप्पणी—(१) **प्रत्यनीकालङ्कार** का अन्य लक्षण—

"**बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे ।**
यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ।।इति।।

(२) संसार में शत्रु का तिरस्कार करने के लिये अनीक (सेना) का प्रयोग किया जाता है । और यदि उसका तिरस्कार करने में असमर्थ है तो उसके किसी सम्बन्धी का तिरस्कार किया जाता है । अतः अनीक के समान प्रयुक्त होने के कारण **प्रत्यनीकालंकार** कहलाता है । इसमें शत्रुपक्ष बलवान् होता है । और आत्मपक्ष दुर्बल होता है—ऐसा **रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ** का आशय है ।

यथा मम—

'मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् ।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥'

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ॥८७॥
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ।

क्रमेण यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।' इत्यादि ।

अर्थ—(**प्रत्यनीकालंकार** का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार-कृत् **मध्येनेति**—क्षीण कटि वाली (इस नायिका) ने (अपने) कटिप्रदेश से मेरा (सिंह का) कटिप्रदेश (अर्थात् सिंह के मध्य भाग की अपेक्षा नायिका के मध्यभाग के अधिक कृश होने से) जीतलिया है—इस कारण (क्रोध) से यह सिंह इस (नायिका) के (प्रतिकार करने में असमर्थ) स्तन कलश के समान हाथी के गण्डस्थल को (नाखूनों से) विदीर्ण करता है ।

टिप्पणी—(१) प्रस्तुत उदाहरण में सिंह के मध्य भाग को जीत लेने से प्रस्तुत नायिका सिंह की शत्रु है और सिंह साक्षात् स्त्रीरूपत्वेन उस नायिका का अपकार करने में असमर्थ है । अतः शत्रु के सम्बन्धित्वेन कल्पना करके हाथी के गण्ड-स्थल को विदीर्ण करता है । अतः **प्रत्यनीकालङ्कार** है ।

अथ प्रतीपालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**प्रतीपालङ्कार** का लक्षण) **प्रसिद्धस्येति**—विख्यात उपमान को उपमेय बना देना अथवा (उस उपमान को) व्यर्थ प्रतिपादन कर देना **प्रतीप** (**प्रतिगता आपोयस्मिन्—इति प्रतीपं—आनत्तोन्नत स्थलं, तत्साम्यात् लक्षणया अलङ्कारोऽपि तन्नामकः**) **नामकालङ्कार** कहलाता है ।

टिप्पणी—(१) यह **प्रतीपालङ्कार** दो प्रकार का होता है—

(१) प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बना देने से—और

(२) उपमान को निष्फल कह देने से

अर्थ—(१) क्रमशः (**प्रथमप्रकार** से **प्रतीपालङ्कार** का उदाहरण) यथा—**यदिति** (इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।)—इत्यादि ।

टिप्पणी—यहाँ क्रमशः नेत्र-मुख तथा गति के उपमान रूप से प्रसिद्ध होने पर भी इन्दीवर-शशि और राजहंस की गति को उपमेय बना दिया है, अतः **प्रतीपा-लङ्कार है** । यह मालारूप है ।

'तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद्द्युति—
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं का सुधा ।
धिक्कन्दर्पधनुभ्र्ुवौ यदि च ते किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥'

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम् ।

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ॥८८॥
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥

यथा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मा स्म दृप्यः ।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥'

अर्थ—(२) (द्वितीय प्रकार के **प्रतीपालङ्कार** का उदाहरण) **तदिति**—[**प्रसङ्ग—हनुमन्नाटक** में सीता का ध्यान करते हुये रावण की यह उक्ति है ।] यदि उस (सीताजी) का मुख है (तो) चन्द्र सम्बन्धिनी कथा संकुचित अर्थात् समाप्त हो गई, यदि (सीता सम्बन्धिनी) वह (शरीर की) शोभा है (तो) सुवर्ण शोचनीय (हा !) है । (इससे सुवर्ण की निष्फलता प्रतीत होती है); यदि उस (सीताजी) के नेत्र हैं (तो) नीलकमल पराजित हो गये (विकल हो गये) यदि वह (सीता सम्बधिनी) मृदुहास्य है (तो) अमृत क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है, और यदि वे (सीता सम्बन्धी) भृकुटिद्वय हैं (तो) कामदेव के धनुष को धिक्कार है (निन्दा करता हूँ), अथवा अधिक क्या कहें (क्योंकि) ब्रह्मा की सृष्टि प्रणाली दूसरी वस्तु से विपरीत होती हैं अर्थात् ब्रह्मा एक वस्तु के समान दूसरी वस्तु का निर्माण नहीं करता है—यह जो (कहा जाता) है, (यह) यथार्थ है । [इससे केशपाशादिकों के होने पर चामरादिकों की विफलता प्रतीत होती है ।]

(लक्ष्य को घटाते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मुखादिकों ने ही चन्द्रमा आदि की शोभा से अधिक (शोभा) धारण कर ली है । (अतः) उनकी (चन्द्रमादिकों की) निष्फलता (प्रतीत होती) है ।

अर्थ—(२) (प्रकारान्तर से **प्रतीपालङ्कार** का लक्षण) **उक्त्वेति**—अत्यन्त श्रेष्ठ वस्तु का अत्यन्त उत्कर्ष कहकर (उसकी ही) उपमान रूप में कल्पना कर लेने पर भी (अर्थात् जिस धर्म से उत्कर्ष का वर्णन किया है, उसी धर्म से अप्रसिद्ध की भी उपमान रूप से कल्पना कर लेने पर) कुछ (आलङ्कारिक) **प्रतीपालङ्कार** कहते है ।

अर्थ—(**प्रतीपालङ्कार** का उदाहरण) यथा—**अहमिति**—हे कालकूट ! हे तात ! मैं ही अत्यन्त भीषणों में (प्राणघातियों में) श्रेष्ठ हूँ—इसप्रकार का (तुम) गर्व मत करो, (क्योंकि) इस संसार में तुम्हारे समान दुर्जनों के वचन बहुतायत से है । [अतः अपने को अद्वितीय समझकर अहंकारयुक्त मत होवो ।]

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः। तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः।
यथा—

'ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति' इत्यादि।

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा ॥८९॥

अत्र समानलक्षणं वस्तु क्वचित्सहजं क्वचिदागन्तुकम्।

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (उक्त उदाहरणों में) प्रथम चरण में (हालाहलका) अतिशय उत्कर्ष कहा गया है। उस (उत्कर्ष) का कथन न करने पर तो यह अलङ्कार नहीं (होता) है। यथा—"ब्रह्मा के समान ब्राह्मण बोलता है।" इत्यादि।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि कालकूट के अत्यन्त उत्कट दुःख के कारण होने से उपमामूलक अतिशय उत्कर्ष का कथन है। तथा दुःख का कारण होने पर भी अत्यन्त उत्कट हालाहल का "**सुदारुणां गुरुः**" इससे अत्यन्त उत्कर्ष कहने के उपरान्त "**भवादृशानि**" इससे उपमान की प्रतीति होती है। अतः **प्रतीपालङ्कार** है।

(२) "**ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति**" इसमें उपमा ही है, प्रतीपालङ्कार नहीं क्योंकि यहाँ पर उपमानभूत ब्रह्मा के उत्कर्ष का अतिशय प्रतिपादित नहीं किया गया है।

(३) **कुवलयानन्द** में इतना अधिक है—

चतुर्थ प्रकार का प्रतीप—"**वर्ण्येनान्यस्योपमायां अनिष्पत्ति वचश्च तत्।**
मुधापवादो मुग्धाक्षि, त्वन्मुखाभं किलाम्बुजम्॥

पञ्चमप्रकार का प्रतीप—"**प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते।**
दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना॥"

अथ मीलितालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**मीलितालङ्कार** का लक्षण) **मीलितमिति**—किसी (सहज या आगन्तुक) समान चिह्न वाले (पदार्थ) से (अनुरूप किसी अन्य) वस्तु का छिपाना, **मीलित** (**मीलितं—यत्किञ्चित् वस्तु वस्त्वन्तरेण गुप्तम् इति**) **नामकालङ्कार** (होता) है। **अत्रेति**—यहाँ (**मीलितालङ्कार** में) समान लक्षण वाली वस्तु कहीं स्वाभाविक (और) कहीं औपाधिक (होती) है। [अतः यह दो प्रकार का होता है।]

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है। कि—समान चिह्न वाली वस्तुओं में से एक के स्वभाव से प्रबल होने के कारण उससे यदि दूसरी वस्तु का गोपन हो जाता है तो **मीलितालङ्कार** होता है।

(२) **व्याजोक्ति** से **मीलितालङ्कार** का भेद—

व्याजोक्त्यलंकारे वस्तु स्वभावजनितं न गोपनं किन्तु कथञ्चिद् उद्भिन्नं वस्तु कश्चित् गोपयितुं यतते, अत्र (मीलितालंकारे) तु **वस्तु नोद्भिन्नं तस्यापि च गोपनं भवतीति**—यही भेद है।

(३) **अपह्नुति** और **मीलितालंकार** में भेद—

"**अपह्नुतौ निषेधसहितं व्यवस्थापनम् अत्र तु न तथा**" यह भेद है।

क्रमेण यथा—

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः।
ग्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया॥'

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा।

'सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि।
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुन यूनाम्॥'

---

(४) सामान्यालंकार और मीलितालंकार में भेद—

"सामान्यालंकारस्य हि साधारणगुणयोगात् भेदानुपलक्षणं रूपम्, अस्य तु उत्कृष्टगुणेन निकृष्ट गुणस्य विरोधानम्—यह भेद है।

(४) काव्यप्रकाशकार ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
निजेना गन्तुना वाऽपि तन्मीलितमिति स्मृतम्॥ इति॥

अर्थ—क्रमशः (सहजमीलिताङ्कार का उदाहरण) यथा—**लक्ष्मीति—**विष्णुजी के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी के स्तनों के कस्तूरी चिह्न नीलकमल की कान्ति के समान कान्ति वाली (विष्णुजी की शरीर की) कान्ति से ग्रस्त (होने के कारण) सरस्वती ने (उस कस्तूरीचिह्न को) नहीं देखा।

(लक्ष्य की योजना करते हैं।) **अत्रेति—**यहाँ (उक्त उदाहरण में) भगवान् (विष्णु) की श्याम कान्ति स्वाभाविक है।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में स्वाभाविक गुण उत्कृष्ट है, कस्तूरीगत श्यामगुण उसकी अपेक्षा निकृष्ट है—दोनों का सादृश्य समान है। अतः समान रूप वाली शरीर की कान्ति से श्यामवर्ण कस्तूरी के चिह्न का गोपन हो जाने से **मीलिताङ्कार है।**

(२) **प्रकाशकार ने** निम्न उदाहरण दिया है—

"अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशः स्वतो लीलया
तदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते॥

यहाँ प्रसिद्ध होने के कारण वलिष्ठ लीला रूप पदार्थ के द्वारा स्वाभाविक साधारण नेत्रों की तरलतादिरूप चिह्न द्वारा मदरूप पदार्थ छिपाया गया हे, अतः **मीलित है।**

अर्थ—(२) (आगन्तुक मीलिताङ्कार का उदाहरण) **सदैवेति—[प्रसङ्ग—किसी नगरी** का यह वर्णन है।] जिस (नगरी) में लाल रत्नों के (बने हुये) कुण्डलों की किरणों से सर्वदैव लाल किये हुये (मानवती) स्त्रियों के मुख (प्रणय से उत्पन्न) क्रोध से लाल होते हुये भी युवकों को भय उत्पन्न नहीं करते थे। [क्योंकि युवक यह समझते थे कि उनके मुख कुण्डल की किरणों से लाल हैं, क्रोध से नहीं।]

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुकः ।

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ।

यथा—

'मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः ।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥'

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम् । इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः ।

अर्थ—(लक्ष्य को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मणिमय कुण्डलों की लालिमा मुख में औपाधिक है ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में कुण्डल से आने वाली लालिमा उत्कृष्ट है, और उसकी अपेक्षा क्रोध से उत्पन्न होने वाली लालिमा निकृष्ट है, तथा दोनों की समानता तुल्य है । अतः समानरूप वाले आगन्तुक कुण्डल की लालिमा के द्वारा क्रोध से उत्पन्न लालिमा का गोपन होने से **मीलित** है ।

अथ सामान्यालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**सामान्यालङ्कार** का लक्षण) **सामान्यमिति**—समान गुणों से प्रस्तुत (प्रधानरूप से वर्णनीय पदार्थ) की अन्य के साथ (अप्रधानरूप से वर्णनीय पदार्थ के साथ) एकता (अभेद प्रतीति) **सामान्य (समानयोर्भावः सामान्यम्) नामक अलङ्कार** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—(१) **अर्थात्**—समान गुणों के द्वारा प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों के के मिलने से उन दोनों की एक रूप से प्रतीति होने पर **सामान्यालङ्कार** होता है ।

अर्थ—(**सामान्यालङ्कार** का उदाहरण) यथा—मल्लिकेति—मल्लिका नामक पुष्प विशेषों से भूषित हैं केशपाश जिनके ऐसी, (तथा अतिशय शुभ्र) सुन्दर चन्दनों से किया है अङ्गराग जिन्होंने ऐसी (अतएव ज्योत्स्ना के समान रूप वाली होने से) पहचानी न जा सकने वाली (प्रिय से मिलने की इच्छा से सङ्केत स्थान में जाने वाली) आभिसारिकायें (नायिकायें) ज्योत्स्ना में आनन्दपूर्वक जाती है ।

टिप्पणी—(१) यहाँ समान शुभ्र गुण के द्वारा प्रधान रूप से वर्णन की जाती हुई नायिकाओं की अप्रधान चन्द्रिका के साथ अभेद प्रतीति होने से **सामान्यालङ्कार** है ।

अर्थ—(**मीलित और सामान्य में भेद**) **मीलिते इति**—**मीलितालङ्कार** में उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का गोपन (होता) है, किन्तु यहाँ (**सामान्यालङ्कार** में) दोनों (प्रस्तुत और अप्रस्तुत) में समान गुण होने के कारण भेद का ग्रहण नहीं होता है ।

टिप्पणी—(१) **भ्रान्तिमान् और सामान्य में भेद**—

भ्रान्तिमान् अलंकार में स्मर्यमाण का आरोप होता है, और यहाँ **सामान्य** में अनुभूयमान का आरोप होता है—यही भेद है ।

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ॥ ९० ॥

यथा—

'जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥'

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्, इह तु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

---

(२) रूपक और प्रथम प्रकार की अतिशयोक्ति से सामान्य में भेद—

रूपक और प्रथमातिशयोक्ति में उपमेय की उपमान रूप से प्रतीति होती है, किन्तु यहाँ सामान्यालङ्कार में एक रूप से प्रतीति होती है ।

अथ तद्गुणालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(तद्गुणालङ्कार का लक्षण) **तद्गुण इति**—अपने गुणों को छोड़कर अत्यन्त उत्कृष्ट के गुणों का ग्रहण करना तद्गुण (**तस्य-उत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति गुणः**) नामकालङ्कार (होता) है ।

टिप्पणी—(१) अर्थात्—"परकीयैर्गुणैस्तिरोहितगुणत्वे सति परकीय गुण शालितया-प्रत्ययस्तद गुणः" इति ।

अर्थ—(तद्गुणालङ्कार का उदाहरण) **यथा—जगादेति**—[**प्रसङ्ग—शिशुपालवध** के द्वितीय सर्ग में इन्द्रप्रस्थ को जाना चाहिये या शिशुपाल पर आक्रमण करना चाहिये—इस विचार विमर्श के समय श्रीबलराम की उक्ति का वर्णन है ।] उन्नत-दाँतों की शुभ्र किरणों से मुखरूपी कमल के चारो ओर उड़ने वाले भ्रमरों को शुभ्र करते हुये (श्रीबलरामजी) बोले ।

टिप्पणी—(१) यहाँ भ्रमरों के द्वारा अपने कृष्णरूप गुण को छोड़कर उसकी अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट शुभ्र रूप गुण को ग्रहण करने से **तद्गुणालंकार** है ।

अवतरणिका—प्रश्न—इस **तद्गुण** अलङ्कार के भी उत्कृष्ट गुण से निकृष्ट गुण का गोपन होता है, अतः **मीलितालङ्कार** से क्या भेद है ? इसका समाधान करते हैं—

अर्थ—(**मीलित से तद्गुणालङ्कार** का भेद) **मीलिते इति—मीलितालङ्कार** में प्रकृत वस्तु का दूसरी वस्तु (के समान उत्कृष्ट गुण) से आच्छादन होता है, यहाँ (**तद्गुणालंकार में**) तो (असमान) अन्य वस्तु के गुणों से (अपने गुणों की) आक्रान्तता (वस्तु की नहीं) प्रतीत होती है, यह भेद है ।

टिप्पणी—(१) **मिलित** में स्वजातीय उत्कृष्ट गुणों का तिरोधान होता है, और यह **तद्गुण** में विजातीय उत्कृष्ट गुणों से अपकृष्ट गुणों का तिरोधान होता है, यह "**स्वगुणत्यागात्**" इससे मालूम पड़ता है ।

(२) **सामान्यालंकार** से भेद—**सामान्याङ्कार** में अपने गुणों के त्याग का अभाव होता है, और यहाँ **तद्गुण** में अपने गुणों का त्याग होता है ।

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ।

यथा—

'हन्त सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम ।
गुणगौर निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ॥'

यथा वा—

'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥'

---

(३) भ्रान्तिमान् अलंकार से भेद—भ्रान्तिमान् अलंकार में स्मर्यमाण का आरोप होता है, और यहाँ तद्गुण में गृह्यमाण का आरोप होता है ।

अथातद्गुणालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(अतद्गुणालंकार का लक्षण) **तद्रूपेति—**'उत्कृष्ट वस्तु के सन्निधान से गुणों को ग्रहण करने रूप) कारण के होने पर भी उस (उत्कृष्ट वस्तु) के गुणों का (अपकृष्ट गुण वाली वस्तु से) ग्रहण न करना **अतद्गुण** (**"तस्याधिकगुणस्यास्मिन् गुणा न सन्ति"** इस व्युत्पत्ति से) **नामकालंकार** (होता) है ।

(अतद्गुणालंकार का उदाहरण) यथा—हन्तेति—[**प्रसङ्ग**—नायक के प्रति किसी की उक्ति है ।] हे यशः शुक : ? बड़ा दुःख है, कि प्रगाढ अनुराग से **अन्यत्र** लालिमा से परिपूर्ण होने पर भी मेरे हृदय में बैठे हुये तुम अनुरक्त **अन्यत्र** रक्तवर्ण वाले क्यों नहीं होते हो ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में राग से परिपूर्ण हृदय के अन्दर स्थिति-रूप कारण के होने पर भी उसकी रक्तवर्णता का ग्रहण न करने से **अतद्गुणालंकार** है । यहाँ **"रागेण"** इस श्लेष से यह अलङ्कार निष्पन्न होता है ।

(२) यहाँ प्राकरणिक नायक के द्वारा प्राकरणिक नायिका के हृदय के गुणों का ग्रहण नहीं हुआ है ।

अवतरणिका—प्राकरणिक के द्वारा अप्राकरणिक के गुणों का ग्रहण न करने पर भी यह अलङ्कार होता है ।

अर्थ—अथवा—**गाङ्गमिति**—[**प्रसङ्ग**—वेश्या के घर और तपस्वी के घर पर भिक्षा माँगते हुये किसी साधु के प्रति किसी विदग्ध की यह उक्ति है ।] हे राजहंस ! गङ्गा सम्बन्धी जल शुभ्र है, (और) यमुना सम्बन्धी जल काजल के समान कृष्णवर्ण है, दोनों स्थानों पर (अर्थात् गङ्गा और यमुना के शुभ्र और कृष्ण जल में अर्थात् प्रयाग तीर्थ में) स्नान करते हुये तुम्हारी वही (शरीर की) शुभ्रता (गङ्गाजल के सम्पर्क से) न बढ़ती है और (यमुना जल के सम्पर्क से) नहीं घटती है । (यह परम आश्चर्य है) ।

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रक्तत्वं न निष्पन्नम्। उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता।
अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः। वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात्।

अर्थ—(दोनों उदाहरण में लक्षण को घटाते हैं।) **पूर्वत्रेति**—प्रथम उदाहरण ("**हन्त सान्द्रेण**" इत्यादि) में अत्यन्त अनुरक्त **अथवा** अत्यन्त रक्तवर्ण (**अतिरक्त**) हृदय के सम्बन्ध से होने योग्य भी यशः शुक्ल शब्द से प्रतिपाद्य नायक की रक्त वर्णता नहीं हुई है, अतः (**अतद्गुणालङ्कार**) है।

प्रश्न—द्वितीय उदाहरण में अप्रस्तुतप्रशंसा के द्वारा स्वसम्बन्धी गुणों को ग्रहण करने वाला मनुष्य ही प्रकृत है, राजहंस नहीं, अतः यह प्रकृत का अप्रकृत के गुणों को ग्रहण न करने का उदाहरण कैसे हो सकता है। अतः कहते हैं। **उत्तरत्रेति**—(तथा) दूसरे उदाहरण ("**गङ्गामम्बु**" इत्यादि) में अप्रस्तुतप्रशंसा के विद्यमान होने पर भी गङ्गा-यमुना की अपेक्षा प्रकृत हंस की गङ्गा और यमुना सम्बन्धी जल के सम्पर्क होने पर भी तद्रूपता (अर्थात् गङ्गा अथवा यमुना सम्बन्धी जल की रूपता अर्थात् शुभ्रता अथवा श्यामता) नहीं हुई है, (अतः **अतद्गुणालङ्कार** है)।

अवतरणिका—विशेषोक्ति और **विषमालङ्कार** से **अतद्गुणालङ्कार** का भेद—

अर्थ—और यहाँ (**अतद्गुणालङ्कार** में) गुणों के अग्रहण रूप अतिशय चमत्कार का आश्रय होने से **विशेषोक्ति** से भेद है। [अर्थात् **विशेषोक्ति** में सामान्यतः ही फल का अभाव होता है, किन्तु यहाँ **अतद्गुणालङ्कार** में तो गुणों के अग्रहण रूप फल का अभाव ही विशेष चमत्कार होता है—यही इनमें स्पष्ट भेद है।] [**प्रश्न**—कार्य के कारण के गुणों के विरोधी होने से कार्य का कारण के गुणों को ग्रहण न करना **विषमालङ्कार** में भी होता है, अतः प्रकृत "**हन्त सान्द्रेण**" इत्यादि उदारहण में रागादि रूप गुण का नायक में सम्पर्क के अभाव रूप कार्य के होने से **अतद्गुण विषमालङ्कार** से भिन्न नहीं है? इसलिये कहते हैं कि—] **वर्णान्तरोति**—और अन्य वर्ण की (रक्तवर्ण के विरोधी अन्य गुण की) उत्पत्ति न होने से **विषमालङ्कार** से (भेद) है।

टिप्पणी—आशय यह है कि—विषमालङ्कार में कारण के गुणों से कार्यगत विरुद्ध गुणों का कथन होता है, और यहाँ **अतद्गुणालङ्कार** में गुणों की उत्पत्ति का अभाव ही होता है। अतएव उक्त उदाहरण में नायकगत रक्तवर्ण का विरोधी गौर-वर्ण उत्पन्न नहीं हुआ, अपितु विद्यमान ही रहा—यही दोनों में भेद है।

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा ॥ ९१ ॥
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते।

सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः ।

अत्राकारेण यथा—

'वक्त्रस्यन्दिस्वेविन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापिकण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥'

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन संलक्षितं कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुषचिह्न-खड्गलेखालिखनेन सूचितम् ।

अथ सूक्ष्मालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ— (सूक्ष्मालङ्कार का लक्षण)—**संलक्षित इति**—आकार से (रूपादि से भिन्न चेष्टा विशेष आकार कहलाता है।) अथवा इङ्गित से (नेत्रभङ्गिमादि रूप क्रिया विशेष से) सम्यक् रूपेण अनुभव किया हुआ सूक्ष्म (तीक्ष्ण वुद्धिगम्य) अर्थ किसी भी (अनिर्वाच्य) प्रकार से जो (यत्र) सूचित किया जाता है, वह **सूक्ष्म** (**सूक्ष्मज्ञान ज्ञेयत्वात्**) **नामकालङ्कार** कहलाता है। [कारिकास्थ "**सूक्ष्मः**" शब्द की व्याख्या करते हैं।] **सूक्ष्मः**—स्थूल बुद्धि वालों से अज्ञेय।

अर्थ—इन (दोनों भेदों) में से आकार से (लक्षित **सूक्ष्मालंकार** का उदाहरण) यथा—**वक्त्रेति**—किसी (विदग्ध) सखी ने कृशाङ्गी (अन्य) सखी के मुख से प्रवाहित होते हुये (विपरीत रीति से उत्पन्न) पसीने की विन्दुओं की धाराओं से गले में केसर को भिन्न हुआ देखकर किञ्चित् मुस्कराकर पुरुषत्व को (रात्रि में विपरीत रति के कारण पुरुषवत् आचरण को) प्रकट करते हुये (उस सखी के) हाथों पर खड्ग की आकृति को चित्रित कर दिया।

टिप्पणी—कवि समुदाय में यह प्रसिद्ध है कि स्त्रियों के हाथों में आभूषण के रूप में चन्दनादि से लता, पत्रावली आदि का चित्र बना दिया जाता है, किन्तु उस सखी ने अपनी सखी के पुरुषोचित व्यवहार को व्यञ्जित करने के लिये पुरुष के हाथ में चित्रित करने योग्य खड्ग लेखा को हाथों में चित्रित कर दिया। क्योंकि रति के समय उत्तानशया नायिका के मुखमण्डल से बहने वाली पसीने की बूंदें पीठ परही जावेंगी; उनका गले पर जाना विपरीत रति में ही सम्भव हो सकता है।

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) किसी (सखी) ने कुङ्कुम रूप आकार से भली प्रकार जाने हुये किसी (नायिका) के पुरुषवत् व्यवहार को हाथ में पुरुष के चिह्न खड्ग की रेखा के चित्रण से सूचित किया है।

टिप्पणी—यद्यपि यहाँ प्रकृत उदाहरण में पसीना और पुरुषवत् व्यवहार—इन साध्य-साधन में एक का धर्मीगतत्वेन ग्रहण किया है, अतः **अनुमानालङ्कार** ही हो सकता है —तथापि अपनी विदग्धता को बताने की इच्छा से दूसरे के लिये सूक्ष्म अर्थ के द्वारा ही चमत्कार उत्पन्न होता है, अतः **सूक्ष्मालङ्कार** ही है।

इङ्गितेन यथा—

'सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकालभाविना पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः ।

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।९२॥

यथा—

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥'

अर्थ—इङ्गित से (लक्षित सूक्ष्मालङ्कार का उदाहरण) यथा—**सङ्केतेति**—[इस पद्य की व्याख्या पृष्ठ ······ पर की जा चुकी है ।]

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) विट (जार रूप धूर्तनायक) की भृकुटि विक्षेप आदि से ज्ञात हुई संकेत काल की जिज्ञासा रात्रि में होने वाले कमल को बन्द करने से (विट को) प्रकट की है ।

अथ व्याजोक्त्यलङ्कार निरूपणम्—

अर्थ-(व्याजोक्ति का लक्षण) **व्याजोक्तिरिति**—(किसी कारण से अथवा कार्य से) प्रकट हुई भी वस्तु (विषय) का बहाने से (अन्य कारण को कहने के बहाने से) छिपाना **व्याजोक्ति (व्याजेनउक्तिर्यत्र=व्याजोक्ति) नामकालङ्कार** (कहलाता) है ।

टिप्पणी—अर्थात्—"**असत्यहेतूपस्थापनेन कार्यस्य सत्यहेतुनिगूहनं व्याजोक्तिः**" **इति** ॥

अर्थ—(व्याजोक्ति का उदाहरण) **यथा—शैलेन्द्रेति**—[**प्रसङ्ग**—शिव और पार्वतीजी के वैवाहिक इतिवृत्त के वर्णन का आश्रय लेकर किसी का यह आशीर्वचन है ।] हिमालय से (कन्यादान के समय) दी जाती हुई पार्वतीजी के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले (कामदेव के आविर्भाव के कारण) पुलक—कम्पादिकों से अस्त-व्यस्त सम्पूर्ण वैदिक क्रिया सम्बन्ध के भङ्ग होने (के भय) से व्याकुल (अतएव) आः! हिमालय के हाथों में (कन्यादान के समय स्पर्श के कारण) शीतलता है अर्थात् हिमालय के हाथ बड़े ठण्डे हैं—यह कहा, (तथा) हिमालय के अन्तःपुर में (स्थित ब्राह्मी आदि) मातृमण्डल के द्वारा मुस्कराहट के साथ देखे हुए शिवजी तुम्हारी रक्षा करें ।

टिप्पणी—यहाँ प्रकृत उदाहरण में हिमालय के हाथ के स्पर्श से ही मेरे अन्दर रोमाञ्च का आविर्भाव हुआ है । इस भाव को व्यक्त करते हुए शिवजी ने रोमाञ्चादि कार्य की निष्पत्ति के विषय में हिमालय के शैत्य स्पर्श रूप असत्य हेतु के द्वारा कामदेव से उत्पन्न होने वाले रूप कारण को छिपा लिया है, अतः **व्याजोक्ति** है । **अथवा**—"**आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोः**" इस स्पष्ट कारण के द्वारा व्यक्त करते हुये शिवजी ने "शीतल स्पर्श से उत्पन्न ही मेरा यह सात्त्विक रोमाञ्च आदिभाव है" —यह प्रकट करके कामदेव से उत्पन्न रूपकारण को छिपा लिया है, अतः **व्याजोक्ति है** ।

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात् । द्वितीयापह्नुतेर्भेदश्च तत्प्रस्तावे दर्शितः ।

स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ।

अवतरणिका—प्रश्न—प्रस्तुत हेतु को छिपाने के द्वारा अप्रस्तुत हेतु को उत्पन्न करने रूप अपह्नुति से इस अलंकार (व्याजोक्ति) का क्या भेद है ? इसका उत्तर देते हैं ।

अर्थ—(अपह्नुति और व्याजोक्ति में भेद) **नेयमिति**—यह **(व्याजोक्ति)** प्रथम **(अप्रकृत निषेधपूर्वक प्रकृत स्थापन रूपा) अपह्नुति** नहीं है, (क्योंकि) अपह्नव करने वाले (प्रस्तुत हेतु का गोपन करने वाले) विषय का (प्रस्तुत हेतु का) कथन नहीं है । [**अर्थात्**—**अपह्नुति** में प्रस्तुत को छिपाकर अप्रस्तुत की स्थापना की जाती है, यहाँ तो बिना छिपाये ही लिङ्गादि से प्रकट विषय को छिपाया जाता है—यही दोनों में भेद है ।] और द्वितीयापह्नुति—

["गोपनीयं कमप्यर्थं धोतयित्वा कथञ्चन ।
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत्साप्यपह्नुतिः ।।" इति ।।]

से भेद उसी (द्वितीयापह्नुति) के प्रसङ्ग में दिखा दिया है । [अर्थात् **द्वितीयापह्नुति** में छिपाने वाला गोपनीय वस्तु का पहले प्रतिपादन करता है, किन्तु यहाँ वैसा नहीं है, यही इन दोनों में स्पष्ट भेद है ।]

टिप्पणी—कुवलयानन्दकार इस व्याजोक्ति के क्रमशः **गूढोक्ति विवृतोक्ति-युक्तिलोकोक्ति-छेकोक्ति** और **वक्रोक्ति**—ये छः भेद करते हैं—

उत्तरपक्षः—इनमें से **गूढोक्ति** को पृथक् अलंकार मानने से गौरव आता है, क्योंकि इसका विषय ध्वनि के अन्तर्गत आ जाता है । **विवृतोक्ति** भी अलंकार नहीं है क्योंकि यह केवल गुणीभूत व्यंग्य है । **युक्ति** का व्याजोक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्योंकि उक्ति पद से व्यापार मात्र विवक्षित है । उपस्कारक न होने से **लोकोक्ति** और **छेकोक्ति** भी अलंकार नहीं है । केवल **वक्रोक्ति स्वीकारणीय है ।** और इसका शब्दालंकार निरूपण प्रकरण में वर्णन कर ही दिया है ।

अथ स्वभावोक्त्यलङ्कार निरूपणम्

अर्थ—(**स्वभावोक्त्यलङ्कार** का लक्षण) **स्वभावोक्तिरीति**—दुरूह (पामर जनों से अज्ञेय केवल सहृदय जनों से संवेद्य) अर्थ (शिशुआदि) की तत्तद्गत क्रिया और रूप का वर्णन करना **स्वाभावोक्ति (स्व भावस्य उक्तिर्यत्र इति) नामकालङ्कार** (कहलाता) है ।

दुरूहयोः कविमात्रवेद्ययोः अर्थस्य डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयोः ।

यथा मम—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।
स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेव जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

[कारिकास्थ कठिन शब्दों की व्याख्या करते हैं ।] **दुरुहयोरीति—दुरुहयोः** =कविमात्र से वेद्य का (यहाँ "मात्र" पद से साधारण पामर मनुष्यों की बुद्धि से ज्ञान होने का निराकरण होता है) **अर्थस्य**—डिम्भादिका (शिशु आदि—"आदि" पद से युवती-मुग्ध-कातर-तिर्यक्—भ्रान्त और हीनपात्रादिकों का ग्रहण होता है ।) **स्वयोः**—अपनी अर्थात् उनमें एक आश्रय रूप से रहने वाली चेष्टा और स्वरूप का ।

टिप्पणी—(१) **सारांश** यह है कि "जिस किसी भी दुरूह वस्तु के असाधारण धर्म के वर्णन को **स्वभावोक्त्यलङ्कार** कहते हैं ।" यहाँ पर "दुरूह" इस विशेषण का ग्रहण करने से—

"गोरपत्यं बलीवर्दो घासयन्ति मुखेन सः ।
मूत्रं मुञ्चति शिश्नेन अपानेन तु गोपयम् ॥

यहाँ सामान्य मनुष्यों के द्वारा ज्ञान गम्य होने से बैलगत स्वाभाविक चेष्टा और क्रियाओं का वर्णन होने पर भी यह अलंकार नहीं होगा, क्योंकि असाधारण स्वभाव वर्णन के लोक में प्रसिद्ध होने पर भी प्रतिभामात्र से ज्ञातव्य होने के कारण अलौकिक के समान प्रतीत होता है, अतः यह **स्वभावोक्ति** अलंकार माना जाता है ।

अर्थ—(**स्वभावोक्त्यलङ्कार** का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकार-कृत **लांगूलेतेति**—कुपित (अतएव) लाल और विशाल नेत्रों वाला (यह) व्याघ्र पौनःपुन्येन पूंछ से पृथिवी को मारकर (अपने) अगले पैरों से (पृथिवी को) खोदता हुआ, अपने शरीर में ही लीन होकर अर्थात् संकुचित शरीर होकर तथा शीघ्र बलपूर्वक आकाश में उछलता हुआ, घोर हुँकार करता हुआ प्रत्येक दिशा में सम्पूर्ण (मृग-कुक्कुट-काग आदि) जन्तुओं को (भय से) भगाता हुआ वन में घुसा है ।

टिप्पणी—उदाहृत पद्य में कुपित व्याघ्र की स्वाभाविक क्रियाओं और रूप का वर्णन होने से तथा उस प्रकार की क्रियाओं और रूप के अन्यत्र न होने से केवल तन्मात्रगत होने से **स्वभावोक्त्यलङ्कार** है ।

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ॥९३॥
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ।

यथा—

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्माकुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥'

यथा वा—

'आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥'

अथ भाविकालंकार निरूपणम्—

अर्थ—(भाविकालङ्कार का लक्षण) **अद्भुतस्येति**—आश्चर्यजनक, भूतकालीन अथवा भविष्यत् वस्तु की जो (रचना की निपुणता से) प्रत्यक्ष के समान प्रतीति है, वह **भाविक** (**भावेन–कवेराशयविशेषेण संसृष्टम्** अथवा **भावः—वक्तुरभिप्रायः स च वर्णनीयगोचरवति स्वरूपः तद्योगात्** अथवा **भावः—कविगत आशय श्रोतरिप्रतिबिम्बत्वन अस्ति** अथवा **भावः—भावना चेतसि पुनः पुनः निवेशनं स अस्य अस्तीति**) **नामकालङ्कार** कहा गया है ।

टिप्पणी—वस्तु के तीन प्रकार से प्रतिपादित होने के कारण **भाविकालङ्कार** भी तीन प्रकार का होता है ।

अर्थ—(१) (**अद्भुत वस्तु के प्रत्यक्षायमाण होने पर भाविकालङ्कार** का उदाहरण) **यथा—मुनिरिति**—योगियों में श्रेष्ठ महात्मा कुम्भ से उत्पन्न होने वाले मुनि (अगस्त) सर्वोत्कृष्ट है, जिन्होंने (अगस्त ने) एक ही आचमन में दिव्य वे दोनों (जगत् के आधार रूप से प्रसिद्ध नर और नारायण) मत्स्य और कच्छप (योगबल से समुद्रपान के समय) देख लिये ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रकृत उदाहरण में चुलुकीकृत समुद्र में दिखाई देने वाले दिव्य मत्स्य और कच्छप अद्भुत वस्तु है, और मुनि अगस्त रचना नैपुण्य से समीपस्थ श्रोताओं को प्रत्यक्ष के समान प्रतीत हो रहे हैं, अतः अद्भुत अतीत पदार्थ के प्रत्यक्षायमाण होने से **भाविकालङ्कार** है ।

अर्थ—(२) अथवा (**भूत और भविष्यत् वस्तु की प्रत्यक्षायमाणता होने पर भाविकालङ्कार** का उदाहरण) **यथा—आसीदिति**—[**प्रसङ्ग**—अप्राप्तयौवना किसी कन्या को देखकर किसी की यह उक्ति है ।] इन (नेत्रों) में अञ्जन था—इसप्रकार के (अर्थात् अतीतकालीन अञ्जन से युक्त) तुम्हारे नेत्रों को (साक्षात्) देखता हूँ, (तथा भविष्यत्काल में) होने वाले आभूषणों के समुदाय से युक्त तुम्हारी आकृति को साक्षात् देखता हूँ । [अर्थात् अञ्जन और आभूषणों से रहित भी तुम्हारी आकृति अतिशय रमणीय है, अतः उनकी कोई आवश्यकता नहीं है ।]

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात् । न चाद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात् । न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अध्यवसयाभावात् । न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनोर्भूतभावितयैव प्रकाशानत् ।

टिप्पणी—(१) प्रकृत उदाहरण में पूर्वार्ध में "भूतकालीन अञ्जन को देखता हूँ" इसप्रकार वर्तमान काल में उपन्यस्त करने से तथा द्वितीय चरण में भी भविष्यत् कालीन आभूषण समुदाय को साक्षात् देखता हूँ"—इसप्रकार वर्तमान काल में उपन्यस्त करने से प्रत्यक्षायमाण होने से **भाविकालङ्कार** है ।

(२) कहीं भूतकालीनता का निर्देशन करने पर भी यह अलंकार होता है—यथा—"अहं विलोक्येऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः" इत्यादि में **भाविकालंकार** है ।

अर्थ—[**प्रश्न**—सन्निकृष्ट पदार्थ के वर्णन से प्रत्यक्षवत् प्रतीति तब होती है, यदि— प्रसन्न अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग किया है, ऐसा होने पर **प्रसादनामकगुण** के अन्तर्गत ही इस **भाविकालङ्कार** को मान लिया जाये, पृथक् अलंकार स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इसका **समाधान** करते हैं—] **न चेति** – यह (प्रत्यक्ष किया जाता हुआ **भाविकालङ्कार**) **प्रसादनामक गुण** नहीं है, (क्योंकि) भूत और भविष्यत् के प्रत्यक्षवत् भासित होने से उसकी (**प्रसादनामक गुण** की) कारणता नहीं है (वह रसादि की सहायता के रूप में ही उसकी कारणता है ।) । [**प्रश्न**—विस्मय के कारण होने से अद्भुत की प्रतीति होने वाले स्थलों में **अद्भुतरस** को ही स्वीकार कर लेना चाहिये ? इसका **समाधान** करते हैं ।] **न चेति**—और नहीं (यह **भाविकालङ्कार**) **अद्भुतरस** है, (क्योंकि) यह (**अद्भुतरस**) विस्मय के प्रतिकारण है ("**मुनिर्जयति**······**इत्यादि** में हेतु का अभाव है ।) । [**प्रश्न**—यहाँ वर्णनीय कोई अतिशय प्रतीत होता है, अतः **अतिशयोक्ति** ही स्वीकार कर लो ? इसका **समाधान** करते हैं—] **न चेति**—और नहीं (**यह भाविकालङ्कार**) **अतिशयोक्ति अलङ्कार** है, (क्योंकि) अध्यवसाय नहीं है । [**प्रश्न**—प्रत्यक्ष के अयोग्य भी भूत और भविष्यत् की प्रत्यक्षवत् प्रतीति होने से **भ्रान्तिमानलङ्कार** ही मान लिया जावे ? इसका **समाधान** करते हैं—] **न चेति**—और नहीं (यह **भाविकालङ्कार**) **भ्रान्तिमान् अलङ्कार** है (क्योंकि) भूत और भविष्यत् (वस्तुओं) की भूत और भविष्यत् रूप से ही प्रतीति होती है । [अर्थात्—**भ्रान्तिमान** का लक्षण है—"**अतस्मिंस्तद् बुद्धिर्भ्रान्तिः**"—यह लक्षण घटित नहीं होता है क्योंकि "**प्रत्यक्षायमाणम्**" कहने से वास्तविक प्रत्यक्ष के अभाव की व्यञ्जना होती है ।] **प्रश्न**—अच्छा, दुरूह अगस्त और नायिका की क्रियाओं और रूप का प्रतिपादन होने से **स्वभावोक्ति** अलंकार ही क्यों नहीं स्वीकार कर लिया जाता ? इसका **समाधान** करते हैं ।—]

न च स्वभावोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम्; अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणस्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति।

यदि पुनर्वस्तुनः क्वचित्स्वभावोक्तावप्यस्या विच्छित्तेः सम्भस्तदोभयोः सङ्करः।

'अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम् ॥'

अर्थ—**न चेति**—और न ही यह (भाविकालङ्कार) **स्वभावोक्ति अलङ्कार** है, (क्योंकि) उसका (**स्वाभावोक्त्यलङ्कार** का) लौकिक वस्तु (डिम्भादि) गत सूक्ष्म (कवि मात्रसंवेद्य) असाधारणधर्म के स्वभाव का ही (प्रत्यक्षायमाण का नहीं) यथावत् वर्णन स्वरूप होता है, (और) इसका (**भाविकालङ्कार** का) वस्तु की (अर्थात्-अद्‌भुत-भूत-अथवा अनागत वर्णनीय पदार्थ की) प्रत्यक्षायमाणता रूप चमत्कार विशेष (स्वरूप) होता है, इसकारण से (यह **स्वभावोक्ति** नहीं है)। [अतः चमत्कार की भिन्नता होने से ही अलङ्कार का भेद समझना चाहिए। [प्रश्न—जहाँ **स्वभावोक्ति अलङ्कार** का चमत्कार और **भाविक अलङ्कार** का चमत्कार—दोनों ही हों वहाँ **स्वभावोक्ति अलङ्कार** मानना चाहिये अथवा **भाविक अलङ्कार** ? इस आशंका का समाधान करते हैं--]**यदि पुनरिति**-और यदि वस्तु की कहीं **स्वाभावोक्ति** में भी इस (**भाविक अलङ्कार**) के चमत्कार की सम्भावना हो तो दोनों (अर्थात्—**स्वभावोक्ति** और **भाविक**) का **सङ्कर** (होता) है।

टिप्पणी—**स्वभावोक्ति** और **भाविक** के चमत्कार के **सङ्कर** का उदाहरण—यथा **शाकुन्तल के प्रथम अङ्क में**—

"ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः,
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
शष्पैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा,
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥"

यहाँ मृग की तात्कालिक तद्‌गत क्रिया और रूप का वर्णन होने से **स्वभावोक्ति** है, और इसप्रकार से अद्‌भुत रूप वाले उस मृग की प्रत्यक्षवत् प्रतीति होने से **भाविक** है—इसप्रकार दोनों का अङ्गाङ्गिभाव से एक आश्रय में प्रवेश होने के कारण **सङ्करालङ्कार** है।

अवतरणिका—**अलङ्कारसर्वस्वकार** उदाहृत पद्य को दूषित करने के लिये पूर्वपक्ष उठाते हैं—

अर्थ—[**प्रसंग**—किसी राजा का वर्णन है] **अनातपत्र इति**—यह (राजा) छत्र से रहित होता हुआ भी इससमय श्वेतच्छत्रों से चारों ओर घिरा हुआ सा दिखाई पड़ता है, (एवम्) चामर से रहित होता हुआ भी यह (राजा) नित्य विलास हेतुक बाल व्यञ्जनों से वीजित किया जाता है। (अतः) कोई असामान्य गुणों वाला यह (पुरुष) है।

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कारः। वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्वस्यास्य स्वरूपत्वात्। यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितुं युक्तः। यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ।

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ॥६४॥
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्।

अवतरणिका—उक्त पद्य में **भाविक अलङ्कार** नहीं है, इसका प्रतिपादन करते हैं—

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) प्रत्यक्षायमाण का ही (अर्थात् श्वेतच्छत्र से घिरा-हुआ होना और विलास वाल व्यजन के द्वारा वीजित होना—इन दोनों की उत्प्रेक्षा के कारण ही साक्षात् प्रत्यक्ष प्रतीति हो रही है, अतः) वर्णन होने से यह (**भाविक**) अलंकार नहीं है। (क्योंकि) वर्णन के द्वारा प्रत्यक्षवत् प्रतीत होना इसका (**भाविक अलङ्कार का**) स्वरूप है, [**भाव यह है कि** सद् अनुमान के कारण ही वक्ता के लिये प्रत्यक्षायमाण श्वेतच्छत्र और चामर का वर्णन है, वर्णन वैशिष्ट्य के कारण श्रोताओं को उनकी (श्वेतच्छत्र और चामर की) प्रत्यक्षायमाणत्वेन प्रतीति नहीं हो रही है, अतः **भाविकालङ्कार** का अवसर नहीं है। अर्थात् जहाँ उत्प्रेक्षा से भिन्न कवि की प्रतिभा नैपुण्य से अद्‌भुतादि की प्रत्यक्षायमाणता होती है, वहीं **भाविकालङ्कार** होता है, उत्प्रेक्षात्मक सम्भावना में नहीं, क्योंकि ऐसा हो जाने पर तो सर्वत्र ही सम्भव हो सकने से **भाविक की** पुनरुक्ति हो जावेगी। अतएव "**अनातपत्र**" इत्यादि स्थलों पर उत्प्रेक्षात्मक सम्भावना के कारण श्वेतच्छत्र और चामर की प्रत्यक्ष प्रतीति होने के कारण **भाविकालङ्कार** नही है।, [**प्रश्न**—अच्छा तो इसप्रकार "**आसीदञ्जनम्**" इत्यादि उदाहरण में भी प्रत्यक्षायमाण का ही वर्णन होने से **भाविक अलङ्कार** कैसे है? इसका **समाधान** करते हैं—] **यदिति**—और जब (यत् धर्मी सन्निकर्षादि रूप कारण का अभाव होने पर) प्रत्यक्षायमाण के भी वर्णन के अन्दर प्रत्यक्षायमाणता होती है। (तो) वहाँ (भी) यह (**भाविक**) अलंकार हो सकता है यथा—उदाहृत "**आसीदञ्जनम्**" **इत्यादि** में।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि जहाँ प्रत्यक्षायमाणता है, वहीं यह **भाविकालङ्कार** होता है, ऐसा सिद्धान्त नहीं है, अपितु जहाँ उत्प्रेक्षा से भिन्न कवि की प्रतिभा नैपुण्य से प्रत्यक्षायमाणता होती है, वहीं यह **भाविक अलङ्कार** होता है।

अथोदात्तालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**उदात्तालङ्कार** का लक्षण)—**लोकेति**—(१) लोकोत्तर सम्पत्ति का (व्यञ्जना से) वर्णन करना **उदात्त** (**उत्कर्षेणगृह्यते इति**) **नामकालङ्कार** कहलाता है।

अथवा—(२) यदि महान् (व्यक्तियों) का चरित्र प्रस्तुत (प्रकृत वर्णनीय) का अङ्ग (सम्पादक) हो (तब) भी (**उदात्तालङ्कार**) होता है।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अधःकृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।
ज्योत्स्नानिपातात्क्षरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति ॥'
'नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते ॥'

टिप्पणी—(१) अर्थात्—"**असम्भाव्यमान विभूति युक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणम् उदात्तम्**" इति ।

(२) इसप्रकार **उदात्तालङ्कार** दो प्रकार का होता है—

(१) **अलौकिक सम्पत्ति वर्णनम्** और

(२) **प्रस्तुत महत्त्व व्यञ्जकप्रस्तुतमहत्त्व सम्बन्धि चरितम्** ॥

अर्थ—(१) (**उदात्तालङ्कार** का) क्रमशः उदाहरण—**अध इति**—[**प्रसंग**—किसी नगरी का वर्णन है ।] जिस (नगरी) में क्रीडोद्यान नीचे कर दिये हैं मेघमण्डल जिन्होंने ऐसे, (अर्थात् आकाश को छूने वाले) चन्द्रिका के गिरने से क्षरण होते हुये चन्द्रकान्तमणियों से निर्मित फर्शों के जलों से वृद्धि को प्राप्त करते हैं ।

टिप्पणी—(१) चन्द्रमा की किरणों से संयोग होने पर चन्द्रकान्तमणि से पानी द्रवित होने लगता है—ऐसा प्रसिद्ध है, और जल से उद्यानादि की **वृद्धि** तो अनुभव सिद्ध ही है ।

(२) संसार में एक चन्द्रकान्तमणि मिलना ही दुष्प्राप्य है, किन्तु उस नगरी में तो उन्हीं से घर के फर्शों का निर्माण हुआ है, अतः अलौकिक समृद्धि का वर्णन होने से **उदात्तालङ्कार** है ।

अर्थ—(२) (**उदात्तालङ्कार** का उदाहरण) **नाभीति**—[**प्रसंग**—रघुवंश के तेहरवें सर्ग में यह समुद्र का वर्णन है ।) नाभि से उत्पन्न कमल है आसन जिसका ऐसे (संसार के) आदि ब्रह्माजी के द्वारा स्तुति किये जाते हुये, प्रलयकाल में उचित योगनिद्रा वाले नारायणजी (सम्पूर्ण) संसार का उपसंहार करके इस समुद्र में सोते हैं ।

टिप्पणी—(१) यहाँ प्रस्तुत रूप से वर्णनीय समुद्र के वर्णन का नारायणजी के चरित्र का वर्णन करना अङ्ग है, अतः **उदात्तालङ्कार** है ।

अवतरणिका—अभी तक **शब्द युक्त**—**अर्थ युक्त** अलङ्कारों का वर्णन किया है । सम्प्रति **रसादि से युक्त** अलङ्कारों का वर्णन करने के लिये उनमें से मुख्य चार प्रकार के **रसवत्**—**प्रेयस्**—**ऊर्जस्वि** और **समाहितालङ्कारों** का वर्णन करते हैं—

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा ॥९५॥
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा ।
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ॥९६॥

तदाभासौ रसाभासो भावाभासश्च। तत्र रसयोगाद्रसवलङ्कारो यथा—'अयं स रसनोत्कर्षी–' इत्यादि ।

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम् । एवमन्यत्रापि ।

अथ रसवत्-प्रेयस-ऊर्जस्वि-समाहितालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(रसवदादि अलङ्कारों का लक्षण) **रसभावाविति**—रस (शृङ्गार-हास आदिकों में से कोई एक) और भाव (विभाव और अनुभावों से सूचित तेतीस निर्वेदादि); रसाभास (शृङ्गारादिकों में से किसी एक का आभास) और भावाभास (निर्वेदादि में से किसी एक का आभाव), तथा भाव की (निर्वेदादि में से किसी एक व्यभिचारीभाव की) शान्ति (ये) जब गुणीभूतता को (अर्थात् अन्य रसादिकों का उत्कर्ष करने के कारण उसका अङ्ग हो जाते हैं) प्राप्त होते हैं, तब **रसवत्--प्रेयस्-ऊर्जस्वि** और **समाहित नाम वाले** (चार) अलङ्कार क्रमशः (होते) हैं ।

टिप्पणी—(१) जहाँ एक रस किसी दूसरे रस का अथवा भावादि का अङ्ग हो जाता है, वहाँ **रसवत्**, जहाँ एक भाव दूसरे भाव का अथवा रसादि का अङ्ग हो जाता है, वहाँ **प्रेयस्**; जहाँ रसाभास अथवा भावाभास रस का अथवा भावादि का अङ्ग हो जाता है, वहाँ **ऊर्जस्वि**; और जहाँ भाव का प्रशम रस का अथवा भावादि का अङ्ग हो जाता है, वहाँ **समाहितालङ्कार** होता है ।

(२) कहा भी है कि—

"प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥" इति

रसवत् आदि शब्द उक्त अर्थों में नित्य नपुंसकलिङ्ग ही है ।

अर्थ—(कारिकास्थ **"तदाभासौ"** पद की व्याख्या करते हैं ।) **तदाभासाविति—तदाभासौ"** रसाभास और भावाभास ।

अवतरणिका—**रसवदादि** पदों की व्युत्पत्ति पूर्वक क्रमशः उदाहरण देते हैं—

अर्थ—(१) (**रसवत् अलङ्कार** का उदाहरण) **तत्रेति**—उनमें से (**अर्थात् चार** प्रकार के **रसवत्** आदि अलङ्कारों में से) रस के योग से **रसवत् (रसो विद्यते यत्र व्यापारात्मनि निबन्धेतत्)** अलंकार (का उदाहरण) यथा—**अयमिति**—[इस पद्य की व्याख्या चतुर्थ परिच्छेद के पृष्ठ······पर की जा चुकी है ।] इत्यादि । **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) शृङ्गार करुण का अङ्ग है । **एवमिति**—इसीप्रकार (अर्थात् जिसप्रकार शृंगार करुण का अङ्ग है, उसीप्रकार) अन्यत्र भी (अर्थात् अन्य रस के अन्य रस का अङ्ग होने पर और भाव का अङ्ग होने पर उदाहरण समझने चाहिये) ।

प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः ।

यथा मम—

'आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षीं
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम् ।
प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः ॥'

अत्र संभोगशृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम् । स च विप्रलम्भस्य ।

टिप्पणी—(१) इसीप्रकार "**क्षिप्तो हस्तावलम्बः**" इत्यादि में पृष्ठ······पर सप्तम परिच्छेद में शृङ्गार करुण का अङ्ग है।

(२) शान्त-शृङ्गार और रौद्र रस भगवद् विषयक रति भाव के अङ्ग हैं—यथा "**एकंध्याननिमीलितात्**"·······इत्यादि (सप्तम परिच्छेद पृष्ठ·······पर) ।

(३) इसीप्रकार अन्य भी उदाहरण समझने चाहिए ।

अर्थ—(२) (प्रेयस् अलंकार का उदाहरण) अत्यन्त प्रिय होने से (यह) **प्रेयस्** (कहलाता) है । यथा—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत् **आमीलितेति**—[**प्रसङ्ग** अपनी प्रियतमा की रति के अनन्तर की अवस्था को स्मरण करके सोचते हुये किसी विरही की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है ।] (रति के पश्चात्) ईषत् संकुचित तथा मन्द मन्द घूम रही हैं नेत्रों की तारिकायें जिसकी ऐसी अथवा रति संभोग के कारण उत्पन्न आलस्य से स्थिर हैं नेत्रों की तारिकायें जिसकी ऐसी, मेरे कण्ठ का आलिङ्गन करने में ईषत् शिथिल हो गई हैं बाहुलता जिसकी ऐसी (अर्थात् रति सम्भोग के अनन्तर निद्रित); (रति श्रम से उत्पन्न) पसीने की बूदों से युक्त हैं कपोल युगल जिसके ऐसी उस (रति के अनन्तर अवस्था वाली प्रियतमा) को स्मरण करके मेरा अन्तःकरण रात-दिन शान्ति को प्राप्त नहीं होता है ।

(लक्ष्य को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) सम्भोग शृङ्गार स्मरण नामक भाव का अङ्ग है । और वह (स्मरणनामक भाव) विप्रलम्भ शृङ्गार का (अङ्ग) है, (अतः भाव का अङ्ग होने के कारण **प्रेयस् नामकालङ्कार है** ।) ।

टिप्पणी—(१) उक्त उदाहरण में **रसवत् अलङ्कार** भी है, क्योंकि सम्भोग शृङ्गार स्मरण नामक भाव का अङ्ग है, अतः दोनों के अङ्गाङ्गिभाव होने से **सङ्करालङ्कार** समझना चाहिये ।

(२) प्रेयस् अलङ्कार का असङ्कीर्ण उदाहरण—

**"अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम् ।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारुचञ्चललोचनम् ॥"**

यहाँ विप्रलम्भ शृंगार का स्मरण नामक भाव अङ्ग है, अतः **प्रेयस्-अलङ्कार है** ।

ऊर्जो बलम्, अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वि ।

यथा—

'वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः ।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥'

अत्र शृङ्गारभासो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् । एवं भावाभासोऽपि । समाहितं परिहारः ।

यथा—

'अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥'

अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

भावस्य चोदये संधौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ।

अर्थ—(३) (**ऊर्जस्वि** पद की व्याख्या) **ऊर्ज इति**—**ऊर्जः**—बल (रस और भाव के) अनौचित्य से (शास्त्रीय स्वाभाविक नियम की विपरीतता से) प्रवृत्ति में वह अर्थात् **ऊर्जस्** अर्थात् बलात्कार यहाँ रहता है, अतः **ऊर्जस्वि** (कहलाता) है । [**अर्थात् ऊर्जं अस्यास्तीति ऊर्जस्वि**] **यथा**—**वने इति** [**प्रसंग**–राजा की स्तुति है ।] (हे राजन् !) वन में किरात सम्पूर्ण (चौंसठ) कलाओं में निपुण अपनी स्त्रियों को छोड़कर आपके शत्रुओं की स्त्री समुदाय में रति (विहार) करते हैं ।

अर्थ—(लक्ष्य को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ ("वनेऽखिल"—इत्यादि श्लोक में) शृङ्गाराभास (परस्त्री विषयक होने से) राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है ।

एवमिति—इसीप्रकार भावाभास (के अङ्ग होने पर) भी (उदाहरण समझना चाहिये) ।

अर्थ--(४) ("**समाहित**" पद की व्याख्या) **समाहितमिति**—**समाहितम्** अर्थात् परित्याग । (**परिहार** और **प्रशम** अभिन्नार्थक हैं ।) । (**समाहितालङ्कार** का उदाहरण) **यथा**—**अविरलेति**—[**प्रसङ्ग**—राजा की प्रशंसा है ।] (हे राजन् !) तुम्हारे शत्रुओं का निरन्तर तलवारों के घुमाने से, (तथा) पौनः पुन्येन भृकुटियों की भर्त्सना तथा हुङ्कारों से (जो, गर्व (हमने) देखा था वह (गर्व) क्षणभर में तुम्हारे देख लेने पर कहीं समाप्त हो गया ।

यहाँ (उदाहृत पद्य में) मद नामक भाव की शान्ति राज विषयक रति-भाव का अङ्ग है. (अतः **समाहितालंकार** है ।) ।

अथ भावोदय-भावसन्धि-भावशवलतालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(**भावोदयादि अलङ्कारों** का लक्षण) **भावस्येति**—भाव के (पूर्व प्रति-पादित "**सञ्चारिणः प्रधानानि**" इत्यादि स्वरूप वाले जिस किसी भाव के) उदय होने पर (गुणीभूत हो जाने में किन्हीं दो भावों की) सन्धि होने पर (गुणी भूत हो जाने में) (किन्हीं भावों के) मिश्रित होने पर (गुणीभूत हो जाने में) उसी नाम वाले (अर्थात् **भावोदय**—**भाव सन्धि** और **भावाशवल**) अलङ्कार (होते) हैं ।

तदाख्यका भावोदयभावसंधिभावशबलनामानोऽलङ्काराः।
क्रमेणोदाहरणम्—

'मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः।
श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम् ॥'

अत्र त्रासादयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम्।

"जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥"

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च संधिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम्।

[कारिकास्थ "तदाख्यकाः" पद की व्याख्या करते हैं,] **तदाख्यका इति—तदाख्यकाः—** भावोदय-भावसन्धि और भावशबल नाम वाले अलङ्कार।

अर्थ—(१) क्रमशः (**भावोदयालङ्कार** का) उदाहरण **मधुपानेति—[प्रसङ्ग—** राजा की प्रशंसा है।] (हे राजन्!) मित्रों के साथ मद्यपान में लगे हुये तुम्हारे शत्रु कहीं से भी (अर्थात् किसी भी मनुष्य से) तुम्हारा नाम सुनकर विषम अवस्था को प्राप्त हो गये।

(लक्ष्य को समन्वित करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (उदाहृत पद्य में) त्रास आदि (का शत्रु के चित्त में उद्गम) राजविषयक रतिभाव का परिपोषक (अङ्ग) है। (अतः भावोदयनामकालङ्कार है)।

अर्थ—(२) (**भावसन्धि** का उदाहरण) **जन्मेति**--पूर्व जन्म में (दक्ष के घर में) होने वाले पति (शिवजी) के अङ्गों के समागम के विषय में उत्कण्ठित और (इसीलिये) सखी के पास में (स्थित) लज्जा युक्त पार्वतीजी हमारी सदा रक्षा करें।

टिप्पणी—अथवाः—अन्य उदाहरणः—

"वामेन नारी नयनाश्रुधारां कृपाणधारापथदक्षिणेन।
उत्पुंसयन्नकेतरः करेण कर्तव्यमूढः सुभटो बभूव ॥"

यहाँ स्नेह नामक रतिभाव और रणविषयक औत्सुक्यभाव की सन्धि है।

अर्थ—(लक्ष्य को समन्वित करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) औत्सुक्य और लज्जा की सन्धि देवता विषयक रतिभाव का अङ्ग है, (अतः **भाव सन्धि**) अलङ्कार है।

'पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर हहहा व्युत्क्रमः क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥'

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषय-रतिभावस्याङ्गम् ।

अर्थ (३) (**भावशबल** का उदाहरण) **पश्येदिति**—[प्रसङ्ग—किसी नवीन यौवन वाली प्रस्तुत राजा के विरोधी किसी वनवासी राजा की कन्या की फल लाने के समय अपने प्रिय नायक के साथ उक्ति-प्रत्युक्ति का वर्णन है, और इसप्रकार कवि के द्वारा अपने राजा की स्तुति है ।] कोई (तटस्थ पुरुष हम दोनों के एकान्त-वास को) देख लेगा ? (और देख कर हम दोनों की निन्दा करेगा); (**यह कन्या की उक्ति है**); अरे ! दुर्विनीत ! (यहाँ से) हट जा **अथवा** (मेरे साथ पितृ घर में) चल, (**यह भी कन्या की उक्ति है,**) (यहां से जाने में) शीघ्रता क्या है ? (क्योंकि निर्जन स्थान होने के कारण कोई सहसा आ नहीं सकता है । (**यह नायक की प्रत्युक्ति है ।**), मैं अजातपरिणया हूँ **अथवा** राजकन्या हूँ (अतः यदि स्वल्प भी तुम्हारे विषय में मेरे प्रेम को कोई जान लेगा तो महान् अनर्थ हो जावेगा मैं विशेषतः इस समय थक गई हूँ। **यह कन्या की उक्ति है ।**); (यदि थक गई हो तो) हाथ को पकड़ लो (**यह नायक की उक्ति है ।**); बड़ा कष्ट है (यह दीनता सूचक **कन्या की उक्ति है ।** अर्थात् मैं उच्चकुल में उत्पन्न राजकन्या होती हुई आज यह कैसा आचरण कर रही हूँ ।), विपरीतता है । (अर्थात् राजकन्या होती हुई तुम्हारे साथ मेरा यह असद् आचरण है, **यह नायक की उक्ति है ।**) (ऐसा कहकर किसी स्थान पर छिप जाने पर **कन्या की उक्ति है** कि) (हे प्रिय !) कहाँ हो, (क्या तुम) जा रहे हो; हे पृथिवीपते ! वनवासी आपके शत्रु की कन्या फल और कोमल पत्तों को (खाने के लिये अथवा आभूषित करने के लिये) इकट्ठा करती हुई किसी (तरुण यूवक नायक) को इस प्रकार से कह रही है ।

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में "**पश्येत् कश्चित्**" से) शङ्का, ("**चल चपलरे**" इससे) असूया, ("**का त्वरा**" से) धृति, ("**अहं कुमारी**" से) स्मृति, ("**हस्तावलम्बं-वितर**" से) श्रम, ("**हहह**" से) दैन्य, ("**व्युत्क्रमः**" से) विबोध, ("**क्वासि यासि**" से) औत्सुक्य–इनकी शबलता राजविषयक रतिभाव का अङ्ग है । (अतएव **भावशब-लालङ्कार है ।**) ।

इह केचिदाहुः--'वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः, रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं-युक्ता' इति ।

अन्ये तु —'रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तन-प्रसिद्ध्याङ्गीकार्य एव' इति ।

अपरे च—'रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानम्, अजागलस्तनन्यायेन' इति ।

अवतरणिका—सम्प्रति **रसवत् आदि अलंकारों** को स्वीकार न करने वाले आचार्यों के मत का खण्डन करने के लिये **पूर्वपक्ष** का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—पूर्वपक्षः—इस विषय में (**रसवत्** आदि **अलङ्कारों** को स्वीकार करने के विषय में) कुछ (आचार्य) कहते हैं कि—'**वाच्य (अभिधेय अर्थ) और वाचक (अभिधायक शब्द)** रूप (काव्य) की शोभा को उत्पन्न करने के द्वारा (शब्द और अर्थ की शोभा को उत्पन्न करने के द्वारा) रस-भाव-रसाभास-भावभासादिकों के परिपोषक ही अलंकार माने जाते हैं, रस-भाव-रसाभास-भावाभस-भाव प्रशमादि तो वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) से अलङ्कर्य ही (होते) हैं, अतः उनकी (रसादिकों की) अलङ्कारता नहीं हो सकती है । [अतः **रसवत् आदि अलङ्कार** नहीं हैं ।] ।

टिप्पणी· **आशय यह है कि**—जिसप्रकार कुण्डलादिक अलंकार शरीर की शोभा को बढ़ाते हुये आत्मा की उत्कृष्टता बोधन करते हैं, इसीप्रकार काव्य के शरीरभूत शब्द अर्थ को सुभूषित करते हुये जो अनुप्रास, रूपकादि आत्मभूत रस के उपकारक होते हैं, वे ही काव्यालङ्कार माने जाते हैं । रसभावादिक तो शब्द और अर्थ के उपकार्य हैं, अतः वे अलङ्कार नहीं हो सकते ।

अर्थ—दूसरे (अर्थात् रसवत् आदि अलङ्कारों में अलङ्कार पद के प्रयोग को गौण रूप से मानने वाले **कुवलयानन्दकार**) तो—"(मुख्यभूत्) रसादिकों के उपकार-मात्र से (जिस किसी भी प्रकार सामान्यतः ही परिपुष्ट करने से) यहाँ (**रसवदादि में**) अलंकार पद का प्रयोग गौण है, प्राचीन मत के अनुसार (इन **रसवत् आदि** को अलङ्कार) मानना ही चाहिये । ऐसा (कहते) हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—जिसप्रकार रूपकादि रस के उपकार होते हैं, उसीप्रकार अङ्गभूत रसादिक भी प्रधान रसादि के उपकारक होते हैं, केवल शब्दादि के उपकारक नहीं होते अतः यहाँ "अलंकार" शब्द का प्रयोग लाक्षणिक (गौण) समझना चाहिये ।

अर्थ—और अन्य (अर्थात् **रसवत् आदिकों** को भी वास्तविक अलंकार मानने वाले)—"केवल रसादि का उपकार करने से (ही) प्रधानतः अलंकारिता (होती) है, रूपकादि में तो ('आदि" पद से सन्देहादिकों का ग्रहण होता है ।) वाच्यादि (शब्द और अर्थ) की शोभा उत्पन्न करना **"अजागलस्तनन्याय"** से है, (ऐसा मानते हैं) ।

अभियुक्तास्तु—'स्वव्यञ्चकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते । समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात्' इति मन्यन्ते ।

टिप्पणी—आशय यह है कि—"जो पदार्थ रसादिकों को उपकृत करता है, वही प्रधान अलंकार होता है" इस रीति के अनुसार रूपकादि में रसादि के उपकार से भिन्न जो वाच्य और वाचकों में शोभा को उत्पन्न करता हैं, वह प्राकृतिक है, तथा जिसप्रकार बकरी के गले में लटकने वाला स्तन दूध देने में असमर्थ होता हुआ भी स्तनत्वेन व्यवहृत किया जाता है उसीप्रकार रूपकादि में वाच्यादि की शोभा को उत्पन्न करने के कारण अलंकार पद का प्रयोग गौण है । अतः **रसवत्** आदि अलङ्कारों में भी गौण अलंकारता है ।

अवतरणिका—सम्प्रति अपने मत के समर्थक मत का प्रतिपादन करते हैं ।

अर्थ—प्रामाणिक (आचार्य) तो—"अपने (अङ्गभूत रसादि के) व्यञ्जक वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) अदिकों ("आदि" पद से "लक्ष्य-लक्ष्यक" का ग्रहण होता है ।) से उपकृत (उपकृतैः) अप्रधानभूत रसादि प्रधान (अङ्गी) रसादि का वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) के अध्याहार के द्वारा उपकार करते हुये "अलंकार" पद के व्यवहार को प्राप्त करते हैं । [अर्थात् जिस प्रकार शब्द और अर्थ रसादि के उपकारक हैं, उसीप्रकार अङ्गभूत रसादि भी रसादि के उपकारक हैं ।] [**प्रश्न—समासोक्त्यलङ्कार** में तो रसादि की उपकारकता का अभाव ही है. क्योंकि वहाँ नायिकादि के व्यवहार के आरोप से उत्पन्न आस्वाद ही अलंकार होता है, और आस्वाद रस से भिन्न नहीं होता है, अतः अलंकार का व्यवहार कैसे किया जा सकता है ? इसका उत्तर देते हैं—] **समासोक्ताविति-समासोक्त्यलङ्कार** में तो नायकादि के व्यवहारमात्र का (आरोप) ही (अर्थात् प्रस्तुत वस्तु में अप्रस्तुत के साधर्म्य का आरोपमात्र) अलंकार कहलाता है, (उससे उत्पन्न) आस्वाद (अलंकार) नहीं (कहलाता) है, (क्योंकि) वह (आस्वाद का पर्याय रसादि) उक्त लक्षण से (अर्थात् शब्दार्थादि के द्वारा, रसादि की उपकारकता रूप लक्षण से) रहित होता है······ऐसा मानते हैं । [**आशय यह है कि** प्रामाणिक आचार्यो के मत के अनुसार अङ्गीभूत रसादिकों के उपकारक होने से अङ्गभूत रसादिकों के अन्दर अलंकारता है, अतः **रसवत् आदि** भी निर्विवाद रूप से अलंकार होते हैं ।]

अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥'

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत । एवं च यच्च कैश्चिदुक्तम्—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालङ्कारः' इति तदपि परास्तम् ।

अर्थ—अतएवेति—इसीलिये ही (अर्थात् अङ्गीभूत रसादिकों के उपकारक होने से ही अङ्गभूत रसादिकों के अन्दर वास्तविक अलंकार का व्यवहार होने से) **ध्वनिकार** ने कहा है—कि—**प्रधाने इति**—जिस (काव्य) में वाक्यार्थ के प्रधान (अलंकार्य) होने पर अन्यत्र (अपने से भिन्न रसादि अथवा वाक्यार्थ में) रसादि ("आदि" पद से भावादि का ग्रहण होता है ।) अङ्ग (अप्रधानरूप से स्थित) होते हैं, उस काव्य (वाक्यार्थ) में (अङ्गभूत) रसादि अलंकार (होते) हैं-ऐसा मेरा (**आनन्द वर्धनाचार्य** का) मत (सिद्धान्त) है । [इससे **ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धनाचार्य** के मत में **रसवदादिकों** की अलङ्कारता प्रतीत होती है ।] [इस प्रकार प्रामाणिक आचार्यों के मत का प्रतिपादन करके "**इह केचित्**" इत्यादि से उत्थापित तीन मतों का खण्डन करते हैं ।] **यदि चेति**—और यदि रसादिकों के केवल उपकारक होने से (अतिशय चमत्कार के कारण नहीं) अलंकार पद का व्यवहार (माना जाता) है, तो वाचकादिकों (शब्दादिकों) में भी ("आदि" पद से लक्षक का ग्रहण होता है) अलंकार पद का व्यवहार हो जायेगा । [**सारांश** यह है कि यदि रसादि के उपकारक होने मात्र से ही अलंकार माना जायेगा तब तो–"**तामुद्वीक्ष्यकुरङ्गाक्षीं रसो नः कोप्यजायति**" इति तथा '**शृङ्गार सखि ! कौतुमान् वितनुते मुग्धो हरिः णातुवः**" **इति**—इन दोनों में रस शृंगारादि शब्दों से भी रसादि की प्रतीति होने से अलंकार मानना पड़ेगा—और इसप्रकार अव्याप्तिदोष तथा स्वशब्दवाच्यत्व दोष की भी प्रसक्ति होगी । अतः ऐसा मानना ठीक नहीं है ।] **एवञ्चेति** और इसप्रकार (अर्थात् "**रसादि की उपकारकता ही अलङ्कारता है**"—यह मान लेने पर) जो किसी ने (**ध्वन्यभाववादियों** ने) कहा है कि—**रसादिकों के अङ्गी (मुख्य) होने पर रसवत् आदि अलङ्कार, (और) अङ्ग (अमुख्य) होने पर द्वितीयोदात्तालङ्कार (यद्यपि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितंभवेत्")** (होता) है—इसका भी निराकरण हो गया ।

टिप्पणी—अर्थात् रसादिकों की प्रधानता में रसादिध्वनि सिद्ध कर चुके हैं, और अप्रधानता में रसवत् आदि अलंकार सिद्ध किया है, अतः यहाँ "उदात्तालङ्कार" का विषय ही नहीं है ।

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ॥ ९७ ॥
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ।

यथा लौकिकालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्चारुत्वेन । पृथगलङ्कारत्वं तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टिसङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ ।

तत्र—

'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ॥ ९८ ॥

एतेषां शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

अथ संसृष्टिसंकरालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(संसृष्टि और सङ्कर का सामान्य लक्षण) **यद्येत इति**—यदि ये (**पूर्वोक्त पुनरुक्तवदाभासादि शब्दालङ्कार** और उपमादि तथा रसवदादि अर्थालङ्कार) ही अलङ्कार परस्पर (एक पद्य में अथवा गद्य में) मिले हुये (होते) हैं तो **संसृष्टि** तथा **सङ्कर नामक** पृथक् अलङ्कार (होते) हैं ।

टिप्पणी—**भाव यह है कि**—पूर्व कहे हुये अलङ्कार दो प्रकार के होते हैं—(१) **शब्दालङ्कार** और (२) **अर्थालङ्कार** । ये यदि कहीं पर परस्पर मिश्रित रूप से उपलब्ध हों तो वे **संसृष्टि** और **सङ्कर** नाम से व्यवहृत होते हैं ।

अर्थ—(कारिका की व्याख्या करते हैं ।) **यथेति**—जिसप्रकार लौकिक अलङ्कारों के भी परस्पर मिलने से पृथक् सुन्दरता के कारण पृथक् अलङ्कार कहलाता है, उसीप्रकार उक्त स्वभाव वाले काव्यालङ्कारों के भी परस्पर मिलने पर **संसृष्टि** और **सङ्कर** नाम वाले (दो) पृथक् अलङ्कार होते हैं ।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि—जिसप्रकार एक कण्ठादि में अनेक प्रकार के अलङ्कार अभिन्नरूप से धारण किये हुये भी पृथक् रूपेण किसी अनिर्वचनीय शोभा को उत्पन्न करते हैं, अथवा कोई सुवर्णकार अनेक प्रकार के आभूषणों को बनाने के स्थान पर उनके समान एक ही अलङ्कार को इसप्रकार बनाता है कि वह किसी अनिर्वचनीय शोभा को उत्पन्न करता हुआ भी उन-उन की एकतरता को नहीं छोड़ता है, उसीप्रकार अलौकिक भी अलङ्कार कहीं **तिलतण्डुलन्याय** से और कहीं **नीर क्षीर** न्याय से परस्पर मिश्रित होते हुये किसी पृथक्भूत शोभा को उत्पन्न करते हैं, अतः उनके मिश्रण को **संसृष्टि** और **सङ्कर** नाम से व्यवहृत किया जाता है ।

अवतरणिका—इसप्रकार **संसृष्टि** और **सङ्कर** का सामान्य लक्षण कहकर सम्प्रति पृथक्-पृथक् विशेष लक्षण कहते हैं ।

अथ संसृष्टि अलङ्कारनिरूपणम्—

अर्थ—उनमें से **संसृष्टि** और **सङ्कर** में से **संसृष्ट्यलङ्कार** का लक्षण) **मिथ इति**—इन (उक्त लक्षण स्वरूप अलङ्कारों) की परस्पर (उपकार्य-उपकारक रूप से) निरपेक्ष रूप से (गद्य या पद्य में **तिलतण्डुलन्याय** से) स्थिति (आलङ्कारिकों से) **संसृष्टि नामक अलङ्कार** कहलाता है । [कारिकास्थ कठिन अंशों की व्याख्या करते हैं ।] **एतेषामिति**-**एतेषाम्**—शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों की ।

यथा—

'देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम्, संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः । द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः । एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसंसृष्टिः ।

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—(१) कारिका के अन्दर विद्यमान "**एतेषाम्**" में बहुवचन विवक्षित नहीं है, इसलिये किन्हीं दो अलङ्कारों के मिश्रण से अथवा किन्हीं अनेक अलङ्कारों के मिश्रण से इस अलङ्कार की प्रतीति होती है ।

(२) यह **संसृष्टि अलंकार** अनेक शब्दालङ्कारों की, अनेक अर्थालङ्कारों की, तथा अनेक उभयालङ्कारों की एकत्र स्थिति होने से **तीन प्रकार** का होता है ।

(३) "**शब्दार्थालङ्काराणाम्**"—यह उपलक्षण है, अतः **रसवत् आदि** अलङ्कारों की भी **संसृष्टि** और **सङ्कर** समझना चाहिये । इसीलिये **प्रेयस्** और **रसवत्** अलङ्कारों का **सङ्करालङ्कार**—"**आमीलितालसविवर्तित तारकाक्षीम्**"–इत्यादि उदाहरण में घटित हो जाता है ।

अर्थ—(तीनों प्रकार की **संसृष्टि** का उदाहरण) यथा—**देव इति**—विकसित नीलकमल के समान नेत्रों वाले, संसार रूपी अन्धकार को विनष्ट करने में सूर्य, (तथा) कंस का हनन करने वाले श्रीकृष्णजी आपत्ति से हमारी रक्षा करें ।

(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**पायादपायात्**" इसमें **यमलकाङ्कार** (तथा "ध्वान्तविध्वंस" में "ध्व" के अनेक प्रकार से सकृत् साम्य होने से **छेकानुप्रास**, इसीप्रकार "**विध्वंस हंस-कंस**" में **अन्त्यानुप्रास**) और "**संसार**"······**इत्यादि में वृत्यानुप्रास है**—इसप्रकार (इनकी परस्पर निरपेक्ष स्थिति होने से) **शब्दालङ्कारों की संसृष्टि** है । द्वितीय चरण में (समासगता) लुप्तोपमा और द्वितीयार्ध में (श्रीकृष्णजी में सूर्य का आरोप होने से और संसार में अन्धकार का आरोप होने से) अश्लिष्ट शब्द निबन्धनकेवलपरस्परितरूपक है—अर्थालङ्कारों की **संसृष्टि** है, इसीप्रकार दोनों (यमक और अनुप्रास, उपमा और रूपक शब्दार्थालङ्कारों) के स्थित होने से शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की **संसृष्टि** है ।

अथ सङ्करालङ्कार निरूपणम्—

अर्थ—(सङ्करालङ्कार का लक्षण) **अङ्गाङ्गित्व इति**—(अनेक) अलङ्कारों के अङ्ग और अङ्गी होने पर (अर्थात् अनुग्राह्य-अनुग्राहक होने पर, उपकार्य-उपकारक होने पर अथवा सापेक्षभाव से गौण-प्रधान होने पर) तथा (तद्वत्–अनेक अलङ्कारों के) एक आश्रय में (पद में, पाद में अथवा वाक्य में) स्थिति होने पर और (अनेक अलङ्कारों के विविध लक्षणों के समन्वय से "यह अलङ्कार हो अथवा यह"—इसप्रकार का) सन्दिग्ध विषय होने पर **सङ्कर** ("**सङ्कीर्णमाणस्वरूपत्वात्**") अलंकार पुनः तीन प्रकार का होता है ।

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥'

अत्र निर्मोकपट्टापह्नवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपह्नुतिः । सा च मन्दाकिन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति तस्याङ्गम् । श्लेषश्चपादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोक्तेरङ्गम्, अतिशयोक्तिश्च 'मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव' इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम् ।

टिप्पणी--(१) सारांश यह है कि—**उक्तानामेवालङ्काराणां चारुत्वार्थं स्वरूपनिष्पत्तये वान्यापेक्षणादात्मन्यनासादितस्वतन्त्रभावानां यत् परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वादिकं स तु सङ्करो नामालङ्कारः ।**

(२) **सङ्करालङ्कार** पुनः तीनप्रकार का होता है—(१) अङ्गाङ्गिभाव होने पर (२) एकाश्रयानु प्रवेश होने पर और (३) सन्दिग्ध विषय होने पर ।

(३) **संसृष्टेर्विषयपार्थक्याभावात् सामान्यरूपत्वम्**, सङ्करस्य तु **विषयपार्थक्यात् विशेषरूपत्वम् ।**

अर्थ—(२) अङ्गाङ्गिभाव (**सङ्करालङ्कार** का उदाहरण) यथा—**आकृष्टीति**—[**प्रसङ्ग**—समुद्रमन्थन के अवसर पर समुद्र का यह वर्णन है ।] (समुद्रमन्थन के समय देव और राक्षसों के द्वारा दोनों ओर से) आकर्षण (खींचने) के वेग से स्खलित होते हुये वासुकी के शरीर के केंचुली रूपी बन्धन वस्त्र को बाँधने के बहाने से समुद्र की (**अन्यत्र** पति की) मन्थन से उत्पन्न पीड़ा को मानों शान्त करने के लिये शीघ्र (ही) गङ्गा (**अन्यत्र** पतिव्रता स्त्री) जिस (समुद्र **अन्यत्र** पति) के एकदेश में **अन्यत्र** चरणों के पास में चिरकाल तक (संवाहन के लिये) बैठी थी ।

(**अङ्गाङ्गिभाव** का प्रतिपादन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) निर्मोकपट्ट (केंचुली) के अपह्नव से (अर्थात् परिवेष्टन रूप से प्रतिपादन करने से) गङ्गा का आरोप है, अतः **अपह्नुति** है, और वह (**अपह्नुति**) गङ्गा के वास्तविक वृत्त के कारण जो (समुद्र का) पादमूल (एकदेश) का वेष्टन है, वही (विष्णुपति का) चरणमूल वेष्टन (पैर दबाना) है—इसप्रकार (विभक्ति के एक होने से **"नीतानामाकुलीभावम्"** इत्यादि के समान) **प्रकृतिश्लेष** को (अर्थशक्ति से) उत्पन्न करती है [क्योंकि केंचुली से गङ्गा का अभाव होने पर चरणार्थक श्लेष की भी प्रतीति नहीं हो सकती है ।] अतः, उसका (**श्लेष** का) अङ्ग है, और **श्लेष** पादमूल वेष्टन ही (एकदेश में स्थिति ही) चरणवेष्टन (पैर दबाना) है—इसप्रकार **अतिशयोक्ति** का [समुद्र और विष्णुजी में भेद होने पर भी **अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्ति** अलङ्कार का] अङ्ग है; और **अतिशयोक्ति** मानों मन्थनजनित व्यथा को शान्त करने के लिये"—इसप्रकार उत्प्रेक्षा का अङ्ग है ।

उत्प्रेक्षा चाम्बुराशिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोक्तेरङ्गम्।
यथा वा--

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥'

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम्।

[भाव यह है कि—"इव" शब्द के उपादान से **उत्प्रेक्षा** है, और उक्तरूप से यहाँ **अतिशयोक्ति** है। यहाँ इन दोनों में से यदि अतिशयोक्ति उत्प्रेक्षा के बिना उत्थित होती है तो भी इसमें किसीप्रकार का चमत्कार नहीं आता क्योंकि समुद्र के अचेतन होने के कारण उसमें मन्थनजनित व्यथा सम्भव ही नहीं हो सकती है, इसीलिये विष्णु के सादृश्य का आश्रय लेकर ही गङ्गा के अन्दर मन्थनजनित व्यथा को शान्त करने की सामर्थ्य की उत्प्रेक्षा करना उचित है। उत्प्रेक्षा वाचक "इव" शब्द के होने से यह **वाच्योत्प्रेक्षा** है, फलोत्प्रेक्षा नहीं]; और **उत्प्रेक्षा** समुद्र और गङ्गा में नायक और नायिका के व्यवहार (के ज्ञान) को कराती है (क्योंकि मन्थन जनित व्यथा की शान्ति होना उत्प्रेक्षा के बिना अचेतन में असम्भव है), अतः **समासोक्ति** का अङ्ग है। [इस-प्रकार यहाँ इन अलङ्कारों का अङ्गाङ्गिभाव होने से **सङ्करालङ्कार** है।]

अर्थ—अथवा--(अन्य उदाहरण) **अनुरागेति**--[**प्रसङ्ग**--सायंकालीन सन्ध्या का वर्णन है।] सन्ध्या अन्यत्र नायिका अनुराग से युक्त है (**अनु-दिवसस्यपश्चात् रागवती-रक्तोत्पलादिसदृशलौहित्यवती**) अन्यत्र सुरत की अभिलाषा से प्रेमवती दिन **अन्यत्र** नायक उस (सन्ध्या **अन्यत्र** नायिका) के अस्त होने के लिये **अन्यत्र** सुरत सम्भोग के लिये) सामने है, आश्चर्य है? (कि) भाग्यगति विचित्र है, (क्योंकि) तब भी (अनुरागशील) और पुरोवर्ति होने पर भी सन्ध्या और दिवस का समागम नहीं (होता) है।

अर्थ--(लक्ष्य का समर्थन करते हैं।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) **समासोक्ति** (राग की तरह सन्ध्या और पुरोवर्ति दिवस के अन्दर लिङ्ग सादृश्य से युक्त **समासोक्ति**), **विशेषोक्ति** का (सुरत के लिये नायक-नायिका के विद्यमान होने पर भी सुरतात्मक समागम रूप कार्य के न होने से **विशेषोक्ति**) अङ्ग है।

टिप्पणी--यदि उक्त उदाहरण में "**दैवगतिश्चित्रा**" इस अर्थ के प्रति अन्य वाक्यार्थ के कारण होने से **काव्यलिङ्ग** और **काव्यलिङ्ग** के प्रति **विशेषोक्ति** की अङ्गता मानी जाय तो निम्न उदाहरण समझना चाहिये—

"प्रलिन्दास्ते रिपुस्त्रीणां वने हारं हरन्ति नो।
बिम्बोष्ठकान्त्या शोणं तं गुञ्जमालां हि मन्यते॥"

यहाँ हार के द्वारा बिम्बोष्ठ की कान्ति का ग्रहण करने से **तद्गुणालङ्कार** है। और उससे गुञ्जा के हार की भ्रान्ति होने से **भ्रान्तिमान् तद्गुणालंकार** का अङ्ग है।

सन्देहसङ्करो यथा--

'इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः ।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ।।'

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्विच्चन्द्रस्याप्रकृतत्वाद्दी-

---

अर्थ—(२) **सन्देह संकरालंकार** (का उदाहरण) यथा—**इदमपि**—सम्यक् रूपेण व्याप्त **अन्यत्र** एकत्रित हुये अन्धकार को **अन्यत्र** कामदेव कृत अज्ञान को विनष्ट करता हुआ अत्यधिक आनन्द को देने वाला यह (दृश्यमान) चन्द्र सम्बन्धी बिम्ब आकाश में सुशोभित हो रहा है ।

टिप्पणी—**अथवा** अन्य उदाहरण—

"यः कौमार हरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपाः
ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतव्यापार लीला विधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ।।"

यहां **विभावना-विशेषोक्ति** अलङ्कारों का **सन्देह सङ्कर** है । क्योंकि उत्कण्ठा के कारण के न होने पर उत्कण्ठा की उत्पत्ति होने से **विभावना** है, और उस कारण का अभाव **"यः कौमार हरः"** इत्यादि विरुद्ध कारण के द्वारा कहा है । तथा **"यः कौमार हरः"** इत्यादि उत्कण्ठा के कारण के होने पर भी अनुत्कण्ठा के उत्पन्न न होने से **विशेषोक्ति** है, और वह अनुत्पत्ति **"समुत्कण्ठते"** इस विरुद्ध उत्पत्ति के द्वारा कथन की है, अतएव दोनों अलङ्कारों के ही अस्फुट होने से **सन्देह सङ्करालंकार** है ।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) मुख का चन्द्ररूप से अध्यवसान होने से क्या **अतिशयोक्ति** है ? [अर्थात् "इदम्" पदार्थ के मुखरूप होने पर भी चन्द्ररूप से अध्यवसान होने से **भेद में अभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्ति है** ।] अथवा "इदम्" इससे मुख का निर्देश करके चन्द्रत्व का आरोप होने से क्या **निरङ्ग केवल रूपक** है ? ["निर्दिश्य" इससे मुख का निगीर्ण न होना प्रतिपादित किया है, अतएव **निरङ्ग केवल रूपक** है ।] अथवा "इदम्" इससे मुख और चन्द्र-मण्डल—(इन) दोनों ही प्रकृत (पदार्थों) के अन्दर एक धर्म (**सन्ततत्तमोभेदनादिरूप** धर्म) का सम्बन्ध होने से क्या **तुल्ययोगिता** है ? ["इदम्" पद से वाच्य मुख और "ऐन्दवम्" पद से वाच्य चन्द्रबिम्ब-इन दोनों के सन्तततमोभेदनादि रूप धर्म के समान होने से **"आभाति"** इस एक क्रिया के साथ सम्बन्ध है, अतः **तुल्ययोगिता** है ।] **अथवा** क्या चन्द्रमा के अपकृत होने से **दीपकालङ्कार** है ? [अर्थात्–चन्द्रमा के अप्रकृत होने से और मुख के प्रकृत होने से । **तथा च**—मुख यहाँ प्रकृत है और उसके उपमान के रूप में चन्द्रमा का निर्देश होने से वह अप्रकृत है, और इन दोनों का **"आभाति"** इस एक क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से **दीपकालङ्कार** है ।]

पकम्, किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वाप्रस्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशंसा, यद्वा मन्मथोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति बहूनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहसङ्करः ।

यथा वा—'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इव इत्युपमा, उत चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः, साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः सन्देहः ।

यथा—

'मुखचन्द्रं चुम्बति' इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम् । चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम् ।

अर्थ—अथवा विशेषण की समानता से अप्रस्तुत मुख के गम्यमान होने से क्या **समासोक्ति** है ? ["इदम्" पद से वाच्य यदि इन्दुमण्डल प्रस्तुत है और यदि विशेषण की समानता से मुख के व्यवहार की प्रतीति होती है, तो चन्द्रमण्डल में मुख के व्यवहार का आरोप होने से **समासोक्ति** है ।] अथवा अप्रस्तुत चन्द्रमा के वर्णन से प्रस्तुत मुख की प्रतीति होती है, अतः क्या **अप्रस्तुतप्रशंसा** है ?

[अर्थात् समान (चन्द्रमा) से समान (मुख) रूप **अप्रस्तुत प्रशंसा** है ?] आहोस्वित् कामदेव के उद्दीपित होने का समय अपने (कामोद्दीपन समय के) कार्यभूत चन्द्रमा के (उदय के) वर्णन के द्वारा वर्णित किया है । अतः क्या **पर्यायोक्ति** है ? [अर्थात् यदि "इदम्" पद से सम्प्रति मुख सम्भोग का अवसर है—यह प्रतीत होता है, तो **पर्यायोक्ति** है ।] इसप्रकार अनेक (**अतिशयोक्ति** आदि अलङ्कारों का सन्देह होने से **सन्देहसङ्कर** है ।

अथवा (अन्य उदाहरण)—"**मुखंचन्द्रं पश्यामि**" यहाँ क्या "**मुखंचन्द्र इव**"—मुख चन्द्रमा की तरह है—इसप्रकार की [**उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे** २/१/५६ इससे समास होकर पुनः लोप होने के उपरान्त "**विवप्समासगता द्वेधा धर्मवादि विलोपने**" इत्युक्तस्वरूपा उपमितसमासगता] लुप्तोपमा है ? अथवा "**चन्द्रएव**" चन्द्रमा ही (मुख) है ।—('**मयूरव्यंसकादयश्च**" इससे समास होने पर) इसप्रकार **निरङ्ग केवल रूपक** है ? अतः (दोनों ही स्थलों पर दोष न होने से तथा दोनों ही स्थलों पर समास की उपपत्ति हो जाने से) सन्देह है ? (किन्तु) साधक और बाधक (प्रमाणों) में से दोनों के अथवा किसी एक के (साधक के अथवा बाधक के) होने पर पुनः सन्देह नहीं (रहता) है, यथा—"**मुखचन्द्रं चुम्बति**" यहाँ (समास के उपमा और रूपक दोनों के घटक होने पर भी) चुम्बन मुख के अनुकूल है, अतः उपमा का साधक है, [अर्थात् चुम्बन चन्द्रमा के समान मुख में ही सम्भव हो सकता है, मुखात्मक चन्द्रमा में नहीं क्योंकि चन्द्रमा में सम्भोग चुम्बन सम्भव नहीं है,] किन्तु चन्द्रमा के प्रतिकूल है (क्योंकि वह आकाश में है ।), अतः रूपक का बाधक है । [अतः यहाँ पर न तो दो अलङ्कार हैं, और न ही उनका **सङ्कर** है] ।

'मुखचन्द्रः प्रकाशते' इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नौपमाबाधकः।

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्।'

अत्र योषित आलिङ्गनं नायकस्य सादृश्येनोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवाद्रूपकम्।

एवम्—

'वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चलोचनम्।'

अर्थ—"**मुखचन्द्रः प्रकाशते**" यहाँ प्रकाशन रूप धर्मरूपक का साधक [अर्थात् प्रकाशन रूप धर्म साक्षात् चन्द्रमा में ही रहता है, अतः विशेष्य रूप से प्रतीयमान चन्द्रमा में ही उसकी स्थिति उचित है, अतः चन्द्रमा के साथ अन्वय करने के लिए "**मुखमेव चन्द्रः**" इसप्रकार चन्द्रमा का प्रधानरूप से ज्ञान करने वाले रूपक समास का ही आश्रय लेना ठीक है।] मुख में गौण रूप से (अर्थात् चन्द्रमा के समान मुख में भी चन्द्रमा का धर्म प्रकाशन; सम्भव हो सकता है, अतः उपमा का बाधक नहीं है।

टिप्पणी—(१) यहाँ केवल रूपक की साधकता का ही प्रतिपादन किया है, अतः कुछ का कहना है कि उपमा और रूपक का **सन्देह सङ्कर** है, कुछ **संसृष्टि** मानते हैं।

अवतरणिका—उपमा के बाधक प्रमाणों के उपलब्ध होने पर उदाहरण—

अर्थ—लक्ष्मी राजा रूपी नारायण तुमको स्थर प्रेमपूर्वक (निर्भरम् आलिङ्गन करती है)।

टिप्पणी—सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गतिनिर्भरम्।
चञ्चलाऽपि चिरायात्मदूषणं परिमार्जय सा॥ इति॥

अर्थ—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) स्त्री (नायिका) का आलिङ्गन नायक के (अपने योग्य पुरुष के) समान के साथ (स्थान प्रभाव-जाति आदि से समान अन्य नायक के साथ) उचित है, अतः लक्ष्मी का आलिङ्गन राजा में असम्भव होने से (लक्ष्मी कर्तृक "आलिङ्गति" पद) उपमा का बाधक है, (और) नारायण में सम्भव होने से **रूपक** है।

टिप्पणी—**आशय** यह है कि **रूपकालङ्कार** में नारायण के विशेष होने से और उन्हीं में लक्ष्मी के आलिङ्गन का अन्वय होने से उक्त विध रूपक समास का आश्रय लेना उचित है। अतः "**राजा एव नारायणः**" ऐसा समास है।

अर्थ—इसीप्रकार (पूर्वोक्त उदाहरण की तरह)—**वदनाम्बुजमिति**—चञ्चल नेत्रों वाली मृगनयनी (नायिका) का मुख कमल के समान सुशोभित होता है।

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्रूपकस्य बाधकता ।

एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुजम्' इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति वचनादुपमासमासो न संभवतीत्युपमाया बाधकः । एवं चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव । एकाश्रयानुप्रवेशो यथा मम—

'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः ।
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसनः
परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः ॥'

अर्थ—(लक्ष्य की योजना करते हैं ।) **अत्रेति**—यहां (प्रकृत उदाहरण में) मुख में नयनों के होने से उपमा की साधकता है (अर्थात् प्रधान भाव से मुख के अन्वय की उत्पत्ति के लिए उपमित समास का ही आश्रय लेना उचित है ।) और कमल मे (नेत्रों के) असम्भव होने से रूपक की बाधकता है ।

अर्थ—इसीप्रकार "सुन्दरं **वदनाम्बुजम्**"—इत्यादि में साधारणधर्म ("सुन्दरम्") का प्रयोग होने पर (**"उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे"** (२/१/५६) इसके अनुसार उपमा समास नहीं हो सकता है (क्योंकि **"उपमितम्–"**इत्यादि सूत्र से सामान्य धर्म का प्रयोग न होने पर ही समास होता है) अतः ("सुन्दरम्" इस सौन्दर्यरूप साधारण धर्म का प्रयोग होने से) उपमा का बाधक है; और इसप्रकार (उपमित समास के बाधक होने पर) **"मयूरव्यंसकादयश्च"** २/१/७२ इस सूत्र से रूपकसमास ही होता है ।

टिप्पणी—"**वदनसुन्दराम्बुजम्**—यहां **वदनमेव सुन्दराम्बुजम्**—यही समास है क्योंकि **रूपक समास** का '**मयूरव्यंसकादयश्च**" २/१/७२ इस सूत्र से आकृतिगण होने से इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । किन्तु वदनं **सुन्दरमम्बुजमिव** ऐसा अथवा **वदनं सुन्दराम्बुजम्**—ऐसा समास नहीं हो सकता है क्योंकि पाणिनी के सूत्र से साधारण धर्म के वाचक पद का प्रयोग न होने पर ही उपमित समास होता है, किन्तु प्रकृत उदाहरण में **सुन्दरम्** इस साधारण धर्म के वाचक पद का प्रयोग है ।

अर्थ—(३) **एकाश्रयानुप्रवेश** (**सङ्करालङ्कार** का उदाहरण) यथा—मेरा अर्थात् साहित्यदर्पणकारकृत्— **कटाक्षेणापीति**—[**प्रसङ्ग**—किसी नवयुवती नायिका को देखकर मन से भावना करते हुये किसी नायक की साभिलाप उक्ति है ।] यदि वह (सुन्दरीत्वेन प्रसिद्धा नायिका) क्षणभर कटाक्ष से थोड़ा भी देख लेवे, तो आच्छादित कर दिया है सम्पूर्ण विषयों को जिसने ऐसा सान्द्र आनन्द (हृदय में) उद्दीप्त हो जाता है, [**सान्द्रादि** दो विशेषणों से आनन्द की ब्रह्मसहोदरता प्रतीत होती है ।] कमल के समान नेत्रों वाली (उस नायिका) का (कामावेश से) रोमाञ्च सहित तथा वृद्धि को प्राप्त होते हुये कुचकलशों से पृथक् हो गया है वस्त्र जिसमें ऐसा **अथवा** रोमाञ्च के कारण उच्च कुचकलशों से पृथक् हो गया है वस्त्र जिसमें ऐसा आलिङ्गन व्यापार कैसा अर्थात् निरूपम होगा ? अर्थात् उस आलिङ्गन में कितना आनन्द आवेगा यह मैं नहीं जानता हूँ ।

अत्र कटाक्षेणापीषत्क्षणमपीत्यत्रच्छेकानुप्रासस्य निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः । एवं चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः । यथा वा--

'संसारध्वान्तविध्वंस–' इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

अर्थ—(लक्ष्य का समर्थन करते हैं ।) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) **"कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि"**—इसमें [**"छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा"**—इसके अनुसार अनेक व्यञ्जनों का स्वरूप से और क्रम से साम्य होने पर **छेकानुप्रास** होता है ।] अतः यहाँ पर ककार-षकार और क्षकार के सकृत् साम्य होने से **छेकानुप्रास** है । **छेकानुप्रास** का और **"निरीक्षेत"** यहाँ क्षकार को लेकर [अर्थात् तीन क्षकार का ग्रहण हो जाने पर क्षकारों के अनेक होने से तथा स्वरूप से और क्रम से अनेक बार साम्य होने से **"असकृद्वाप्यनेकधा"** यह लक्षण घटित हो जाता है, अतः] **वृत्यनुप्रास** का एक (पादरूप) आश्रय में समावेश है । [इसप्रकार के दो क्षकारों से निर्मित छेकानुप्रास से, तृतीय अन्य क्षकार के कारण वृत्यनुप्रास के होने से **अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर** भी यहाँ है । समास के एक पादरूप आश्रय में असङ्कीर्ण उदाहरण खोजना चाहिये । इसीप्रकार चतुर्थ चरण में भी मकार-भकार युक्तवर्ण समुदाय के होने से छेक और वृत्यनुप्रासों से **सङ्कर** समझना चाहिये ।] **एवञ्चेति**—तथा यहीं (उक्त विध छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रासात्मक) अनुप्रास और अर्थापत्यलङ्कारों का (एकाश्रयानुप्रवेश **सङ्करालङ्कार**) है ।

टिप्पणी—उक्त उदाहरण में **अर्थापत्यलङ्कार** दिखाते हैं—

"कटाक्षेणपि"—"इससे पूर्ण दृष्टि से देख लेने पर तो क्या "कहना"—इस अर्थ की, सिद्धि होती है ।

"ईषदपि" इससे "अधिक देख लेने पर तो क्या कहना—" इस अर्थ की सिद्धि होती है ।

"क्षणमपि" इससे "अधिक समय तक देख लेने पर तो क्या कहना"—इस अर्थ की सिद्धि होती है । इसप्रकार तीन स्वरूपात्मका तथा जब कटाक्षपात आदि से भी परिपूर्ण आनन्द की प्रतीति होती है तो दण्डापूपिका न्याय से सिद्ध होने पर स्तनालिङ्गन में अनिर्वचनीय आनन्द की प्रतीति होती है—इसप्रकार से अर्थापत्ति सिद्ध होती है ।

अवतरणिका—एक पद रूप एक आश्रय में विभिन्न विविध अलङ्कारों के अनुप्रवेश को तथा एक पाद रूप एक आश्रय में समान अनेक अलङ्कारों के अनुप्रवेश को दिखाते हैं ।

अर्थ—(१) अथवा—(अन्य उदाहरण) **"संसारध्वान्तविध्वंस** ······ इत्यादि में (श्रीकृष्णजी में हंसत्वेन आरोप करने से) **केवलनिरङ्ग-रूपक** और (धकार के अनन्तर वकार से घटित वर्ण साम्य से) **छेकानुप्रास** का (एक आश्रय में अनुप्रवेश) है [यहाँ अनुप्रास शब्दालङ्कार है, और रूपक अर्थालङ्कार है । इसप्रकार यहाँ उभयालङ्कार है । और इसप्रकार के सङ्कर के साथ '**पायादपायात्**" यहाँ विद्यमान यमक की **संसृष्टि** समझनी चाहिये ।]

यथा वा—

'कुरबकारवकारणतां ययुः' इत्यत्र रवका रवका इत्येकं बकार-वकार इत्येकमिति यमकयोः ।

यथा वा—

'अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिजं मोरविन्दाणम् ॥
[अभिनवपयोदरसितेषु पथिकसामाजिकेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नित्यं मयूरवृन्दानाम् ॥
अथवा
अभिवनपयोदरसितेषु पथिकश्यामायितेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणा नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥]

अत्र 'पहिअसामाइएसु' इत्येकाश्रये पथिकश्यामायितेत्युपमा, पथिकसामाजिकेष्विति रूपकं प्रविष्टमिति ।

अर्थ—(२) **यथावेति**—अथवा "**कुटवकाखकारणतांययुः** [**प्रसङ्ग**—यह रघुवंश का पद्य है ।] कुरवक (पुष्पविशेष) शब्द की कारणता को प्राप्त हुये—यहाँ **रवका**—**रवका**—इसप्रकार एक (यमक), **बकार-वकार**—इसप्रकार एक (यमक)—इसप्रकार दो **यमकालंकारों** का (**एकाक्षयानुप्रवेश**) है ।

टिप्पणी—(१) सम्पूर्ण पद्य इसप्रकार है—

"**विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः ।**
मधुलिहां मधुदान विशारदा कुरवका रवकारणतां ययुः ॥"

(२) "**कुरबकारबकारणताम्**—इसमें पूर्व यमक के साथ उत्तर यमक का निर्वाह होने से अङ्गाङ्गिभावसकंर नहीं समझना चाहिये क्योंकि "**कारणताम्**"—इसके रेफ पर्यन्त उत्तरयमक का पूर्वयमक से भी निर्वाह हो जाता है । इसीप्रकार "**कलकलोल कलोलदृशे**" यहाँ पर भी दो यमक ही समझने चाहिये ।

अवतरणिका—एकपदरूप आश्रय में विविध अर्थालङ्कारों के अनुप्रवेश का उदाहरण देते हैं ।

अर्थ—अथवा (**एकपद में संकरालंकार** का उदाहरण) **अहिणअ इति**—[इस श्लोक का संस्कृत अनुवाद दो प्रकार से किया गया है] [**प्रसङ्ग**—यह पद्य **गाथा-सप्तशती** में है ।] नूतन मेघों की गर्जना है जिनमें ऐसे, (**प्रिया के विरह के दुःख से**) मलिन की तरह आचरण कर रहे हैं पथिक जिनमें ऐसे **प्रथमपाठे** तु पथिक ही है सामाजिक (नृत्योत्सवादि के दर्शक) जिनमें ऐसे (वर्षाकालीन) दिनों में विस्तृत की है ग्रीवा जिन्होंने ऐसे मयूरों के समूह का नृत्य उत्सव के समान हो रहा है ।

(उदाहरण को घटाते हैं) **अत्रेति**—यहाँ (प्रकृत उदाहरण में) "**पहिअ सामाइएसु**" इसमें एक आश्रय "**पथिकश्यामायितेषु**" में क्यङ् गता उपमा है, (और) "**पथिक सामाजिकेषु**" इसमें केवल **निरङ्ग रूपक** विद्यमान है ।

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥१००॥

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्करोति।
तावन्मनः संमदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके ॥१०१॥

इत्यालङ्कारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिकमहापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते
साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः।

टिप्पणी—(१) "**पथिक श्यामायितेषु**" के अन्दर उपमापरक समास इसप्रकार से होगा—"**पथिकानां प्रियाविरहदुःखेन श्यामत्वं, दिवसानां मेघेव**" **इति**—और रूपक समास "**पथिकाः एवसामाजिकाः यत्रतेषु**" **इति**। नाट्य दर्शन से सामाजिकों का उत्सव होता है, यह रूपण है।

(२) पथिकों को मयूरनृत्य आनन्दित करने वाला नहीं होता है, अतः "**महति**" यह कहा है।

(३) वस्तुतः जिसप्रकार "**मुखचन्द्रं पश्यामि**" इत्यादि में दो समासों के होने से सन्देह है, उसीप्रकार "**पहिअसामाइएसु**" इत्यादि में भी दो समासों के होने से सन्देह है।

अवतरणिका—इसप्रकार विस्तार सहित ग्रन्थ को समाप्त करने के उपरान्त सम्प्रति अपना परिचय देते हुये ग्रन्थ की समाप्ति को सूचित करते हैं—

अर्थ—हे विद्वान् पुरुषो! (तुम) महाकवियों में चन्द्र श्रीचन्द्रशेखर के पुत्र श्रीविश्वनाथ कविराज कृत साहित्यदर्पण नामक इस ग्रन्थ का (आरम्भ से लेकर समाप्तिपर्यन्त) विवेचन करके सुखपूर्वक ही (साङ्गोपाङ्ग) सम्पूर्ण साहित्य के (अलंकारशास्त्र के) रहस्य को जान लो।

टिप्पणी—(१) **आशय** यह है कि तात्विक दृष्टि से इस ग्रन्थ का परायण करने के उपरान्त काव्यगत बोद्धव्य सम्पूर्ण विषयों को अनायास ही जान लेने से पुनः अन्य किसी ग्रन्थ की आवश्यकता नहीं रहती है।

अवतरणिका—सम्प्रति ग्रन्थ की समाप्ति में परमेश्वर का स्मरण करते हुये उससे अपने ग्रन्थ की चिरस्थायिता की प्रार्थना करते हैं।

अर्थ—निर्मल पूर्णचन्द्रमा के समाम मुखवाली लक्ष्मी जब तक भगवान् श्री विष्णुजी के वक्षःस्थल को अलंकृत करती है तब तक यह (मेरे द्वारा निर्मित साहित्य-दर्पण नामक) ग्रन्थ कवियों के मन को (ज्ञातव्य विषयों के ज्ञान से) प्रसन्न करता हुआ संसार में विख्यात हो।

टिप्पणी—ग्रन्थ की समाप्ति में इसको '**वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण**' समझना चाहिये।

"इति साहित्यदर्पणे अलंकारनिरूपणं नाम दशमः परिच्छेदः"

मूलकारिका—१०१ **कुलकारिकायें—७९९।**
उदाहरणश्लोक—२५६ **कुलउदाहरण श्लोक—७५४**